



THE YOGA UPANISHADS  
WITH THE COMMENTARY OF  
SRI UPANISHAD-BRAHMA-YOGIN

EDITED BY  
PANDIT A. MAHADEVA SASTRI, B.A  
DIRECTOR, ADYAR LIBRARY, ADYAR, MADRAS

PUBLISHED FOR THE ADYAR LIBRARY  
(THEOSOPHICAL SOCIETY)

1920



अष्टोन्नरशतोपनिषत्सु  
**योग—उपनिषदः**

श्री उपनिषद्वाल्मयोगिविरचितव्याख्यायुताः

अड्यार—पुस्तकालयाध्यक्षेण

अ. महादेवशास्त्रिणा

संपादिताः

अड्यार—पुस्तकालयार्थे

प्रकटीकृताश्च



ॐ नमो  
ब्रह्मादिभ्यो  
ब्रह्मविद्यासंप्रदायकर्तृभ्यो  
वंशऋषिभ्यो  
नमो गुरुभ्यः

**DEDICATED TO  
Brahma and the Rishis,  
The Great Teachers  
Who handed down Brahmanavidya  
through Generations**



## PREFACE

IT will be remembered that Dr. F. O. Schrader, my predecessor in office, soon after taking charge of the Library in 1905, projected a scheme for the publication of the texts of the Minor Upanishads comprised in the collection of the well known One-Hundred-and-Eight Upanishads and brought out in 1912 the first volume of the Minor Upanishads, containing all those Upanishads which treat of *Samnyāsa*. After another interval of eight years I have the pleasure of issuing the second volume in the series comprising the Upanishads which treat of *Yoga*. This long interval in the publication of the first and the second volumes is due to several causes, not the least of which is the outbreak of war and the immediate removal of Dr. Schrader to the camp of war-prisoners. The interval though regrettable in many ways has proved beneficial in one respect. Since I took charge of the Library in 1916, I have been able to collect more materials and have also had the fortune of coming by a commentary of a single author on all the 108 Upanishads. This commentary by Sri Upanishad-Brahma-Yogin of a Kanchi Advaita Mutt, which is as clear and full as necessary, given side by side with the

text of the Upanishads will be valued more by the reader than the editor's own notes or those compiled by him from extraneous works, such as were appended at the end of the first volume by Dr. Schrader. The plan of giving the commentary along with the text has rendered it desirable to give in the body of the text that reading which is endorsed by the commentary and to note at foot only those variants which are found in the MSS. of the southern recension, reserving all other critical notes to the volumes of translations which will follow.

The materials available for a critical edition of the 108 Upanishads have been described in full by Dr. Schrader in the first volume, and it only remains for me to say that more MSS. have been since collected under each head. The MSS. on which the edition of the Upanishads contained in the present volume is based are the following:

अ — Adyar Library IX K 7—Devanāgari MS. containing Minor Upanishads with Appayadīkshita's commentary.

अ १. — Adyar Library XXXIV B 2—A Grantha MS. of 108 Upanishads.

क. — A Grantha MS. of 108 Upanishads lent by Mr. V. Kachchapesvara Iyer, B.A., B.L., of Vellore.

उ, उ १.— Adyar Library XXXVI E 1 and XXXIV I 6—Two copies of 108 Upanishads with Śrī Upanishad-Brahmendra-Yogin's

commentary in Devanāgari and  
Grantha characters respectively.

Except for any unforeseen cause, there will be no occasion for delay in the publication of the succeeding volumes of the text and the commentary according to the present plan. One volume at least of the size of the present one may be issued every year. I can, however, make no promise at present as to when the first volume of the English translation of these Upanishads will appear.

ADYAR

August, 1920

A. MAHADEVA SASTRI



## विषयसूचिका

### अद्वयतारकोपनिषत्

|                                       |   |   |   |   |   |
|---------------------------------------|---|---|---|---|---|
| तारकयोगाधिकारः                        | . | . | . | . | १ |
| योगोपायतत्फलम्                        | . | . | . | . | २ |
| तारकस्वरूपम्                          | . | . | . | . | २ |
| लक्ष्यत्रयानुसन्धानविधिः              | . | . | . | . | ३ |
| अन्तर्लक्ष्यलक्षणम्                   | . | . | . | . | ३ |
| बहिर्लक्ष्यलक्षणम्                    | . | . | . | . | ४ |
| मध्यलक्ष्यलक्षणम्                     | . | . | . | . | ४ |
| द्विविधं तारकम्                       | . | . | . | . | ९ |
| तारकयोगसिद्धिः                        | . | . | . | . | ९ |
| मूर्तीमूर्तभेदेन द्विविधं अनुसन्धेयम् | . | . | . | . | ६ |
| तारकयोगस्वरूपम्                       | . | . | . | . | ७ |
| शास्त्रवीमुद्रा                       | . | . | . | . | ७ |
| अन्तर्लक्ष्यविकल्पाः                  | . | . | . | . | ८ |
| आचार्यलक्षणम्                         | . | . | . | . | ९ |
| ग्रन्थाभ्यासफलम्                      | . | . | . | . | ९ |

### अमृतनादोपनिषत्

|                |   |   |   |   |    |
|----------------|---|---|---|---|----|
| श्रवणाद्युपायः | . | . | . | . | ११ |
| प्रणवोपासना    | . | . | . | . | १२ |

|                      |   |   |   |   |    |
|----------------------|---|---|---|---|----|
| प्रत्याहारलक्षणम्    | . | . | . | . | १४ |
| षडंगयोगः             | . | . | . | . | १४ |
| प्राणायामादिफलम्     | . | . | . | . | १४ |
| त्रिविधप्राणायामः    | . | . | . | . | १९ |
| प्राणायामलक्षणम्     | . | . | . | . | १९ |
| रेचकलक्षणम्          | . | . | . | . | १६ |
| पूरकलक्षणम्          | . | . | . | . | १६ |
| कुम्भकलक्षणम्        | . | . | . | . | १६ |
| धारणालक्षणम्         | . | . | . | . | १७ |
| तर्कलक्षणम्          | . | . | . | . | १७ |
| समाधिलक्षणम्         | . | . | . | . | १८ |
| समाधिसिद्धयुपायः     | . | . | . | . | १८ |
| योगस्य नियकर्तव्यता  | . | . | . | . | २० |
| स्वप्राप्तिद्वाराणि  | . | . | . | . | २० |
| भयादीनां त्यागः      | . | . | . | . | २१ |
| अन्यासफलम्           | . | . | . | . | २२ |
| योगचिन्त्यम्         | . | . | . | . | २२ |
| चिन्तनाग्रकारः       | . | . | . | . | २३ |
| श्वासप्रमाणम्        | . | . | . | . | २३ |
| प्राणादीनां स्थानानि | . | . | . | . | २४ |
| तेषां वर्णभेदाः      | . | . | . | . | २४ |
| परमफलम्              | . | . | . | . | २४ |

### अमृतविन्दूपनिषत्

|                           |   |   |   |    |
|---------------------------|---|---|---|----|
| मन एव बन्धमोक्षयोः कारणम् | . | . | . | २६ |
| मनोनिरोधो मोक्षोपायः      | . | . | . | २७ |

|   |   |   |   |    |
|---|---|---|---|----|
| ब्रह्मज्ञानेन ब्रह्मभावप्राप्तिः              | . | . | . | २८ |
| सविशेषब्रह्मानुसन्धानेन निर्विशेषब्रह्माधिगमः | . | . | . | २८ |
| आत्मन एकत्वम्                                 | . | . | . | ३० |
| आत्मनो जन्मनाशराहित्यम्                       | . | . | . | ३१ |
| निरुपाधिकात्मदर्शनम्                          | . | . | . | ३१ |
| शब्दब्रह्माध्यानेन परब्रह्माधिगमः             | . | . | . | ३२ |
| सर्वभूतप्रत्यगात्मन एकत्वम्                   | . | . | . | ३३ |
| तत्साक्षात्कारसाधनं ध्यानम्                   | . | . | . | ३४ |

### क्षुरिकोपनिषत्

|                      |   |   |   |    |
|----------------------|---|---|---|----|
| योगाधिकारः           | . | . | . | ३७ |
| आसनप्राणायामौ        | . | . | . | ३७ |
| प्रत्याहारः          | . | . | . | ३८ |
| धारणाध्यानसमाधयः     | . | . | . | ४० |
| योगसाधनं तदधिकारी च. | . | . | . | ४३ |
| सामाधिफलम्           | . | . | . | ४४ |

### तेजोविन्दूपनिषत्

#### प्रथमोऽध्यायः

|                                   |   |   |   |    |
|-----------------------------------|---|---|---|----|
| निर्विशेषतेजोविन्दुस्वरूपम्       | . | . | . | ४९ |
| निर्विशेषब्रह्मावगतिसाधनानि       | . | . | . | ४६ |
| परवस्तुन एव सविशेषत्वादिभावाः     | . | . | . | ४८ |
| परब्रह्मावगतिसाधनं पञ्चदशाङ्गयोगः | . | . | . | ५१ |
| पञ्चदशाङ्गानां लक्षणानि           | . | . | . | ५१ |
| योगाभ्यासेन ब्रह्मभावनम्          | . | . | . | ५५ |
| समाधिविम्बशमनम्                   | . | . | . | ५५ |
| समाधिना शुद्धब्रह्मपदप्राप्तिः    | . | . | . | ५६ |

### द्वितीयोऽध्यायः

|                           |   |   |   |    |
|---------------------------|---|---|---|----|
| सर्वस्य अखण्डैकरसत्त्वम्  | . | . | . | ९८ |
| सर्वस्य चिन्मात्रत्वभावना | . | . | . | ६० |
| विद्याफलम्                | . | . | . | ६३ |

### तृतीयोऽध्यायः

|                                    |   |   |   |    |
|------------------------------------|---|---|---|----|
| आत्मनः सच्चिदानन्दब्रह्मत्वानुभवः  | . | . | . | ६४ |
| आत्मनि सर्वप्रविभक्तरूपाभावानुभवः  | . | . | . | ७० |
| स्वेतरस्य सर्वस्य असत्त्वानुभवः    | . | . | . | ६१ |
| अहंब्रह्मास्मीत्यात्ममन्त्वाभ्यासः | . | . | . | ७२ |

### चतुर्थोऽध्यायः

|   |   |   |   |    |
|---|---|---|---|----|
| जीवन्मुक्तिः—प्रत्यगभिन्नब्रह्मभावापत्तिः               | . | . | . | ७४ |
| विदेहमुक्तिः—निष्प्रतियोगिकस्वमात्रब्रह्ममात्रावस्थानम् | . | . | . | ७८ |
| स्वात्मनिष्ठाविधिः                                      | . | . | . | ८९ |

### पञ्चमोऽध्यायः

|  |   |   |   |    |
|--|---|---|---|----|
| स्वात्मयाधात्म्यम्                                   | . | . | . | ८६ |
| अनात्मनः सर्वस्य मिथ्यात्मव्याप्तिः                  | . | . | . | ८८ |
| अहंवस्तुनः परमात्मत्वम्                              | . | . | . | ९४ |
| अविद्यातत्कार्यप्रपञ्चस्य निष्प्रतियोगिकाभावरूपत्वम् | . | . | . | ९६ |
| सङ्कल्पादिरूपं मन एव सर्वानर्थहेतुः                  | . | . | . | ९८ |

### षष्ठोऽध्यायः

|                                      |   |   |   |     |
|--------------------------------------|---|---|---|-----|
| सर्वस्य सच्चिदानन्दत्वम्             | . | . | . | १०० |
| सर्वस्य ब्रह्मत्वम्                  | . | . | . | १०१ |
| ब्रह्मणः निष्प्रतियोगिकस्वमात्रत्वम् | . | . | . | १०६ |

|                                |   |   |   |   |     |
|--------------------------------|---|---|---|---|-----|
| स्वातिरिक्तप्रपञ्चस्यासत्त्वम् | . | . | . | . | १०८ |
| अखंचलोति भावनाविधिः            | . | . | . | . | ११२ |
| शास्त्रसंप्रदायविधिः           | . | . | . | . | ११९ |

### त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्

|  |   |   |   |   |     |
|--|---|---|---|---|-----|
| आत्मब्रह्मविषये प्रश्नाः               | . | . | . | . | ११६ |
| सर्वस्य शिवत्वम्                       | . | . | . | . | ११७ |
| ब्रह्मणः अखिलजगदुत्पत्तिः              | . | . | . | . | ११७ |
| एकस्य पिण्डस्य बहुधा विभागः            | . | . | . | . | ११८ |
| आकाशादीनामंशभेदाः                      | . | . | . | . | ११८ |
| तेषां विषयभेदाः                        | . | . | . | . | ११९ |
| सूक्ष्मभूतमात्राः                      | . | . | . | . | ११९ |
| आध्यात्मिकादिविभागः                    | . | . | . | . | ११९ |
| ज्ञातृव्यापाराभिव्यक्तिः               | . | . | . | . | १२० |
| ब्रह्मणः सकाशात् पञ्चीकरणान्ता सृष्टिः | . | . | . | . | १२१ |
| चराचरात्मकविश्वसृष्टिः                 | . | . | . | . | १२२ |
| अवस्थाचतुष्यम्                         | . | . | . | . | १२३ |
| दक्षिणोत्तरायणगतिः                     | . | . | . | . | १२९ |
| सद्योमुक्तिप्रापकं ज्ञानम्             | . | . | . | . | १२६ |
| ज्ञानोपायभूतो योगः                     | . | . | . | . | १२७ |
| कर्मज्ञानयोगौ                          | . | . | . | . | १२७ |
| निर्विशेषब्रह्मज्ञानोपायः अष्टांगयोगः  | . | . | . | . | १२८ |
| दशविधयमनियमाः                          | . | . | . | . | १२९ |
| हट्योगरीत्या आसनानि                    | . | . | . | . | १२९ |
| नाडीशुद्धिपूर्वकप्राणायामविधिः         | . | . | . | . | १३२ |

|   |   |   |   |     |
|---|---|---|---|-----|
| अग्निमण्डलस्वरूपम्                      | . | . | . | १३२ |
| नाभिस्थानम्                             | . | . | . | १३३ |
| नाडीचके जीवभ्रमणम्                      | . | . | . | १३३ |
| कुण्डलिनीस्थानं तद्वापारश्च             | . | . | . | १३४ |
| देहमध्यस्थनाडीकन्दस्वरूपम्              | . | . | . | १३४ |
| नाडीचरा वायवः                           | . | . | . | १३६ |
| नाडीज्ञानपुरस्सगा नाडीशुद्धिः           | . | . | . | १३८ |
| योगाभ्यासस्थलं तद्विभिश्च               | . | . | . | १३८ |
| चिन्मुद्रासहितकेवलकुंभकम्               | . | . | . | १३८ |
| सहितप्राणायामः                          | . | . | . | १३९ |
| नाडीशोधकप्राणायामः                      | . | . | . | १३९ |
| प्राणायामफलम्                           | . | . | . | १४० |
| प्राणधारणात् रोगनाशः                    | . | . | . | १४१ |
| षणमुखीमुद्रया मनोजयः                    | . | . | . | १४२ |
| प्राणगतिः                               | . | . | . | १४२ |
| प्राणगतिज्ञानेन योगावासिः               | . | . | . | १४३ |
| मर्मस्थानेषु प्राणस्य प्रत्याहारः       | . | . | . | १४४ |
| धारणाप्रकारः                            | . | . | . | १४५ |
| देहावयवेषु पञ्चभूतधारणम्                | . | . | . | १४६ |
| पृथिव्यादिषु अनिरुद्धादिव्यानं तत्पलं च | . | . | . | १४६ |
| परमात्मव्यानं तत्फलं च                  | . | . | . | १४७ |
| तुरीयातीतं वासुदेवचैतन्यम्              | . | . | . | १४७ |
| सगुणव्यानम्                             | . | . | . | १४८ |
| निर्गुणव्यानम्                          | . | . | . | १४९ |
| सविशेषज्ञानस्यापि मुक्तिहेतुत्वम्       | . | . | . | १४९ |

## दर्शनोपनिषत्

### प्रथमखण्डः०

|                              |   |   |   |   |   |   |     |
|------------------------------|---|---|---|---|---|---|-----|
| जीवन्मुक्तिसाधनं अष्टांगयोगः | . | . | . | . | . | . | १९२ |
| अष्टांगोद्देशः               | . | . | . | . | . | . | १९३ |
| दशविधयमः                     | . | . | . | . | . | . | १९३ |
| आहिसा                        | . | . | . | . | . | . | १९३ |
| मत्यम्                       | . | . | . | . | . | . | १९३ |
| अस्तेयम्                     | . | . | . | . | . | . | १९४ |
| ब्रह्मचर्यम्                 | . | . | . | . | . | . | १९४ |
| दया                          | . | . | . | . | . | . | १९४ |
| आर्जिवम्                     | . | . | . | . | . | . | १९४ |
| क्षमा                        | . | . | . | . | . | . | १९६ |
| श्रुतिः                      | . | . | . | . | . | . | १९६ |
| मिताहारः                     | . | . | . | . | . | . | १९६ |
| शौचम्                        | . | . | . | . | . | . | १९६ |
| ब्रह्मात्मवेदनविधिः          | . | . | . | . | . | . | १९६ |

### द्वितीयखण्डः

|                  |   |   |   |   |   |   |     |
|------------------|---|---|---|---|---|---|-----|
| दशविधनियमः       | . | . | . | . | . | . | १९६ |
| तपः              | . | . | . | . | . | . | १९६ |
| सन्तोषः          | . | . | . | . | . | . | १९७ |
| आस्तिक्यम्       | . | . | . | . | . | . | १९७ |
| दानम्            | . | . | . | . | . | . | १९७ |
| ईश्वरपूजनम्      | . | . | . | . | . | . | १९७ |
| सिद्धान्तश्रवणम् | . | . | . | . | . | . | १९७ |
| हीः              | . | . | . | . | . | . | १९८ |

|      |   |   |   |   |   |     |
|------|---|---|---|---|---|-----|
| मतिः | . | . | . | . | . | १९८ |
| जपः  | . | . | . | . | . | १९८ |

**तृतीयखण्डः**

|            |   |   |   |   |   |     |
|------------|---|---|---|---|---|-----|
| आसनानि नव  | . | . | . | . | . | १९९ |
| स्वस्तिकम् | . | . | . | . | . | १९९ |
| गोमुखम्    | . | . | . | . | . | १९९ |
| पद्मम्     | . | . | . | . | . | १९९ |
| वीरासनम्   | . | . | . | . | . | १३० |
| सिंहासनम्  | . | . | . | . | . | १६० |
| भद्रासनम्  | . | . | . | . | . | १६० |
| मुक्तासनम् | . | . | . | . | . | १६० |
| मयूरासनम्  | . | . | . | . | . | १६१ |
| सुखासनम्   | . | . | . | . | . | १६१ |
| आसनजयफलम्  | . | . | . | . | . | १६१ |

**चतुर्थखण्डः**

|                                     |   |   |   |   |   |     |
|-------------------------------------|---|---|---|---|---|-----|
| देहप्रमाणम्                         | . | . | . | . | . | १६१ |
| नाडीपरिगणनम्                        | . | . | . | . | . | १६२ |
| कुण्डल्याः स्थानं स्वरूपं च         | . | . | . | . | . | १६३ |
| नाडीस्थ्यानानि                      | . | . | . | . | . | १६३ |
| नाडीषु वायुसञ्चारः                  | . | . | . | . | . | १६४ |
| वायुव्यापागः                        | . | . | . | . | . | १६५ |
| नाडीदेवताः                          | . | . | . | . | . | १६६ |
| नाडीषु चन्द्रसूर्यसंचारः            | . | . | . | . | . | १६६ |
| नाडीषु संवत्सरात्मकप्राणसूर्यसंचारः | . | . | . | . | . | १६६ |
| अन्तस्तीर्थप्राशस्त्यम्             | . | . | . | . | . | १६७ |

|                         |   |   |   |   |     |
|-------------------------|---|---|---|---|-----|
| आत्मनि शिवदृष्टिः       | . | . | . | . | १६९ |
| ब्रह्मशर्नेन ब्रह्मभावः | . | . | . | . | १६९ |

**पञ्चमखण्डः**

|                    |   |   |   |   |     |
|--------------------|---|---|---|---|-----|
| नाडीशोधनम्         | . | . | . | . | १७० |
| नाडीशुद्धिचिह्नानि | . | . | . | . | १७२ |
| स्वात्मशुद्धिः     | . | . | . | . | १७२ |

**षष्ठमखण्डः**

|  |   |   |   |   |     |
|--|---|---|---|---|-----|
| प्राणायामलक्षणम्                                   | . | . | . | . | १७२ |
| पूरकादिलक्षणम्                                     | . | . | . | . | १७४ |
| प्राणायामसिद्धयः                                   | . | . | . | . | १७४ |
| रोगनिवर्तकप्राणायामभेदाः                           | . | . | . | . | १७५ |
| षष्ठमुखीमुद्राऽभ्यासेन वायुजयः                     | . | . | . | . | १७६ |
| वायुजयचिह्नानि                                     | . | . | . | . | १७८ |
| वायुजयेन रोगपापविनाशवैराग्यपूर्विका ज्ञानोत्पत्तिः | . | . | . | . | १७८ |

**सप्तमखण्डः**

|                             |   |   |   |   |     |
|-----------------------------|---|---|---|---|-----|
| प्रत्याहारलक्षणं तद्देदाश्च | . | . | . | . | १७९ |
| प्रत्याहारफलम्              | . | . | . | . | १८० |
| वायुधारणात्मकप्रत्याहारः    | . | . | . | . | १८० |
| वेदान्तसंमतप्रत्याहारः      | . | . | . | . | १८० |

**अष्टमखण्डः**

|                  |   |   |   |   |     |
|------------------|---|---|---|---|-----|
| पञ्चभूतेषु धारणा | . | . | . | . | १८१ |
| आत्मनि धारणा     | . | . | . | . | १८२ |

**नवमखण्डः**

|                        |   |   |   |   |   |   |     |
|------------------------|---|---|---|---|---|---|-----|
| सविशेषब्रह्मध्यानम्    | . | . | . | . | . | . | १८२ |
| निर्विशेषब्रह्मध्यानम् | . | . | . | . | . | . | १८३ |
| ध्यानफलम्              | . | . | . | . | . | . | १८३ |

**दशमखण्डः**

|                  |   |   |   |   |   |   |     |
|------------------|---|---|---|---|---|---|-----|
| समाधिस्वरूपम्    | . | . | . | . | . | . | १८३ |
| ब्रह्मात्रावशेषः | . | . | . | . | . | . | १८४ |
| उपसंहारः         | . | . | . | . | . | . | १८५ |

**ध्यानविन्दूपनिषत्**

|                                       |   |   |   |   |   |   |     |
|---------------------------------------|---|---|---|---|---|---|-----|
| ब्रह्मध्यानयोगमहिमा                   | . | . | . | . | . | . | १८६ |
| ब्रह्मणः सूक्ष्मत्वं सर्वव्यापकत्वं च | . | . | . | . | . | . | १८७ |
| प्रणवस्वरूपम्                         | . | . | . | . | . | . | १८९ |
| प्रणवध्यानविधिः                       | . | . | . | . | . | . | १९० |
| प्राणायामपूर्वकं प्रणवध्यानम्         | . | . | . | . | . | . | १९१ |
| प्रकागन्तरेण प्रणवध्यानम्             | . | . | . | . | . | . | १९२ |
| सविशेषब्रह्मध्यानम्                   | . | . | . | . | . | . | १९२ |
| त्रिमूर्तिध्यानम्                     | . | . | . | . | . | . | १९३ |
| हृदये ध्यानं तत्फलं च                 | . | . | . | . | . | . | १९४ |
| ब्रह्मायतने प्राणविलापनम्             | . | . | . | . | . | . | १९५ |
| घटंगयोगः                              | . | . | . | . | . | . | १९६ |
| आसनचतुष्टयम्                          | . | . | . | . | . | . | १९६ |
| योनिस्थानम्                           | . | . | . | . | . | . | १९७ |
| मूलाधारादिचतुश्क्रस्वरूपम्            | . | . | . | . | . | . | १९८ |
| नाडीचक्रम्                            | . | . | . | . | . | . | १९८ |

|                                       |   |   |   |     |
|---------------------------------------|---|---|---|-----|
| प्राणादिदशवायवः                       | . | . | . | १९९ |
| जीवस्य प्राणापानवशत्वम्               | . | . | . | २०० |
| योगंकाले प्राणापानैक्यम्              | . | . | . | २०० |
| अजपाहंसविद्या                         | . | . | . | २०० |
| कुण्डलिनीबोधनेन मोक्षद्वारविभेदनम्    | . | . | . | २०१ |
| ब्रह्मचर्यादिना कुण्डलिनीबोधः         | . | . | . | २०२ |
| बन्धत्रयम्                            | . | . | . | २०३ |
| खेचर्गीमुद्राऽभ्यासः                  | . | . | . | २०४ |
| खेचर्यभ्यासेन वज्रोऽल्लिसिद्धिः       | . | . | . | २०४ |
| द्विविधविन्दैक्यबोधतो जीवन्मुक्तन्वम् | . | . | . | २०५ |
| महामुद्राऽभ्यासः                      | . | . | . | २०६ |
| हृदये आत्मसाक्षात्कारः                | . | . | . | २०७ |
| नादानुसन्धानतः आत्मदर्शनम्            | . | . | . | २१० |

### नादविन्दूपनिषत्

|   |   |   |   |     |
|---|---|---|---|-----|
| वैराजप्रणवस्वरूपम्                                | . | . | . | २१४ |
| वैराजविद्याफलम्                                   | . | . | . | २१५ |
| प्रणवस्य प्रधानमात्राचतुष्टयस्वरूपम्              | . | . | . | २१६ |
| प्रणवस्य व्यष्टिसमष्टयात्मकद्वादशमात्राभेदविवरणम् | . | . | . | २१७ |
| उपासकानां तत्त्वमात्राकालोत्कमणफलम्               | . | . | . | २१७ |
| निर्विशेषब्रह्मस्वरूपं, तज्ज्ञानफलं च             | . | . | . | २१८ |
| ज्ञानिनः प्राग्बधकर्मभावाभावविचारः                | . | . | . | २१९ |
| तुरीयतुरीयाधिगमोपायभूतं नादानुसन्धानम्            | . | . | . | २२१ |
| नादस्य मनोनियमनसामर्थ्यम्                         | . | . | . | २२३ |
| उपेयनादस्वरूपम्                                   | . | . | . | २२४ |
| नादारूढयोगिनां विदेहमुक्तिलाभः                    | . | . | . | २२५ |

## पाशुपतब्रह्मोपनिषत्

### पूर्वकाण्डः

|   |     |
|---|-----|
| जगन्नियन्त्रविषयाः सप्तप्रश्नाः . . . . .       | २२७ |
| सप्तप्रश्नानामुत्तराणि . . . . .                | २२८ |
| सृष्टियज्ञे कर्त्तादिनिरूपणम् . . . . .         | २३  |
| नादानुसन्धानयज्ञः . . . . .                     | २३  |
| परमात्मनो हंसत्वनिरूपणम् . . . . .              | २३  |
| यज्ञसूत्रब्रह्मसूत्रयोः साम्यम् . . . . .       | २३१ |
| ब्रह्मयज्ञो ब्राह्मणाधिकारिकः . . . . .         | २३२ |
| प्रणवहंसस्य ब्रह्मयज्ञत्वम् . . . . .           | २३२ |
| ब्रह्मसन्ध्याक्रियारूपो मनोयागः . . . . .       | २३३ |
| हंसप्रणवाभेदानुसन्धानं अन्तर्यागः . . . . .     | २३३ |
| षणवतिहंससूत्राणि . . . . .                      | २३५ |
| हंसात्मविद्यैव मुक्तिः . . . . .                | २३६ |
| बाह्यपेक्षया आन्तरयागस्य श्रेष्ठत्वम् . . . . . | २३७ |
| ज्ञानयज्ञरूपोऽश्वमेघः . . . . .                 | २३८ |
| तारकहंसज्योतिः . . . . .                        | २३८ |

### उत्तरकाण्डः

|   |     |
|---|-----|
| अखण्डवृत्त्या ब्रह्मसम्पत्तिः . . . . . | २३९ |
| परमात्मनि जगदाविभावो मायिकः . . . . .   | २४० |
| हंसार्कप्रणवाभ्यानविधिः . . . . .       | २४१ |
| परचित प्रव करणप्रेरकत्वम् . . . . .     | २४२ |
| आत्मान्यस्य मायाकल्पितत्वम् . . . . .   | २४३ |
| वस्तुतः स्वात्मनि मायाऽसम्भवः . . . . . | २४३ |
| आत्मज्ञानिनः ब्रह्मात्मत्वम् . . . . .  | २४४ |

|                                |   |   |   |     |
|--------------------------------|---|---|---|-----|
| सत्यादिपरविद्यासाधनम्          | . | . | . | २४९ |
| स्वज्ञाय क्वचिद्गमनाभावः       | . | . | . | २४६ |
| ब्रह्मज्ञानिनः अभक्ष्याभावः    | . | . | . | २४६ |
| ज्ञानिनः स्वसर्वात्मत्वदर्शनम् | . | . | . | २४७ |

### ब्रह्मविद्योपनिषद्

|   |   |   |   |     |
|---|---|---|---|-----|
| ब्रह्मविद्यारहस्यार्थप्रणवब्रह्मसूचनम्            | . | . | . | २४९ |
| प्रणवमात्राचतुष्टयप्रपञ्चनम्                      | . | . | . | २५० |
| सुषुप्तायोगेन नाडीसूर्ययोः भेदनम्                 | . | . | . | २५१ |
| प्रणवनादल्येन मोक्षप्राप्तिः                      | . | . | . | २५१ |
| जीवस्वरूपनिरूपणम्                                 | . | . | . | २५२ |
| बन्धमोक्षकारणनिरूपणम्                             | . | . | . | २५२ |
| हंसविद्यैव परमेश्वरप्राप्तिः                      | . | . | . | २५४ |
| हंसविद्यागुरुमक्तिविधिः                           | . | . | . | २५५ |
| आत्मनःश्रुत्याचार्यैकगम्यत्वम्                    | . | . | . | २५६ |
| सकलनिक्षलदेवताविवेकः                              | . | . | . | २५६ |
| योगस्य परमगोप्यत्वं उत्तमाभिकारिण एव दातव्यत्वं च | . | . | . | २५८ |
| केवलशास्त्रज्ञानवतोऽपि पापपुण्यलेपाभावः           | . | . | . | २५९ |
| त्रिविधा आचार्याः                                 | . | . | . | २५९ |
| प्रणवहंसानुसन्धानात्मकं प्रत्यक्ष्यजननम्          | . | . | . | २६० |
| हंसयोगलब्धज्ञानात् सायुज्यप्राप्तिः               | . | . | . | २६१ |
| हंसोपलब्धिस्थानम्                                 | . | . | . | २६२ |
| हंसमन्त्रानुस्मरणपूर्वकसमाध्यभ्यासः               | . | . | . | २६२ |
| हंसस्यासननिरूपणम्                                 | . | . | . | २६३ |
| हंसयोगाभ्यासक्रमः                                 | . | . | . | २६३ |
| हंसयोगिनाऽनुसन्धेयं आत्मस्वरूपम्                  | . | . | . | २६७ |

मण्डलशास्त्रोपनिषत्

## प्रथमे ब्राह्मणे प्रथमः खण्डः

|                            |   |   |   |   |     |
|----------------------------|---|---|---|---|-----|
| आत्मतत्त्वजिज्ञासा         | . | . | . | . | २७३ |
| सूक्ष्माष्टांगयोगप्रतिज्ञा | . | . | . | . | २७३ |
| चतुर्विधयमः                | . | . | . | . | २७४ |
| नवविधयमनियमः               | . | . | . | . | २७४ |
| आसनादिष्ठडंगविवरणम्        | . | . | . | . | २७५ |
| सूक्ष्मयोगाष्टांगज्ञानफलम् | . | . | . | . | २७६ |

## प्रथमे ब्राह्मणे द्वितीयः खण्डः

|                                 |   |   |   |   |     |
|---------------------------------|---|---|---|---|-----|
| देहपञ्चदोषनिरसनम्               | . | . | . | . | २७६ |
| तागकावलोकनं तत्कलं च            | . | . | . | . | २७६ |
| लक्ष्यत्रयावलोकनेन तागप्राप्तिः | . | . | . | . | २७७ |
| अन्तर्लक्ष्यदर्शनम्             | . | . | . | . | २७७ |
| वहिर्लक्ष्यदर्शनम्              | . | . | . | . | २७८ |
| मध्यलक्ष्यदर्शनम्               | . | . | . | . | २७८ |

## प्रथमे ब्राह्मणे तृतीयः खण्डः

|                                  |   |   |   |     |
|----------------------------------|---|---|---|-----|
| तारकामनस्कभेदेन द्विविधो योगः    | . | . | . | २७९ |
| मनोयोगविधिः                      | . | . | . | २८० |
| पूर्वतारकम्                      | . | . | . | २८० |
| उत्तरतारकम्                      | . | . | . | २८० |
| उत्तरतारकस्य शास्त्रवीपर्यवसानम् | . | . | . | २८० |
| अन्तर्लक्ष्यलक्षणम्              | . | . | . | २८१ |

## प्रथमे ब्राह्मणे चतुर्थः खण्डः

अन्तर्लक्ष्ये वादिविप्रतिपत्तिः १२१

|  |   |   |   |     |
|--|---|---|---|-----|
| सर्वलक्ष्यानुस्यूतात्मदर्शनविधिः               | . | . | . | २८२ |
| आङ्गमनिष्ठस्य ब्रह्मभावप्राप्तिः               | . | . | . | २८२ |
| <b>द्वितीये ब्राह्मणे प्रथमः खण्डः</b>         |   |   |   |     |
| सर्वधारज्योतिरात्मनः अन्तर्लक्ष्यत्वम्         | . | . | . | २८३ |
| ज्योतिरात्मज्ञानफलम्                           | . | . | . | २८३ |
| शास्त्रव्या तदविगमः                            | . | . | . | २८४ |
| पूर्णिमादृष्टिविधिः                            | . | . | . | २८४ |
| पूर्णिमादृष्टेः शास्त्रवीपर्यवसानम्            | . | . | . | २८५ |
| मुद्रासिद्धिः तच्चिह्नानि च                    | . | . | . | २८५ |
| <b>द्वितीये ब्राह्मणे द्वितीयः खण्डः</b>       |   |   |   |     |
| प्रणवस्वरूपप्रत्यक्प्रकाशानुभवः, तच्चिह्नानि च | . | . | . | २८६ |
| षष्ठमुख्या प्रणवाधिगमः                         | . | . | . | २८६ |
| प्रणवविदः कर्मलेपाभावः                         | . | . | . | २८६ |
| उन्मन्यवस्थाद्वारा अमनस्कसिद्धिः               | . | . | . | २८७ |
| अमनस्कपूजाप्रकारः                              | . | . | . | २८७ |
| <b>द्वितीये ब्राह्मणे तृतीयः खण्डः</b>         |   |   |   |     |
| ब्रह्मानुसन्धानेन केवल्यप्राप्तिः              | . | . | . | २८८ |
| ब्रह्मवित्स्वरूपम्                             | . | . | . | २८९ |
| मुषुसिसमाध्योः भेदः                            | . | . | . | २८९ |
| ब्रह्मविदो ब्रह्मभावः                          | . | . | . | २९० |
| सङ्कल्पत्यागपूर्वकपरमात्मध्यानेन मुक्तिसिद्धिः | . | . | . | २९० |
| <b>द्वितीये ब्राह्मणे चतुर्थः खण्डः</b>        |   |   |   |     |
| जाग्रदादिपञ्चावस्थाः                           | . | . | . | २९० |
| प्रवृत्तिसङ्कल्पः                              | . | . | . | २९० |

|   |   |   |   |   |     |
|---|---|---|---|---|-----|
| निवृत्तिसङ्कल्पः                                  | . | . | . | . | २९१ |
| संसारतरणमार्गः                                    | . | . | . | . | २९१ |
| मनसो बन्धमोक्षहेतुत्वनिरूपणम्                     | . | . | . | . | २९२ |
| <b>द्वितीये ब्राह्मणे पञ्चमः खण्डः</b>            |   |   |   |   |     |
| निर्विकल्पकसमाध्यभ्यासेन ब्रह्मविद्वरत्वप्राप्तिः | . | . | . | . | २९३ |
| अपरिच्छिन्नानन्दरूपब्रह्मावाप्तिः                 | . | . | . | . | २९३ |
| <b>तृतीये ब्राह्मणे प्रथमः खण्डः</b>              |   |   |   |   |     |
| गाम्भर्वामुद्राऽन्वितं अमनस्कम्                   | . | . | . | . | २९४ |
| परमात्मप्रत्ययलक्ष्यदर्शनेन अमनस्कप्राप्तिः       | . | . | . | . | २९४ |
| ततः मंसाग्निवृत्तिः                               | . | . | . | . | २९५ |
| नारकमार्गाण करणविलयद्वाग मनोनाशः                  | . | . | . | . | २९५ |
| <b>तृतीये ब्राह्मणे द्वितीयः खण्डः</b>            |   |   |   |   |     |
| उन्मर्नाप्राप्त्या यागिनो ब्रह्मात्मभवनम्         | . | . | . | . | २९६ |
| <b>चतुर्थ ब्राह्मणम्</b>                          |   |   |   |   |     |
| आंमपञ्चकज्ञानं तत्कलं च                           | . | . | . | . | २९७ |
| गजयोगमर्वस्त्रक्रांडीकरणम्                        | . | . | . | . | २९८ |
| <b>पञ्चम ब्राह्मणम्</b>                           |   |   |   |   |     |
| परमात्मनि मनोलयाभ्यासविधिः                        | . | . | . | . | २९८ |
| अमनस्काभ्यासेन ब्रह्मावस्थानसिद्धिः               | . | . | . | . | २९९ |
| अमनस्कसिद्ध्रस्य महिमा                            | . | . | . | . | ३०० |

महावाक्योपनिषद्

|                                    |   |   |   |     |
|------------------------------------|---|---|---|-----|
| अपरोक्षानुभवोपदेशाधिकारी           | . | . | . | ३०१ |
| विद्याऽविद्ययोः स्वरूपं कार्यं च   | . | . | . | ३०२ |
| हंसविद्याऽभ्यासेन परमात्माविर्भावः | . | . | . | ३०३ |
| तत्त्वज्ञानवृत्तिस्वरूपम्          | . | . | . | ३०४ |
| प्रणवहंसज्योतिध्यानम्              | . | . | . | ३०५ |
| हंसज्योतिर्विद्याफलम्              | . | . | . | ३०६ |

योगकुण्डल्युपनिषत्

रथमोऽध्यायः

|                           |   |   |   |   |     |
|---------------------------|---|---|---|---|-----|
| वायुजयोपायत्रयम्          | . | . | . | . | ३०७ |
| मिताहारः                  | . | . | . | . | ३०८ |
| पश्चवज्ञासने              | . | . | . | . | ३०८ |
| शक्तिचालनं तत्साधनद्वयं च | . | . | . | . | ३०८ |
| मरस्वतीचालनम्             | . | . | . | . | ३०९ |
| प्राणायामभेदाः            | . | . | . | . | ३१० |
| सूर्यकुंभकः               | . | . | . | . | ३१० |
| उज्जायीकुंभकः             | . | . | . | . | ३११ |
| शीतलीकुंभकः               | . | . | . | . | ३११ |
| भख्कुंभकः                 | . | . | . | . | ३१२ |
| बन्धत्रयविधिः             | . | . | . | . | ३१२ |
| मूलबन्धः                  | . | . | . | . | ३१३ |
| उड्डियाणबन्धः             | . | . | . | . | ३१३ |
| जालन्धरबन्धः              | . | . | . | . | ३१४ |
| अभ्यासकुंभकसङ्ख्यानियमः   | . | . | . | . | ३१४ |

|  |   |   |   |     |
|--|---|---|---|-----|
| योगाभ्यासविप्राः तत्यागश्च                 | . | . | . | ३१४ |
| योगाभ्यासेन कुण्डलिनीबोधः                  | . | . | . | ३१९ |
| ग्रन्थित्रयभेदेन कुण्डलिन्याः सहस्रारगमनम् | . | . | . | ३१६ |
| प्राणादिविलयः विलीनानां बहिःप्रसरश्च       | . | . | . | ३१७ |
| समाधौ सर्वस्य चिन्मात्रत्वानुभवः           | . | . | . | ३१८ |
| समाधियोगः                                  | . | . | . | ३२० |

### द्वितीयोऽध्यायः

|                          |   |   |   |     |
|--------------------------|---|---|---|-----|
| खेचरीविद्या              | . | . | . | ३२१ |
| खेचरीमन्त्रराजोद्धारः    | . | . | . | ३२४ |
| मन्त्रजपात् खेचरीसिद्धिः | . | . | . | ३२४ |
| खेचर्यभ्यासक्रमः         | . | . | . | ३२९ |

### तृतीयोऽध्यायः

|   |   |   |   |     |
|---|---|---|---|-----|
| मेठनमन्त्रः                                 | . | . | . | ३२८ |
| अमावास्याप्रतिपत्त्यूर्णिमाभेदेन दृष्टिभेदः | . | . | . | ३२९ |
| पूर्णिमादृष्टिविधिः                         | . | . | . | ३२९ |
| प्राणाभ्यासात् विराङ् पापत्तिः              | . | . | . | ३३१ |
| अभ्यासयोगेन विना न स्वात्मप्रकाशः           | . | . | . | ३३२ |
| गुरुपदेशात् ब्रह्मज्ञानम्                   | . | . | . | ३३२ |
| वाग्वृत्यधिष्ठानं ब्रह्म                    | . | . | . | ३३३ |
| विश्वादिप्रपञ्चधिष्ठानं ब्रह्म              | . | . | . | ३३३ |
| निष्प्रतियोगिकं ब्रह्म                      | . | . | . | ३३४ |
| ब्रह्मसिद्ध्युपायभूतं ध्यानम्               | . | . | . | ३३४ |
| जीवन्मुक्तिविदेहमुक्ती                      | . | . | . | ३३९ |

## योगचूडामण्डुपनिषत्

|                                      |   |   |   |     |
|--------------------------------------|---|---|---|-----|
| योगागपटकम्.                          | . | . | . | ३३७ |
| योगसिद्धये आवश्यकं देहतत्त्वज्ञानम्. | . | . | . | ३३८ |
| मूलधारादिचक्राणि                     | . | . | . | ३३८ |
| योनिस्थाने परमज्योतिर्दर्शनम्        | . | . | . | ३३८ |
| स्वाधिष्ठानादिचक्रलक्षणम्            | . | . | . | ३३९ |
| नाडीमहाचक्रम्                        | . | . | . | ३४० |
| नाडीस्थानानि                         | . | . | . | ३४१ |
| नाडीसञ्चारिवायवः तद्वापाराश्च        | . | . | . | ३४१ |
| प्राणचलनाचलनाभ्यां जीवचलनाचलने       | . | . | . | ३४२ |
| अजपागायत्र्या अनुसन्धानम्            | . | . | . | ३४३ |
| कुण्डलिन्या मोक्षद्वारभेदनम्         | . | . | . | ३४३ |
| बन्धत्रयम्                           | . | . | . | ३४५ |
| खेचरीमुद्रा                          | . | . | . | ३४६ |
| वज्रोल्यादियोगिलक्षणम्               | . | . | . | ३४७ |
| महामुद्रा                            | . | . | . | ३४९ |
| प्रणवजपः                             | . | . | . | ३५० |
| प्रणवार्थरूपं ब्रह्म                 | . | . | . | ३५० |
| प्रणवावयवानां प्रत्येकमर्थः          | . | . | . | ३५२ |
| तुरीयोङ्गारागविद्योतब्रह्म           | . | . | . | ३५३ |
| प्रणवार्थतुरीयहंसः                   | . | . | . | ३५४ |
| केवलात्मप्रकाशकप्रणवजपः              | . | . | . | ३५६ |
| प्रणवानुष्ठायिनोऽपि प्राणजय आवश्यकः  | . | . | . | ३५७ |
| नाडीशुद्धिः प्राणायामसिद्धिः         | . | . | . | ३५६ |
| प्राणायामलक्षणम्                     | . | . | . | ३५७ |
| नाडीशोधनम्                           | . | . | . | ३५७ |

|  |     |
|--|-----|
| मात्रानियमपूर्वकः प्राणायामः . . . . .             | ३५७ |
| योगांगानां प्रत्येकं फलं तत्त्वागतम्यं च . . . . . | ३६९ |
| षण्मुखीमुद्राऽभ्यासेन नादाभिव्यक्तिः . . . . .     | ३६० |
| प्राणाभ्यासः सर्वरोगनिरासकः . . . . .              | ३६१ |
| प्राणाभ्यासे इन्द्रियप्रलयाहार आवश्यकः . . . . .   | ३६१ |

### योगतत्त्वोपनिषत्

|  |     |
|--|-----|
| अष्टांगयोगजिज्ञासा . . . . .                       | ३६३ |
| योगतत्त्वस्य दुर्लभत्वम् . . . . .                 | ३६४ |
| परस्यैव जीवत्वम् . . . . .                         | ३६५ |
| प्राकृतगुणवियुक्तस्य जीवस्य परमात्मत्वम् . . . . . | ३६६ |
| ज्ञानयोगयोः युगपदभ्यासः . . . . .                  | ३६६ |
| ज्ञानस्वरूपम् . . . . .                            | ३६६ |
| मन्त्रयोगादिः चतुर्विधो योगः . . . . .             | ३६७ |
| आगम्भादयो योगावस्थाः . . . . .                     | ३६७ |
| मन्त्रयोगलक्षणम् . . . . .                         | ३६८ |
| ल्ययोगलक्षणम् . . . . .                            | ३६८ |
| हठयोगांगानि . . . . .                              | ३६८ |
| यमनियमासनेषु प्रधानांगानि . . . . .                | ३६९ |
| योगाभ्यासविघ्नागः . . . . .                        | ३६९ |
| प्राणायामोचितमठासनयोः स्वरूपम् . . . . .           | ३७० |
| प्राणायामारम्भप्रकारः . . . . .                    | ३७० |
| मात्रानियमपूर्वकः प्राणायामः . . . . .             | ३७१ |
| आन्तराळिकफलं नाडीशुद्धिः तच्छानि च . . . . .       | ३७१ |
| योगाभ्यासकाले आहारादिनियमः . . . . .               | ३७२ |
| केवलकुम्भकसिद्धिः . . . . .                        | ३७२ |
| प्रस्वेदादिसिद्धयः . . . . .                       | ३७३ |

|   |   |   |     |
|---|---|---|-----|
| योगप्रतिबन्धनाशाय प्रणवजपः—आरम्भावस्था  | . | . | ३७४ |
| वटावस्था                                | . | . | ३७५ |
| प्रत्याहारलक्षणम्                       | . | . | ३७६ |
| धारणास्वरूपम्                           | . | . | ३७७ |
| धारणासिद्ध्यः तद्रोपनविधिश्च            | . | . | ३७८ |
| परिचयावस्था                             | . | . | ३७९ |
| पञ्चभूतमण्डलेषु पञ्चब्रह्मधारणानि       | . | . | ३८० |
| संगुणध्यानम्                            | . | . | ३८० |
| निर्गुणध्यानतः समाधिसिद्धिः             | . | . | ३८१ |
| सिद्ध्योगस्य स्वेच्छ्या देहत्यागात्यागो | . | . | ३८१ |
| महाबन्धलक्षणम्                          | . | . | ३८२ |
| महावेधलक्षणम्                           | . | . | ३८२ |
| खेचरीस्वरूपम्                           | . | . | ३८३ |
| बन्धत्रयस्वरूपं तत्फलं च                | . | . | ३८३ |
| विपरीतकरणीलक्षणं तत्फलं च               | . | . | ३८४ |
| वज्रोऽर्ठास्वरूपम्                      | . | . | ३८४ |
| अमरोऽर्थास्वरूपम्                       | . | . | ३८५ |
| राजयोगनिपत्तिः                          | . | . | ३८५ |
| वैराग्यहेतुनिरूपणम्                     | . | . | ३८६ |
| हृत्पद्मे प्रणवोपासनम्                  | . | . | ३८७ |
| सर्वकरणव्यापारोपरतिः आत्मावगत्युपायः    | . | . | ३८८ |

### योगशिखोपनिषत्

प्रथमोऽध्यायः

|                            |   |   |     |
|----------------------------|---|---|-----|
| मुक्तिमार्गजिज्ञासा        | . | . | ३९० |
| मुक्तिमार्गस्य दुर्लभत्वम् | . | . | ३९१ |

|  |   |   |   |     |
|--|---|---|---|-----|
| ब्रह्म केवलशास्त्रागम्यम् .            | . | . | . | ३९१ |
| ब्रह्मणो जीवभावः .                     | . | . | • | ३९२ |
| कामादिदोषविमुक्तर्जीवस्य शिवत्वम् .    | . | . | . | ३९२ |
| ज्ञानयोगाभ्यां दोषविनाशः .             | . | . | . | ३९३ |
| ज्ञानस्वरूपं तत्फलं च .                | . | . | . | ३९४ |
| आभासज्ञान्यज्ञानिनोरविद्वाः:           | . | . | . | ३९५ |
| आभासज्ञानिनो योगेन विना न माक्षसिद्धिः | . | . | . | ३९६ |
| आभासज्ञानिनां दुःखानिवृत्तिः           | . | . | . | ३९७ |
| अहमभाव एव सर्वानर्थमूलम्               | . | . | . | ३९८ |
| योगसिद्धस्य ईश्वरत्वं जीवन्मुक्तलं च   | . | . | . | ३९९ |
| आभासज्ञानिनां विडम्बनम्                | . | . | . | ४०० |
| तेषा सिद्धसंगत्या कृतकृत्यत्वम्        | . | . | . | ४०१ |
| ज्ञानयोगयोः मिथः कार्यकागणत्वम्        | . | . | . | ४०१ |
| योग एव परमो माक्षमार्गः                | . | . | . | ४०१ |
| योगसंस्कृतमनस्येव आत्मज्ञानात्पत्तिः   | . | . | . | ४०२ |
| योगाभ्यास एव प्रथमकृत्यम्              | . | . | . | ४०३ |
| योगशिखोपदेशः                           | . | . | . | ४०४ |
| योगाभ्यासात् परमपदसाक्षात्कारः         | . | . | . | ४०५ |
| ध्यानाशक्तस्य पुण्यलोकप्राप्तिः        | . | . | . | ४०६ |
| लब्धयोगस्य स्वात्मबोधः .               | . | . | . | ४०६ |
| योगाभ्यासार्थं जितप्राणगुरुर्पसदनम्    | . | . | . | ४०७ |
| सरस्वतीचालनम्                          | . | . | . | ४०७ |
| कुण्डलीचालने ग्रन्थित्रयभेदः           | . | . | . | ४०७ |
| कुम्भकचतुष्टयाभ्यासविधिः               | . | . | . | ४०८ |
| सूर्यकुम्भकलक्षणम्                     | . | . | . | ४०९ |

|  |     |
|--|-----|
| उज्जायीकुम्भकलक्षणम् . . . . .                               | ४०९ |
| श्रीतार्थीकुम्भकलक्षणम् . . . . .                            | ४१० |
| भविकाकुम्भकलक्षणम् . . . . .                                 | ४१० |
| बन्वत्रयविधिः . . . . .                                      | ४१० |
| मूलबन्धः . . . . .   | ४११ |
| उद्गियाणबन्धः . . . . .                                      | ४११ |
| जालन्धरबन्धः . . . . .                                       | ४१२ |
| कुण्डल्या प्रन्थित्रयविभेदनेन निर्विकल्पकप्राप्तिः . . . . . | ४१२ |
| मुषुम्नायाः मोक्षमार्गत्वं कालभोक्तृत्वं च . . . . .         | ४१३ |
| मुषुम्नायोगेन ब्रह्मज्ञानसिद्धिः . . . . .                   | ४१४ |
| योगाभ्यासेन स्वरूपावस्थितिसिद्धिक्रमः . . . . .              | ४१५ |
| मन्त्रादियोगचतुष्टयात्मको महायोगः . . . . .                  | ४१६ |
| मन्त्रयोगः . . . . .   | ४१६ |
| हठयोगः . . . . .   | ४१६ |
| लथयोगः . . . . .   | ४१७ |
| गजयोगः . . . . .   | ४१७ |
| योगसामान्यस्वरूपं योगेन मुक्तिप्राप्तिश्च . . . . .          | ४१७ |
| असिद्धयोगस्य मृतस्य उत्तरजन्मनि सिद्धिप्रकारः . . . . .      | ४१८ |
| अभ्यासयोगादेव मुक्तिः . . . . .                              | ४१८ |
| योगिनः सर्वैश्वर्यजीवन्मुक्त्यादिसिद्धिलाभः . . . . .        | ४१९ |
| कृत्रिमाकृत्रिमसिद्धीनां गोपनविधिः . . . . .                 | ४२० |
| योगसिद्धजीवन्मुक्तयोः सूचकम् . . . . .                       | ४२१ |
| देहे सत्यपि ज्ञानिनो विदेहमुक्तिलाभः . . . . .               | ४२२ |
| पिण्डाण्डस्य शिवालयत्ववर्णनम् . . . . .                      | ४२४ |
| आधारषट्कपीठचतुष्टययोः विवरणम् . . . . .                      | ४२६ |

### द्वितीयोऽध्यायः

|  |   |   |   |   |     |
|--|---|---|---|---|-----|
| योगज्ञानाधिकारी                            | . | . | . | . | ४२६ |
| प्रणवाख्यमूलमन्त्रमहिमा                    | . | . | . | . | ४२७ |
| मूलमन्त्रत्वनिर्वचनम्                      | . | . | . | . | ४२८ |
| नाटलिगत्वनिर्वचनम्                         | . | . | . | . | ४२८ |
| सूत्रत्वनिर्वचनम्                          | . | . | . | . | ४२८ |
| प्रणवस्य विन्दुपीठत्वम्                    | . | . | . | . | ४२९ |
| निर्विशेषप्रणवब्रह्मावगत्युपायः            | . | . | . | . | ४२९ |
| स्थूलसूक्ष्मबीजरूपैः त्रिविधं ब्रह्म       | . | . | . | . | ४३० |
| शुद्धतत्त्वस्य आत्ममन्त्राभ्यामैकवेदात्मम् | . | . | . | . | ४३० |
| परतत्त्वाभिव्यक्तिचिह्नानि                 | . | . | . | . | ४३० |
| नाटानुसन्धानमहिमा                          | . | . | . | . | ४३१ |
| गुरुभगवद्वक्तेरेव परतत्वज्ञानमन्मवः        | . | . | . | . | ४३१ |

### तृतीयोऽध्यायः

|  |   |   |   |   |     |
|--|---|---|---|---|-----|
| नाटब्रह्मणः पगपश्यन्त्यादिरूपचतुष्टयम्   | . | . | . | . | ४३२ |
| वैग्वरीस्म्वरूपविवरणम्                   | . | . | . | . | ४३३ |
| वैग्वरीसाक्षात्कागत् वाक्सिद्धिः         | . | . | . | . | ४३४ |
| पगमाक्षगस्वरूपम्                         | . | . | . | . | ४३४ |
| शब्दब्रह्मभक्तिभावनाभ्यां परब्रह्माधिगमः | . | . | . | . | ४३६ |

### चतुर्थोऽध्यायः

|                                       |   |   |   |   |     |
|---------------------------------------|---|---|---|---|-----|
| जीवस्य अमत्यत्वम्                     | . | . | . | . | ४३७ |
| सर्वप्रपञ्चस्य ब्रह्मत्वम्            | . | . | . | . | ४३७ |
| ब्रह्मातिरिक्तदर्शनात् अनर्थप्राप्तिः | . | . | . | . | ४३८ |
| व्यावहारिकप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वम्      | . | . | . | . | ४३९ |

|                                      |   |   |     |
|--------------------------------------|---|---|-----|
| स्वातिगिक्तप्रपञ्चम्य अन्यन्तासम्भवः | . | . | ४४० |
| अज्ञामकृतः आत्मनि देहाद्यागोपः       | . | . | ४४० |

### पञ्चमोऽध्यायः

|                                       |   |   |     |
|---------------------------------------|---|---|-----|
| देहस्य विष्णवालयत्वम्                 | . | . | ४४१ |
| आधारषट्कपीठचतुष्टयोः विवरणम्          | . | . | ४४२ |
| नाडीचक्रस्वरूपम्                      | . | . | ४४३ |
| बिन्दुग्रिसोमात्मकं ब्रह्मशरीरत्रयम्  | . | . | ४४४ |
| पञ्चग्रिभावना, तत्फलं च               | . | . | ४४५ |
| कुण्डलिनीप्रबोधनम्                    | . | . | ४४६ |
| खेचरीमुद्राऽध्यासः, तत्फलं च          | . | . | ४४६ |
| सहस्ररे नारायणभावनातः कवल्यसिद्धिः    | . | . | ४४७ |
| यथोक्तभावनायुक्तस्य तत्तत्सद्धयुपायाः | . | . | ४४७ |
| गुरुपूजाविधिः                         | . | . | ४४८ |
| योगशिखामहिमा                          | . | . | ४४९ |
| सिद्धिशु उपेक्षाविधिः                 | . | . | ४४९ |

### षष्ठोऽध्यायः

|  |   |   |     |
|--|---|---|-----|
| कुण्डलिनीशक्तेः उपासनाविधिः                        | . | . | ४९० |
| सुषुम्नास्वरूपम्                                   | . | . | ४९० |
| सुषुम्नायाः सर्वाधारत्वम्                          | . | . | ४९१ |
| पराशक्तेः उद्घोधनम्                                | . | . | ४९२ |
| परमात्मध्यानम्                                     | . | . | ४९३ |
| आधाग्न्यादिविलयन्मुक्तिः                           | . | . | ४९३ |
| चक्रेषु ब्रह्मादिमूर्तिध्यानेन ब्रह्मरन्ध्रप्रवेशः | . | . | ४९५ |
| ब्रह्मरन्ध्रविलीनकरणस्य मुक्तिः                    | . | . | ४९६ |
| सुषुम्नायोगमहिमा                                   | . | . | ४९६ |

|  |   |   |   |     |
|--|---|---|---|-----|
| चिच्छक्तिर्जीवयोः स्थानविवेकः                              | . | . | . | ४९७ |
| वायुवशस्य जीवस्य हंसमन्तजपत्रकागः                          | . | . | . | ४९८ |
| कुण्डल्यवस्थाभेदतो बन्धमुक्तिव्यवस्था                      | . | . | . | ४९९ |
| प्राणवस्य सर्वाधारत्वम्                                    | . | . | . | ४९९ |
| चित्तचलनाचलनाभ्यां बन्धमुक्ती                              | . | . | . | ४९९ |
| चित्तस्य स्वात्मानतिरिक्तत्वानुसन्धानेन ब्रह्मसाक्षात्कागः | . | . | . | ४६० |
| प्राणचित्तयोगविनाभावः                                      | . | . | . | ४६१ |
| नादानुसन्धानं मनोलयहेतुः                                   | . | . | . | ४६२ |
| मनोयुक्तप्राणाभ्यासविधिः                                   | . | . | . | ४६२ |
| गुरुपदेशपूर्वकं अभ्यासं विना न ज्ञानोदयः                   | . | . | . | ४६३ |

### वराहोपनिषद्

#### प्रथमाध्यायः

|                                   |   |   |   |     |
|-----------------------------------|---|---|---|-----|
| तत्त्वसंब्याविकल्पाः              | . | . | . | ४६४ |
| चतुर्विंशतितत्त्वानि              | . | . | . | ४६५ |
| पद्मत्रिंशततत्त्वानि              | . | . | . | ४६६ |
| षण्णवतितत्त्वानि                  | . | . | . | ४६६ |
| तत्त्वार्नातभगवद्भक्तेरेव मुक्तिः | . | . | . | ४६७ |
| तत्त्वज्ञानफलम्                   | . | . | . | ४६७ |

#### द्वितीयाध्यायः

|                                 |   |   |   |     |
|---------------------------------|---|---|---|-----|
| माधवनचतुष्टयसम्पत्तिः           | . | . | . | ४६८ |
| ब्रह्मात्मज्ञान्येव कृतकृत्यः   | . | . | . | ४६९ |
| आत्मनः सुखरूपत्वम्              | . | . | . | ४६९ |
| आत्मनः स्वयंप्रकाशत्वम्         | . | . | . | ४७० |
| आत्मनः मायातत्कार्यविलक्षणत्वम् | . | . | . | ४७० |

|  |   |   |     |
|--|---|---|-----|
| ब्रह्मात्मज्ञानिनः ब्रह्मभावः          | . | . | ४७१ |
| अष्टमज्ञानिनः कर्मवन्धाभावः            | . | . | ४७१ |
| अज्ञानज्ञानिनोः दर्शनस्थितिवैलक्षण्यम् | . | . | ४७२ |
| आत्मनि वस्तुतो बन्धुमुक्त्यभावः        | . | . | ४७३ |
| बन्धनिवृत्तये ब्रह्मात्मानुसन्धानम्    | . | . | ४७४ |
| ब्रह्मासिसाधनभूतस्योपवासस्य निर्वचनम्  | . | . | ४७५ |
| जीवन्मुक्तिसाधनं अपरोक्षज्ञानम्        | . | . | ४७६ |
| ब्राह्मान्तश्चिन्तात्यागविधिः          | . | . | ४७६ |
| भगवचिन्तनमेव सर्वचिन्तात्यागोपयः       | . | . | ४७६ |
| सर्वकल्पनातीतं ब्रह्मैव चिन्तनीयम्     | . | . | ४७७ |
| प्रत्यगभिन्नब्रह्म सर्वावस्थाऽतीतम्    | . | . | ४७९ |
| निर्विशेषब्रह्मज्ञानेन ब्रह्मभावः      | . | . | ४७९ |
| जगद्विलापनपुरस्सरं ब्रह्मकल्पचिन्तनम्  | . | . | ४८० |
| प्रत्यगभिन्नब्रह्मविषयको विद्वदनुभवः   | . | . | ४८० |
| समाधिसाधनं नादानुसन्धानम्              | . | . | ४८३ |

### तृतीयाध्यायः

|                                    |   |   |     |
|------------------------------------|---|---|-----|
| अद्वितीयपरमात्मानुभवः              | . | . | ४८५ |
| चिन्मात्रभावापत्तिसाधनमौनविधिः     | . | . | ४८६ |
| भगवतः सच्चिदानन्दत्वम्             | . | . | ४८७ |
| भगवद्वक्तिरेव मोक्षसाधनम्          | . | . | ४८७ |
| ईश्वरस्य सर्वसमत्वम्               | . | . | ४८८ |
| चित्तमेव संसारकारणम्               | . | . | ४८९ |
| अनात्मनि रागाद्यनुभवो विद्वलक्षणम् | . | . | ४९० |

### चतुर्थाध्यायः—१. ब्राह्मणम्

|   |   |   |     |
|---|---|---|-----|
| सप्तभूमिकासु जीवन्मुक्तिभूमिकाचतुष्टयम् | . | . | ४९१ |
| प्रणवविकृत्यकारादेः चातुर्विध्यम्       | . | . | ४९२ |

|                           |   |   |   |     |
|---------------------------|---|---|---|-----|
| अकागस्थूलादीनां अध्यक्षाः | . | . | . | ४०२ |
| प्रणवावयवशः भूमिकाभेदाः   | . | . | . | ४०३ |
| चतुर्विधाः जीवन्मुक्ताः   | . | . | . | ४०३ |

### चतुर्थाध्यायः—२. मन्त्रः

|                                       |   |   |   |     |
|---------------------------------------|---|---|---|-----|
| सप्तभूमिकानिर्देशः                    | . | . | . | ४०४ |
| सप्तभूमिकाविवरणम्                     | . | . | . | ४०४ |
| सप्तभूमिकासु बुद्ध्यवस्था भेदनिरूपणम् | . | . | . | ४०५ |
| केवलब्रह्मात्मभावनाविधिः              | . | . | . | ४०६ |
| जीवन्मुक्तलक्षणम्                     | . | . | . | ४०६ |
| भूमब्रह्मनिष्ठाविधिः                  | . | . | . | ४०८ |
| विहंगमपिर्णिलिकामार्गविवेकः           | . | . | . | ४०८ |
| ब्रह्मविद्विष्टप्रसगम्य पावनल्लम्     | . | . | . | ५०० |

### पञ्चमाध्यायः

|                               |   |   |   |     |
|-------------------------------|---|---|---|-----|
| योगेच्छाः देहज्ञानं आवश्यकम्  | . | . | . | ५०१ |
| थाससंख्या                     | . | . | . | ५०२ |
| देहक्षयनिवागणाय भूतधारणविधिः  | . | . | . | ५०२ |
| भूतधारणाय उड्याणत्रन्वाभ्यासः | . | . | . | ५०२ |
| ल्यमन्त्रहठारव्याख्यायो योगाः | . | . | . | ५०३ |
| योगाष्ट्रांगानि               | . | . | . | ५०३ |
| यमनियमभेदाः                   | . | . | . | ५०४ |
| एकादशासनानि                   | . | . | . | ५०४ |
| चक्रासनलक्षणम्                | . | . | . | ५०४ |
| प्राणायामः                    | . | . | . | ५०५ |
| देहतदवयवमानानि                | . | . | . | ५०५ |

|   |     |
|---|-----|
| नाडीचक्रम् . . . . .                              | ९०९ |
| तुङ्गीयदर्ढानाभ्यामविधिः . . . . .                | ९०६ |
| कालवञ्चनोपायभूतो योगः . . . . .                   | ९०७ |
| कायदादर्थबलादिसाधनभूताः योगाः . . . . .           | ९०७ |
| देहच्छायाज्ञानविधिः . . . . .                     | ९०८ |
| चतुष्पथबन्धोपायः सम्पुट्योगः . . . . .            | ९०९ |
| सम्पुटाभ्यासेन ब्रह्मज्ञानप्राप्तिक्रमः . . . . . | ९१० |
| शिवशक्तिस्थाननिरूपणम् . . . . .                   | ९१० |
| ब्रह्मानुसन्धानसहितप्राणायामः . . . . .           | ९११ |
| वेधकयोगाभ्यासक्रमः . . . . .                      | ९१२ |
| विघ्नशान्तये प्रणवजंपः . . . . .                  | ९१४ |
| आरम्भादियोगभूमिकाचतुष्यम् . . . . .               | ९१९ |
| एतद्विद्यापठनवेदनयोः फलम् . . . . .               | ९१६ |

### शाष्टिलयोपनिषत्

प्रथमाध्याये प्रथमः स्वण्डः

|                             |     |
|-----------------------------|-----|
| योगायांगनिर्देशः . . . . .  | ९१८ |
| दशविधयमनिरूपणम् . . . . .   | ९१९ |
| दशविधनियमनिरूपणम् . . . . . | ९२० |

प्रथमाध्याये द्वितीयः स्वण्डः

|                              |     |
|------------------------------|-----|
| अष्टविधासननिरूपणम् . . . . . | ९२१ |
| आसनजयफलम् . . . . .          | ९२२ |

प्रथमाध्याये तृतीयः स्वण्डः

|                              |     |
|------------------------------|-----|
| नाडीसंख्यादिज्ञासा . . . . . | ९२३ |
| शरीरप्राणप्रमाणम् . . . . .  | ९२३ |

|                                 |   |   |   |   |     |
|---------------------------------|---|---|---|---|-----|
| कुन्मकविधि:                     | . | . | . | . | ९२३ |
| मनुष्यादीनां अभिस्थानम्         | . | . | . | . | ९२३ |
| मनुष्यादिदेहमध्यलक्षणम्         | . | . | . | . | ९२४ |
| नाभिचक्रे जीवन्मणम्             | . | . | . | . | ९२४ |
| कुण्डलिनीस्वरूपचेष्टा:          | . | . | . | . | ९२४ |
| चतुर्दशनाड्यः                   | . | . | . | . | ९२५ |
| सुषुम्नानाडी                    | . | . | . | . | ९२६ |
| सुषुम्नां परितः इतरनाडीस्थानानि | . | . | . | . | ९२६ |
| प्राणादिदशावायुस्थानचेष्टा:     | . | . | . | . | ९२६ |
| नाडीओधनविधि:                    | . | . | . | . | ९२७ |

### प्रथमाध्याये चतुर्थः खण्डः

|                             |   |   |   |   |     |
|-----------------------------|---|---|---|---|-----|
| योगाधिकारियोगमठयोः लक्षणम्  | . | . | . | . | ९२८ |
| प्राणायामारम्भप्रकारः       | . | . | . | . | ९२८ |
| नाडीशोधनप्राणाभ्यासकालावधि: | . | . | . | . | ९२९ |
| नाडीशुद्धिचिह्नानि          | . | . | . | . | ९२९ |

### प्रथमाध्याये पञ्चमः खण्डः

|                        |   |   |   |   |     |
|------------------------|---|---|---|---|-----|
| प्रणवात्मकप्राणायामः   | . | . | . | . | ९२९ |
| प्रणववर्णाभ्यानप्रकारः | . | . | . | . | ९३० |
| प्राणाभ्यासप्रकारः     | . | . | . | . | ९३० |

### प्रथमाध्याये षष्ठः खण्डः

|                                |   |   |   |   |     |
|--------------------------------|---|---|---|---|-----|
| सुषुम्नामल्लशोधनार्थप्राणायामः | . | . | . | . | ९३१ |
| अहग्रहःकर्तव्यप्राणायामसंरब्या | . | . | . | . | ९३१ |
| अभ्यासोचितसिद्धभेदः            | . | . | . | . | ९३१ |
| अभ्यासकाले आहागनियमः           | . | . | . | . | ९३२ |

|  |   |   |   |     |
|--|---|---|---|-----|
| अभ्यासे सावधानताविधिः                  | . | . | . | ९३२ |
| नाष्टीशुद्धितो मनोन्मन्यवस्थाप्राप्तिः | . | . | . | ९३२ |
| बन्धत्रयस्य कर्तव्यता                  | . | . | . | ९३३ |
| प्राणापानयोगफलम्                       | . | . | . | ९३३ |
| कपालशोधनोपायः                          | . | . | . | ९३३ |
| उज्जायीप्राणायामः                      | . | . | . | ९३४ |
| सीत्कारप्राणायामः                      | . | . | . | ९३४ |
| शीतलप्राणायामः                         | . | . | . | ९३४ |
| उपायोपेयकुम्भकद्रव्यम्                 | . | . | . | ९३४ |
| कुम्भकाग्यासफलम्                       | . | . | . | ९३५ |
| वैष्णवीमुद्राप्राप्तिः                 | . | . | . | ९३६ |
| खेचरीप्राप्त्या ब्रह्मदर्शनम्          | . | . | . | ९३६ |
| खेचर्या उन्मनीभावापत्तिः               | . | . | . | ९३६ |
| कालापरिच्छब्दप्राप्तिसाधनम्            | . | . | . | ९३७ |
| मनोविलापनेन कैवल्यप्राप्तिः            | . | . | . | ९३८ |
| योगज्ञानाभ्यां मनोलयः                  | . | . | . | ९३९ |
| मनोलयात् प्राणस्पन्दनिरोधः             | . | . | . | ९३९ |
| प्राणस्पन्दनिरोधात् मनस्पन्दनिरोधः     | . | . | . | ९४० |
| प्राणस्पन्दनिरोधविविधोपायाः            | . | . | . | ९४० |
| कुम्भकेन सुषुम्नाभेदनद्वारा परमपदगमनम् | . | . | . | ९४२ |
| मनोयुक्तप्राणस्य सुषुम्नाप्रवेशनविधिः  | . | . | . | ९४२ |
| खेचरीमुद्राप्राप्तिः                   | . | . | . | ९४३ |
| बाह्यखेचरीसिद्धयुपायः                  | . | . | . | ९४४ |
| अभ्यासकाले प्राणजयोपायः                | . | . | . | ९४४ |
| स्वात्मापरोक्षसिद्धशुपायः              | . | . | . | ९४५ |
| सर्वरोगविनिर्मोक्साधनं धारणाविशेषः     | . | . | . | ९४५ |

|   |     |
|---|-----|
| नासाग्रादिषु संयमेन विविधसिद्धयः            | ९४९ |
| प्रथमाध्याये सप्तमः खण्डः                   |     |
| पञ्चविधप्रत्याहारः                          | ८८  |
| प्रथमाध्याये अष्टमः खण्डः                   |     |
| पञ्चविधा धारणाः                             | ९४८ |
| प्रथमाध्याये नवमः खण्डः                     |     |
| द्विविधं ध्यानम्                            | ९४९ |
| प्रथमाध्याये दशमः खण्डः                     |     |
| सप्ताधिस्वरूपम्                             | ९४९ |
| द्वितीयोऽध्यायः                             |     |
| निर्विशेषब्रह्मस्वरूपम्                     | ९५० |
| ब्रह्मणः अनिर्देश्यत्वम्                    | ९५० |
| ब्रह्मणः अवाङ्मानसगोचरत्वम्                 | ९५१ |
| सर्वस्य परमात्मत्वम्                        | ९५१ |
| गुरुरुपदेशतः सर्वात्मत्वज्ञानप्राप्तिः      | ९५२ |
| तृतीयाध्याये प्रथमः खण्डः                   |     |
| ब्रह्मणो वस्तुतः निष्प्रतियोगिकस्वभात्त्वम् | ९५२ |
| ब्रह्मणो रूपत्रयम्                          | ९५३ |
| निष्कलं ब्रह्म                              | ९५३ |
| सकलं ब्रह्म                                 | ९५४ |
| सकलनिष्कलं ब्रह्म                           | ९५४ |

## सृतीयाभ्याये द्वितीयः खण्डः

|                                    |   |   |   |     |
|------------------------------------|---|---|---|-----|
| सन्मात्रस्य परब्रह्मत्वनिर्वचनम्   | . | . | . | ११६ |
| सन्मात्रस्य आत्मत्वनिर्वचनम्       | . | . | . | ११६ |
| सन्मात्रस्य महेश्वरत्वनिर्वचनम्    | . | . | . | ११६ |
| सन्मात्रस्य दत्तात्रेयत्वनिर्वचनम् | . | . | . | ११६ |
| निरुक्तिवेदनफलम्                   | . | . | . | ११७ |

## हंसोपनिषत्

|   |   |   |   |     |
|---|---|---|---|-----|
| ब्रह्मविद्यासाधनहंसविद्याया अतिगुह्यत्वम् | . | . | . | ११९ |
| हंसविद्याऽधिकाग्निस्वरूपम्                | . | . | . | १६१ |
| हंसस्वरूपं तज्ज्ञानफलं च                  | . | . | . | १६१ |
| हंसज्ञानोपायो योगः                        | . | . | . | १६२ |
| हृतपद्मे हंसभावनया तुर्यात्मदर्शनम्       | . | . | . | १६३ |
| अजपाहंसमन्वजप्रकारः                       | . | . | . | १६६ |
| सगुणहंसध्यानेन परमात्मदर्शनम्             | . | . | . | १६६ |
| अजपाजपेन दशनादानुभवः                      | . | . | . | १६७ |
| केवलदशमनादाभ्यासविधिः                     | . | . | . | १६८ |
| तत्तनादानुभवफलम्                          | . | . | . | १६८ |
| मनोल्यात् ब्रह्मात्मत्वप्रकाशः            | . | . | . | १६९ |

---

## ADDENDUM

PREFACE, pp. 9-10 : Add to the list the following :

- अ२. — Adyar Library XXXIII C 22—A  
Grantha MS. of 108 Upanishads.
- अ३. — The printed edition of 108 Upanishads  
published by Tukaram Javaji, Bombay,  
1913, based on a South Indian MS.
-

# अद्वयतारकोपनिषत्

पूर्णमदः—इति शान्तिः

तारकयोगाधिकारः

अथातोऽद्वयतारकोपनिषदं व्याख्यास्यामो यतये जितेन्द्रियाय शमादिषड्गुणपूर्णाय ॥ १ ॥

उपनिषद्भाष्योगिविरचितं विवरणम्

ॐ श्रीमद्विश्वाधिष्ठानपरमहंससद्गुरुरामचन्द्राय नमः

द्वैतासम्भवविज्ञानसंसिद्धाद्वयतारकम् ।

तारकब्रह्मेति गीतं वन्दे श्रीरामवैभवम् ॥

इह खलु शुङ्खजुर्वेदप्रविभक्तेयं अद्वयतारकोपनिषत् राजयोगसर्वस्वं कटयन्ती ब्रह्मात्रपर्यवसन्ना दृश्यते । अस्याः स्वल्पग्रन्थतो विवरणमारभ्यते । त्रियथोक्ताधिकार्युद्देशेन श्रुतयः तारकयोगसुपदिशन्तीत्याह—अथेति ॥ अथ कर्मोपासनाकाण्डद्वयनिरूपणानन्तरं यतः तेन पुरुषार्थसिद्धिः अतः

तदर्थं यत्र स्वातिरेकेण द्वयं न विद्यते तत् अद्वयं ब्रह्म तन्मात्रबोधिनी विद्या तारकोपनिषत् तां श्रुतयो वयं व्याख्यास्यामः । कस्मा अधिकारिण इत्यत आह—यतय इति । स्वाश्रमानुष्ठानपूर्वकं देशिकमुखतो वेदान्तश्रवणं ततो युक्तिभिः श्रुत्यविस्त्रद्धाभिः मननं च कृत्वा निदिव्यासनाय यतत इति यतिः । अजितेन्द्रियस्य यतित्वं कुत इत्यत आह—जितेन्द्रियायेति । जितेन्द्रियस्य यतित्वोपपत्तेः । अरिषद्गर्वग्रान्तस्य जितेन्द्रियता कुत इत्यत आह—शमादिषड्गुणपूर्णयेति । शमादिषड्गुणसम्पत्तेः अरिषद्गर्वगोपतिपूर्वकत्वात् । एवं साधनवते श्रुतयः तारकयोगमुपदिशन्तीत्यर्थः ॥ १ ॥

### योगोपायतत्फलम्

चित्तस्वरूपोऽहमिति सदा भावयन् सम्युक्तिमीलिताक्षः  
किंचिदुन्मीलिताक्षो वाऽन्तर्दृष्ट्या भ्रूद्वरादुपरि सच्चिदानन्दतेजःकूट-  
रूपं परं ब्रह्मावलोकयन् तद्रूपो भवति ॥ २ ॥

एवं निदिव्यासनोपायतत्फलमाह—चिदिति ॥ योगी स्वान्तः  
चिद्रूपोऽस्मीति भावयन् अर्धोन्मीलितलोचनः भ्रूमध्यादौ सच्चिदानन्दमात्रं  
ब्रह्माहमस्मीत्यालोकयन् तद्रूपः तारकरूपो भवति ॥ २ ॥

### तारकस्वरूपम्

गर्भजन्मजरामरणसंसारमहद्द्वयात् संतारयति तस्मात्तारक-  
मिति । जीवेश्वरौ मायिकाविति विज्ञाय सर्वविशेषं नेति नेतीति  
विहाय यद्वशिष्यते तदद्वयं ब्रह्म ॥ ३ ॥

किं तारकमित्यत आह—गर्भेति ॥ “ज्योतिर्लङ्घं भ्रुवोर्मध्ये नित्यं  
ध्यायेत् सदा यतिः ।” इति श्रुतिसिद्धज्योतिर्लङ्घस्य प्रत्यग्रूपत्वेन

ाज्ञविकलिपतगर्भवासादिसंसागतारकत्वात् तारकं प्रव्यगात्मेन्यर्थः । जीवेशभेदे  
ति प्रत्यगमुभिन्नब्रह्मावः कुत इन्याशङ्क्य तयोर्भेदस्य मायिकत्वेन मिथ्यात्वात्  
तो यच्छ्रव्यते तदेव ब्रह्मेत्याह—जीवेति ॥ ३ ॥

लक्ष्यत्रयानुसन्धानविधिः

तत्सद्गच्चै लक्ष्यत्रयानुसन्धानं कर्तव्यम् ॥ ४ ॥

तदधिगमोपायः कथमित्यत आह तत्सद्गच्चा इति ॥ ४ ॥

अन्तर्लक्ष्यलक्षणम्

देहमध्ये ब्रह्मनाडी सुषुम्ना सूर्यरूपिणी पूर्णचन्द्राभा वर्तते ।  
सा तु मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रगामिनी भवति । तन्मध्ये  
तटिकोटिसमानकान्त्या मृणालसूत्रवत् सूक्ष्माङ्गी कुण्डलिनीति  
प्रसिद्धाऽस्ति । तां दृष्ट्वा मनसैव नरः सर्वपापविनाशद्वारा मुक्तो  
भवति । फालोर्ध्वगल्लाटविशेषमण्डले निरन्तरं तेजस्तारकयोग-  
विस्फुरणेन पश्यति चेत् सिद्धो भवति । तर्जन्यग्रोन्मीलितकर्ण-  
रन्ध्रद्वये तत्र फूल्कारशब्दो जायते । तत्र मिथ्ये मनसि  
चक्षुर्मध्यगतनीलज्योतिस्थलं विलोक्य अन्तर्दृष्ट्या निरतिशयसुखं  
प्राप्नोति । एवं हृदये पश्यति । एवमन्तर्लक्ष्यलक्षणं  
मुमुक्षुभिरुपास्यम् ॥ ५ ॥

अन्तर्बाह्यमध्यभेदेन लक्ष्यं त्रिविधम् । तत्र अन्तर्लक्ष्यलक्षणं  
तदभ्यासफलं चाह—देहेति ॥ यदा कुण्डलिनी प्राणदृष्टिमोग्निभिः

मूलाधारत्रिकोणाप्रालङ्घारसुषुम्नाऽधोवक्त्रं विभिद्य तन्मध्ये प्रविशति तदा  
बाह्यान्तःप्रपञ्चविस्परणपूर्वकं मुन्यन्तःकरणं निर्विकल्पब्रह्मपदं भजति ।  
मुनिः निर्विकल्पज्ञानात् विकल्पात् मुक्तो भवतीत्यर्थः । तत्सद्गुपायः कः  
इत्यत आह—फालेति । तद्रत्सुखानुभवोपायं वदन् अन्तर्लक्ष्यं उपसंहरति—  
तर्जनीति । सुखं प्राप्नोति, न केवलं कर्णगन्धद्वये, एवं हृदये ॥ ९ ॥

## बहिर्लक्ष्यलक्षणम्

अथ बहिर्लक्ष्यलक्षणम् । नामिकाग्रे चतुर्भिः षड्भिरष्टभिः  
दशभिः द्वादशभिः क्रमात् अङ्गुलान्ते नीलद्युतिश्यामत्वसमद्वक्त्रभ-  
ङ्गीस्फुरत्पीतवर्णद्वयोपेतं व्योम यदि पश्यति स तु योगी भवति ।  
चलद्वष्टच्च व्योमभागवीक्षितुः पुरुषस्य दृष्ट्यां ज्योतिर्मर्यूखा  
वर्तन्ते । तदर्शनेन योगी भवति । तसकाञ्चनसंकाशज्योतिर्मर्यूखा  
अपाङ्गान्ते भूमौ वा पश्यति तदृष्टिः स्थिरा भवति । शीर्षोपरि  
द्वादशाङ्गुलसमीक्षितुः अमृतत्वं भवति । यत्र कुत्र चित्तस्य  
शिरसि व्योमज्योतिर्दृष्टं चेत् स तु योगी भवति ॥ ६ ॥

बहिर्लक्ष्यलक्षणमाह— अथेति ॥ योगी भवति इत्यादिकुत्स्नोपनिषत्  
प्रायशो मण्डलब्राह्मणोपनिषद्व्याख्यानेन व्याख्यातं स्यादिति मन्त्रव्यम् ॥ ६ ॥

## मध्यलक्ष्यलक्षणम्

अथ मध्यलक्ष्यलक्षणं प्रातश्चित्रादिवर्णाखण्डसूर्यचक्रवत्  
वह्निज्वालावलीवत् तद्विहीनान्तरिक्षवत् पश्यति । तदाकाराकारितया

अवतिष्ठति । तद्भूयोदर्शनेन गुणरहिताकाशं भवति । विस्फुरत्तारका-  
कारदीर्घ्यमानगाढतमोपमं परमाकाशं भवति । कालानलसमयोत्तमानं  
महाकाशं भवति । सर्वोत्कृष्टपरमद्युतिप्रद्योत्तमानं तत्त्वाकाशं भवति ।  
कोटिसूर्यप्रकाशवैभवसंकाशं सूर्याकाशं भवति । एवं बाह्याभ्यन्तरस्थ-  
व्योमपञ्चकं तारकलक्ष्यम् । तद्दर्शी विमुक्तफलस्तादग्न्योमसमानो  
भवति । तस्मान् तारक एव लक्ष्यं अमनस्कफलप्रदं भवति ॥ ७ ॥

अन्तर्बाह्यलक्ष्यस्वरूपमुक्त्वा मध्यलक्ष्यस्वरूपमाह—अथेति ॥ तद्दर्शी  
विमुक्तस्याज्ञानतत्कार्यफलः । यस्मादेवं तस्मान् ॥ ७ ॥

द्विविधं तारकम्

तत्तारकं द्विविधं पूर्वार्धं तारकं उत्तरार्धं अमनस्कं चेति ।  
तदेष श्लोको भवति—

तद्योगं च द्विधा विद्धि पूर्वोत्तरविधानतः ।

पूर्वं तु तारकं विद्यात् अमनस्कं तदुत्तरमिति ॥ ८ ॥

तारकयोगसिद्धिः

अश्यन्तस्तारयोः चन्द्रसूर्यप्रतिफलनं भवति । तारकाभ्यां  
सूर्यचन्द्रमण्डलदर्शनं ब्रह्माण्डमिव पिण्डाण्डशिरोमध्यस्थाकाशे  
रवीन्दुमण्डलद्वितयमस्तीति निश्चित्य तारकाभ्यां तद्दर्शनम् ।

अत्राप्युभैक्यदृष्ट्या मनोयुक्तं ध्यायेत्, तद्योगाभावे इन्द्रियप्रवृत्ते-  
रनवकाशात् । तस्मात् अन्तर्दृष्ट्या तारक एवानुसंधेयः ॥ ९ ॥

ब्रह्माण्डवत् पिण्डाण्डेऽपि रवीन्दू विद्येते इति निश्चित्य तारकाभ्या-  
तदैक्यदर्शनतः तारकयोगसिद्धिः भवेदित्याह—अक्षीति ॥ अयोगी यथा  
ब्रह्माण्डस्थचन्द्रसूर्यौ मनस्सहकृततारकाभ्यां पश्यति तथा योगी स्वमस्तका-  
काशविभातरवीन्दुद्वयं मनस्सहकृतताराभ्यां अवलोकयेदित्यर्थः । रूपदर्शनस्य  
चक्षुरधीनत्वात् किं मनसेत्यत आह—तदिति । मनसि अन्यत्र व्यापृते रूपादि-  
प्रहणशक्तिः चक्षुरादेः नास्तीत्यत्र “अन्यत्रमना अभूवं नादर्शम्, अन्यत्रमना  
अभूवं नाश्रौषं” इत्यादिश्चुतेः । यस्मादेवं तस्मात् ॥ ९ ॥

मूर्त्मूर्तमेदं द्विविभमनुमन्धेयम्

तत्तारकं द्विविवं, मूर्तितारकं अमूर्तितारकं चेति । यत्  
इन्द्रियान्तं तत् मूर्तिमत् । यत् भ्रूयुगातीतं तत् अमूर्तिमत् । सर्वत्र  
अन्तःपदार्थविवेचने मनोयुक्ताभ्याम इष्यते । तारकाभ्यां तदूर्ध्व-  
स्थसत्त्वदर्शनात् मनोयुक्तं अन्तरीक्षणेन सच्चिदानन्दस्वरूपं ब्रह्मैव ।  
तस्मात् शुक्लतेजोमयं ब्रह्मेति सिद्धम् । तद्वाह मनःसहकारिचक्षुषा  
अन्तर्दृष्ट्या वेद्यं भवति । एवं अमूर्तितारकमपि । मनोयुक्तेन चक्षुषैव  
दहरादिकं वेद्यं भवति, रूपग्रहणप्रयोजनस्य मनश्चक्षुरधीनत्वात्  
ब्राह्मवदान्तरेऽपि आत्ममनश्चक्षुःसंयोगेनैव रूपग्रहणकार्योदयात् ।  
तस्मात् मनोयुक्तो अन्तर्दृष्टिः तारकप्रकाशाय भवति ॥ १० ॥

यदनुसन्धेयं तत् कतिविधं इत्यत्र तत्तारकं ॥ बाह्यपदार्थविवेचनवत् तः पदार्थविवेचनमपि मनश्चक्षुरधीनमित्याह—सर्वत्रेति । तदूर्ध्वस्थसत्त्व-नान् भ्रूमध्योर्ध्वविलसितोत्तरतागकलश्यदर्शनात् । केन्तदर्शनीयमित्यत्र गोयुक्तेनेति । ब्रह्मैव उत्तरतारकलश्यमित्यनुसन्धेयम् । यस्मादेवं तस्मात् । स्थादिस्थलविलसितशुक्लेजसो मनःकल्पितत्वेऽपि ब्रह्मणः सर्वव्यापकत्वेन आपि विद्यमानत्वात् तदेव ब्रह्मेति अभिमतद्रष्टिमा लीने तत्र मनसि कल्पक-पेक्षकल्पनावैरल्ये निर्विकल्पकं ब्रह्मैव अवशिष्यते इत्यर्थः । यत्तेजो मनः-लेपतं तद्वाहा । यस्मादेवं तस्मात् ॥ १० ॥

तारकयागस्वरूपम्

भ्रूयुगमध्यबिले दृष्टि तद्वारा ऊर्ध्वस्थिततेज आविर्भूतं तारकयोगो भवति । तेन सह मनोयुक्तं तारकं सुसंयोज्य प्रयत्नेन भ्रूयुगमं सावधानतया किंचिदूर्ध्वमुत्क्षेपयेत् । इति पूर्वतारकयोगः । उत्तरं तु अमूर्तिमत् अमनस्कमित्युच्यते । तालुमूलोर्ध्वभागे महान् ज्योतिर्मयूखो वर्तते । तत् योगिभिर्घ्येयम् । तस्मात् अणिमादि-सिद्धिर्भवति ॥ ११ ॥

कोऽयं तारकयोग इत्यत्र भ्रूयुगमध्यबिले तत्रत्याज्ञाचक्रे दृष्टियुगमं नेवेश्य । सावधानतया विलोकयन् । ध्येयम् तज्ज्योतिः ब्रह्मेति योगि-श्वेन्त्यमित्यर्थः । ततः किं भवतीत्यत्र तस्मादिति ॥ ११ ॥

शास्त्रवीमुद्रा

अन्तर्बाह्यलक्ष्ये दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां सत्यां शांभवी मुद्रा भवति । तन्मुद्रारूढज्ञानिनिवासात् भूमिः पवित्रा भवति ।

तद्वृष्ट्या सर्वे लोकाः पवित्रा भवन्ति । तादृशपरमयोगिपूजा यस्य  
लभ्यते सोऽपि मुक्तो भवति ॥ १२ ॥

यत् योगिभिः ध्येयमुक्तं पर्यवसाने तदेव शाम्भवी मुद्रा भवतील्याह  
अन्तरिति ॥ मुद्रा भवति इत्यत्र

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिः निमेषोन्मेषवर्जिता ।  
एषा सा शाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥

इति श्रुतेः । तन्मुद्रारूढ्योगिनं स्तौति—तदिति । पवित्रा भवति इत्यत्र  
“स्वपादन्यासमात्रेण पावयन् वसुधातलं” इति स्वरूपदर्शनोक्तेः । पवित्रा  
भवन्ति—

खेचरा भूचराः सर्वे ब्रह्मविद्वृष्टिगोचराः ।  
सद्य एव विमुच्यन्ते कोटिजन्मार्जितैरघैः ॥

इति श्रुतेः ॥ १२ ॥

### अन्तर्लक्ष्यविकल्पाः

अन्तर्लक्ष्यज्ञवलञ्ज्योतिःस्वरूपं भवति । परमगुरुर्पदेशेन  
सहस्रारञ्ज्वलञ्ज्योतिर्वा बुद्धिगुहानिहितचिञ्च्योतिर्वा षोडशान्तस्थ-  
तुरीयचैतन्यं वा अन्तर्लक्ष्यं भवति । तदर्शनं सदाचार्यमूलम् ॥ १३ ॥

अन्तर्लक्ष्यं विकल्प्य निर्धारयति—परमेति ॥ उक्तविकल्पानां  
एकार्थपर्यवसायित्वात् तदर्शनमूलं किमित्यत्र—तदर्शनमिति ॥ १३ ॥

अद्वयतारकोपनिषत्

आचार्यलक्षणम्

आचार्यो वेदसंपन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः ।

योगज्ञो योगनिष्ठश्च सदा योगात्मकः शुचिः ॥ १४ ॥

गुरुभक्तिसमायुक्तः पुरुषज्ञो विशेषतः ।

एवंलक्षणसंपन्नो गुरुरित्यभिधीयते ॥ १५ ॥

गुशब्दस्त्वन्धकारः स्यात् रुशब्दस्तन्निरोधकः ।

अन्धकारनिरोधित्वात् गुरुरित्यभिधीयते ॥ १६ ॥

गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परा गतिः ।

गुरुरेव परा विद्या गुरुरेव परायणम् ॥ १७ ॥

गुरुरेव परा काष्ठा गुरुरेव परं धनम् ।

यस्मात्तदुपदेष्टाऽसौ तस्माद्गुरुलरो गुरुरिति ॥ १८ ॥

आचार्यलक्षणमुक्त्वा गुशब्दार्थमाह—गुशब्दस्त्वति ॥ १४—१८ ॥

ग्रन्थाभ्यासफलम्

यः सकृदुच्चारयति तस्य संसारमोचनं भवति । सर्वजन्मकृतं  
पापं तत्क्षणादेव नश्यति । सर्वान् कामानवाप्नोति । सर्वपुरुषार्थसिद्धि-  
र्भवति । य एवं वेदेत्युपनिषत् ॥ १९ ॥

ग्रन्थतदर्थपठनानुसन्धानफलमाह—य इति ॥ कामाकामधियां पठनफलं  
सर्वकामातिः परमपुरुषार्थसिद्धिश्च । इत्युपनिषच्छब्दः अद्वयतारको-  
पनिषत्समार्थ्यर्थः ॥ १९ ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रदिव्योपनिषद्द्वयोगिना ।

अद्वयोपनिषद्वयाख्या लिखितेश्वरगोचरा ।

अद्वयोपनिषद्वयाख्याग्रन्थोऽशीतिरितीरितः ॥

इति श्रीमदीशाख्यष्टोत्रशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे त्रिपञ्चाशत्सङ्कल्पापूरकं

अद्वयतारकोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

ॐ श्रीमद्विद्वधाधिष्ठानपरमहंससद्गुरुरामचन्द्रार्पणमस्तु ॥

# अमृतनादोपनिषत्

सह नाववतु—इति शान्तिः

श्रवणाशुपायः

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः ।  
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत् ॥ १ ॥

विवरणम्

ॐ श्रीमद्विश्वाधिष्ठानपरमहंससद्गुरुरामचन्द्राय नमः

अमृतनादोपनिषत्प्रतिपाद्यं पराक्षरम् ।  
त्रैपदानन्दसाम्राज्यं हृदि मे भातु संततम् ॥

इह खलु कृष्णयजुर्वेदग्रविभक्तेयं अमृतनादोपनिषत् । कठवल्ल्यादि-  
समं उपोद्घातादिकम् । षड्ङ्गयोगप्रकाशनात्मिकोपनिषदोऽल्पग्रन्थतो  
विवरणमारम्यते । आदौ तावत्—विशुद्धचित्तानां श्रवणाशुपायादेव  
पुरुषार्थसिद्धिः, मलिनचित्तानां ब्रह्मोपासनाविशिष्टषड्ङ्गयोगाभ्यासद्वारकज्ञानेन

पुरुषार्थसिद्धिः अस्यामुपनिषदि प्रतिपादयते । तत्रादौ मुख्याधिकारिणां श्रवणाद्युपायमाह—शास्त्राणीति । मुमुक्षून् प्रति सूर्वपूहवसिद्धं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति अनुशासनं कुर्वन्तीति शास्त्राणि ईशाद्यष्टेत्तरशतोपनिषत्संज्ञकानि श्रुतार्थधारणासमयोँ मेधावी ब्रह्मविद्वरिष्ठेदिक्षकमुखात् यथावत् अधीत्य यावत् संशयादिपञ्चदोषनिवृत्तिः पुनः पुनः तावत् अभ्यस्य श्रवणमनननिदिव्यासनानि नैरन्तर्येण कृत्वा तत्सञ्चातसम्यज्ज्ञानेन स्वातिरिक्ताविद्यापदतत्कार्यजातं यत्र पर्यवस्थति अपहृवं भजति तत् परमं तन्मात्रतया उपबृहणात् ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति विज्ञाय तज्ज्ञानसमकालं विद्वान् तद्वावमेत्य तन्मात्रतयाऽवशिष्यते । यतः शास्त्राभ्यासः एवं प्रभाववान् अतो ब्रह्मभावापत्यनन्तरमपि शास्त्राभ्यास एव अप्रमादेन कर्तव्य इत्यत आह—उल्कावदिति । यथा उल्काप्रकाशतो द्रव्यमालोक्य उल्कां परिलिप्ति तथा ब्रह्मभावापत्यनन्तरं तत्साधनानि तानि शास्त्राणि तत्प्रभवज्ञानं चापि अथोत्सुजेत् इत्यत्र

उल्काहस्तो यथा कश्चिद् द्रव्यमालोक्य तां लजेत् ।  
 ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चात् ज्ञानं परिलिप्तेत् ॥ इति,  
 आत्मानमात्मना साक्षात् ब्रह्म बुद्ध्वा सुनिश्चलम्  
 देहजात्यादिसंबन्धान् वर्णाश्रमसमन्वितान् ॥  
 वेदशास्त्रपुराणानि पदपासुमिव लजेत् ॥ इति च श्रुतेः ॥ १ ॥

## प्रणवापासना

ओंकाररथमारुह्य विष्णुं कृत्वाऽथ सारथिम् ।  
 ब्रह्मलोकपदान्वेषी रुद्राराधनतत्परः ॥ २ ॥  
 तावद्रथेन गन्तव्यं यावद्रथपथि <sup>१</sup>स्थितः ।  
 स्थात्वा रथपथिस्थानं रथमुत्सृज्य गच्छति ॥ ३ ॥

<sup>१</sup> स्थितिः । स्थि—क.

मात्रालिङ्गपदं त्यक्त्वा शब्दव्यञ्जनवर्जितम् ।

अस्वरेण मकारेण पदं सूक्ष्मं हि गच्छति ॥ ४ ॥

प्रथममन्त्रेणोत्तमाधिकारिणां कृतार्थतामभिवाय मध्यममन्दाधिकारिणां तत्पदारोहाय प्रणववाच्यार्थोपासनां षडङ्गयोगं चाह—ओङ्कारेति । रथस्थानीयमोङ्कारं आरुह्य कांस्यवण्टानिनादवत् प्रणवोच्चारणपूर्वकं तदर्थं नु-सन्धानं कृत्वा रथसारथिं बुद्धितत्त्वं विष्णुं व्यापकं प्रणवार्थेश्वराकाराकारितं कृत्वा । “बुद्धि तु सारथि विद्धि” इति श्रुतेः । ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकः निर्विशेषपरमात्मा तदुपतया पद्यते इति ब्रह्मलोकपदं स्वमात्रतया अन्वेष्टुमिच्छ-तीति ब्रह्मलोकपदान्वेषी तदुपायत्वेन रुद्राराधनतत्परो भवेत् स्वातिरिक्तत्वेन पराभावमापनस्वाविद्यापदतक्तार्थं भूतरुजं द्रावयतीति रुद्रः प्रत्यगात्मा तदाराधनं व्यष्टिसमष्टयन्तःकरणवृत्तिसहस्रभावाभावप्रकाशकप्रत्यगसमीत्यनुसन्धानं तदेक-निष्ठत्वं तत्परत्वमित्यर्थः । आदौ ओङ्कारार्थेश्वरानुचिन्तनं, तदाकाराकारितान्तः-करणं प्रसन्नं सत् निर्विशेषब्रह्ममात्रावस्थितिं ईहते, तदुपायत्वेन प्रत्यगनुसन्धानं, ततः प्रत्यक्पराभावसापेक्षप्रत्यगभावं विहाय निश्चितियोगिकब्रह्ममात्रतया अवशिष्यत इति भावः ॥ २ ॥ ब्रह्मभावापत्तावपि सदा प्रणवानुसन्धानं कर्तव्यमित्यत आह—तावदिति । यावद्रथपथि प्रणवानुसन्धानवर्त्मनि स्थित-स्थित्वा तावद्रथेन गन्तव्यं ओङ्कारोच्चारणपूर्वकं अर्थानुसन्धानं कर्तव्यम् । एवं रथपथिस्थानं रथपथेन यत् गन्तव्यस्थानं निर्विशेषं ब्रह्म तत्र तन्मात्रावशे-षतया स्थात्वा स्थित्वा ततः रथेन गन्तव्यप्रदेशस्य प्राप्तत्वात् ओङ्कार-रथमुत्सृज्य तत्प्राप्यतुर्यतुर्यस्थानं गच्छति तुर्यतुर्यो भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥ तुर्यतुर्याधिगमोपायमाह—मात्रेति । सर्वव्यवहारहेत्वकारादयः स्वराः शब्दाः, ककारादीनि व्यञ्जनानि, तैः वर्जितं शब्दव्यञ्जनानात्मकपञ्चाशद्वर्णव्यवहार्य-प्रपञ्चकलनाविरलं यत् मात्रालिङ्गपदं अकारादिमात्रातदध्यक्षविश्वविराङ्गो त्रादिरूपं त्यक्त्वा स्वातिरेकेण विभजनास्तीति निश्चित्य अथ अस्वरेण मकारेण मकारार्थेश्वरभावेन निरावृतक्रियाज्ञानेच्छाशक्तिसम्पत्या यत् सूक्ष्मं हि

पदं विराजते तत् सूक्ष्मपदं ब्रह्म स्वमात्रमिति गच्छति मात्रालिङ्गशब्दव्यञ्जन-  
कलनापह्नवसिद्धब्रह्ममात्रतया मुनिः अवशिष्यते इत्यर्थः ॥ ४ ॥

प्रत्याहारलक्षणम्

शब्दादिविषयान् पञ्च मनश्चैवातिचञ्चलम् ।  
चिन्तयेदात्मनो रश्मीन् प्रत्याहारः स उच्यते ॥ ५ ॥

मन्दाधिकारिचित्तशुद्धिहेतुषड्डग्योगमुपदिशति । तत्र प्रत्याहार-  
स्वरूपमाह—शब्दादीति । “यदच्छृणोति कर्णाभ्यां तत्तदात्मेति भावयेत्”  
इत्यादिशुत्यनुरोधेन श्रोत्रादिग्राहापञ्चशब्दादिविषयान् स्वात्मनो रश्मीन्  
स्वात्मविकल्पितत्वेन स्वरूपभूतान् । मनश्चेति चशब्दतः सविषयान्तः-  
करणचतुष्टयं गृह्णते । तत्र अतिचञ्चलं क्षणविकारित्वात् । तदप्यात्मनो  
रूपं चिन्तयेत् स्वात्मातिरित्तविषयतः प्रत्याहरोदिति योऽर्थोऽभिहितः सः  
प्रत्याहारः उच्यते ॥ ५ ॥

षड्डग्योगः

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा ।  
तर्कश्चैव समाधिश्च षड्डग्योग उच्यते ॥ ६ ॥  
योगषड्डगानि गणयति—प्रत्याहार इति । स्पष्टोऽर्थः ॥ ६ ॥

प्राणायामादिफलम्

यथा पर्वतधातूनां <sup>१</sup>द्रव्यन्ते धमता मलाः ।  
तथेन्द्रियकृता दोषा द्रव्यन्ते प्राणधारणात् ॥ ७ ॥

<sup>१</sup> द्रव्यते धमता मलम्—अ.

प्राणायामैर्देहोषान् धारणाभिश्च किल्बिष्म् ।

किल्बिषं हि क्षयं <sup>१</sup>नीत्वा रुचिरं चैव चिन्तयेत् ॥ ८ ॥

प्राणायामादिफलप्रदर्शनपूर्वकं प्राणायामादिप्रकारमाह—यथेति ॥ यथा धमता धमनाभिवर्धितवह्निना पर्वतथातूनां मलाः मलानि दशन्ते तथा प्राणधारणात् दशेन्द्रियकृताः दोषा दशन्ते ॥ ७ ॥ यत एवं अतः प्राणायामैः लिङ्गादेहाश्रयदोषान् दहेत् । तथा धारणाभिश्च अन्तःकरणगतकिल्बिषं दहेत् । एवं अन्तःकरणजकिल्बिषं अशुद्धिं क्षयं नीत्वा रुचिरं किल्बिषक्षयाधिकरणं चैव हीतिशब्दात् सर्ववृत्तिकुम्भकं मनःप्राणवृत्तिस्तम्भनं चिन्तयेत् ॥ ८ ॥

त्रिविधप्राणायामः

रुचिरं रेचकं चैव वायोराकर्षणं तथा ।

प्राणायामाश्रयः प्रोक्ता रेचपूरककुम्भकाः ॥ ९ ॥

त्रिविधप्राणायाममाह—रुचिरमिति । कुम्भकरेचकपूरकभेदेन प्राणायामाश्रयः प्रोक्ताः । अत्र रुचिरशब्दः कुम्भकवाची, रेचकपूरकसहपठितत्वात् ॥ ९ ॥

प्राणायामलक्षणम्

सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।

त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ॥ १० ॥

प्राणायामस्वरूपमाह—सव्याहृतिमिति । कुम्भकावस्थायां “उँ भूः” इत्यादिप्रणवसम्पुटितसव्याहृतिभिः “परोरजसेसावदोम्” इति शिरसा च

<sup>१</sup> तीत्वा—अ १.

सह गायत्रीं त्रिः पठेत् त्रिवारं मनसा उच्चरेदिति योऽर्थोऽभिहितः स प्राणायामः उच्यते ॥ १० ॥

## रेचकलक्षणम्

उत्क्षिप्य वायुमा<sup>१</sup>काशे शून्यं कृत्वा निरात्मकम् ।  
शून्यभावे नियुज्जीयाद्रेचकस्येति लक्षणम् ॥ ११ ॥

रेचकलक्षणमाह—उत्क्षिप्येति । बाह्यकाशे वायुमुत्क्षिप्य तैलधारावत् मन्दंमन्दं विरेच्य अन्तः निरात्मकं वायुं शून्यं कृत्वा शून्यभावे नियुज्जीयात् इति यत्तत् रेचकस्य लक्षणम् ॥ ११ ॥

## पूरकलक्षणम्

<sup>२</sup>वक्त्रेणोत्पलनाळेन तोयमाकर्षयेवरः ।  
एवं वायुर्ग्रहीतव्यः पूरकस्येति लक्षणम् ॥ १२ ॥

पूरकलक्षणमाह—वक्त्रेणेति । यथा नरो वक्त्रेण वक्त्रस्थोत्पलनाळेन वा तोयं आकर्षयेत् एवमिडया पिङ्गल्या शीतल्या वा वायुः ग्रहीतव्यः इति यत्तत् पूरकस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

## कुम्भकलक्षणम्

<sup>३</sup>नोच्छ्वसेन्न च <sup>४</sup>निश्चासेत् नैव गात्राणि चालयेत् ।  
एवं भावं नियुज्जीयात् कुम्भकस्येति लक्षणम् ॥ १३ ॥

<sup>१</sup> काशं—क. अ १, अ २.    शे इत्येतत् शं इति शोधितं—अ.  
<sup>२</sup> वस्ते—क.      <sup>३</sup> नोच्छ्वासे—अ २.      <sup>४</sup> निश्चसे—अ १.

अन्धवत् पश्य रूपाणि शब्दं बधिरवच्छृणु ।

काष्ठवत् पश्य वै देहं <sup>१</sup>प्रशान्तस्येति लक्षणम् ॥ १४ ॥

कुम्भकलक्षणमाह—नोछुसेदिति । सिद्धाद्यासनमास्थाय निश्चलगात्रो  
योगी रेचकपूरकव्यापारमकृत्वा एवं वायुस्तम्भनभावं नियुज्ज्यादिति यत्तत्  
कुम्भकलक्षणम् ॥ १३ ॥ कुम्भकवेळायां अन्धबधिरवत् रूपशब्दादिव्या-  
पृतिविरळो भूयादिति प्रशान्तलक्षणमाह—अन्धवदिति । अन्धबधिरप्रहणं  
शिष्टेन्द्रियैकल्पोपलक्षणार्थं, यथा अन्धादिः रूपादिग्रहणं न करोति तथा  
अविकलेन्द्रियोऽपि । रूपादीन् अन्धादिवत् पश्य स्वदेहं काष्ठवत् पश्येति  
यत्तत् प्रशान्तस्य लक्षणम् । योगी सर्वेन्द्रियव्यापृतिविरळो भवेदित्यर्थः ॥ १४ ॥

धारणालक्षणम्

मनः संकल्पकं ध्यात्वा संक्षिप्यात्मनि बुद्धिमान् ।

धारयित्वा तथाऽत्मानं धारणा परिकीर्तिता ॥ १९ ॥

धारणालक्षणमाह—मन इति । बुद्धिमान् योगी सङ्कल्पात्मकं मनः  
तद्वृत्तिजातं सङ्कृप्य अथ निस्सङ्कल्पकं ध्यात्वा आत्मनि निर्विकल्पके  
प्रत्यभावपरिणते मनसि तथाविधं परमात्मानं धारयित्वा या प्रत्यक्पै-  
क्यस्थितिः सेयं धारणेति परिकीर्तिता ॥ १९ ॥

तकलक्षणम्

आगमस्याविरोधेन ऊहनं तर्कं उच्यते ।

तर्कलक्षणमाह—आगमस्येति । शुत्यनुगृहीतोहनमेव तर्कं इत्यभिधीयते ॥

<sup>१</sup> प्रशान्तस्यैव—अ २.

## समाधिलक्षणम्

समं मन्येत <sup>१</sup>यं लब्ध्वा स समाधिः प्रकीर्तिः ॥ १६ ॥

समाधिलक्षणमाह—सममिति । ब्रह्माहं, अहमेव ब्रह्म इति यं परमात्मानं  
मत्वा स्वविकल्पितप्रपञ्चजातं समं आत्मानमेव मन्येत स समाधिरिति  
श्रुतिभिः परिकीर्तिः ॥ १६ ॥

## समाधिसिद्धयुपायः

भूमौ दर्भामने रम्ये मर्वदोषविवर्जिते ।

कृत्वा मनोमर्यां रक्षां जह्वा वै रथमण्डले ॥ १७ ॥

पद्मकं स्वस्तिकं वाऽपि भद्रामनमथापि वा ।

बद्धा योगासनं सम्यक् उत्तराभिमुखः स्थितः ॥ १८ ॥

नासिकापुटपङ्गुल्या पिघायैकेन मारुतम् ।

आकृष्य धारयेदप्ति शब्दमेव विचिन्तयेत् ॥ १९ ॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ओमित्येतत्र <sup>२</sup>रेचयेत् ।

दिव्यमन्त्रेण बहुधा कुर्यांन्मलविमुक्तये ॥ २० ॥

पश्चात् ध्यायीत पूर्वोक्तक्रमशो मन्त्रविद् बुधः ।

स्थूलादिस्थूलसूक्ष्मं च नाभेरूर्ध्वमुपक्रमः ॥ २१ ॥

<sup>१</sup> यद्यब्ध्वा समाधिः परिकीर्तिः—उ १.      <sup>२</sup> रोचयेत्—अ, अ १.

<sup>३</sup> दमलमुक्तये—अ. दामलमुक्तये—उ, उ १, अ १, अ २. ‘दात्ममलच्छ्रुतिं’  
इति शोधितं—क.

तिर्यगूर्ध्वमधोहृष्टे विहाय च महामतिः ।

स्थिरस्थायी विनिष्कम्पः सदा योगं समन्ब्यसेत् ॥ २२ ॥

तालमात्राविनिष्कम्पो धारणायोजनं तथा ।

द्वादशमात्रो योगस्तु काल्पतो नियमः स्मृतः ॥ २३ ॥

अघोषमव्यञ्जनमस्वरं च अतालुकण्ठोषयनासिंच च <sup>१</sup>यत् ।

अरेकजातमुभयोष्मवर्जितं यदक्षरं न क्षरते कथंचित् ॥ २४ ॥

एतादृशसमाधिसिद्धयुपायमाह—भूमाविति । विशुद्धभूमौ—दर्भासनग्रहणं  
चेलाजिनोपलक्षणार्थ—कुशाजिनचेलमृद्वासने सर्वदोषरहिते तत्संस्कारार्थं  
भूशुद्धिभूतशुद्धयादिमनोमर्यां गङ्गां कृत्वा तदासनमुपस्थृत्य रथमण्डले  
प्रणवव्याहृतिसौराष्ट्राक्षरे यथाशक्ति जप्त्वा ॥ १७ ॥ ततस्तदासने  
यथाविध्युपविश्य अथ षड्ग्रस्वस्तिकभद्रयोगासनेष्वन्यतमासनमास्थाय सम्यक्  
उत्तराभिमुखतया आसीनः सन् ॥ १८ ॥ नासिकापुटं एकेन साकुलीकरेण  
पिधाय मारुतमाकृष्य मूलाधारत्रिकोणे अग्निं धारयेत्, धारयन् शब्दं  
ओङ्कारमेव विचिन्तयेत् ॥ १९ ॥ किं तत् । ओमित्येकाक्षरमिति ।  
ओङ्कारानुसन्धानविच्छिन्ति न कुर्यात् । स्वान्तःकरणस्थमलविमुक्तये  
बहुधेति ॥ २० ॥ एवं मञ्चविदिति । ध्यानक्रमनियम उच्यते—स्थूलादीति ।  
स्वाविद्यापदस्थूलाद्यंशारोपापवादाधिकरणविराद्सूत्रबीजतुर्यरूपेण तत्प्रवि-  
भक्तस्थूलं सूक्ष्मं चाधिष्ठाय । चशब्दात् बीजतुर्योशामप्यधिष्ठायेति द्योत्यते ।  
विराडादयो भवन्ति (?) स्वनाभेरुर्ध्वं विद्यमानहृदयादिषु विराडादिध्यानस्य  
उपक्रमः कर्तव्यः ॥ २१ ॥ विराडादिध्यानोपक्रमानन्तरं महामतिः योगी  
स्वध्येयस्वरूपातिरिक्ततिर्यगूर्ध्वमधोहृष्टे विहाय । चशब्दात्तदेकनिष्ठो भूत्वेति  
द्योत्यते । पूर्वोक्तपदासने स्थिरस्थायी भूत्वा स्वांभिलषितलक्ष्यानुसन्धानतो  
विनिष्कम्पः लक्ष्यैकतानचित्तः सन् सदा विराडादिरहमस्मीत्यनुसन्धानरूपं

<sup>१</sup> ‘यत्’ इत्येतत् लुप्तं—अ.

योगं सम्भ्यसेत् ॥ २२ ॥ कुम्भकमात्रानियमस्तु हटशाब्दादि-  
ताल्मात्राविनिष्कर्म्पः कालः अष्टमात्रात्मकः सप्तमात्रात्मको वा यथा लोके  
प्रथितः तथा कुम्भके ध्वासधारणायोजनं कार्यम् । तथा सम्पूर्णकुम्भके कालतो  
द्वादशमात्रात्मको योगस्तु नियमेन स्मृतः । अत्रत्यद्वादशमात्राकालस्तु सहजो-  
च्छ्वासनिधासकालमानेन पृणवतिमात्रात्मकः स्मृतः । एतावत्कालकुम्भके  
स्वरूपं ध्यायतः तदक्षरसाक्षात्कारो भवतीलर्थः ॥ २३ ॥ किं तदक्षरं घोषादि-  
वर्णात्मकं ? इत्यत आह—अघोषमिति । हशो घोषाः तद्रहितं अघोषं  
व्यञ्जनं ककारादिः तद्रहितं अव्यञ्जनं तथाऽकारादिस्वरविरलं अस्वरं च  
यत्तालुकण्ठोष्णासिकास्थाने अभिव्यज्यते तद्रहितं अरेफजातं अन्तःस्थ-  
कलनाविरलं शाषसहाद्युभयोष्मवर्जितं कथंचिदपि यन्न क्षगते तदेवाक्षरं  
योगिग्रन्थकमुपलभ्यत इत्यर्थः ॥ २४ ॥

### योगस्य नित्यकर्तव्यता

येनासौ <sup>१</sup>पश्यते मार्गं प्राणस्तेनाभिगच्छति ।  
अतस्तम्भ्यसेन्नित्यं यन्मार्गगमनाय वै ॥ २९ ॥

यतः स्वप्राप्य[सि]मार्गदर्शनहेतुः योगः अतस्तमेव सदा अभ्यसेदित्याह  
—येनेति ॥ असौ योगी येन योगेन स्वप्राप्यमार्गं पश्यते पश्यति  
प्राणस्तु द्वज्ञनोग्निभिः सह तेन एव मार्गेण अभिगच्छति । यत एवं  
अतः यन् पदप्रापकमार्गगमनायैव तमेव योगमप्रमादेन अभ्यसेत् ॥ २९ ॥

### सप्त स्वप्राप्तिद्वाराणि

हृद्वारं वायुद्वारं च मूर्धद्वारमथापरम् ।  
मोक्षद्वारं बिलं चैव सुषिरं मण्डलं विदुः ॥ २६ ॥

<sup>१</sup> गच्छते-क, अ २.

स्वप्राप्य[सि]द्वाराणि कतिविधानीत्यत आह—हृष्टागमिति ॥ हृष्टारं विराद्प्रापकं विराजो हृदयाश्रितब्रह्माण्डोपाधिकत्वात् । वायुद्वारं सूत्र-प्रापकं, वायोः सूत्ररूपत्वात्, “वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं” इति श्रुतेः । मूर्धद्वारं बीजेश्वरप्रापकं, “तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति” इति श्रुतेः । अथापरं किमित्युक्ते मोक्षद्वारं अर्धमात्रात्मकं प्रत्यगभिनब्रह्मप्रापकं, तदवगतेर्धमात्राद्वारकत्वात् । मोक्षद्वारं त्रिधा भिद्यते । तत् कथं? अर्धमात्रास्थूलांशात्मकं बिलं, तस्य तुर्यवैराजप्रापकत्वात् । अर्धमात्रासूक्ष्मांशात्मकं सुषिरं, तुर्यसूत्रप्रापकत्वात् । अर्धमात्राबीजांशात्मकं मण्डलं, तुर्यबीजप्रापकत्वात् । चशब्दात् परेति विख्यातकैवल्यद्वागमस्तीति द्योत्यते, तस्य निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रगमकत्वात् । एवं सप्तधा स्वात्मासिद्वाराणि सन्तीति ब्रह्मविद्वरीयांसो विदुः जानन्तीत्यर्थः ॥ २६ ॥

## भयादीनां त्यागः

भयं क्रोधमथालस्यम् अतिस्वभातिजागरम् ।  
अत्याहारमनाहारं नित्यं योगी विवर्जयेत् ॥ २७ ॥

भयक्रोधादिविघ्नबाहुल्ये सति कथमेवं सिद्धिः स्यादिल्याशङ्क्यभयादिल्यागतः तत्सिद्धिः स्यादिल्यत आह—भयमिति ॥ निर्भयादिदर्शनेन भयादिवृत्तिल्यागयोगो भवतीत्यत्र

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।  
युक्तस्वभावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

इति स्मृतेः ॥ २७ ॥

अभ्यासफलम्

अनेन विधिना सम्यङ् नित्यमध्यस्थिते क्रमात् । •

स्वयमुत्पद्यते ज्ञानं त्रिभिर्मासैर्न संशयः ॥ २८ ॥

चतुर्भिः पश्यते देवान् पञ्चभिर्विततः क्रमः ।

इच्छ्याऽप्नोति कैवल्यं षष्ठे मासि न संशयः ॥ २९ ॥

एवमध्यासं कुर्वतः अवान्तरफलं मुख्यफलं चाह—अनेनेति ॥ “भूमौ दर्भसने रम्ये” इति यदुक्तं अनेन विधिना अभ्यासं कुर्वतः त्रिभिः मासैः स्वयमेव उपदेशमन्तगं ब्रह्मज्ञानं उत्पद्यते ॥ २८ ॥ मासचतुष्ट्याभ्यासात् इन्द्रादिदेवान् पश्यते पश्यति । मासपञ्चकाभ्यासतो विततः क्रमो विगडादिः दृश्यते । पण्मासाभ्यासतो यद[दि]च्छ्या कैवल्यं आप्नोतीत्यत्र न हि संशयः अस्तीत्यर्थः ॥ २९ ॥

योगचिन्त्यम्

पार्थिवः पञ्चमात्रस्तु चतुर्मात्रस्तु वारुणः ।

आग्नेयस्तु त्रिमात्रोऽसौ वायव्यस्तु द्विमात्रकः ॥ ३० ॥

एकमात्रस्तथाऽकाशो ह्यमात्रं तु विचिन्तयेत् ।

योगेन यच्चिन्त्यं तदाह पार्थिव इति ॥ ३० ॥ पार्थिवाद्याकाशान्तं एकैकगुणापकर्षितः सूक्ष्मत्वं प्रत्यक्त्वं व्यापकत्वम् । इत्यं मात्राविशिष्टभूतमौति-कजातापह्नवसिद्धं अमात्रं ब्रह्म निष्प्रतियोगिस्कवमात्रमिति विचिन्तयेदित्यर्थः ॥

<sup>1</sup> तत्क्रमः—अ.

चिन्तनाप्रकारः

०संर्धि कृत्वा तु मनसा चिन्तयेदात्मनाऽऽत्मनि ॥ ३१ ॥

<sup>१</sup>विंशत्सार्धाङ्गुलः प्राणो यत्र प्राणैः प्रतिष्ठितः ।

एष प्राण इति ख्यातो बाह्यप्राणस्य गोचरः ॥ ३२ ॥

तचिन्तनाप्रकारमाह सन्धिमिति ॥ ३१ ॥ अर्धाङ्गुलाधिकांत्रि-  
शदाङ्गुलगतिः प्राणो यत्र हृदयाकाशे वागादिभिः प्राणैः सह प्रतिष्ठितः  
योऽयं बाह्यप्राणस्य आधिर्दिविकस्य गोचरे विषयो भवति एष एव  
आध्यात्मिकप्राण इति विख्यातो भवति । स यत्र हृदयाकाशे प्रत्यगभास्ये  
स्वोपजीव्यकरणग्रामेण सह विलीयते तद्विल्याधिकरणं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म  
तस्मिन् ब्रह्मात्मनि ब्रह्माकारपरिणितमनसा तद्वासकप्रत्यगात्मना सन्धिमैक्यं  
कृत्वा प्रत्यक्परभेदसापेक्षतदैक्यगतसविशेषांशापह्वसिद्धं ब्रह्म स्वमात्रमिति  
विचिन्तयेत् ॥ ३२ ॥

श्वासप्रमाणम्

अशीतिश्च शतं चैव सहस्राणि त्रयोदशा ।

<sup>२</sup>लक्षश्चैकोननिधास अहोरात्रप्रमाणतः ॥ ३३ ॥

अहोरात्रनिर्वर्त्यश्वासप्रमाणमाह—अशीतिश्चेति ॥ द्वयशीत्यधिकशतोत्तर-  
सहस्रलक्षसङ्क्षयाविशिष्टनिधासादिः अहोरात्रप्रमाणतो गण्यते । श्रुत्यन्तरे तु  
षट्सङ्क्षयाहोरात्रयोः एकविंशतिसहस्राणि षट्छतान्यधिकानि भवन्तीत्यान्नात्म ।  
प्रकारद्वयप्रविभातसङ्क्षयाभेदस्तु बाल्यादिशरीरतारतम्यतः उपपद्यते । सुखं  
भवतीति उभयमपि सङ्गच्छते, नहि विरोधोऽस्तीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

<sup>१</sup> विंशत्सार्धांक. विंशत्त्वार्धाङ्गुलः-अ, उ. विंशत्सार्धाङ्गुलः-इति तु पाठः  
व्याख्यानुसारीति धृतः

<sup>२</sup> लक्षश्चैकोवि-अ १. लक्षश्चैकोवि-क, अ २.

प्राणादीनां स्थानानि

प्राण आथो हृदि स्थाने अपानस्तु पुनर्गुदे ।

समानो नाभिदेशो तु उदानः कण्ठमाश्रितः ॥ ३४ ॥

व्यानः सर्वेषु चाङ्गेषु व्याप्य तिष्ठति सर्वदा ।

एवं श्वासकृतप्राणादिस्थानान्याह—प्राण इति ॥ ३४ ॥

तेषां वर्णभेदाः

अथ वर्णस्तु पञ्चानां प्राणादीनामनुक्रमात् ॥ ३५ ॥

रक्तवर्णो मणिप्रब्यः प्राणवायुः प्रकीर्तिः ।

अपानस्तस्य मध्ये तु इन्द्रकोपसमप्रभः ॥ ३६ ॥

समानस्तु द्वयोर्मध्ये गोक्षीरध्वलप्रभः ।

आपाण्डर उदानश्च व्यानो <sup>१</sup>हर्चिसमप्रभः ॥ ३७ ॥

प्राणाद्याकृतिवर्णभेदमाह अथेति ॥ ३५-३७ ॥

परमफलम्

यस्येदं मण्डलं भित्त्वा मारुतो याति मूर्खनि ।

यत्र यत्र त्रियेद्वाऽपि न स भूयोऽभिजायते ।

न स भूयोऽभिजायत इत्युपनिषत् ॥ ३८ ॥

षड्हृग्योगाभ्यासपरमफलं प्रकटयन् उपसंहरति—यस्येति ॥ यस्य  
मुमुक्षोः योगिनो मारुतः प्राणादिः इदं स्वाधिष्ठेयहृदयादि मण्डलं अभ्यासबलेन

भित्वा मूर्धनि सहस्रारे विद्यमानं तुर्यं तुर्यतुर्यं वा स्वप्नात्रमित्येति सोऽयं  
तादृशपरिपक्ष्योगी “तीर्थं श्वपचगृहे वा” इत्यादिभुत्यनुरोधेन च च  
जीवन् तिष्ठेत् क्रियेद्वाऽपि सोऽयं नहि भूयोऽभिजायते ग्रन्थस्मृत्युं  
कालं ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः । आवृत्तिः आदरार्था । इत्युपनिषद्  
अमृतनादोपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥ ३८ ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्भ्रह्मयोगिना ।  
लिखितं स्याद्विवरणं नादोपनिषदः स्फुटम् ।  
प्रकृतोपनिषद्भ्रयाख्याग्रन्थः षष्ठ्युत्तरं शतम् ॥

इति श्रीमद्दीशाच्युष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे एकविंशतिसङ्क्षथापूरकं  
अमृतनादोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्



# अमृतविन्दूपनिषत्

सह नाववतु—इति शान्तिः

मन एव बन्धमोक्षयोः कारणम्

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।  
अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥ १ ॥  
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।  
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥ २ ॥

अमृतविन्दूपनिषदेव्यं यत् <sup>१</sup> परमामृतम् ।  
तदेव हि त्रिपाद्रामचन्द्राख्यं नः पग गतिः ॥

अथ खलु कृष्णयजुर्वेदप्रविभक्तेयं अमृतविन्दूपनिषत् । तस्या उपोद्घातादिसङ्कृतिः कठवल्ल्यादिसमा । इयं आख्यायिकां विना अवान्तररूपेण प्रवृत्ता । अल्पग्रन्थतोऽस्या विवरणमारभ्यते ॥ मन इति ॥ स्वातिरिक्तविद्यापदतत्कार्यापह्वसिद्धनिष्ठतियोगिकब्रह्मत्राज्ञदृष्टिः यत् स्वातिरिक्तमस्तीति मननं करोति तदेव मनो मायातत्त्वम् । हिशब्देन त्रिगुणात्मकमनसो निष्ठतियोगिकाभावरूपत्वं द्योल्यते । स्वाज्ञदृष्टिसत्यवद्विकल्पितमनो द्विविधमिति

<sup>१</sup> परमाक्षरं—उ, अ १.

शास्त्रतः प्रोक्तम् । किरुपेण द्विविधमित्यत्र तत्सत्त्वांशः शुद्धं च तद्व-  
जस्तमोऽशः अशुद्धमेव च । पदद्वयं श्रुतिरेव व्याकरोति अशुद्धमिति ।  
कामसङ्कल्पविशिष्टं अशुद्धं अविद्यांशत्वात्, कामसामान्यविवर्जितं शुद्धं  
विद्यांशत्वात् ॥ १ ॥ वन्धमोक्षहेतुः मन एवेत्याह—मन एवेति ।  
सङ्कल्पादिवृत्तिमन्मनो वन्धहेतुः निःसङ्कल्पं मनो मुक्तिहेतुः इत्यर्थः ॥ २ ॥

मनोनिरोधो मोक्षोपायः

यतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते ।

अतो निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा ॥ ३ ॥

निरस्तविषयासङ्गं संनिरुद्धं मनो हृदि ।

यदा यात्यात्मनोऽभावं तदा तत्परमं पदम् ॥ ४ ॥

तावदेव निरोद्धव्यं यावद्वृदि गतं क्षयम् ।

एतज्ञानं च ध्यानं च शेषो न्यायश्च विस्तरः ॥ ५ ॥

यतो निर्विषयमनसो मुक्तिहेतुत्वं अतो मुमुक्षुणा मनो निर्विषयं  
कार्यमित्याह—यत इति ॥ ३ ॥ अमनीभाव एव मोक्ष इत्याह—निरस्तेति ।  
यस्य मनसो ब्रह्मध्यानतो विषयासङ्गो निरस्तः तत् निरस्तविषयासङ्गं  
मनो हृदि संनिरुद्धं सत् यदा यस्मिन् काले आत्मनः स्वस्य अभावं  
अमनीभावं याति तदा तस्मिन् काले यत् सर्वापह्ववसिद्धपदं तत्  
परमं पदं निष्प्रतियोगिकब्रह्मात्रमविशिष्यते ॥ ४ ॥ मनस्तत्कार्यापह्ववसिद्धं  
ब्रह्मेति यत् तदेव ज्ञानमिति सर्वेदान्तपरमतात्पर्यमित्याह—तावदिति ।  
यावद्वृदि कामादिवृत्तिमन्मनः क्षयं गतं तावदेव मनो निरोद्धव्यम् ।  
यत् मनस्तत्कार्यापह्ववसिद्धं ब्रह्मस्वमात्रमिति जानाति तत् एतत् निर्विशेष-  
ज्ञानं ध्यानं च । शब्दद्रव्यतः निष्प्रतियोगिकस्वमात्रतया ब्रह्म ज्ञातुं ध्यातुं

शक्यते इति धोत्यते । स्वातिरेकेण ज्ञातुं ध्यातुं किमन्यदस्ति, ब्रह्मात्रस्यैव  
निष्प्रतियोगिकत्वात् । तदतिरेकेण शेषो न्यायश्च विस्तरः ब्राचारम्भण-  
मात्रत्वात्, “ब्राचारम्भणं विकारो नामधेयम्” इति श्रुतेः ॥ ९ ॥

ब्रह्मानेन ब्रह्मभावप्राप्तिः

नैव चिन्त्यं न चाचिन्त्यं न चिन्त्यं चिन्त्यमेव च ।  
पक्षपातविनिर्मुक्तं ब्रह्म संपद्यते <sup>१</sup>तदा ॥ ६ ॥

ब्रह्मयाथात्म्यविदः तद्वावापत्तिमाह—नैवेति । स्वातिरेकेण एतत् नैव  
चिन्त्यं स्वमात्रन्यात् । स्वमात्रतया नचाचिन्त्यं, सविशेषतया न चिन्त्यं,  
स्वयमेवेति चिन्त्यमेव तत् । नैव चिन्त्यमित्यादिपक्षे पततीति पक्षपातं  
तद्विनिर्मुक्तं ब्रह्म स्वमात्रमिति यदा वेठ तदा वेदनसमकालं ब्रह्म सम्पद्यते  
ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

सविशेषब्रह्मानुसन्धानेन निर्विशेषब्रह्माधिगमः

स्वरेण संधयेद्योगमस्वरं भावयेत्परम् ।  
अस्वरेणानुभावेन <sup>२</sup>नाभावो भाव इष्यते ॥ ७ ॥  
तदेव निष्कलं ब्रह्म निर्विकल्पं निरञ्जनम् ।  
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा ब्रह्म संपद्यते ध्रुवम् ॥ ८ ॥  
निर्विकल्पमनन्तं च हेतुदृष्टान्तवर्जितम् ।  
अप्रमेयमनादिं च यत् ज्ञात्वा मुच्यते बुधः ॥ ९ ॥

<sup>१</sup> ध्रुवं—क, अ २.

<sup>२</sup> नभावो-क, अ १, अ २.

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।

• न<sup>१</sup> मुमुक्षुर्न वै मुक्तः इत्येषा परमार्थता ॥ १० ॥ -

सविशेषब्रह्मोपासनया निर्विशेषब्रह्माधिगमः स्यादित्याह—स्वरेणेति । ओङ्कारस्वरेण आदावपरब्रह्मयोगं सन्ध्येत् सविशेषेभ्योऽस्मीत्यनुसन्धानं कुर्यात् । सविशेषब्रह्मप्रसादात् परं अस्वरं निर्विशेषं ब्रह्म भावयेत् । अस्वरेण निर्विशेषब्रह्मणा अनुभवेन अनुभवेन अस्वरं परं ब्रह्मैव भावयेदिति पूर्वेणान्वयः । स्वराभावोऽस्वर इति चेन्न, अस्वगस्य निर्विशेषब्रह्मतया भावरूपत्वात् । न हि भावः कदाऽप्यभाव इष्यते ॥ ७ ॥ यस्मादेवं तस्मात् यदेव अस्वरं तदेव प्राणादिनामान्तर्षोडशकला-वैलक्षण्येन उपबृहणात् निष्कळं ब्रह्म स्वविकल्पतविकल्पासम्भवात् निर्विकल्पं स्वाज्ञानार्हस्वातिरिक्तवैरग्लयात् निर्ज्ञानं यत् तत् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा तज्ज्ञानसमकालं ध्रुवं निर्विशेषं ब्रह्म सम्पद्यते ॥ ८ ॥ उक्तार्थमेव भङ्गयन्तरेणाह—निर्विकल्पमिति । जाग्रज्जाग्रदायविकल्पानुज्ञैकरसान्तचतु-ष्पञ्चदशविकल्पाः यत्र स्वावशेषतया पर्यवस्थन्ति तत् निर्विकल्पम् । निर्विकल्पस्य सूक्ष्मत्वेनान्तवत्त्वं स्यादित्यत आह—अनन्तं चेति । त्रिविधपरिच्छेदवैरल्प्यात् “देशतः कालतो वस्तुतः परिच्छेदरहित ब्रह्म” इति श्रुतेः । चशब्दो निष्प्रतियोगिकानन्त्यदोतकः । उक्तार्थे को हेतुः, दृष्टान्तो वा कः, इत्यत आह—हेतुदृष्टान्तवर्जितमिति । स्वसिद्धौ स्वातिरिक्तहेत्वभावात् स्वस्य निष्प्रतियोगिकत्वेन दृष्टान्तासम्भवाच्च । यतः एवं अतः तत् अप्रमेयं वेदान्तेतरप्रमाणासहत्वात् । अप्रमेयत्वेऽपि तदादिमत् स्यात् इत्यत आह—अनादिं चेति । निष्प्रतियोगिकसन्मात्रस्य उत्पत्यादेरसम्भवात् । चशब्दतः स्वातिरिक्तस्याप्यजत्वं द्योत्यते, “पश्यतेहापि सन्मात्रमसदन्यत्” “ब्रह्मात्रमसन्नहि” इति श्रुतेः । यत् एवं ज्ञात्वा बुधो विद्वान् ज्ञानसमकालं स्वातिरिक्तस्तित्वभ्रमतो मुच्यते तत् स्वमात्रमवशिष्यते इत्यर्थः ॥ ९ ॥

<sup>१</sup> मुमुक्षान—अ २.

उत्पत्तिप्रलयबन्धमोक्षादिव्यवस्थादर्शनात् कथं स्वमात्रसिद्धिरित्याशङ्कय  
अस्याः स्वाविद्याविकल्पितत्वेन कारणतुल्यत्वात् निष्प्रतियोगिकद्वमात्रसिद्धिः  
निरङ्गुकुशा इत्याह—न निरोध इति । निरोधः प्रलयः, उत्पत्तिः जातिः, बद्धः  
संसारी, मोक्षसाधकः प्रमाता, स्वाज्ञानतत्कार्यात् मोक्षमिच्छुः मुमुक्षुः, संछिन्नसं-  
सृतिपाशो मुक्तः इत्यादिकल्पना यतः स्वातिरिक्तास्तिताप्रभवा अतः  
स्वातिरिक्तसामान्यस्य शशविष्णवदवस्तुत्वेनाविद्यकत्वात् स्वातिरिक्तोत्पत्ति-  
प्रलयादिः निष्प्रतियोगिकाभावरूपः इत्यत्र मायाविद्याज्ञानविश्वाभावान्तःकरणादयः  
ब्रह्मातिरिक्तपर्यायाः अत्यन्ताभावरूपणः इति परमाक्षरोत्तेः निरोधादि न  
स्वमात्रे अस्ति इत्येषैव परमार्थता । अतो निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रसिद्धिः  
निरङ्गुकुशोत्यर्थः ॥ १० ॥

आत्मनः एकत्वम्

एक एवात्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।

स्थानत्रयव्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ११ ॥

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।

एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ १२ ॥

अवस्थाभेदानुरोधेन तदव्यक्षभेदः स्यादित्यत आह—एक इति ।  
चतुश्चतुर्धार्मिन्नजाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु विश्वविश्वाद्यनुज्ञकरसाविकल्पान्तभेदेन यो  
विभागः सोऽयं आत्मा एक एव इति मन्तव्यः, घटशागवाद्यनुगतव्योमैकत्व-  
वत् जाग्रज्जाग्रदाद्यवस्थानुगतविश्वविश्वादिचित एकत्वात् । एवं चतुश्चतुर्धार्मिन्न-  
स्थानत्रयव्यतीतस्य तुर्यवस्थाऽऽरुदृस्य विश्वविश्वादिरूपेण पुनर्जन्म न विद्यते  
तथा जन्महेतुस्वाज्ञानवैरल्प्यात् ॥ ११ ॥ कथं पुनरात्मनः एकत्वभित्यन्न  
सदृष्टान्तमेकत्वमाह—एक इति । पञ्चभूतभौतिकव्यवस्थित आत्मा एक एव  
हि स्वज्ञादिदृश्यनुरोधेन नमोजलविम्बप्रतिविम्बभावमापन्नचन्द्रवत् शिवजीव-  
भेदेन एकधा बहुधेव दृश्यते, वस्तुत आत्मन एकत्वात् ॥ १२ ॥

आत्मनो जन्मनाशराहित्यम्

घटसंवृतमाकाशं नीयमाने घटे यथा ।

घटो<sup>१</sup> लीयेत नाकाशः तद्वज्जीवो नभोपमः ॥ १३ ॥

घटवद्विविधाकारं भिव्यमानं पुनः पुनः ।

तद्वेदे च न जानाति स जानाति च नित्यशः ॥ १४ ॥

सर्वोपाध्यवच्छिन्नात्मनः तत्सत्त्वासत्त्वाभ्यां स्थितिनाशौ स्याताभित्यत  
आह—घटेति । घटसंवृतं घटावच्छिन्नाकाशं अन्येन घटे नीयमाने यथा  
घटावच्छिन्नाकाशं नीतमिव भाति न वस्तुतः आकाशस्याचलत्वात्,  
यदा घटो लीयेत न हि तदवच्छिन्नाकाशो लीनो भवति तथा तद्वत् नभोपमो  
जीवः स्वोपाधिचलननाशाभ्यां जीवो न चलति न नश्यति चेत्यर्थः “जीवापेतं  
वाव किलेदं त्रियते न जीवो त्रियते” इति श्रुतेः ॥ १३ ॥ स्वोपाधिसत्त्वा-  
सत्त्वाभ्यां आत्मा दृश्यते न दृश्यते इति यो जानाति स एव आत्मयाथात्म्यं  
जानातीत्याह—घटवदिति । यथा घटादिः विविधाकारः तद्वत् तदवच्छिन्नाका-  
काशमपि पुनः पुनः उद्भूतघटादिरूपं विविधाकारमिव दृश्यते । तद्वटादीनां भेदे  
ध्वंसे लोकस्तदवच्छिन्नाकाशभेदं यथा न जानाति अखण्डाकाशमेव पश्यति,  
तद्याथात्म्यज्ञस्तु घटाद्युपाधिसत्त्वासत्त्वाभ्यां नित्यशोऽखण्डाकाशमेव  
जानाति ॥ १४ ॥

निरपाधिकात्मदर्शनम्

शब्दमायावृतो नैव<sup>२</sup> तमसा याति पुष्करे ।

मित्रे तमसि चैकत्वं<sup>३</sup> मेक एवानुपश्यति ॥ १९ ॥

<sup>१</sup> नीयेत—अ, अ २.   <sup>२</sup> तमसो—क, अ, अ १, अ २.   <sup>३</sup> मेकमेवा—क.

तथा स्वाज्ञदृष्टिरुपाभ्यनुकारिनानात्मभेदं पश्यति उपाध्यपाये तद्देदं न पश्यति । परमार्थमतिस्तूपाधिसत्त्वासत्त्वाभ्यां निरुपाधिकमात्मानमेकमेवानुपश्य-  
तीत्याह—शब्देति । शब्दार्थप्रपञ्चहेतुभूता शब्दमाया, यद्वा अर्थशून्यतया  
शब्दमातस्यपिणी वाचारम्भणात्मिका अघटितघटनापटीयसी माया, तयाऽऽवृतो  
जन्तुः तमसा अन्धकारेण आवृतजन्तुवत् पुष्करे परमपावने स्वात्मनि  
नैव याति । प्रदीपादिना अन्धकारभेदवत् स्वज्ञानेन स्वाज्ञानतमसि भिन्ने,  
चकारात् तद्वासनायां नष्टायां, प्रत्यक्षपरचितोः एकत्रं एक एवानुपश्यति ।  
यद्वा—स्वाज्ञस्तु शब्दमायावृतः सन् पुष्करे तमसाऽऽवृतजन्तुवत् सर्व-  
भूतप्रत्यग्ब्रह्मैक्यज्ञानं नैव याति । स्वज्ञस्तु स्वाज्ञानतमसि भिन्ने पुष्करे  
परमात्मनि सर्वभूतप्रत्यगेकत्वमनुपश्यति । परमार्थदृष्टिस्तु प्रत्यक्षपर-  
विभागैक्यासहब्रह्मतत्त्वं निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति पश्यति ॥ १९ ॥

### शब्दब्रह्माध्यानेन परब्रह्माधिगमः

शब्दाक्षरं परं ब्रह्म तस्मिन्न्सीणे यदक्षरम् ।

तद्विद्वानक्षरं ध्यायेददीच्छेच्छान्तिमात्मनः ॥ १६ ॥

द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परं च यत् ।

शब्दब्रह्माणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ १७ ॥

ग्रन्थमध्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः ।

पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः ॥ १८ ॥

निर्विशेषब्रह्ममात्रावगत्युपायमाह—शब्देति । निर्विशेषब्रह्मास्युपायत्वेन  
यत् प्रसिद्धं शब्दाक्षरं ॐ इत्येतदक्षरं परं ब्रह्मालम्बनं तदर्थज्ञानतः तस्मिन  
सावयवे शब्दाक्षरे क्षीणे विलयं प्रपन्ने सति यत् शब्दाक्षरविलयाधिकरणं अक्षरं  
न क्षरति तदेतत् आधेयाधारात्मकक्षराक्षरगतहेयांशापह्ववसिद्धं परमाक्षरं यदि  
विद्वानात्मनः स्वातिरिक्तक्षराक्षरप्रपञ्चशार्नित इच्छेत् तदा तदक्षरं

अहमस्मीति ध्यायेत् ॥ १६ ॥ शब्दब्रह्मयाथात्म्यज्ञानतः शब्दप्रपञ्च-  
निरसनपूर्वकं तदर्थब्रह्माधिगमो भवतीत्याह—द्वे इति । शब्दब्रह्म  
परब्रह्मेति यत् ब्रह्म द्विविधं तच्छब्दपरब्रह्मगोचरे द्वे विद्ये वेदितव्ये सगुण-  
निर्गुणब्रह्मयाथात्म्ये ज्ञातव्ये । तु शब्दोऽवधारणार्थः । तयोरुपयोपेयात्मक-  
त्वात् तत्रोपायभूते शब्दब्रह्मणि सविशेषब्रह्मणि निष्णातो मुनिः—  
प्रणववाच्यब्रह्मानुसन्धानतः निर्विशेषब्रह्मज्ञानमुदेति—तज्ज्ञानोदयसमकालं  
स्वातिरिक्तसर्वापहवसिद्धं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति परं ब्रह्माधिगच्छति  
तन्मात्रतया विद्वानवशिष्यते इत्यर्थः ॥ १७ ॥ ब्रह्माधिगमेऽपि  
तद्वेतुप्रन्थाभ्यासः कर्तव्य इत्यत आह—ग्रन्थमिति । साधनचतुष्टयसम्पन्नो  
विद्वान् यावत् ब्रह्ममात्रज्ञानं नोदेति तावत् तज्ज्ञानविज्ञानतत्परः सन्  
सर्ववेदान्तप्रन्थजातमभ्यस्य संज्ञायादिपञ्चदोषशान्त्यन्तं गुरुमुखात् श्रवणं कृत्वा  
अथ मनननिदिध्यासनप्रभवसम्यज्ञानं यदि जायते तदा धान्यार्थी पलालमिव  
ग्रन्थजातमशेषतः त्यजेत्, प्रयोजनाभावात् । नहि सरित्पारं प्रविष्टस्य  
नौकापेक्षाऽस्ति, तथेतर्थः ॥ १८ ॥

सर्वभूतप्रत्यगात्मनः एकत्वम्

गवामनेकवर्णनां क्षीरस्याप्येकवर्णता ।

क्षीरवत्पश्यते ज्ञानं लिङ्गिनस्तु गवां यथा ॥ १९ ॥

धृतमिव पयसि निगृहं भूते भूते च वसति विज्ञानम् ।

<sup>१</sup>सततं मनसि मन्थयितव्यं मनोमन्थानभूतेन ॥ २० ॥

नानाऽन्तःकरणावच्छिन्नप्रतीचो नानात्वं स्यादित्यत आह—गवाभिति ।  
नानावर्णविशिष्टगोक्षीरं यथा एकरूपं तथा नानालिङ्गयनुगतप्रत्यज्ञानमेकरूपम् ।

<sup>१</sup> अत्र उत्तरार्थं मूलाकरानुसारेण धृतम्. तत्र “मनसि” इत्येतत्स्य लोपो  
युज्येत. “मनसा मन्थानभूतेन” इति मु. पाठः

तुशब्दोऽवधारणार्थः ॥ १९ ॥ एवं सर्वभूतप्रतीचः एकत्वं किं न भातीत्यत आह—घृतमिवेति । यथा पयसि निगृहं घृतं मथनादिना आविर्भवति तथा भूते भूते सर्वभूतान्तःकरणे तद्रूपिभावाभावप्रकाशकमपि विज्ञानं प्रत्यक्षतत्त्वं स्वाङ्गदृष्टिनिगृहतया वसति । चशब्दो निस्संशयार्थः । प्रत्यगमिमुखीभूते मनसि मन्थानभूतेन प्रत्यगभावमापन्नेन मनसा मन्थयितव्यम् । एवं सन्ततमननात् पराक्षापेक्षप्रत्यक्षपरविभागैक्यगतहेयांशापहृवसिद्धं ब्रह्मात्रं निष्प्रतियोगिकतया आविर्भवतीत्यर्थः ॥ २० ॥

तत्साक्षात्कारसाधनं ध्यानम्

ज्ञाननेत्रं समाधाय चोद्धरेद्वहिवत् परम् ।

निष्कलं निश्चलं शान्तं तद् ब्रह्माहमिति स्मृतम् ॥ २१ ॥

सर्वभूताधिवासं यद्भूतेषु च वसत्यपि ।

सर्वानुग्राहकत्वेन तदस्म्यहं वासुदेवः ॥ २२ ॥

तदस्म्यहं वासुदेव इत्युपनिषत् ॥

सर्वभूतनिगृहं ब्रह्म कथं साक्षात्कर्तुं शक्यमित्यत आह—ज्ञानेति । सर्वापहृवसिद्धब्रह्मात्रांचरज्ञानमेव नेत्रं ज्ञाननेत्रमन्तःकरणे समाधाय विन्यस्य—चशब्दात् ज्ञानेतरसाधनासिद्धत्वं घोत्यते—दावोः मथनाविर्भूतवहिवत् निष्प्रतियोगिकं परं ब्रह्म उद्धरेत् । प्राणादिकलासु सत्सु कथं निष्प्रतियोगिकता इत्यत आह—निष्कलमिति । ब्रह्मात्रसिद्धेः प्राणादिनामान्तषोडशकलापहृवपूर्वकत्वात् । पूर्णत्वात् निश्चलं स्वातिरिक्तशान्तं यदविशिष्यते तत् निष्कलमित्यादिपदत्रयविशिष्टं ब्रह्मेति स्मृतं, ब्रह्म स्वभात्रमिति पर्यवसन्नमित्यर्थः ॥ २१ ॥ निष्प्रतियोगिकब्रह्मात्रस्य अर्धमात्राभागत्रयावष्टम्भतः सावात्म्यं वस्तुतः स्वभात्रसिद्धं प्रकटयन् उपसंहरति—सर्वेति । यत् सर्वभूतानामधिवासः स्थानं अधिष्ठानत्वात्, यदन्तर्याम्यात्मनाऽपि भूतेषु च वसति, यत् सर्वानुग्राहकत्वेन

कूटस्थचिन्मात्रतया अवशिष्यते तदस्म्यहं वासुदेवः तत्परवासुदेवाख्यं ब्रह्मास्मि ।  
यः स्वातिरिक्ताधिवसनाद्वासुः सचासौ अधिष्ठेयसापेक्षाधिष्ठानगतहेयांशापहृव-  
सिद्धनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रतया दीव्यत इति देवः परमात्मा स्वमात्रमवशिष्यत  
इति फलितोऽर्थः । आद्वृत्तिरादरार्था । इत्युपनिषच्छब्दः प्रकृतोपनिषत्स-  
मास्यर्थः ॥ २२ ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।  
लिखितं स्याद्विवरणं बिन्दुपनिषदः स्फुटम् ।  
प्रकृतोपनिषद्व्याख्याप्रन्थस्त्रिशाधिकं शतम् ।

इति श्रीमदीशाद्यत्रोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे विंशतिसङ्ख्यापूरकं  
अमृतबिन्दुपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्



# क्षुरिकोपनिषत्

सह नाववतु—इति शान्तिः

योगाधिकारः

क्षुरिकां संप्रवक्ष्यामि धारणां योगसिद्धये ।  
यां प्राप्य न पुनर्जन्म योगयुक्तस्य जायते ॥ १ ॥  
वेदतत्त्वार्थविहितं यथोक्तं हि स्वयम्भुवा ।  
कैवल्यनाडिकान्तस्थपराभूमि<sup>१</sup>वरासनम् ।  
क्षुरिकोपनिषद्योगभासुरं गममात्रये ॥

इह खलु कृष्णयजुर्वेदान्तर्गतेयं क्षुरिकोपनिषत् ज्ञानप्रतिबन्धकनिर-  
सनयोगशास्त्ररूपिणी प्रवृत्ता । तस्याः उपोद्घातादि कठवह्नीवदूहाम् ।  
उत्कलक्षणलक्षितायाः अस्याः स्वल्पप्रन्थतो विवरणमारम्भते । श्रुतिरेव  
यथोक्ताधिकारिण उहिश्य स्वच्छन्दं प्रवृत्तेति यत्तद्विद्यास्तुत्यर्थम् । केयं  
श्रुतिरित्यत आह—क्षुरिकामिति ॥ ये यथोक्तयोगसाधनसम्पन्नाः तान् प्रति  
स्वाज्ञानहृदयप्रनियच्छेदनपट्टीं क्षुरिकामिव शास्त्ररूपां धारणां ब्रह्मातिरिक्तं न  
किञ्चिदस्तीति भावनालक्षणां सम्यक् प्रवक्ष्यामि । किमर्थं? ब्रह्ममात्रानुसन्धानं

<sup>1</sup> निवासिनं—इति पाठान्तरम्.

योगः तत्सिद्धये तदवगतय इत्यर्थः । यां उक्तलक्षणलक्षितां धारणां प्राप्य योगयुक्तस्य मुनेः न पुनर्जन्म जायते जनिमृतिकल्ना न हि भवति तामेव संप्रवक्ष्यामीति पूर्वेणाऽन्वयः ॥ १ ॥ किं तद्योगलक्षणं, केनोक्तं, किं तत्साधनजातं, इत्यत आह—वेदेति । स्वयमेव भवतीति स्वयंभूः तेन स्वयंभुवा ब्रह्मणा परमेश्वरेण योगशिखाऽऽदौ ब्रह्माणं प्रति यथोक्तं तत् वेदतत्त्वार्थविहितं सर्ववेदान्तसम्मतमित्यर्थः ॥

आसनप्राणायामै

निःशब्दं देशमास्थाय तत्रासनमवस्थितः ॥ २ ॥  
 कूर्मोऽङ्गानीव संहृत्य मनो हृदि निरुद्ध्य च ।  
 मात्राद्वादशयोगेन प्रणवेन शैःशैः ॥ ३ ॥  
 पूरयेत् सर्वमात्मानं सर्वद्वारं निरुद्ध्य च ।  
 उरोमुखकट्टिरीवं किञ्चिद्दृदयमुच्चतम् ॥ ४ ॥  
 प्राणान् संधारयेत् तस्मिन् नासाभ्यन्तरचारिणः ।  
 भूत्वा तत्रायतप्राणः शैरुच्छ्रुसमुच्छ्रुसेत् ॥ ५ ॥

तथाविधयोगसिद्धये साधनान्युपदिशति—निःशब्दमिति ॥ यो निर्विकल्पकयोगार्थी सोऽयं जनसंबाधराहित्यात् निःशब्दं देशमास्थाय तत्र रहस्यप्रदेशो सिद्धप्राद्यासानं अवस्थितः सन् ॥ २ ॥ श्रोत्रादीनीनिद्र्याणि कूर्मोऽङ्गानीव संहृत्य स्वहृदि मनो निरुद्ध्य । चशब्दात् प्राणेन्द्रियद्वारसङ्कल्पविरलं मनः कृत्वेति घोत्यते ।

जानू प्रदक्षिणीकृत्य न ह्रुतं न विलम्बितम् ।  
 अङ्गुलीस्फोटनं कुर्यात् सा मात्रा परिकीर्तिता ॥

इति श्रुतिसिद्धकालरूपमात्राद्वादशयोगेन चतुर्मात्रप्रणवेन शनैःशनैः  
 ॥ ३ ॥ सर्वमात्मानं स्वशरीरं वायुना पूरयेत् । वायुनिर्गमनद्वारेषु  
 सत्सु, कथं वायुधारणा स्यादित्यत अपानादिसर्वद्वारं निरुद्ध्य । चशब्दात्  
 पूरितं वायुं अष्टचत्वारिंशन्मात्राकालं कुम्भयेदिति योत्यते । एवं धारणां  
 कृत्वा यथावत् रेचयेत् इत्याह—उर इति । सिद्धाध्यासनस्थितो योगी उरश्च  
 मुखं च कटिश्च ग्रीवा च उरोमुखकटिप्रीवमिति । प्राणद्वग्नत्वात् एकवद्वावः ।  
 हृदयं च किंचित् उन्नतं विधाय ॥ ४ ॥ एवं यथोक्तकालं आयतप्राणो  
 भूत्वा शनैःशनैः उच्छ्वासं उच्छ्वसेत् चतुर्विंशतिमात्राकालं पूरितं वायुं  
 रेचयेत् । इडया वायुमापूर्य कुम्भयित्वा पिङ्गल्या विरेच्य पुनः  
 पिङ्गल्याऽपूर्य कुम्भयित्वा इडया विरेचयेत् । एवं प्रतिदिनं चतुष्कालं अशीति-  
 प्राणायामं कुर्यात् इति भावः ॥ ५ ॥

प्रत्याहारः

स्थिरमात्महृदं कृत्वा अङ्गुष्ठेन समाहितः ।  
 द्रे गुलफे तु प्रकुर्वीत जङ्घे चैव त्रयस्त्वयः ॥ ६ ॥  
 द्रे जानुनी तथोरु द्रे गुदे शिश्ने त्रयस्त्वयः ।  
 पायोरायतनं तत्र नाभिदेशो समाश्रयेत् ॥ ७ ॥  
 तत्र नाडी सुषुम्ना तु नाडिभिर्दशभिर्वृता ।  
 तत्र रक्ता च पीता च कृष्णा ताम्रा विलोहिता ॥ ८ ॥  
 अतिसूक्ष्मा च तन्वी च <sup>१</sup>शुक्ळां नाडीं समाश्रयेत् ।  
 तत्र सञ्चारयेत् प्राणान् ऊर्णनाभीव तन्तुना ॥ ९ ॥

<sup>१</sup> शुक्ळा नाडी-अ-

ततो रक्तोत्पलाभासं हृदयायतनं महत् ।

द्वेरं पुण्डरीकं तत् वेदान्तेषु निगद्यते ॥ १० ॥

तद्वित्त्वा<sup>१</sup> कण्ठमायाति तन्नाडीं पूरयेदिति ।

आसेनप्राणायामलक्षणमुक्त्वा प्रत्याहारलक्षणमाह—स्थिरमिति । एवं प्राणाभ्यासापाटवात् योगी सिद्धं पद्मासनं वा आस्थाय समाहितेन्द्रियो भूत्वा कनिष्ठिकानामिकाभ्यां सहाइगुष्टेन नासिकापुटं निरुच्य हृदये स्थिरं यथा भवति तथा स्वात्ममनःप्राणं हृदं कृत्वा केवलकुम्भकमास्थाय । अथ द्वे गुल्फे वर्तते तत्र वायुं समागोप्य धारणां कुर्वीत । तुशब्दतः पादाङ्गुलीष्वपि वायुमागोपयेदिति योत्यते । ततो जडघे जडघाप्रदेशे चैव । त्रयस्त्रय इत्यावृत्तिः आदगर्था । पादाङ्गुलीगुल्फजडघेषु तयस्त्रय इति द्वितीयर्थे प्रथमा—त्रिसङ्घथाकान् दृष्टिमनःप्राणान् क्रमेण आरोप्य ततस्ततः प्रत्याहरेत् ॥ ६ ॥ तथा द्वे जानुनी ऊरु द्वे गुदे शिश्ने च त्रयस्त्रयो दृष्टिमनःप्राणान् प्रत्याहरेत् । जानूरूमूलाधारस्वाधिष्ठानेषु तत्र तत्र कुम्भित्वा प्रत्याहृत्य अथ पायोः मूलाधारादेः यदायतनं आश्रयः तत्र नाभिदेशे मणिपूरके दृष्टिमनःप्राणान् समागोप्य तज्जयपर्यन्तं समाश्रयेत् ॥ ७ ॥ तत्र मणिपूरकाश्रयनाडीकन्दे इडपिङ्गलादिनाडीभिः दशभिः वृता सती सुषुम्ना नाम काचन ब्रह्मनाडी वर्तते । तत्रैव नाडीकन्दे रक्ता, चशब्दात् कपिशा, पीता चशब्दात् पिशङ्गा, कृष्णा, ताम्रा, विलोहिता । पाण्डरादिवर्णविशिष्टा इडा-पिङ्गला-गान्धाग-वरुणेत्यादिदशनाडीततिः ॥ ८ ॥ सूक्ष्मा च तन्वी च । चशब्दद्वयतः द्वासप्तिसहस्रसङ्ख्याः प्रधाननाडयः सन्तीति योत्यते । सर्वासु नाडीषु या प्रधानभूता शुक्लवर्णोज्ज्वला तां शुक्रां सुषुम्नानाडीं समाश्रयेत् । तत्र दृढमनःप्राणान् प्रत्याहरेत् इत्याह—तत्रैति । यथा ऊर्णनाभिः तन्तुना सञ्चरति तथा तत्र सुषुम्नायां द्वगादीन् संक्रमेत् इत्यर्थः ॥ ९ ॥ ततः सुषुम्नामार्गात् रक्तोत्पलाभासं हृदयायतनं नाडयेश्वर्या

<sup>१</sup> कर्ण-अ.

महत् । “दहरं पुण्डरीकं वेशम्” इत्यादिवेदान्तेषु यत् दहरं पुण्डरीकं निगच्छते तत्र सुषुम्नानाळार्पितहृष्ये द्वगादीन् त्रीनपि प्रत्याहरेत् ॥ १० ॥ ततः तत् हृष्यपङ्कजं भिन्न्वा द्वगादिः कण्ठं तद्रतविशुद्धिचक्रं याति । तत्र प्रत्याहृत्य, ततो भूमध्यं आज्ञाचक्रं ततः सहस्राचक्रं च पूरयेत् प्रत्याहरेत् । इतिशब्दः प्रत्याहारसमान्यर्थः ॥

धारणाध्यानसमाधयः

मनसस्तु परं गुह्यं <sup>१</sup>सुतीश्णं बुद्धिनिर्मलम् ॥ ११ ॥  
 पादस्योपरि यन्मर्मं तद्रूपं नाम चिन्तयेत् ।  
 मनोधारेण तीक्ष्णेन योगमात्रित्य नित्यशः ॥ १२ ॥  
 इन्द्रवज्रमिति प्रोक्तं मर्मजङ्घातुकृन्तनम् ।  
 तद्व्यानवलयोगेन धारणाभिर्निकृन्तयेत् ॥ १३ ॥  
 ऊर्वोर्मध्ये तु संस्थाप्य मर्मप्राणविमोचनम् ।  
 चतुरभ्यस्य योगेन छिन्देदनभिशाङ्कितः ॥ १४ ॥  
 ततः कण्ठान्तरे योगी <sup>२</sup>समूहेन्नाडिसञ्चये ।  
 एकोक्तरं नाडिशतं तासां मध्ये परा स्थिरा ॥ १५ ॥  
 सुषुम्ना तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी ।  
 इडा तिष्ठति वामेन पिङ्गला दक्षिणेन तु ॥ १६ ॥  
 तयोर्मध्ये परं स्थानं यस्तं वेद स वेदवित् ।  
 द्वासप्तिसहस्राणि प्रतिनाडीषु तैतिलम् ॥ १७ ॥

<sup>१</sup> सुतीर्ण-अ.

<sup>२</sup> समूहे ना-क, अ.

छिद्यते ध्यानयोगेन सुषुम्नैका न छिद्यते ।

● १ योगनिर्मलसारेण क्षुरेणानलवर्चसा ॥ १८ ॥

छिन्देन्नाडीशतं धीरः प्रभवादिह जन्मनि ।

२ जातीपुष्पसमं योगी यदा पश्यति तैतिलम् ॥ १९ ॥

एवं शुभाशुभैर्भवैः सा नाडीनां विभावयेत् ।

तद्वाविताः प्रपद्यन्ते पुनर्जन्मविवर्जिताः ॥ २० ॥

ततो धारणाध्यानसमाधिलक्षणमाह—मनस इति ॥ मनसः अन्तः-  
करणवृत्तिसहस्रात् परम् । तुशब्दो मनस्तत्कार्यस्य वस्तुतोऽसम्भवार्थः । गुणं,  
अनधिकारिणो गोपनीयत्वात् । सुतीक्ष्णं, स्वाज्ञानतत्कार्यतनुच्छेदनसुती-  
क्षणस्वज्ञानशब्दवत्वात् । बुद्धिनिर्मलं, निर्मलबुद्धिवेद्यत्वात् ॥ ११ ॥  
विश्वविरा�डोत्तादिपादजातस्य उपरि यन्मर्म विश्वाद्यसम्भवप्रबोधसिद्धसीम  
तद्रूपं नाम तदस्मीति चिन्तयेत् धारयेत् । एवं ब्रह्मधारणं स्वाज्ञान-  
ग्रन्थिच्छेदकं स्यादित्याह—मन इति ॥ एवं नित्यशः सदा तीक्ष्णेन  
मनोधारेण ब्रह्मातिरिक्तं न किञ्चिदस्तीति मनोधारणारूपशब्देण, स्वाज्ञानं  
भ्रमं छिन्देत् इत्यन्वयः ॥ १२ ॥ यत् स्वाज्ञानपर्वतभेदने इन्द्रवज्रमिति  
प्रोक्तं स्वातिरिक्तमर्माद्यवयवकृन्तनं तथाविधयोगं सुषुम्नाभेदनलक्षणं आश्रित्य  
तद्वाहमस्मीति ध्यानबलयोगेन तद्विशिष्टपदाङ्गुष्ठादिसहस्रारान्तधारणाभिः  
स्वातिरिक्तं भ्रमं निष्कृन्तयेत् ॥ १३ ॥ यदि पुनः स्वातिरिक्तभ्रम उदेति  
तदा स्वाविद्यापदस्य ऊर्बोः व्यष्टिसमष्टयोः तदारोपापवादाधारविश्वविरादृतत्त्वयोः  
यत् भ्रमं अविकल्पं तस्मिन् भ्रमे दृढमनःप्राणान् संस्थाप्य धारणां  
कृत्वा । तुशब्दः अवधारणार्थः । यथोक्तयोगेन स्थूलादिचतुरंशाढ्ब्य-  
स्वाविद्यापदतत्कार्यं मर्म । तदारोपापवादाधारः प्राणो विश्वविराडोत्तादिः  
तन्मोचनं चतुरभ्यस्य मर्मप्राणस्थूलादिचतुरंशापवादं कृत्वा तदपवादाधिकरणं

<sup>1</sup> योगे नि-अ.

<sup>2</sup> जातीपुष्पमय-क,

ब्रह्मास्मीति धारणाबलेन अनभिशङ्कितः सन् योगी योगान्तरायं छिन्देत् ॥ १४ ॥  
 ततः किं इत्यत आह—तत इति ॥ यतः नाडीसञ्चयशुद्धिं विज्ञा योगसिद्धिः  
 न भवति ततः कारणात् योगी स्वकृष्टान्तरे विलसनाडीसञ्चये प्राणवायुं  
 सम्यक् उहेन्, केवलकुम्भकोपायतो नाडीसञ्चयशुद्धिं कुर्यात् । प्रधाननाडयः  
 काः इत्यत आह—एकेति ॥ स्वदेहमध्ये एकोत्तरं इडादिप्रधाननाडीशतं  
 विद्यते । तासां मध्ये स्थिरा सुषुम्ना नाडी परा सर्वोत्कृष्टा ॥ १९ ॥ सेयं  
 सुषुम्ना तु परे ब्रह्मणि लीना, ब्रह्मसूतत्वात् । विरजा, रजस्तमोविकार-  
 वैरल्यात् । ब्रह्मरूपिणी, ब्रह्मलोकासिहेतुत्वात् । सुषुम्नाज्ञानफलमाह—इडेति ॥  
 सुषुम्नाया वामभागेन, सप्तम्यर्थं तृतीया, सुषुम्नावामदक्षिणपाथर्थोः इडा  
 पिङ्गला च तिष्ठति ॥ १६ ॥ तयोर्मध्ये सुषुम्नायां परमुत्कृष्टं ब्रह्मस्थानं वर्तते ।  
 तं तत्त्वपरमात्मानं प्रत्यगभेदेन यो वेद स मुनिः वेदार्थब्रह्मवित् भवति ।  
 यथोत्कृश्यानयोगेन सुषुम्नेतरनाडीषु प्राणगतिः छिद्यते, सुषुम्नाप्राणगतिस्तु न  
 छिद्यत इत्याह—द्वासप्तीति ॥ प्रधाननाडयस्तु द्वासप्तिसहस्राणि भवन्ति ।  
 तत्र सुषुम्नानाडयन्तर्गतकैवल्यनाडिकान्तःस्थनिश्चित्योगिकचिन्मावध्यानयोगेन  
 प्रतिनाडीषु प्राणवायोस्तैतिलं गतागतलक्षणं ॥ १७ ॥ छिद्यते विच्छिद्यते ।  
 तदानीं सुषुम्ना एका सुषुम्नामञ्चगकैवल्यनाडिकायां दृढमनःप्राणवृत्तिः न  
 छिद्यते आब्रहकल्पं न नश्यति, न बहिः निर्गच्छति, कल्पान्ते विरूपविलयं  
 भजति । अत एव कैवल्यनाडीप्रविश्वदग्वायुमनोवृत्तिमन्मुनिकलेबरं आब्रहकल्पं  
 तिष्ठतीत्यन् भगवद्वचनं मानम् ।

मत्तत्त्ववेतुः करणाळिरादौ कैवल्यनाडयन्तराचित्खमेत्य ।  
 आब्रहकल्पं विलयं भजन् सन् कायेन कैवल्यमवाप्य तिष्ठेत् ॥

इति ॥ यतः एवं अतो धीरो योगी योगः तत्त्वज्ञानं तथाविधयोग एव  
 निर्मलसारः सूक्ष्मधारारूपः तेन योगनिर्मलसारेण क्षुरेण अनलवर्चसा  
 ॥ १८ ॥ इह अस्मिन्नेव जन्मनि प्रभवात् ब्रह्मातिरिक्तं न किंचिदस्तीति  
 भावनाबलात् नाडीशतं तद्रत्प्राणप्रचरान् छिन्देत् कैवल्यनाडयामेव

दृढ़मनःप्राणप्रचारं कुर्यात् इति भावः । कैवल्यतदितरनाडीवायुप्रचारा-  
राप्रचारतो येषु एषु कृतकृत्यो भवतीत्याह—जातीति ॥ यथोक्तसाधनसम्पन्नो योगी  
जातीपुष्पपरिमळाविनाभाववत् यदा कैवल्यनाड्यां दृढ़मनःप्राणतैतिलं स्थैर्यं  
पश्यति तदा विदेहमुक्तो भवति, “गमनं तैतिलं स्थैर्यं” इति  
कोशात् ॥ १९ ॥ एवं यदा सुषुम्नान्तःस्थैकैवल्यनाडीतरनाडीनां या  
दृढ़मनःप्राणगतिः सेयं स्वर्गनरकगमनागमनलक्षणैः शुभाशुभैः भावैः  
युक्तेति विभावयेत् । अपुनर्भवगतिप्रदा इयं सुषुम्ना नाडी,  
कैवल्यगतिप्रदा इयं सुषुम्नाऽन्तर्गतकैवल्यनाडी, तदितरमादिनाडीततिः शुभफल-  
स्वर्गादिप्रापिका, अरमादिनाडीततिः अशुभफलनरकादिप्रापिका, तदितरनाड्यस्तु  
नानाविचित्ररोगादिगतिप्रापिका इत्यत “रमा पुण्येन पुण्यं लोकं नयति अरमा  
पापेन पापं इच्छ्या यत् स्मरति तदभिसम्पद्यते अपुनर्भवायाकोशां भिनति”  
इत्यादि, “मृत्युर्वै परे देव एकीभवति” इत्यादि श्रुतेः । यतः इतरनाडीवायु-  
प्रचारः शुभाशुभहेतुः अतो योगाभ्यासेन तद्रितिनिरोधं कृत्वा सुषुम्नादिनाड्यामेव  
वायुप्रचारं भावयेत् । एवं भावनाफलमाह—तदिति ॥ एवं सुषुम्नादौ  
प्राणमारोप्य तद्व्याहमस्मीति धिया भाविता एवं भावनया ते पुनर्जन्मविव-  
र्जिताः सन्तः तदेव ब्रह्म प्रपद्यन्ते ॥ २० ॥

योगसाधनं तदधिकारी च

तपोविजितचित्तस्तु निःशब्दं देशमास्थितः ।  
निःसङ्गः साङ्ग्योगज्ञो निरपेक्षः शनैःशनैः ॥ २१ ॥

तथोगसाधनं अधिकारिणं च निरूपयति—तप इति ॥ स्वाश्रमाचारसह-  
कृतयोगाभ्यासतपसा विजितचित्तस्तु योगी निर्विकल्पकसमाध्यर्थं  
जनसम्बाधराहित्यात् निःशब्दं देशमास्थितः स्वान्तर्बहिःकलनानिःसङ्गः  
साङ्ग्योगज्ञः अष्टाङ्गयोगतत्त्ववित् स्वातिरिक्तानिरपेक्षः सन् शनैःशनैः  
विकल्पजातं हित्वा निर्विकल्पकसमाधिनिष्ठो भवेत् इति वाक्यशेषः ॥ २१ ॥

## समाधिफलम्

पाशान् छित्त्वा यथा हंसो निर्विशङ्कं खमुत्पतेत् ।  
<sup>१</sup>छित्त्वपाशस्तथा जीवः संसारं तरते सदा ॥ २२ ॥  
 यथा निर्वाणिकाले तु दीपो दग्धवा लयं ब्रजेत् ।  
 तथा सर्वाणि कर्माणि योगी दग्धवा लयं ब्रजेत् ॥ २३ ॥  
 प्राणायामसुतीक्ष्णेन मात्राधारेणयोगवित् ।  
 वैराग्योपलघृष्टेन छित्त्वा तन्तुं न बध्यते ॥ २४ ॥  
 इत्युपनिषत् ॥

सदृष्टान्तं समाधिफलमाह—पाशानिति ॥ यथा हंसः स्वतुण्डेन स्वपाद-  
 बन्धनमानससरोरुहकमलपाशान् छित्त्वा निर्विशङ्कं यथा भवति तथा खमुत्पतेत्  
 तथा योगी जीवः सदा योगाभ्यासतीक्ष्णखड्डेन सञ्चिन्नसंसृतिपाशः सन्  
 संसारं तरते ॥ २२ ॥ किं च—यथा दीपो निर्वाणिकाले स्वाश्रयवर्त्त्यादिकं  
 दग्धवा स्वयोनौ लयं शान्तिं ब्रजेत् तथा योगी सावारकब्रह्मातावरण-  
 सर्वकर्मजालं दग्धवा स्वातिगिर्कल्यमपहवं ब्रजेत् ॥ २३ ॥ उत्तोपनिषद-  
 र्थमुपसंहरति—प्राणेति ॥ यथोक्त्ययोगवित् मुनिः प्राणायामादिसाधन-  
 सुतीक्ष्णेन सम्यक्तिब्रतगैर्गयोपलघृष्टेन अर्धमात्राधारेण स्वज्ञानशब्देण  
 स्वज्ञानतन्तुं छित्त्वा न पुनः बध्यते स्वज्ञानेन । स्वज्ञानेन तन्तुच्छेदन  
 समकालं योगी स्वमात्रं अवशिष्यते । इतिशब्दो निःसंशयार्थः । उपनिषच्छब्दः  
 प्रकृतोपनिषत्परिसमाप्त्यर्थः ॥ २४ ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्व्यायोगिना ।  
 लिखितं स्याद्विवरणं क्षुगिकायाः स्फुटं लघु ॥  
 क्षुरिकोपनिषद्व्याख्या विंशत्यधिशतं स्मृता ॥

इति श्रीमदीशमध्यश्वेतरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे एकविंशत्सङ्क्षिप्तापूरकं

क्षुरिकोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

<sup>१</sup> छित्त्ववंश—क.

<sup>२</sup> कृष्टेन—अ.

# तेजोबिन्दूपनिषत्

सह नाववतु—इति शान्तिः

## प्रथमोऽध्यायः

निर्विशेषतेजोबिन्दुस्वरूपम्

तेजोबिन्दुपरं ध्यानं विश्वात्महृदि संस्थितम् ।

अणुं शांभवं शान्तं स्थूलसूक्ष्मपरं च यत् ॥ १ ॥

दुःखादचं च दुराराध्यं दुष्प्रेक्ष्यं मुक्तमव्ययम् ।

दुर्लभं तत्स्वयं ध्यानं मुनीनां च मनीषिणाम् ॥ २ ॥

यत्त्राचिन्मात्रकलना यात्यपहृवमञ्जसा ।

तच्चिन्मात्रमखण्डैकरसं ब्रह्म भवाम्यहम् ॥

इह खलु कृष्णयजुर्वेदप्रविभक्तेयं तेजोबिन्दूपनिषत् स्वातिरिक्तखण्डाचि-  
न्मात्रापहृवसिद्धाखण्डानन्दचिन्मात्ररूपावस्थानलक्षणविकल्पैवरैवल्यार्थबोधिनी  
विजृम्भते । अस्या उपोद्घातादिकं कठवल्लयादिसमम् । अस्या ब्रह्ममात्रा-  
नुभवप्रकाशिकायाः तेजोबिन्दूपनिषदः स्वल्पग्रन्थतो विवरणमारभ्यते ।

आणवं—अ.

वक्ष्यमाणशिवस्कन्दक्रमभुनिदाघप्रश्नप्रतिवचनाख्यायिका तु विद्यास्तुत्यर्थ ।  
 अतादौ तावत् प्रथमाध्याये प्रश्नप्रतिवचनकलनां विना श्रुतिः स्वयमेव  
 यथोक्ताधिकारिभ्यः पञ्चदशाङ्गयोगसाधनसिद्धं निर्विशेषब्रह्मतत्त्वमुपदिशति  
 —तेजोबिन्दूति । ये स्वात्मयाथात्म्यमननेच्छवो मुनयः तेषां मुनीनां  
 निर्विशेषब्रह्मायाने येषां मनीषा विद्यते तेषां मनीषिणां च स्वातिरिक्ताविद्यापद-  
 तत्कार्यध्वान्तापहवसिद्धं निष्प्रतियोगिकस्वमावतेजोबिन्दुस्वरूपं तत्परं तद्विष-  
 यकं ध्यानं वक्ष्यामीति शेषः । ध्येयं कीदर्शं इत्यत आह—विश्वेति । स्वाङ्गेः  
 स्वातिरेकेणास्तीति विश्वसनीयं विश्वं स्वाविद्यापदतत्कार्यजातमेव यस्यात्मा  
 शारीरं सोऽयं विश्वात्मा विराट्, तस्य हृत्कमले तद्वृत्तिसहस्राव-  
 भासकतया स्थितम् । निराधारं अविद्यापदं कथं तिषेत् इत्यत आह—  
 अणिवति । अणुं अविद्यापदसर्वस्वं आदिकूर्मादिरूपेण अन्तर्यामिरूपेण  
 सर्वाधिष्ठानरूपेण वा वहतीति अणुवं । स्वापेक्षया अस्य परिच्छिन्नत्वात्  
 अणुत्वम् । शं अस्मात् भवतीति शाम्भुः प्रत्यक्, तद्विषयकसुखस्य  
 तदधीनत्वात् । तद्याथात्म्यं निर्विशेषं ब्रह्म शाम्भवम् । वस्तुतः विश्वविराणादि-  
 कलनाशान्तम् । स्वाङ्गदृष्टया स्थूलसूक्ष्मादिप्रपञ्चकलनाप्रसक्तौ यत्तदारोपापवा-  
 दाधिकरणं तत् स्थूलसूक्ष्मादिप्रपञ्चात् परं विलक्षणमित्यर्थः । चशब्दान्तुर्य-  
 भागादपि वैलक्षण्यं दोलते ॥ १ ॥ तस्य स्वाङ्गदृष्टिग्रहणाराधनाशक्यतया  
 दुःखाद्यं दुराराध्यं दुष्प्रेक्ष्यं च । स्वाङ्गदृष्टया तत्सर्वकलनामुक्तं, अत  
 एव अव्ययं व्ययहेतुस्वातिरिक्तभ्रमासम्भवात् । श्रुत्याचार्यप्रसादं विना  
 तत्स्वरूपं तद्विषयकध्यानं वा स्वयं स्वतो दुर्लभं, श्रुत्याचार्यप्रसादतः  
 तदवगन्तुं सुलभमेवेत्यर्थः ॥ २ ॥

निर्विशेषब्रह्मावगतिसाधनानि

यताहारो जितक्रोधो जितसङ्गो जितेन्द्रियः ।

निर्द्वन्द्वो निरहंकारो निराशीरपरिग्रहः ॥ ३ ॥

अगम्यागम<sup>१</sup>कर्तारो गम्यागमन<sup>२</sup>मानसाः ।

• मुखे श्रीणि च विन्दन्ति त्रिधामा हंस उच्यते ॥ ४ ॥  
परं गुह्यतमं विद्धि हस्त<sup>३</sup>तन्द्री निराश्रयः ।  
सोमरूपकला सूक्ष्मा विष्णोस्तत्परमं पदम् ॥ ५ ॥

उत्तमाधिकारिणां तदवगतिः भवत्येव । मन्दमध्यमानां तदवगतिः कथमित्यत्र साधनान्युपदिशति—यतेति । हे स्वाङ्गलोक यदि त्वं मदुपदेश-प्रभवस्वज्ञानतः स्वपदं प्रामुमीहसे तदा मदुक्तसाधनसम्पन्नो भूत्वा विष्णोस्तत् परमं पदं यास्यसीत्यन्वयः ।

आहारस्य च भागौ द्वौ तृतीयमुदकस्य च ।  
वायोः सञ्चरणार्थाय चतुर्थमवशेषेत् ॥

इति येनाहारो यतो नियतः स त्वमादौ यताहारो भव, “आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः” इत्यादि श्रुतेः । कामालाभजः क्रोधो येन जितः स त्वं जितक्रोधो भव । स्वविकल्पितेन्द्रियेन्द्रियार्थेषु सङ्घो येन जितः स त्वं जितसङ्घो जितेन्द्रियवर्गो भव । शीतोष्णादिद्वन्द्वो यस्मान्निर्गतः स त्वं निर्द्वन्द्वो भव । शरीरत्रये अहङ्कारो यस्मान्निर्गतः स त्वं निरहङ्कारो भव । स्वातिरिक्तविषयभोगानशितुमिच्छा आशीः यस्मान्निर्गता स त्वं निराशीः भव । प्राणमात्रधारणानुकूलपरिग्रहेतरपरिग्रहो येनागृहीतः स त्वं अपरिग्रहो भव ॥ ३ ॥ स्वज्ञैकदेशिनो यत्पदं विन्दन्ति तत्पदमादावुपास्त्वेत्याह—अगम्येति । केवलस्वाङ्ग[ज्ञा]गम्ये स्वाविद्यापदारोपाधिकरणे विश्वविरा�डोत्रादौ तद्वावाभाविताधिया अगमनं कुर्वन्तीति अगम्यागमकर्तारः, स्वाङ्गदृष्टिगम्ये स्वाविद्यापदतत्कार्ये येषां मानसं गमनं न भजति ते हि गम्यागमनमानसाः

<sup>१</sup> कर्ता यो—अ.

<sup>२</sup> मानसः—अ, अ १.

<sup>३</sup> विन्देत—अ.

<sup>४</sup> तन्द्रो—मु.

शब्दब्रह्मशरणः स्वज्ञैकदेशिनः । “नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्” “दक्षिणाक्षिमुखे विधः” इति श्रुतिसिद्धे मुखे जाग्रज्ञाप्रदादौ व्यष्टिसमष्टिदुभयैक्याधिकरणतया विश्वविद्यादिविराङ्गुडिराङ्गुडोत्राङ्गुडिभेदेन त्रीणि त्रीणि रूपाणि, चशब्दात् तत्त्वत्यरूपाण्यपि, स्वाभेदेन विन्दन्ति जानन्ति । एवं त्रीणि धामानि यस्य सोऽयं त्रिधामा हंस उच्यते । स्वज्ञानतः स्वभजत्वात्मानं हन्तीति हंसः परमेश्वरः इत्यर्थः ॥ ४ ॥ तमेतं हंसं सोऽहमित्युपास्य तत्प्रसादतो हि अस्ता तन्द्रीं जामिता यस्य सः त्वं अस्ततन्द्री सन् स्वात्मेतराश्रयाभावात् निराश्रयो भूत्वा यन्मयोऽन्यते तत्सर्वापवादाधिकरणतया जाग्रज्ञाप्रदादिकलनायाः परं अनधिकारिणे अवक्तव्यत्वात् गुणतमं ब्रह्म अधिष्ठेयसापेक्षाभिप्रानताऽपाये निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति विद्धि जानीहि । किं तदियुत आह—सोमेति । उमया स्वविद्यया सहितमुनिसम्यज्ज्ञानविदिताकला चिन्मात्ररूपिणी सोमरूपकला निर्विशेषतया सूक्ष्मा, सैव, स्वाज्ञदृष्टिविकल्पितव्याप्यप्रसक्तौ, व्यापकभावमापनस्य विष्णोः सम्यज्ज्ञदृष्ट्या व्याप्यव्यापकताऽपहवसिद्धं यत् तत् परमं निष्प्रतियोगिकनिर्गतिशयं तन्मात्रतया पद्यत इति पदं स्वमात्रमवशिष्यत इत्यर्थः ॥ ५ ॥

परवस्तुन एव सविशेषत्वादिभावाः

त्रिवक्त्रं<sup>१</sup> त्रिगुणं स्थानं त्रिधातुं रूपवर्जितम् ।  
निश्चलं निर्विकल्पं च निराकारं निराश्रयम् ॥ ६ ॥  
उपाधिरहितं स्थानं वाङ्मनोऽतीतगोचरम् ।  
स्वभावं भावसंग्राह्यमसंघातं पदान्युतम् ॥ ७ ॥

<sup>१</sup> त्रिगुणस्था—अ.

<sup>२</sup> तपदा—उ. तं च यदन्युतं—अ. तं पदान्युत—क, अ २. तं पदन्युतं—अ १.

अनानानन्दनातीतं <sup>१</sup>दुष्प्रेस्यं मुक्तमव्ययम् ।  
 अचिन्त्यमेवंविनिर्मुक्तं शाश्वतं ध्रुवैमच्युतम् ॥ ८ ॥

तद्व्याणस्तदध्यात्मं तद्विष्णोस्तत्परायणम् ।  
 अचिन्त्यं चिन्मयात्मानं यद्वचोम परमं स्थितम् ॥ ९ ॥

अशून्यं शून्यभावं तु शून्यातीतं हृदि स्थितम् ।  
 न ध्यानं च न च ध्याता न ध्येयो ध्येय एव च ॥ १० ॥

सर्वं च न परं शून्यं न परं <sup>३</sup>न परात्परम् ।  
 अचिन्त्यमप्रबुद्धं च न सत्यं न <sup>४</sup>परं विदुः ॥ ११ ॥

मुनीनां संप्रयुक्तं च न देवा न परं विदुः ।  
 लोभं मोहं भयं दर्पं कामं क्रोधं च किल्बिषम् ॥ १२ ॥

शीतोष्णे क्षुत्पिपासे च संकल्पकं विकल्पकम् ।  
 न ब्रह्मकुलदर्पं च न <sup>५</sup>मुक्तिं ग्रन्थिसंचयम् ॥ १३ ॥

न भयं न सुखं दुःखं तथा मानावमानयोः ।  
 एतद्वाविनिर्मुक्तं तद्व्याप्त्या ब्रह्म तत्परम् ॥ १४ ॥

तदेव स्वाज्ञादिदृष्ट्या सविशेषतां तत्प्रतियोगिकनिर्विशेषतां, परमार्थदृष्ट्या निष्प्रतियोगिकनिर्विकल्पतां च भजतीव भातीत्याह—त्रिवक्त्समिति । विश्वतैजसप्राज्ञभेदेन, त्रिवक्त्रं, विराट्सूत्रादिभेदेन श्रिगुणं, स्थानं मुक्तप्राप्यत्वात्, ओऋनुज्ञात्रनुज्ञाभेदेन ब्रह्मविष्णवीशभेदेन वा त्रिधातुं, वस्तुत उक्तत्रिवक्त्रादिस्वरूपविवर्जितं, चलविकल्पाकृत्य-

<sup>१</sup> दुष्प्राप्यं पूर्णमद्वयं—अ.

<sup>२</sup> मक्रियः—अ.

<sup>३</sup> नापरात्—क, अ १, अ २.

<sup>४</sup> परे—अ.

<sup>५</sup> विकल्पकं—अ.

<sup>६</sup> मुनि—अ, अ १.

<sup>७</sup> ग्रन्थ—उ.

<sup>८</sup> वर्ज्यस्त्र—उ १.

श्रयैरैल्यात् निश्चलं निर्विकल्पं च निराश्रयम् ॥ ६ ॥  
 उपाधिरहितं निरुपाधिकत्वात् । स्थानं उक्तार्थं । वाञ्छारोतीततुर्यतया  
 गोचरं । स्वयमेव भवतीति स्वभावं । भावरूपेणैव सम्यग्माहां सन्मात्रत्वात् ।  
 असङ्घातं करणप्रामबाह्यत्वात् । स्वस्वभावादच्युतम् ॥ ७ ॥ नानानन्दनो  
 जीवः स न भवतीति अनानानन्दनः साक्षी तद्वावादप्यतीतं । दुष्प्रेक्ष्यं  
 मुक्तमव्ययं इति पदत्रयं व्याख्यातम् । सदा अव्ययतया चिन्त्यं । चिन्तितस्य  
 सविशेषप्रसक्तौ एवंविनिर्मुक्तं, केनाप्यचिन्त्यत्वात् । अशाश्वतविधाभावात्  
 शाश्वतं । अध्रुवमायापायात् ध्रुवं । सर्वप्रकरेणापि च्युत्यभावात् अच्युतम्  
 ॥ ८ ॥ यदेवंभूतं तद्वाणः स्वरूपम् । तत् प्रत्यग्रूपेण सर्वात्मानं  
 विराजमधिकृत्य भवतीति अध्यात्मम् । तदेव विष्णोः स्वरूपमपि । तदेव  
 तत्परायणं मुक्तप्राप्यनारायणत्वात् । निर्विशेषात्मना अचिन्त्यम् । अन्तःकरणा-  
 भावात् चिन्मयात्मानं इति, विभक्तिलिङ्गव्यत्ययः छान्दसः, चिन्मयात्मकम् ।  
 यद्यथोम चिदाकाशत्वात् । परमं व्याख्यातम् । स्थितं सत्तामात्रत्वात् ॥ ९ ॥  
 अत एव अशून्यम् । पूर्णत्वात् स्वातिरिक्तशून्यभावम् । तुशब्दोऽवधारणार्थः ।  
 शून्यभावमापन्नस्वातिरिक्तादप्यतीतं निष्प्रतियोगिकत्वात् । प्रत्यगादिरूपेण  
 हृदि स्थितम् । तस्य प्रत्यक्त्वे त्रिपुटी स्यादित्यत आह—नेति । स्वातिरेकेण  
 न ध्यानं च न च ध्याता न ध्येयः । स्वावशेषतया ध्येय एव च ॥ १० ॥  
 स्वातिरेकेण यदि सर्वं प्रसक्तं तदा न च सर्वं अस्ति । यदि स्यात् तदा  
 स्वस्मात् परं शून्यम् । अत एव न परं अस्ति । सापेक्षपरात् परं अपि  
 स्वयं न भवति । स्वातिरेकेण चिन्तितुं बोद्धुं द्रष्टुं अशक्यतया मुनयः  
 अचिन्त्यमप्रबुद्धं च न सत्यं न परं विदुः ॥ ११ ॥ यत्परं अतिरिक्तं  
 नेति मुनीनां—तृतीयार्थे षष्ठी—मुनिभिः यत् सम्प्रयुक्तं अवधृतं तत्र  
 देवाः सूक्ष्मबुद्धयोऽपि ततः परं अस्तीति न विदुः । लोभमित्यादौ लि-  
 ङ्गव्यययो द्रष्टव्यः । नहि तत्र लोभमोहाद्यन्तःकरणवृत्तयः शीतोष्णादिद्वन्द्वं  
 क्षुतिपासादिष्वूर्म्यः सङ्कल्पविकल्पादिमानसवृत्तयः ब्रह्मादिकुलप्रसूतोऽस्मीति  
 दर्पश्च बन्धमोक्षादिग्रन्थिसञ्चयश्च मानावमानवृत्तयो वा विद्यन्ते । यत् एतत्

सर्वभावविनिर्मुक्तं स्वातिरिक्तसामान्यापहृवसिद्धं तत् ब्रह्म । ब्रह्म तत्परं  
स्वमात्रमवशिष्यते इत्यर्थः ॥ १२-१४ ॥

परब्रह्मावगातसाधन पञ्चदशाङ्गयोगः

यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालतः ।  
आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च द्विक्षितिः ॥ १९ ॥  
प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा ।  
आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्त्कान्यज्ञानि वै क्रमात् ॥ २० ॥

यदेवं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकं तदा तदवगत्युपायवैरल्यमाशङ्क्य यदि ते  
तदवगतीच्छा विद्यते तदा तदवगतिसाधनतया पञ्चदशाङ्गयोग उच्यते—यमो  
हीति । इत्थं पञ्चदशायोगाङ्गानि सूक्तितानि ॥ १९-२० ॥

पञ्चदशाङ्गानां लक्षणानि

सर्वं ब्रह्मेति वै ज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः ।  
यमोऽयमिति संप्रोक्तोऽन्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥ २१ ॥  
सजातीयप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः ।  
नियमो हि परानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः ॥ २२ ॥  
त्यागः प्रपञ्चरूपस्य सच्चिदात्मावलोकनात् ।  
त्यागो हि महतां पूज्यः सद्यो मोक्षग्रदायकः ॥ २३ ॥  
यस्माद्वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।  
यन्मौनं योगिभिर्गम्यं तद्वेत्सर्वदा जडैः ॥ २४ ॥

वाचो यस्मान्निर्वर्तन्ते तद्गुणं केन शक्यते ।  
 प्रपञ्चो यदि वक्तव्यः सोऽपि शब्दविवर्जितः ॥ २६ ॥  
 इति वा तद्वेन्मौनं सर्वं सहजसंज्ञितम् ।  
 गिरा मौनं तु बालानामयुक्तं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २७ ॥  
 आदावन्ते च मध्ये च जनो यस्मिन्न विद्यते ।  
 येनेदं सततं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृतः ॥ २८ ॥  
 कल्पना सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां निमेषतः ।  
 कालशब्देन निर्दिष्टं ह्यखण्डानन्दमद्वयम् ॥ २९ ॥  
 सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्तं ब्रह्मचिन्तनम् ।  
 आसनं तद्विजानीयादन्यत्सुखविनाशनम् ॥ ३० ॥  
 सिद्धये सर्वभूतादि विश्वाधिष्ठानमद्वयम् ।  
<sup>१</sup>तस्मिन्सिद्धिं गताः सिद्धास्तत्सिद्धासनमुच्यते ॥ ३१ ॥  
 यन्मूलं सर्वलोकानां यन्मूलं चित्तबन्धनम् ।  
 मूलबन्धः सदा सेव्यो योग्योऽसौ <sup>२</sup>राजयोगिनाम् ॥ ३२ ॥  
 अङ्गानां समता विद्यात्समे ब्रह्मणि <sup>३</sup>लीयते ।  
 नो चेन्नैव समानत्वमृजुत्वं शुष्कवृक्षवत् ॥ ३३ ॥  
 दृष्टिं ज्ञानमयीं कुत्वा पश्येद्वस्तमयं जगत् ।  
 सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी ॥ ३४ ॥

<sup>१</sup> यस्मिन्—क, अ २.

<sup>२</sup> ब्रह्मवादिनाम्—अ, अ १, अ २.

<sup>३</sup> नीयते—अ.

द्रष्टुर्दर्शनदृश्यानां विरामो यत्र वा भवेत् ।

● दृष्टिस्तत्रैव कर्तव्या न नासाग्रावलोकिनी ॥ ३० ॥ -

चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात् ।

निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते ॥ ३१ ॥

निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरितः ।

ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरुच्यते ॥ ३२ ॥

ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकं प्राणसंयमः ।

<sup>१</sup>अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानां घ्राणपीडनम् ॥ ३३ ॥

विषयेष्वात्मतां दृष्टा मनसश्चित्तरञ्जकम् ।

प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽन्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥ ३४ ॥

यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात् ।

<sup>३</sup>मनसा धारणं चैव धारणा सा परा मता ॥ ३५ ॥

ब्रह्मैवास्मीति <sup>४</sup>सद्रत्या निरालम्बतया स्थितिः ।

ध्यानशब्देन विव्यातः परमानन्ददायकः ॥ ३६ ॥

निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः ।

वृत्तिविस्मरणं सम्यक्समाधिरभिधीयते ॥ ३७ ॥

सूक्त्रीभूतपञ्चदशाङ्गानि यथाक्रमं श्रुतिरेव व्याचष्टे । तत्र यमशब्दार्थमाह—  
सर्वमिति । करणग्रामे ब्रह्मभाव एव यम इत्यर्थः ॥ १७ ॥ नियमशब्दार्थमाह—

<sup>१</sup> अध—अ १.

<sup>२</sup> रञ्जनम्—अ, अ १.

<sup>३</sup> मनसो—अ.

<sup>४</sup> सदृश्या—(क) आदिसर्वकोशेषु. सद्रत्या—अयं पाठः (उ१) कोश एव.

सजातीयेति । अखण्डचिन्मात्रादिवृत्तिः सजातीया, घटपटादिवृत्तिः विजातीया ॥ १८ ॥ त्यागशब्दं व्याकरोति—त्याग इति । सञ्चिदानन्ददृष्टिः अनृतादिग्रपञ्चं ग्रसतीत्यर्थः ॥ १९ ॥ मौनशब्दार्थं प्रकटयति—यस्मादिति । पक्षान्तरम्—बाच इति । प्रथमपक्षे जडैः वागादिकरणैः स्वस्वव्यापृत्युपरमणं मौनमित्युक्तम् । द्वितीयपक्षे तु स्वातिरिक्तयोः निश्चितियोगिकभावाभावस्वरूपतया निर्वलुभशक्यत्वात् । प्रथमपर्यायगदितमौनं तु बालानां न हि ब्रह्मविदामस्ति ॥ २०-२२ ॥ देशशब्दार्थं व्याकरोति—आदाविति । तादृशदेशो ब्रह्मेत्यर्थः ॥ २३ ॥ कालशब्दार्थमाह—कल्पनेति । यदज्ञाननिमेषविकल्पिनं निरिक्तं तदधिकरणं ब्रह्म कालशब्दवाच्यम् ॥ २४ ॥ आसनशब्दार्थं विशदीकरोति—सुखेनेति । ध्यानानुकूलं सुखासनं सिद्धसिद्धिदं ब्रह्म सिद्धासनं, नह्युक्तलक्षणमित्यर्थः ॥ २५-२६ ॥ मूलबन्धस्वरूपं व्यक्तीकरोति—यदिति । सर्वकारणं ब्रह्मेव मूलबन्धः, नत्वाकुञ्जनादिः । अयं राजयोगिनां योग्यो न हठयोगिनामित्यर्थः ॥ २७ ॥ देहसाम्यशब्दार्थमाह—अङ्गानामिति । स्थूलादिदेहानां समब्रह्मणि विलयभावः समता नहि स्तम्भवत् ऋजुतेत्यर्थः ॥ २८ ॥ दृष्टिस्वरूपमाह—दृष्टिमिति । स्वातिरिक्तं जगत् पश्यति । सर्वाधिकरणदृष्टिः स्वज्ञः परमार्थदृष्टिः ब्रह्मात्रवित् । तेन दृश्यादित्रिपुद्यपूवसिद्धे ब्रह्मणि स्वमात्रदृष्टिः कार्येत्यर्थः ॥ २९-३० ॥ रेचकपूरककुम्भकसहितविद्वत्प्राणायामस्वरूपमाचेष—चिन्तादीति । सर्वं ब्रह्मेति भावनं प्राणायामः । स्वातिरिक्तं जगत् नेत्यनुसन्धानं रेचकवृत्तिः । तदेवास्मीति पूरकवृत्तिः । तदृत्तिस्थैर्यं कुम्भकवृत्तिः । स्वज्ञानामेवम् । स्वाज्ञानां धाणपीडनमेव फलमित्यर्थः ॥ ३१-३३ ॥ प्रत्याहारस्वरूपमाह—विषयेष्विति । विषयसामान्यब्रह्मदृष्टिः प्रत्याहारः ॥ ३४ ॥ धारणास्वरूपमाह—यत्रेति । मनःप्रचाराधिकरणं ब्रह्मेत्यर्थः ॥ ३५ ॥ ध्यानलक्षणमाह—अङ्गेति । निरालम्बब्रह्मभावनं ध्यानम् ॥ ३६ ॥ समाधिस्वरूपमाह—निर्विकारेति । अखण्डकारवृत्तिः सविकल्पः, तदृत्यस्मरणं निर्विकल्पसमाधिरित्यर्थः ॥ ३७ ॥

योगाभ्यासेन ब्रह्मवनम्

१इमं चाकृत्रिमानन्दं तावत्साधु समर्प्यसेत् ।

<sup>१</sup>लक्ष्ये यावत्क्षणात्पुंसः प्रत्यक्त्वं संभवेत्स्वयम् ॥ ३८ ॥

ततः साधननिर्मुक्तः सिद्धो भवति योगिराट् ।

तत्स्वरूपं <sup>२</sup>भवेत्स्या विषयो <sup>३</sup>मनसो गिराम् ॥ ३९ ॥

मुमुक्षुः इममेव पञ्चदशावयवयोर्गं यावद्ब्रह्मात्रतया स्थितिः तावदभ्यसेत् ,  
ततो ब्रह्मैव भवतीत्याह—इममिति ॥ ३८—३९ ॥

समाधिविघ्नशमनम्

समाधौ क्रियमाणे तु विद्मान्यायान्ति वै बलात् ।

अनुसंधानराहित्यमालस्यं भोगलालमम् ॥ ४० ॥

ल्यस्तमश्च विक्षेपस्तेजः स्वेदश्च शून्यता ।

एवं हि विद्माहुल्यं त्याज्यं ब्रह्मविशारदैः ॥ ४१ ॥

भाववृत्त्या हि भावत्वं शून्यवृत्त्या हि शून्यता ।

ब्रह्मवृत्त्या हि पूर्णत्वं तथा पूर्णत्वमभ्यसेत् ॥ ४२ ॥

अनुसन्धानराहित्यादिसमाधिविघ्ने सति कथं निर्विकल्पकसमाधिरुदेति  
इत्याशङ्क्य तद्विघ्नशान्तिः पूर्णखण्डसमाधिरुदेतीत्याह—समाधाविति ।  
समाध्यभ्यासयुक्तस्य कादाचित्कप्रसक्ताननुसन्धानादिशून्यवृत्त्यन्तविघ्नसमूहे  
प्रातिस्विकेन युगपद्मा अभ्युदिते अनुसन्धानाद्युपायतः तद्विघ्नसमूहं निर्मूल्य अथ  
ब्रह्मैवाहमस्मि इत्यखण्डाकारवृत्त्या स्वपूर्णभावमभ्यसेदित्यर्थः ॥ ४०-४२ ॥

<sup>१</sup> लक्ष्यो—क, अ १, अ २.

<sup>२</sup> भवेत्स्य—अ, अ १.

<sup>३</sup> मनसा—क, अ १, उ १. मनसां—अ, अ २.

समाधिना शुद्धश्चापदप्राप्तिः

ये हि वृत्तिं विहायैनां ब्रह्माख्यां पावर्णीं पराम् । ८३  
 वृथैव ते तु जीवन्ति पशुभिश्च समा नराः ॥ ४३ ॥  
 ये तु वृत्तिं विजानन्ति ज्ञात्वा वै वर्धयन्ति ये ।  
 ते वै सत्पुरुषा धन्या वन्द्यास्ते मुवनत्रये ॥ ४४ ॥  
 येषां वृत्तिः समा वृद्धा परिपक्वा च सा पुनः ।  
 ते वै सद्गुलतां प्राप्ता नेतरे शब्दवादिनः ॥ ४५ ॥  
 कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः ।  
 तेऽप्यज्ञानतया नूनं पुनरायान्ति यान्ति च ॥ ४६ ॥  
 निमिषार्थं न तिष्ठन्ति वृत्तिं <sup>१</sup>ज्ञानमर्थीं विना ।  
 यथा तिष्ठन्ति ब्रह्माद्याः सनकाद्याः शुकाद्यः ॥ ४७ ॥  
 कारणं यस्य वै कार्यं कारणं तस्य जायते ।  
 कारणं तत्त्वतो नश्येत्कार्याभावे विचारतः ॥ ४८ ॥  
 अथ शुद्धं भवेद्वस्तु यद्वै वाचामगोचरम् ।  
 उदेति शुद्धचित्तानां वृत्तिज्ञानमतः परम् ॥ ४९ ॥  
 भावितं तीव्रं योगेन <sup>३</sup>यद्वस्तु निश्चयात्मकम् ।  
 दृश्यं हादृश्यतां नीत्वा ब्रह्माकारेण चिन्तयेत् ॥ ५० ॥  
 विद्वान्नित्यं सुखे तिष्ठेद्धिया चिद्रसपूर्णया ॥ ५१ ॥ इति ॥

<sup>१</sup> ब्रह्ममर्थी—क, अ, अ १, अ २.

<sup>२</sup> योगेन—(क) आदिकोशेषु.

<sup>३</sup> वस्तु यन्मि—अ.

ब्रह्माकारवृत्तिविरलान् दूषयति—ये हीति ॥ ४३ ॥ अखण्डकारवृत्तिमन्त एव ब्रह्मपदं यान्ति, तद्विपरीताः संसारं भजन्ति । यत एवं अतः श्रीशुक्सनकादिवत् ब्रह्मपदेच्छुभिः समाधिरेव अभ्यसनीय इत्याह—येत्विति ॥ ४४—४७ ॥ अखण्डकारवृत्तेः अभ्यासजन्यत्वात् कारणं अभ्यासः, कार्यं अखण्डकारवृत्तिः, तस्याः कृतकत्वेनाध्युवत्यात् तया ध्रुवब्रह्मापतिः कथमित्याशङ्कय यावदेव विचारो नोदेति तावदेवमभ्यस्य ततः “कार्यं चेत् कारणं किञ्चित् कार्याभावे न कारणम्” इति सापेक्षश्चुतियुक्तिः कार्यकारणकलनां अपहृवं कृत्वा अथ तदपहृवसिद्धं शुद्धचैतन्यं स्वावशेषतया विजृम्भते इत्याह—कारणमिति । यस्य एवंवादिनः अभ्यासाग्र्व्यं कारणमेव कार्यं भवति तस्य कारणमेव जायते । कार्यस्य कृतकल्योक्त्या कार्याभावे कार्यं चेदिति सापेक्षश्चुतियुक्तिः कारणमेव नश्येत् । अभ्यासाखण्डकारवृत्युपलक्षितस्वाविद्यापदतत्कार्यतदारोपाधिकरणयोः अपहृतां गतयोः कार्यकारणकलनाविग्रळं ब्रह्म स्वमात्रमविशिष्यते इति भावः ॥ ४८ ॥ ततः किं इत्यत आह—अथेति । अथ कार्यकारणत्वविभ्रमनिरसनानन्तरं यद्वै वाचामगोचरं करणप्रामासभवप्रबोधसिद्धं तदेव वस्तु यत् स्वाज्ञदशायां अशुद्धनानारूपेण भातं स्वाज्ञदशायां स्वप्रकृतिमवलम्बयेव शुद्धं भवेत् । वस्तुतस्तु स्वाज्ञादिदृष्टिमोहे सत्यसति विशुद्धं वस्तु स्वमात्रमविशिष्यते । यदि ब्रह्म स्वमात्रं तदवगतिः कथमित्यत्र सत्कर्मानुष्ठानतो विशुद्धचित्तानां ततः परं वेदान्तश्रवणादिसज्जाताखण्डकारवृत्तिज्ञानमुदेति ॥ ४९ ॥ तज्ज्ञानं तीव्रयोगेन अखण्डनिर्विकल्पसमाधिना तत्त्वज्ञाने भावितं सत् यद्वस्तु निश्चयात्मकं तदेव भवति । यस्मादेवं तस्मात् विद्वान्—स्वाज्ञदशायां स्वाविद्यापदतत्कार्यजातं दृश्यं भवति—सम्यज्ञानबलात् तत् अदृश्यतां अभावरूपतां नीत्वा ब्रह्माकारेण चिन्तयेत् ॥ ५० ॥ एवं धिया चिद्रसपूर्णया दृश्यं ब्रह्माकारेण चिन्तित्वा सुखे नित्यानन्दे ब्रह्मणि स्वावशेषतया तिष्ठेत् ॥ ५१ ॥ इतिशब्दः अध्यायपरिसमाप्त्यर्थः ॥

इति प्रथमोऽध्यायः

## द्वितीयोऽध्यायः

सर्वस्य अखण्डैकरसत्त्वम्

अथ ह कुमारः शिवं पप्रच्छाखण्डैकरसचिन्मात्रस्वरूपमनुब्रू-  
हीति । स होवाच परमशिवः ।

अखण्डैकरसं दृश्यमखण्डैकरसं जगत् ।

अखण्डैकरसं भावमखण्डैक<sup>१</sup>रसः स्वयम् ॥ १ ॥

अखण्डैकरसो मन्त्र अखण्डैकरमा क्रिया ।

अखण्डैकरसं ज्ञानमखण्डैकरसं जलम् ॥ २ ॥

अखण्डैकरसा भूमिरखण्डैकरसं वियत् ।

अखण्डैकरसं शास्त्रमखण्डैकरसा त्रयी ॥ ३ ॥

अखण्डैकरसं ब्रह्म चाग्नेणैकरसं <sup>२</sup>वृतम् ।

अखण्डैकरसो नीव अखण्डैकरसो ह्यजः ॥ ४ ॥

अखण्डैकरसो ब्रह्मा अखण्डैकरसो हरिः ।

अखण्डैकरसो रुद्र अखण्डैकरसोऽस्म्यहम् ॥ ५ ॥

अखण्डैकरसो ह्यात्मा अखण्डैकरसो गुरुः ।

अखण्डैकरसं लक्ष्यमखण्डैकरसं महः ॥ ६ ॥

अखण्डैकरसो देह अखण्डैकरसं मनः ।

अखण्डैकरसं चित्तमखण्डैकरसं सुखम् ॥ ७ ॥

<sup>१</sup> रसं—अ, अ १, अ २, क.

<sup>२</sup> व्रतं—अ १.

अखण्डैकरसा विद्या अखण्डैकरसोऽव्ययः ।

• अखण्डैकरसं नित्यमखण्डैकरसं <sup>१</sup>परम् ॥ ८ ॥

अखण्डैकरसं किञ्चिदखण्डैकरसं <sup>२</sup>वरम् ।

अखण्डैकरसादन्यन्नास्ति नास्ति षडानन ॥ ९ ॥

अखण्डैकरसान्नास्ति अखण्डैकरसान् हि ।

अखण्डैकरसार्त्कचिदखण्डैकरसादहम् ॥ १० ॥

अखण्डैकरसं स्थूलं सूक्ष्मं चाखण्डरूपकम् ।

अखण्डैकरसं वेद्यमखण्डैकरसो भवान् ॥ ११ ॥

अखण्डैकरसं गुह्यमखण्डैकरसादिकम् ।

अखण्डैकरसो ज्ञाता अखण्डैकरसा स्थितिः ॥ १२ ॥

अखण्डैकरसा माता अखण्डैकरसः पिता ।

अखण्डैकरसो भ्राता अखण्डैकरसः पतिः ॥ १३ ॥

अखण्डैकरसं सूक्ष्ममखण्डैकरसो विराट् ।

अखण्डैकरसं गात्रमखण्डैकरसं शिरः ॥ १४ ॥

अखण्डैकरसं चान्तरखण्डैकरसं बहिः ।

अखण्डैकरसं पूर्णमखण्डैकरसामृतम् ॥ १५ ॥

अखण्डैकरसं गोत्रमखण्डैकरसं गृहम् ।

अखण्डैकरसं गोप्यमखण्डैकरसः शशी ॥ १६ ॥

अखण्डैकरसास्तारा अखण्डैकरसो रविः ।  
 अखण्डैकरसं क्षेत्रमखण्डैकरसा क्षमा ॥ १७ ॥  
 अखण्डैकरसः शान्त अखण्डैकरसो गुणः ।  
 अखण्डैकरसः साक्षी अखण्डैकरसः सुहृत् ॥ १८ ॥  
 अखण्डैकरसो बन्धुरखण्डैकरसः सखा ।  
 अखण्डैकरसो राजा अखण्डैकरसं पुरम् ॥ १९ ॥  
 अखण्डैकरसं राज्यमखण्डैकरसः प्रजाः ।  
 अखण्डैकरसं तारमखण्डैकरसो जपः ॥ २० ॥  
 अखण्डैकरसं ध्यानमखण्डैकरसं पदम् ।  
 अखण्डैकरसं ग्राह्यमखण्डैकरमं महत् ॥ २१ ॥  
 अखण्डैकरमं ज्योतिरखण्डैकरसं धनम् ।  
 अखण्डैकरमं भोज्यमखण्डैकरमं हविः ॥ २२ ॥  
 अखण्डैकरमो होम अखण्डैकरमो जयः ।  
 अखण्डैकरसः स्वर्गः अखण्डैकरसः स्वयम् ॥ २३ ॥

स्वाज्ञविकल्पितस्वाविद्यापदतत्कार्ये यद्यत् दृश्यते यद्यत् श्रूयते यद्यत्  
 स्मर्यते तत्तत् खण्डं अंचिन्मात्रं लक्ष्यते । तदतिरेकेण किं अखण्डैकरसं किं वा  
 चिन्मात्रं विद्यते इति तदियत्ताव्युभुत्सुः कुमारः स्कन्दः जानन्नपि लोकानुग्रहार्थं  
 अखण्डैकरसचिन्मात्रमनुब्रूहीति सर्वज्ञं शिवं पग्रच्छ । यः तेनैवं पृष्ठः परमशिवः  
 स होवाचेत्याह—अथेति ॥ किं तत्? अखण्डैकरसं दृश्यमित्यादि ॥ १—४१ ॥

सर्वस्य चिन्मात्रत्वभावना

अखण्डैकरसं सर्वं चिन्मात्रमिति भावयेत् ।  
 चिन्मात्रमेव चिन्मात्रमखण्डैकरसं रसम् ॥ २४ ॥

भववर्जितचिन्मात्रं सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।

इदं च सर्वं चिन्मात्रमयं <sup>१</sup>चिन्मात्रमेव हि ॥ २९ ॥

आत्मभावं च चिन्मात्रमखण्डैकरसं विदुः ।

सर्वलोकं च चिन्मात्रं त्वत्ता मत्ता च चिन्मयम् ॥ २६ ॥

आकाशो भूर्जलं वायुरग्निर्ब्रह्मा हरिः शिवः ।

यत्किंचिद्यज्ञ किंचिच्च सर्वं चिन्मात्रमेव हि ॥ २७ ॥

अखण्डैकरसं सर्वं यद्यच्चिन्मात्रमेव हि ।

भूतं भव्यं भविष्यत्त्वं सर्वं चिन्मात्रमेव हि ॥ २८ ॥

द्रव्यं कालं च चिन्मात्रं ज्ञानं ज्ञेयं चिदेव हि ।

ज्ञाता चिन्मात्ररूपश्च सर्वं चिन्मयमेव हि ॥ २९ ॥

संभाषणं च चिन्मात्रं यद्यच्चिन्मात्रमेव हि ।

असत्त्वं सत्त्वं चिन्मात्रमाद्यन्तं चिन्मयं सदा ॥ ३० ॥

आदिरन्तश्च चिन्मात्रं गुरुशिष्यादि चिन्मयम् ।

द्वगदृश्यं यदि चिन्मात्रमस्ति चेच्चिन्मयं सदा ॥ ३१ ॥

सर्वाश्रयं च चिन्मात्रं देहश्चिन्मात्रमेव हि ।

लिङ्गं च कारणं चैव चिन्मात्रान् हि विद्यते ॥ ३२ ॥

अहं त्वं चैव चिन्मात्रं मूर्त्मूर्तादि चिन्मयम् ।

पुण्यं पापं च चिन्मात्रं जीवश्चिन्मात्रविग्रहः ॥ ३३ ॥

चिन्मात्रान्नास्ति संकल्पश्चिन्मात्रान्नास्ति वेदनम् ।

चिन्मात्रान्नास्ति मन्त्रादि चिन्मात्रान्नास्ति देवता ॥ ३४ ॥

<sup>१</sup> चिन्मय—अ १, अ २.

चिन्मात्रान्नास्ति दिक्पालाश्चिन्मात्रान्नायावहारिकम् ।  
 चिन्मात्रात्परमं ब्रह्म चिन्मात्रान्नास्ति कोऽपि हि ॥ ३५ ॥  
 चिन्मात्रान्नास्ति माया च चिन्मात्रान्नास्ति पूजनम् ।  
 चिन्मात्रान्नास्ति मन्तव्यं चिन्मात्रान्नास्ति सत्यकम् ॥ ३६ ॥  
 चिन्मात्रान्नास्ति कोशादि चिन्मात्रान्नास्ति वै वसु ।  
 चिन्मात्रान्नास्ति मौनं च चिन्मात्रान्नास्त्यमौनकम् ॥ ३७ ॥  
 चिन्मात्रान्नास्ति वैराग्यं सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।  
 यच्च यावच्च चिन्मात्रं यच्च यावच्च दृश्यते ॥ ३८ ॥  
 यच्च यावच्च दूरस्यं सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।  
 यच्च यावच्च भूतादि यच्च यावच्च लक्ष्यते ॥ ३९ ॥  
 यच्च यावच्च वेदान्ताः सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।  
 चिन्मात्रान्नास्ति गमनं चिन्मात्रान्नास्ति मोक्षकम् ॥ ४० ॥  
 चिन्मात्रान्नास्ति लक्ष्यं च सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।  
 अखण्डैकरसं ब्रह्म चिन्मात्रान्न हि विद्यते ॥ ४१ ॥  
 शास्त्रे मयि त्वयीशो च हाखण्डैकरसो भवान् ।

स्वातिरिक्तखण्डाविद्यापदतत्कार्यगसजातापह्वसिद्धं ब्रह्म स्वाज्ञादिदृष्टिमोहे  
 सत्यसति निष्प्रतियोगिकाखण्डैकरसचिन्मात्रतया सदा अवशिष्यते इत्यत्र  
 नहि संशयोऽस्ति । तदेव स्वाज्ञादेष्टः अचिद्रूपदृश्यजगद्भावादिखण्डरूपेण  
 स्वाध्यस्त्वैधर्म्यं सत्यं विभाति । तथेवं स्वाज्ञसमर्पितवैधर्म्यं केवलशास्त्रजन्य-  
 ज्ञानिनो व्यावहारिक प्रतिभाति, विज्ञानिनां तु प्रातिभासिकं, सम्यज्ज्ञानिनां

शून्यं, तत्त्वज्ञानां तु स्वाज्ञसमर्पितदृश्यजगद्भावादिखण्डवैधर्म्यजातं निश्च्रितियोगि-  
काखण्डैकरसचिन्मात्रमेव विभाति । स्वाज्ञादिदृष्टिष्ठवैधर्म्यजातं स्वाज्ञादिदृष्टेव,  
नहि तदस्तुस्पर्शी भवितुमर्हति, वस्तुनो निश्च्रितियोगिकस्वमात्रत्वादित्यत्र  
“पश्यतेहापि सन्मात्रम्—असदन्यत्”, “ब्रह्मात्रमसन्नहि”,

सिद्धान्तोऽध्यात्मशास्त्राणां सर्वापद्व एव हि ।

नाविद्याऽस्तीह नो माया शान्तं ब्रह्मदमङ्गमम् ॥ इत्यादि ।

अक्षरार्पितवैधर्म्यं सत्यं भात्यज्ञसन्ततेः ।

ज्ञविज्ञसम्यज्ज्ञतत्त्वज्ञवैधर्म्यं यथाक्रमम् ॥

क्षेयं भवेत् दृश्यमिथ्याशून्यचिन्मात्रभेदतः ।

तत्तदृष्टिविपर्यासः तत्तदृष्टेर्नचात्मनः ॥

इत्यादि श्रुतेः, परमाक्षरोक्तेश्च । अखण्डैकरसचिन्मात्रात् न किञ्चि-  
दस्तीति फलितोऽर्थः । “अखण्डैकरसं भावं” इत्याद्यस्मिन्नध्याये वक्ष्य-  
माणाध्यायेषु च “कालभेदं” इत्यादि च लिङ्गान्वत्ययः छान्दसः ।  
शिष्टं स्पष्टम् ॥

### विद्याफलम्

इत्येकरूपकतया यो वा जानात्यहं त्विति ॥ ४२ ॥

सकृज्ञानेन मुक्तिः स्यात्सम्यज्ञाने स्वयं गुरुः ॥ ४३ ॥

इति ॥

विद्याफलमुपसंहरति—इतीति । “अखण्डैकरसं दृश्यं” इत्यारभ्य  
“अखण्डैकरसं ब्रह्म चिन्मात्रान्नहि विद्यते । शास्त्रे मरीशे त्वयि च  
योऽखण्डैकरसः” परमात्मा विद्यते स एव “भवान्” नेतरः इत्यन्तं  
एकरूपकतया यः कोपि वा अखण्डैकरसचिन्मात्रमहमेवेति जानाति सोऽयमेवं  
विद्वान् सम्यज्ञाने—तृतीयार्थं सप्तमी—सम्यज्ञानेन गुरुः ब्रह्मविद्वारीयान्

वरिष्ठो वा भूत्वा अवतिष्ठते । पुनस्तस्यैव सङ्कुचिभांतनिष्ठ्रतियोगिकब्रह्मात्र-  
ज्ञानेन विकल्पेवरमुक्तिः स्यात् । इतिशब्दः अध्यायपरिसमाप्त्यर्थः ॥ ४२-४३ ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः

## तृतीयोऽध्यायः

आत्मनः सच्चिदानन्दवद्वात्मानुभवः

कुमारः पितरमात्मानुभवमनुब्रह्मीति पप्रच्छ । स होवाच  
भगवान् परमशिवः ।

परंब्रह्मस्वरूपोऽहं परमानन्दमस्म्यहम् ।

केवलं ज्ञानरूपोऽहं केवलं परमोऽस्म्यहम् ॥ १ ॥

केवलं शान्तरूपोऽहं केवलं चिन्मयोऽस्म्यहम् ।

केवलं नित्यरूपोऽहं केवलं शाश्वतोऽस्म्यहम् ॥ २ ॥

केवलं सत्त्वरूपोऽहमहं त्यक्त्वाऽहमस्म्यहम् ।

सर्वहीनस्वरूपोऽहं चिदाकाशमयोऽस्म्यहम् ॥ ३ ॥

केवलं तुर्यरूपोऽस्मि तुर्यातीतोऽस्मि केवलः ।

सदा चैतन्यरूपोऽस्मि चिदानन्दमयोऽस्म्यहम् ॥ ४ ॥

केवलाकाररूपोऽस्मि शुद्धरूपोऽस्म्यहं सदा ।

केवलं ज्ञानरूपोऽस्मि केवलं प्रियमस्म्यहम् ॥ ५ ॥

निर्विकल्पस्वरूपोऽस्मि निरीहोऽस्मि निरामयः ।  
 सदाऽसङ्गस्वरूपोऽस्मि निर्विकारोऽहमव्ययः ॥ ६ ॥  
 सदैकरसरूपोऽस्मि सदा चिन्मात्रविग्रहः ।  
 अपरिच्छिन्नरूपोऽस्मि ह्यनन्तानन्दरूपवान् ॥ ७ ॥  
 सत्परानन्दरूपोऽस्मि चित्परानन्दमस्म्यहम् ।  
 अन्तरान्तररूपोऽहमवाङ्मनसगोचरः ॥ ८ ॥  
 आत्मानन्दस्वरूपोऽहं सत्यानन्दोऽस्म्यहं सदा ।  
 आत्मारामस्वरूपोऽस्मि ह्यहमात्मा सदाशिवः ॥ ९ ॥  
 आत्मप्रकाशरूपोऽस्मि ह्यात्मज्योतीरमोऽस्म्यहम् ।  
 आदिमध्यान्तहीनोऽस्मि ह्याकाशसदृशोऽस्म्यहम् ॥ १० ॥  
 नित्यशुद्धचिदानन्दसत्तामात्रोऽहमव्ययः ।  
 नित्यबुद्धविशुद्धैकसच्चिदानन्दमस्म्यहम् ॥ ११ ॥  
 नित्यशेषस्वरूपोऽस्मि सर्वातीतोऽस्म्यहं सदा ।  
 रूपातीतस्वरूपोऽस्मि परमाकाशविग्रहः ॥ १२ ॥  
 भूमानन्दस्वरूपोऽस्मि भाषाहीनोऽस्म्यहं सदा ।  
 सर्वाधिष्ठानरूपोऽस्मि सर्वदा चिद्रनोऽस्म्यहम् ॥ १३ ॥  
 देहभावविहीनोऽस्मि चिन्ताहीनोऽस्मि सर्वदा ।  
 चित्तवृत्तिविहीनोऽहं चिदात्मैकरसोऽस्म्यहम् ॥ १४ ॥  
 सर्वदृश्यविहीनोऽहं द्वयुपोऽस्म्यहमेव हि ।  
 सर्वदा पूर्णरूपोऽस्मि नित्यतृष्णोऽस्म्यहं सदा ॥ १५ ॥

अहं ब्रह्मैव सर्वं स्यादहं चैतन्यमेव हि ।

अहमेवाहमेवास्मि भूमाकारस्वरूपवान् ॥ १६ ॥

अहमेव महानात्मा ह्यहमेव परात्परः ।

अहमन्यवदाभामि ह्यहमेव शरीरवत् ॥ १७ ॥

अहं शिष्यवदाभामि ह्यहं लोकत्रयाश्रयः ।

अहं कालत्रयातीत अहं वेदैरुपासितः ॥ १८ ॥

अहं शाश्वेण निर्णीत अहं चित्ते व्यवस्थितः ।

मन्त्यक्तं नास्ति किञ्चिद्वा मन्त्यक्तं पृथिवी तु वा ॥ १९ ॥

मयाऽतिरिक्तं यद्यद्वा तत्तज्ञास्तीति निश्चिन्तु ।

अहं ब्रह्माऽस्मि सिद्धोऽस्मि नित्यशुद्धोऽस्म्यहं सदा ॥ २० ॥

निर्गुणः केवलात्माऽस्मि निराकारोऽस्म्यहं सदा ।

केवलं ब्रह्मात्रोऽस्मि ह्यजरोऽस्म्यमरोऽस्म्यहम् ॥ २१ ॥

स्वयमेव स्वयं भामि स्वयमेव सदात्मकः ।

स्वयमेवात्मनि स्वस्थः स्वयमेव परा गतिः ॥ २२ ॥

स्वयमेव स्वयं सुङ्गं स्वयमेव स्वयं रमे ।

स्वयमेव स्वयंज्योतिः स्वयमेव स्वयं महः ॥ २३ ॥

स्वस्यात्मनि स्वयं रस्ये स्वात्मन्येव विलोकये ।

स्वात्मन्येव सुखासीनः स्वात्ममात्रावशेषकः ॥ २४ ॥

स्वचैतन्ये स्वयं स्थास्ये स्वात्मराज्ये सुखे रमे ।

स्वात्मसिंहासने स्थित्वा स्वात्मनोऽन्यन्नं चिन्तये ॥ २५ ॥

चिद्रूपमातं ब्रह्मैव सच्चिदानन्दभद्रयम् ।  
 आनन्दघन एवाहमहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ २६ ॥

सर्वदा सर्वशून्योऽहं <sup>१</sup>सर्वात्मानन्दवानहम् ।  
 नित्यानन्दस्वरूपोऽहमात्माकाशोऽस्मि <sup>२</sup>सर्वदा ॥ २७ ॥

अहमेव हृदाकाशे चिदादित्यस्वरूपवान् ।  
 आत्मनाऽन्तमनि तृप्तोऽस्मि ह्यरूपोऽस्म्यहमव्ययः ॥ २८ ॥

एकसंब्याविमुक्तोऽस्मि नित्यमुक्तस्वरूपवान् ।  
 आकाशादपि सूक्ष्मोऽहमाद्यन्ताभाववानहम् ॥ २९ ॥

सर्वप्रकाशरूपोऽस्मि परावरसुखोऽस्म्यहम् ।  
 सत्तमात्रस्वरूपोऽहं शुद्धमोक्षस्वरूपवान् ॥ ३० ॥

सत्यानन्दस्वरूपोऽहं ज्ञानानन्दघनोऽस्म्यहम् ।  
 विज्ञानमात्ररूपोऽहं सच्चिदानन्दलक्षणः ॥ ३१ ॥

ब्रह्ममात्रमिदं सर्वं ब्रह्मणोऽन्यन्तं किञ्चन ।  
 तदेवाहं सदानन्दं ब्रह्मैवाहं सनातनम् ॥ ३२ ॥

त्वमित्येतत्तदित्येतन्मत्तोऽन्यन्तास्ति किञ्चन ।  
 चिद्वैतन्यस्वरूपोऽहमहमेव परः शिवः ॥ ३३ ॥

अतिभावस्वरूपोऽहमहमेव सुखात्मकः ।  
 साक्ष्यवस्तुविहीनत्वात्साक्षित्वं नास्ति मे सदा ॥ ३४ ॥

केवलं ब्रह्ममात्रत्वादहमात्मा सनातनः ।  
 अहमेवादिशेषोऽहमहंशेषोऽहमेव हि ॥ ३५ ॥

<sup>१</sup> सदात्मा—अ, अ १.

<sup>२</sup> नित्यशः—अ, अ १, क.

नामरूपविमुक्तोऽहमहमानन्दविग्रहः ।

इन्द्रियाभावरूपोऽहं सर्वभावस्वरूपकः ॥ ३६ ॥

बन्धमुक्तिविहीनोऽहं शाश्वतानन्दविग्रहः ।

आदिचैतन्य<sup>१</sup>रूपोऽहमखण्डैकरसोऽस्म्यहम् ॥ ३७ ॥

वाङ्मनोऽगोचरश्चाहं सर्वत्र सुखवानहम् ।

सर्वत्र पूर्णरूपोऽहं भूमानन्दमयोऽस्म्यहम् ॥ ३८ ॥

सर्वत्र तृप्तिरूपोऽहं परामृतरसोऽस्म्यहम् ।

एकमेवाद्वितीयं सद्ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३९ ॥

सर्वशून्यस्वरूपोऽहं <sup>२</sup>सकलागमगोचरः ।

मुक्तोऽहं मोक्षरूपोऽहं निर्वाणसुखरूपवान् ॥ ४० ॥

सत्यविज्ञानमात्रोऽहं सन्मात्रानन्दवानहम् ।

तुरीयातीतरूपोऽहं निर्विकल्पस्वरूपवान् ॥ ४१ ॥

सर्वदा ह्यजनरूपोऽहं <sup>३</sup>नीरागोऽस्मि निरञ्जनः ।

अहं शुद्धोऽस्मि बुद्धोऽस्मि नित्योऽस्मि प्रभुरस्म्यहम् ॥ ४२ ॥

ओङ्कारार्थस्वरूपोऽस्मि निष्कलङ्कमयोऽस्म्यहम् ।

एवं स्वपितृमुखतः कुमारः अखण्डैकरसचिन्मात्रेयतां श्रुत्वा तत्र स्वानुभवं पृच्छतीत्याह—कुमार इति । तत्प्रश्नमङ्गीकृत्य अखण्डैकरसचिन्मात्रानुभवं स्वाज्ञविकल्पितात् सर्वस्मात् परं विलक्षणं यत् सम्यक् बृहयति विजृम्भते तत् परंत्रहा तत्स्वरूपोऽहम् । परमानन्दमिति लिङ्माव्यत्ययः;

<sup>१</sup> मात्रो—क, अ, अ १, अ २

<sup>२</sup> सकलागम—क, अ २.

<sup>३</sup> नीरागो—क, अ १, अ २, उ १.

परमानन्दोऽस्म्यहमित्यर्थः । किंच—केवलमित्यादि । प्रत्यक्षप्रकाशत्वात् शानरूपः ॥ सर्वोत्कृष्टत्वात् परमः ॥ १ ॥ क्रूरस्वातिरिक्ताभावात् शान्तः । अनित्यापायात् नित्यः । चिरन्तनत्वात् शाश्वतः ॥ २ ॥ ईश्वरत्वात् सञ्चरूपः । पराक्षणेक्षप्रत्यगहम्भावं त्यक्त्वा द्विष्ठाहम्भावोऽस्मि । सर्वं ब्रह्मेत्यत्र सर्वापहवसिद्धब्रह्मात्रमित्य । चिदाकाशमयः चिदाकाशस्वरूपः ॥ ३ ॥ तुर्यः प्रत्यक् । तदतीतः परः । अशेषविशेषाभावात् केवलः ॥ ४-५ ॥ विकल्पासहत्वात् निर्विकल्पः । अन्तःकरणाभावात् निरीहः । भवरोगहानात् निगमयः । उपाधिसत्त्वेऽपि असङ्गः । विकागभावात् निर्विकारः । स्वतः परतो वा व्ययाभावात् अव्ययः ॥ ६ ॥ अपरिच्छिन्नः त्रिविधपरिच्छेदाभावात् । अनन्तानन्दः अपगमितानन्दरूपत्वात् ॥ ७ ॥ सचित्परगानन्दरूपः सचित्परमानन्दरूपत्वात् । सर्वान्तरः प्रत्यक् तस्मादप्यन्तरः परः प्रत्यगभिन्न-ब्रह्मरूपत्वात् । वाञ्छानसादिकरणप्रामाण्गोचरः ॥ ८ ॥ सत्यात्मानन्दरूपः । प्रत्यगादिरूपेण सर्वात्मसु गमत इति आत्मागमः ॥ ९ ॥ स्वोत्पत्तिस्थितिल्याभावात् आदिमध्यान्तहीनः । निरवयवत्वात् आकाशसदृशः ॥ १० ॥ सत्त्वासामान्यत्वात् सत्त्वामात्रः ॥ ११ ॥ सर्वावशेषरूपत्वात् नित्यशेषः ॥ १२ ॥ अपरिच्छिन्नानन्दत्वात् भूमानन्दः । वागादिकरणाभावात् भाषाहीनः ॥ १३-१४ ॥ दृश्यसम्भवतो दृश्यात्रः ॥ १५-१६ ॥ स्वाज्ञदृष्टेः अहमन्यवत् गुरुशिष्यवत् भातोऽस्मि । वेदशास्त्रैः उपास्यो निर्णीतोऽस्मि ॥ १७-१८ ॥ शिष्टं स्पष्टम् ॥ मया अव्याप्तं मदतिरितं वा नास्तीति जानीहीत्याह—मन्यकमिति ॥ १९ ॥ किञ्च—अहमिति ॥ २० ॥ केवलं ब्रह्मात्रोऽस्मि निष्प्रतियोगिकत्वात् ॥ २१ ॥ यतः स्वयमेवेदं सर्वं अतः स्वस्मादन्यत् न चिन्तये इत्याह—स्वयमेवेति ॥ २२ ॥ “भुज्ञे” इत्यत्र पुरुषव्यत्ययः, भुजे इत्यर्थः ॥ २३-२९ ॥ यच्चिद्रूपमात्रं तदेवाह-मस्मीत्याह—चिदिति ॥ २६ ॥ सर्वशून्योऽहं<sup>१</sup> सर्वदा सर्वासम्भवात् ॥ २७ ॥

<sup>१</sup> सर्वथा—उ १.

अहमेव चिदादित्यस्वरूपवान् सर्वप्राणिहृदतकामादिवृत्तिसहस्रभासकचित्सूर्यत्वात् ॥ २८ ॥ एकसङ्ख्याविमुक्तः असङ्ख्येयत्वात् । आद्यन्ताभाववान् सम्भूतिप्रलयाभावात् ॥ २९ ॥ परावरसुखः प्रत्यगभिन्नब्रह्मानन्दत्वात् । शुद्धमोक्षस्वरूपवान् स्वस्य स्वातिरिक्तभ्रममोक्षसिद्धत्वात् ॥ ३०-३१ ॥ यतः अन्यत् न विद्यते तदेवाहमित्याह—ब्रह्मात्रमिति ॥ ३२ ॥ त्वंतदित्यादिशब्दवाच्यं मदतिरिक्तं नास्तीत्याह—त्वमिति ॥ ३३ ॥ अतिभावस्वरूपः सर्वभावातीतत्वात् । साक्षित्वं—साक्ष्यसापेक्षसाक्षितायाः सविशेषत्वात् तद्विरलोऽस्मीत्यर्थः ॥ ३४ ॥ आदिशेषः धरणीधरत्वात् । अहंशेष इति स्वमात्रत्वमवशिष्टत्वात् ॥ ३६-३८ ॥ एकमेवाद्वितीयं सजातीयविजातीयस्वगतभेदवैरल्यात् ॥ ३९ ॥ सकलागमगोचरः वेदान्तवेदत्वात् । स्वाविद्याद्वयतो मुक्तः । निर्वाणसुखरूपवान् विदेहकैवल्यानन्दत्वात् ॥ ४०-४१ ॥ बुद्धः विशुद्धबोधरूपत्वात् ॥ ४२ ॥ ओङ्कारागर्थस्वरूपः तुर्यतुर्यत्वात् ॥

आत्मनि सर्वप्रविभक्तरूपाभावानुभवः

चिदाकारस्वरूपोऽस्मि नाहमस्मि न सोऽस्म्यहम् ॥ ४३ ॥  
 न हि किञ्चित्स्वरूपोऽस्मि निर्व्यापारस्वरूपवान् ।  
 निरंशोऽस्मि निराभासो न मनो नेन्द्रियोऽस्म्यहम् ॥ ४४ ॥  
 न बुद्धिर्न विकल्पोऽहं न देहादित्रयोऽस्म्यहम् ।  
 न जाग्रत्स्वरूपोऽहं न सुषुप्तिस्वरूपवान् ॥ ४५ ॥  
 न तापत्रयरूपोऽहं नेपणात्रयवानहम् ।  
 श्रवणं नास्ति मे सिद्धेर्मननं च चिदात्मनि ॥ ४६ ॥  
 सजातीयं न मे किञ्चिद्विजातीयं न मे क्वचित् ।  
 स्वगतं च न मे किञ्चित्त्र मे भेदत्रयं क्वचित् ॥ ४७ ॥

अहंशब्दबोध्यं स्थूलदेहादिप्रत्यगन्तं, तच्छब्दबोध्यं विराङ्गादितुर्यान्तं, तदु-  
भयविलक्षणात् नाहमस्मि न सोऽस्यहम् ॥ ४३ ॥ स्वातिरेकेण  
किञ्चित्स्वरूपः । अखण्डार्थत्वात् निरंशः । देहत्रयविलक्षणत्वात् न  
मन इत्यादि ॥ ४४—४५ ॥ स्वस्य स्वतःसिद्धत्वेन न हि श्रवणादिसाधनाकाङ्क्षा  
अस्तीत्याह—श्रवणमित्यादि ॥ चशब्दो निदिध्यासनसमुच्चयार्थः ॥ ४६ ॥  
न हि सजातीयादिभेदत्रयमस्तीत्याह—सजातीयमिति ॥ ४७ ॥

स्वेतरस्य सर्वस्य असत्त्वानुभवः

असत्यं हि मनोरूपमसत्यं बुद्धिरूपकम् ।  
अहंकारमसद्वीति नित्योऽहं शाश्वतो ह्यजः ॥ ४८ ॥  
देहत्रयमसद्विद्धि कालत्रयमसत्सदा ।  
गुणत्रयमसद्विद्धि ह्यहं सत्यात्मकः शुचिः ॥ ४९ ॥  
श्रुतं सर्वमसद्विद्धि वेदं सर्वमसत्सदा ।  
शास्त्रं सर्वमसद्विद्धि ह्यहं सत्यं चिदात्मकः ॥ ५० ॥  
मूर्तित्रयमसद्विद्धि सर्वभूतमसत्सदा ।  
सर्वतत्त्वमसद्विद्धि ह्यहं भूमा सदाशिवः ॥ ५१ ॥  
गुरुशिष्यमसद्विद्धि गुरोर्मम्रमसत्ततः ।  
यद्वृश्यं तदसद्विद्धि न मां विद्धि तथाविधम् ॥ ५२ ॥  
यच्चिन्त्यं तदसद्विद्धि यच्यात्यं तदसत्सदा ।  
यद्वितं तदसद्विद्धि न मां विद्धि तथाविधम् ॥ ५३ ॥  
सर्वान्प्राणीनसद्विद्धि सर्वान्भोगानसत्त्विति ।  
दृष्टं श्रुतमसद्विद्धि <sup>१</sup>ओतं प्रोतमसन्प्रयम् ॥ ५४ ॥

<sup>१</sup> ओतं—उ, उ १.

कार्यकार्यमसद्विद्धि नष्टं प्राप्तमसन्मयम् ।  
 दुःखादुःखमसद्विद्धि सर्वासर्वमसन्मयम् ॥ ९९ ॥ ९  
 पूर्णापूर्णमसद्विद्धि धर्माधर्ममसन्मयम् ।  
 लाभालाभावमसद्विद्धि जयाजयमसन्मयम् ॥ ३६ ॥  
 शब्दं सर्वमसद्विद्धि स्पर्शं सर्वमसत्सदा ।  
 रूपं सर्वमसद्विद्धि रसं सर्वमसन्मयम् ॥ ९७ ॥  
 गन्धं सर्वमसद्विद्धि सर्वज्ञानमसन्मयम् ।  
 असदेव सदा सर्वमसदेव भवोद्भवम् ॥ ९८ ॥  
 असदेव गुणं सर्वं सन्मात्रमहमेव हि ।

स्वातिरिक्तसामान्यं शशविपाणवदत्यन्ताभावरूपतया असदेव । अहं  
 तु तदपह्वसिद्धनिप्रतियोगिकब्रह्मात्रभावरूपोऽस्मीत्याह—असत्यं हीति  
 ॥ ४८—५८ ॥

अहंब्रह्मास्मीत्यात्ममन्ताभ्यासः

स्वात्ममन्तं सदा पश्येत्स्वात्ममन्तं सदाभ्यसेत् ॥ ९९ ॥  
 अहं ब्रह्मास्मिमन्त्रोऽयं दृश्यपापं विनाशयेत् ।  
 अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमन्यमन्तं विनाशयेत् ॥ ६० ॥  
 अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं देहदोषं विनाशयेत् ।  
 अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं जन्मपापं विनाशयेत् ॥ ६१ ॥  
 अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं मृत्युपाशं विनाशयेत् ।  
 अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं द्वैतदुःखं विनाशयेत् ॥ ६२ ॥

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं भेदवृद्धिं विनाशयेत् ।

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं चिन्तादुःखं विनाशयेत् ॥ ६३ ॥

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं बुद्धिव्याधिं विनाशयेत् ।

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं चित्तवन्धं विनाशयेत् ॥ ६४ ॥

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्वव्याधीन्विनाशयेत् ।

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्वशोकं विनाशयेत् ॥ ६५ ॥

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं कामादीन्विनाशयेत्सणात् ।

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं <sup>१</sup>क्रोधवृत्तिं विनाशयेत् ॥ ६६ ॥

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं चित्तवृत्तिं विनाशयेत् ।

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं संकल्पादीन्विनाशयेत् ॥ ६७ ॥

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं कोटिदोषं विनाशयेत् ।

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्वतन्त्रं विनाशयेत् ॥ ६८ ॥

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमात्माज्ञानं विनाशयेत् ।

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमात्मलोकज्यप्रदः ॥ ६९ ॥

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमप्रतकर्यसुखप्रदः ।

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमजडत्वं प्रयच्छति ॥ ७० ॥

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमनात्मासुरर्मदनः ।

अहं ब्रह्मास्मि वज्रोऽयमनात्माख्यगिरीन्हरेत् ॥ ७१ ॥

अहं ब्रह्मास्मि चक्रोऽयमनात्मैत्वासुरान्हरेत् ।

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्वोत्तान्मोक्षयिष्यति ॥ ७२ ॥

<sup>१</sup> क्रोधशर्किं—अ, अ १, अ २, क.

<sup>२</sup> रुद्धासुरान्—क, अ २.

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं ज्ञानानन्दं प्रयच्छति ।  
 सप्तकोटिमहामन्त्रं जन्म<sup>१</sup>कोटिशतप्रदम् ॥ ७३ ॥ ९  
 सर्वमन्त्रान्समुत्सृज्य एतन्मन्त्रं <sup>२</sup>समन्ध्यसेत् ।  
 सद्यो मोक्षमवाप्नोति नास्ति संदेहमण्वपि ॥ ७४ ॥  
 इति ॥

स्वात्ममन्त्राभ्यासस्य ब्रह्मास्यन्तरायनिरसनद्वारा निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्र-  
 पदप्रापकत्वात् यत एवं अतः बन्धमोक्षभ्रममुक्षुः इममेव अहं ब्रह्मस्मीति  
 मन्त्रं सदा अभ्यसेदित्याह—स्वात्ममन्त्रमिति । स्पष्टोऽयमर्थः ॥ ९५—७४ ॥  
 इतिशब्दः अध्यायपरिसमार्थः ॥

इति तृतीयोऽध्यायः

### चतुर्थोऽध्यायः

जीवन्मुक्तिः—प्रत्यगभिन्नब्रह्मभावापत्तिः  
 कुमारः परमेश्वरं प्रच्छ जीवन्मुक्तविदेहमुक्तयोः स्थिति-  
 मनुबूहीति । स होवाच परः शिवः ।  
 चिदात्माऽहं परात्माऽहं निर्गुणोऽहं परात्परः ।  
 आत्ममात्रेण यस्तिष्ठेत्स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ १ ॥  
 देहत्रयातिरिक्तोऽहं शुद्धचैतन्यमस्म्यहम् ।  
 ब्रह्माहमिति यस्यान्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ २ ॥

<sup>१</sup> कोश—क, अ २,

<sup>२</sup> सदाभ्य—क, अ २.

आमन्दधनरूपोऽस्मि परानन्दधनोऽस्म्यहम् ।  
 •यस्य देहादिकं नास्ति यस्य ब्रह्मेति निश्चयः ।  
 परमानन्दपूर्णो यः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ३ ॥  
 यस्य किञ्चिद्दहं नास्ति चिन्मात्रेणावतिष्ठते ।  
 चैतन्यमात्रो यस्यान्तश्चिन्मात्रैकस्वरूपवान् ॥ ४ ॥  
 सर्वत्र पूर्णरूपात्मा सर्वत्रात्मावशेषकः ।  
 आनन्दरतिरञ्यक्तः परिपूर्णश्चिदात्मकः ॥ ५ ॥  
 शुद्धचैतन्यरूपात्मा सर्वसङ्गविवर्जितः ।  
 नित्यानन्दः प्रसन्नात्मा ह्यन्यचिन्ताविवर्जितः ॥ ६ ॥  
 किञ्चिदस्तित्वहीनो यः स जीवन्मुक्त उच्यते ।  
 न मे चित्तं न मे बुद्धिर्नाहंकारो न चेन्द्रियम् ॥ ७ ॥  
 न मे देहः कदाचिद्वा न मे प्राणादयः क्वचित् ।  
 न मे माया न मे कामो न मे क्रोधः परोऽस्म्यहम् ॥ ८ ॥  
 न मे किञ्चिदिदं वापि न मे किञ्चित्कचिज्जगत् ।  
 न मे दोषो न मे लिङ्गं न मे चक्षुर्न मे मनः ॥ ९ ॥  
 न मे श्रोत्रं न मे नासा न मे जिह्वा न मे करः ।  
 न मे जाग्रत्व मे स्वप्नं न मे कारणमण्वपि ॥ १० ॥  
 न मे तुरीयमिति यः स जीवन्मुक्त उच्यते ।  
 इदं सर्वं न मे किञ्चिदिदं सर्वं न मे क्वचित् ॥ ११ ॥

न मे<sup>१</sup> कालो न मे देशो न मे वस्तु न मे मतिः ।  
 न मे ज्ञानं न मे संध्या न मे दैवं न मे स्थलम् ॥ १२ ॥  
 न मे तीर्थं न मे सेवा न मे ज्ञानं न मे पदम् ।  
 न मे बन्धं न मे जन्म न मे वाक्यं न मे रविः ॥ १३ ॥  
 न मे पुण्यं न मे पापं न मे कार्यं न मे शुभम् ।  
 न मे जीव इति स्वात्मा न मे किंचिज्जगत्त्वयम् ॥ १४ ॥  
 न मे मोक्षो न मे द्वैतं न मे वेदो न मे विधिः ।  
 न मे ऽन्तिकं न मे दूरं न मे बोधो न मे<sup>२</sup> रहः ॥ १९ ॥  
 न मे गुरुर्न मे शिष्यो न मे हीनो न चाधिकः ।  
 न मे ब्रह्मा न मे विष्णुर्न मे रुद्रो न चन्द्रमाः ॥ १६ ॥  
 न मे गृथी न मे तोयं न मे वायुर्न मे वियत् ।  
 न मे वहिर्न मे गोत्रं न मे लक्ष्यं न मे भवः ॥ १७ ॥  
 न मे ध्याता न मे ध्येयं न मे ध्यानं न मे मतुः ।  
 न मे शीतं न मे चोष्णं न मे तृष्णा न मे क्षुधा ॥ १८ ॥  
 न मे मित्रं न मे शत्रुर्न मे मोहो न मे जयः ।  
 न मे पूर्वं न मे पश्चात् मे चोर्ध्वं न मे दिशः ॥ १९ ॥  
 न मे वक्तव्यमल्पं वा न मे श्रोतव्यमण्वपि ।  
 न मे मन्तव्यमीषद्वा न मे ध्यातव्यमण्वपि ॥ २० ॥  
 न मे भोक्तव्यमीषद्वा न मे सर्तव्यमण्वपि ।  
 न मे भोगो न मे<sup>३</sup> रागो न मे यागो न मे लयः ॥ २१ ॥

<sup>१</sup> लोका—उ. लोको—उ १.      <sup>२</sup> रविः—उ, उ १.      <sup>३</sup> रोगो—उ १.

न मे मौर्ख्यं न मे शान्तं न मे बन्धं न मे प्रियम् ।  
 २ मे मोदः प्रमोदो वा न मे स्थूलं न मे <sup>१</sup>कृशम् ॥ २२ ॥  
 न मे दीर्घं न मे ह्रस्वं न मे वृद्धिर्न मे क्षयम् ।  
 अध्यारोपापवादौ वा न मे चैकं न मे बहु ॥ २३ ॥  
 न मे आन्ध्रं न मे मान्धं न मे <sup>२</sup>पट्टिदमण्वपि ।  
 न मे मांसं न मे रक्तं न मे मेदो न मे हस्तक् ॥ २४ ॥  
 न मे मज्जा न मेऽस्थिर्वा न मे त्वग्धातुमसकम् ।  
 न मे शुक्रं न मे रक्तं न मे नीलं न मे पृथक् ॥ २९ ॥  
 न मे तापो न मे लोभो मुख्यं गौणं न मे क्वचित् ।  
 न मे भ्रान्तिर्न मे स्थैर्यं न मे गुह्यं न मे कुलम् ॥ २६ ॥  
 न मे त्याज्यं न मे ग्राह्यं न मे हास्यं न मे नयः ।  
 न मे व्रतं न मे ग्लानिर्न मे शोष्यं न मे सुखम् ॥ २७ ॥  
 न मे ज्ञाता न मे ज्ञानं न मे ज्ञेयं न मे स्वयम् ।  
 न मे तुभ्यं न मे मध्यं न मे त्वं च न मे त्वहम् ॥ २८ ॥  
 न मे जरा न मे बाल्यं न मे यौवनमण्वपि ।  
 अहं ब्रह्मास्म्यहं ब्रह्मास्म्यहं ब्रह्मेति निश्चयः ॥ २९ ॥  
 चिदहं चिदहं चेति स जीवन्मुक्त उच्यते ।  
 ब्रह्मैवाहं चिदेवाहं परो वाहं न संशयः ॥ ३० ॥  
 स्वयमेव स्वयं हंसः स्वयमेव स्वयं स्थितः ।  
 स्वयमेव स्वयं पश्येत्स्वात्परान्ये सुखे वसेत् ॥ ३१ ॥

<sup>१</sup> त्वाद्—उ, उ १.

<sup>२</sup> पट्टीद—क, उ. पट्टमद—अ.

स्वात्मानन्दं स्वयं भोक्ष्येत्स जीवन्मुक्त उच्यते ।

स्वयमेवैकवीरोऽप्ये स्वयमेव प्रभुः स्मृतः । ६

स्वस्वरूपे स्वयं स्वप्न्ये स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ३२ ॥

कुमारः स्वपितुः परमेश्वरस्य मुखतः अखण्डैकरसचिन्नात्रज्ञानं तदनुभवं च यथावदवाम्य तदान्तरात्मिकमुख्यफलरूपजीवन्मुक्तिविदेहमुक्तिस्वरूपमवगान्तुं शिवं पृच्छतीत्याह—कुमार इति ॥ तदद्याग्नीकृत्य क्रमेण जीवन्मुक्तिविदेहमुक्तलक्षणं स होवाच । तत्र जीवन्मुक्तलक्षणमुच्यते—चिदात्मेति । परागभावप्राप्तप्रत्यगभावस्थितिः जीवन्मुक्तिः प्रत्यगभिन्नब्रह्मभावापत्तिर्विति वक्ष्यमाणजीवन्मुक्तिपर्यायसमुदायार्थः ॥ १-४ ॥ आनन्दात्मन्येव रतिः यस्य सोऽयं आनन्दरतिः ॥ ५ ॥ अन्यचिन्ताविवर्जितः स्वान्यस्य मृग्यत्वात् ॥ ६-९ ॥ देहत्रयवैलक्षण्यवदवस्थाचतुष्टयैलक्षण्यमाह—न मे जाग्रदिति ॥ १०-१४ ॥ न मे विधिः न निषेधोऽपील्यर्थः ॥ १९-३१ ॥ स्वयमेव प्रभुः ईश्वरत्वात् । “चिदात्माऽहं परात्माऽहं” इत्येतावता प्रन्थेन ब्रह्मविदादिचतुर्भेदभिन्नजीवन्मुक्तलक्षणमभिहितम् । प्रायशः इयं तेजोविन्दूपनिषत् विश्यादिविदेहमुक्त्यन्तमहावाक्यगत्तावर्लीप्रभालोचने प्रसक्तानुप्रसक्त्या व्याख्याता नेह पुनः पदशो व्याख्यायते प्रन्थविस्तरभयादिति ॥ ३२ ॥

विदेहमुक्तिः—निष्प्रतियोगिकस्वमात्रब्रह्ममात्रावस्थानम्

ब्रह्मभूतः प्रशान्तात्मा ब्रह्मानन्दमयः सुखी ।

<sup>१</sup>स्वच्छरूपो महामौनी वैदेही मुक्त एव सः ॥ ३३ ॥

सर्वात्मा समरूपात्मा शुद्धात्मा त्वह<sup>२</sup>मुत्थितः ।

एकवर्जित एकात्मा सर्वात्मा स्वात्ममात्रकः ॥ ३४ ॥

<sup>१</sup> स्वस्व—अ, अ १.

<sup>२</sup> मुज्जिः—अ, अ १, अ २, क.

अजात्मा चामृतात्माऽहं स्वयमात्माऽहमव्ययः ।

सूक्ष्म्यात्मा ललितात्माऽहं तूष्णीमात्मस्वभाववान् ॥ ३५ ॥

आनन्दात्मा प्रियो द्यात्मा मोक्षात्मा बन्धवर्जितः ।

ब्रह्मैवाहं चिदेवाहमेवं वापि न चिन्त्यते ॥ ३६ ॥

चिन्मात्रेणैव यस्तिष्ठेद्वैदेही मुक्त एव सः ॥ ३७ ॥

निश्चयं च परित्यज्य अहं ब्रह्मेति निश्चयम् ।

आनन्दभरितस्यान्तो वैदेही मुक्त एव सः ॥ ३८ ॥

<sup>१</sup> सर्वमस्तीति नास्तीति निश्चयं त्यन्य तिष्ठति ।

अहं ब्रह्मास्मि नास्मीति सच्चिदानन्दमात्रकः ॥ ३९ ॥

किंचित्किंचित्कदाचिच्च आत्मानं न सृष्टात्यसौ ।

तूष्णीमेवं स्थितस्तूष्णीं तूष्णीं सत्यं न किञ्चन ॥ ४० ॥

परमात्मा गुणातीतः सर्वात्मा भूतभावनः ।

कालभेदं वस्तुभेदं देशभेदं स्वभेदकम् ॥ ४१ ॥

किंचिद्देदं न तस्यास्ति किंचिद्वाऽपि न विद्यते ।

अहं त्वं तदिदं सोऽयं कालात्मा कालहीनकः ॥ ४२ ॥

शून्यात्मा सूक्ष्मरूपात्मा विश्वात्मा विश्वहीनकः ।

देवात्मा देवहीनात्मा मेयात्मा मेयवर्जितः ॥ ४३ ॥

सर्वत्र जडहीनात्मा सर्वेषामन्तरात्मकः ।

सर्वसंकल्पहीनात्मा चिन्मात्रोऽस्मीति सर्वदा ॥ ४४ ॥

<sup>१</sup> सर्वमस्तीति नास्तीति-

केवलः परमात्माऽहं केवलो ज्ञानविग्रहः ।  
 सत्तामात्रस्वरूपात्मा नान्यतिक्चिजगद्यम् ॥ ४५ ॥

जीवेश्वरेति वाक् केति वेद<sup>१</sup>शास्त्राः कहं त्विति ।  
 इदं चैतन्यमेवेति अहं चैतन्यमित्यपि ॥ ४६ ॥

इति निश्चयशून्यो यो वैदेही मुक्त एव सः ।  
 चैतन्यमात्रसंसिद्धस्वात्मारामः सुखासनः ॥ ४७ ॥

अपरिच्छिन्नरूपात्मा अणुस्थूलादिवर्जितः ।  
 तुर्यतुर्यः परानन्दो वैदेही मुक्त एव सः ॥ ४८ ॥

नामरूपविहीनात्मा परसंवित्सुखात्मकः ।  
 तुरीयातीतरूपात्मा शुभाशुभविवर्जितः ॥ ४९ ॥

योगात्मा योगयुक्तात्मा बन्धमुक्तिविवर्जितः ।  
 गुणागुणविहीनात्मा देशकालादिवर्जितः ॥ ५० ॥

साक्ष्यसाक्षित्वहीनात्मा किंचित्किंचिन्न किंचन ।  
 यस्य प्रपञ्चमानं न ब्रह्माकारमपीह न ॥ ५१ ॥

स्वस्वरूपे स्वयंन्योतिः स्वस्वरूपे स्वयंरतिः ।  
 वाचामगोचरानन्दो वाङ्मनोऽगोचरः स्वयम् ॥ ५२ ॥

अतीतातीतभावो यो वैदेही मुक्त एव सः ।  
 चित्तवृत्तेरतीतो यश्चित्तवृत्त्यवभासकः ॥ ५३ ॥

सर्ववृत्तिविहीनात्मा वैदेही मुक्त एव सः ।  
 तस्मिन्काले <sup>२</sup>विदेहीति देहस्मरणवर्जितः ॥ ५४ ॥

<sup>१</sup> वेदशास्त्राण्यहं—अ.   <sup>२</sup> विदेहोति—अ १, अ २, क, उ १. विदेहोस्ति

इपन्मात्रं स्मृतं चेद्यस्तदा सर्वममन्वितः ।  
 और रद्धवाद्यात्मा परमानन्दचिद्धनः ॥ ९५ ॥  
 पैररद्धवाद्यात्मा सर्ववेदान्तगोचरः ।  
 ब्रह्मामृतरसास्वादो ब्रह्मामृतरसायनः ॥ ९६ ॥  
 ब्रह्मामृतरसासक्तो ब्रह्मामृतरसः स्वयम् ।  
 ब्रह्मामृतरसे मग्नो ब्रह्मानन्दशिवार्चनः ॥ ९७ ॥  
<sup>१</sup>ब्रह्मामृतरसे तृप्तो ब्रह्मानन्दानुभावकः ।  
 ब्रह्मानन्दशिवानन्दो ब्रह्मानन्दरसप्रभः ॥ ९८ ॥  
 ब्रह्मानन्दपरं ज्योतिर्ब्रह्मानन्दनिरन्तरः ।  
 ब्रह्मानन्दरसान्नादो ब्रह्मानन्दकुटुम्बकः ॥ ९९ ॥  
 ब्रह्मानन्दरसारूपो ब्रह्मानन्दैकचिद्धनः ।  
 ब्रह्मानन्दरसोद्ग्राहो ब्रह्मानन्दरसंभरः ॥ १० ॥  
 ब्रह्मानन्दजनैर्युक्तो ब्रह्मानन्दात्मनि स्थितः ।  
 आत्मरूपमिदं सर्वमात्मनोऽन्यत्र किञ्चन ॥ ११ ॥  
 सर्वमात्माऽहमात्माऽस्मि परमात्मा परात्मकः ।  
 नित्यानन्दस्वरूपात्मा वैदेही मुक्त एव सः ॥ १२ ॥  
 पूर्णरूपो महानात्मा प्रीतात्मा शाधतात्मकः ।  
 सर्वान्तर्यामिरूपात्मा निर्मलात्मा निरात्मकः ॥ १३ ॥  
 निर्विकारस्वरूपात्मा शुद्धात्मा शान्तरूपकः ।  
 शान्ताशान्तस्वरूपात्मा नैकात्मत्वविवर्जितः ॥ १४ ॥

<sup>१</sup> ब्रह्मानन्द —उ, उ १.

<sup>२</sup> प्रदः—अ, अ १.

जीवात्मपरमात्मेति चिन्तासर्वस्वर्वर्जितः ।  
 मुक्तामुक्तस्वरूपात्मा मुक्तामुक्तविवर्जितः ॥ ६५ ॥  
 बन्धमोक्षस्वरूपात्मा बन्धमोक्षविवर्जितः ।  
 द्वैताद्वैतस्वरूपात्मा द्वैताद्वैतविवर्जितः ॥ ६६ ॥  
 सर्वासर्वस्वरूपात्मा सर्वासर्वविवर्जितः ।  
<sup>१</sup>मोदप्रमोदरूपात्मा <sup>२</sup>मोदादिविनिवर्जितः ॥ ६७ ॥  
 सर्वसंकल्पहीनात्मा वैदेही मुक्त एव सः ।  
 निष्कलात्मा निर्मलात्मा बुद्धात्मा पुरुषात्मकः ॥ ६८ ॥  
 आनन्दादिविहीनात्मा अभृतात्मामृतात्मकः ।  
 कालत्रयस्वरूपात्मा कालत्रयविवर्जितः ॥ ६९ ॥  
 अखिलात्मा ह्यमेयात्मा मानात्मा मानवर्जितः ।  
 नित्यप्रत्यक्षरूपात्मा नित्यप्रत्यक्ष<sup>३</sup>निर्णितः ॥ ७० ॥  
 अन्यहीनस्वभावात्मा अन्यहीनस्वयंप्रभः ।  
 विद्याऽविद्यादिमेयात्मा विद्याऽविद्यादिवर्जितः ॥ ७१ ॥  
 नित्यानित्यविहीनात्मा इहामृतविवर्जितः ।  
 शमादिपट्टकशून्यात्मा मुमुक्षुत्वादिवर्जितः ॥ ७२ ॥  
 स्थूलदेहविहीनात्मा सूक्ष्मदेहविवर्जितः ।  
 कारणादिविहीनात्मा <sup>४</sup>तुरीयादिविवर्जितः ॥ ७३ ॥

<sup>१</sup> मोदः—अ १, अ २, उ.

<sup>२</sup> मोदामोदवि—क.

<sup>३</sup> निर्णितः—उ १.

<sup>४</sup> तुर्यातुर्यादिव—उ १.

अन्नकोशविहीनात्मा प्राणकोशविवर्जितः ।

● भनःकोशविहीनात्मा विज्ञानादिविवर्जितः ॥ ७४ ॥

आनन्दकोशविहीनात्मा पञ्चकोशविवर्जितः ।

निर्विकल्पस्वरूपात्मा सविकल्पविवर्जितः ॥ ७५ ॥

दृश्यानुविद्धिहीनात्मा शब्दविद्धिविवर्जितः ।

सदा समाधिशून्यात्मा आदिमध्यान्तविवर्जितः ॥ ७६ ॥

प्रज्ञानवाक्यहीनात्मा अहंब्रह्मात्मिविवर्जितः ।

तत्त्वमस्यादिहीनात्मा अयमात्मेत्यभावकः ॥ ७७ ॥

ओंकारवाच्यहीनात्मा सर्ववाच्यविवर्जितः ।

अवस्थात्रयहीनात्मा अक्षरात्मा चिदात्मकः ॥ ७८ ॥

आत्मज्ञेयादिहीनात्मा यर्त्क्निदिद्मात्मकः ।

भानाभानविहीनात्मा वैदेही मुक्त एव सः ॥ ७९ ॥

स्वातिरिक्ताविद्यापदतत्कार्यजातकलनापहवसिद्धं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्र-  
मिति तन्मात्रावस्थानं विदेहमुक्तलक्षणम् । तदिह प्रपञ्चयते—ब्रह्मभूत  
इत्यादिना । ब्रह्मभूतः ब्रह्मात्रतया अवस्थितत्वात् । प्रशान्तात्मा  
प्रशान्तदेहत्रयाभिमतित्वात् । ब्रह्मानन्दमयः आनन्दस्वरूपः निष्प्रतियोगिक-  
भूमानन्दमात्र इत्यर्थः । स्वच्छरूपः पूर्णवोधस्वरूपत्वात् । महामौनी  
स्वमात्रतया तूष्णीमवस्थितत्वात् । देहत्रयोपलक्षितस्वाविद्यापदतत्कार्यजाते  
आत्मात्मीयाभिमतिमूलभूता विगताश्च ते देहाश्च विदेहाः, विदेहा एव  
वैदेहाः, ते अस्य सन्तीति वैदेही । तदूपेण व्यपदिष्टस्य बद्रत्वं स्यादित्य  
आह—मुक्त इति । स्वातिरिक्तं यत्र मुक्तं अपहृतां गतं सोऽयं वैदेही  
मुक्त एवेत्यत्र—

यस्मिन् व्यष्टिसमष्ट्याख्यस्थूलदेहादिवासना ।

विरूपविलयं याति स विदेहो महामुनिः ॥

६

सर्वापहृवसंसिद्धब्रह्मात्रं स एव हि ।

अकल्पविद्विष्टोऽयमिति सर्वत्र गीयते ॥

इति स्मृतिः मानम् । एवमेव विदेहमुक्तिश्चतयो बोद्धव्याः ॥ ३३ ॥

किंच—सर्वात्मेति । स्वात्ममात्रकः निष्प्रतियोगिकैकरूपत्वात् ॥ ३४ ॥

लक्ष्यात्मा स्वावशेषतया लक्षितत्वात् । ललितात्मा केवलनिर्विशेषत्वात् ।

तूष्णीमात्मस्वभाववान् महामौनफलरूपत्वात् ॥ ३५ ॥ न चिन्त्यते

तथाविधचिन्ताया अपि विद्यावृत्तित्वेन अपह्रोतव्यत्वात् ॥ ३६ ॥

स्वातिरिक्तमस्तीति, चशब्दात् नास्तीति, निश्चयं च इति ॥ ३७—३९ ॥

यत्र स्वाइजातं संसरति तत्र ज्ञानीं विज्ञानीं वा सङ्गोदासीनतया

प्रत्यगभिन्नब्रह्मगोचरग्रखण्डाकाग्रवृत्तिपरवशो भूत्वा एवं तूष्णीमास्ते । यदेवं

अखण्डाकाग्रवृत्तिमपि असहमानो योगीं सम्यज्ज्ञानीं निर्विकल्पकसमाधिपरवशो

भूत्वा क्वचित्कालं तूष्णीं स्थितो भवति । तूष्णीं सत्यं न किञ्चन

इत्यत्र—“सरूपविलयसिद्धनिर्विकल्पसमाधितः कादाचित्कव्युत्थानमप्यसहमानः

तत्त्वज्ञानीं मुशुम्नानाडयन्तर्गतकैवल्यनाडिकोञ्जवलचिदाकाशं स्वान्तर्बहिर्भावित-

स्वाविद्याद्वयतत्कार्यविकल्पजातापहृवसिद्धनिष्प्रतियोगिकनिर्विकल्पब्रह्मात्रतया तू-

ष्णीस्वभावेनावशिष्यते इति यत् तदेव सत्यं सन्मात्रावस्थानलक्षणविदेहकैवल्यं

तत्र न किञ्चन स्वातिरिक्तमस्ति नास्तीति विभ्रमोऽस्ति ब्रह्मव्यतिरिक्तं न

किञ्चिदस्ति मद्व्यतिरिक्तमण्यपात्रं न विद्यते सन्मात्रमसदन्यत्” इत्यादि

श्रुतेः ॥ ४०—४१ ॥ भेद इति वक्तव्ये भेदमिति विभक्तिव्यत्ययः ॥ ४२—४९ ॥

जीवेश्वराविति वक्तव्ये जीवेश्वरेति सम्बुद्धिः, वेदशास्त्राणीति वक्तव्ये वेदशास्त्राः

इति लिङ्गाव्यत्ययः ॥ ४६—४७ ॥ तुर्यतुर्यः अविकल्पाविकल्परूपत्वात्

॥ ४८-४९ ॥ गुणगुणविहीनात्मा त्रिगुणवत्तत्सापेक्षनिर्गुणस्यापि  
सविशेषत्वाद् । मिथः सापेक्षसगुणनिर्गुणताविरल्लनिश्रितियोगिकनिर्गुणात्माऽ-  
यमित्यर्थः ॥ ५० ॥ साक्ष्यसाक्षिनिरूपितसविशेषजातं किञ्चित् किञ्चिदपि  
न किञ्चन ॥ ५१-६० ॥ विदेहमुक्ते: पुग यदद्वादिकं आस्वादितं  
यदद्वाहादिकुट्टभगणशिवपूजादि कृतं तत्तत सर्वे इदानीं ब्रह्मानन्द एव  
भवति, विदेहमुक्तस्य स्वातिरिक्तकलनाततप्रवृत्तिनिवृत्तिव्यापृत्यपहवसिद्धत्वात् ।  
विदेहमुक्तातिरेकेण न किञ्चिदस्तीत्याह—आत्मरूपमिति ॥ ६१-६२ ॥  
निरात्मकः ईश्वरसाक्षिचिन्मात्रत्वात् ॥ ६३-६६ ॥ सर्वासर्वविवर्जितः  
सापेक्षबन्धमोक्षद्वैताद्वैतादेः सविशेषन्वात् निश्रितियोगिकाद्वैतात्माऽयमित्यर्थः  
॥ ६७-६९ ॥ नित्यप्रत्यक्षनिर्णितः स्वाज्ञादिभिः स्वस्वदृष्ट्यनुरोधेन निर्णीत  
इत्यर्थः ॥ ७०-७३ ॥ चतुर्महावाक्यवाच्यलक्ष्यता स्यादित्यत आह—  
प्रज्ञानेति ॥ ७७-८१ ॥

स्वात्मनिष्ठाविधिः

आत्मानमेव वीक्षस्व आत्मानं बोधय स्वकम् ।

स्वमात्मानं स्वयं भुज्झस्व स्वस्थो भव षडानन ॥ ८० ॥

स्वमात्मनि स्वयं तृप्तः स्वमात्मानं स्वयं चर ।

आत्मानमेव मोदस्व वैदेही मुक्तिको भव ॥ ८१ ॥

इत्युपनिषत् ॥

इत्युपनिषच्छब्दः कुमारशिवाख्यायिकासमाप्त्यर्थः ॥ ८२ ॥

इति चतुर्थोऽध्यायः

## पञ्चमोऽध्यायः

स्वात्मयाथात्म्यम्

निदाघो नाम वै मुनिः पप्रच्छ क्रमुं भगवन्तमात्मा-  
नात्मविवेकमनुब्रूहीति । स होवाच भगवान् क्रमुः ।  
सर्ववाचोऽवर्धित्रिष्ठ सर्वचिन्तावर्धिगुरुः ।  
सर्वकारणकार्यात्मा कार्यकारणवर्जितः ॥ १ ॥  
सर्वसंकल्परहितः <sup>१</sup>सर्वनादमयः शिवः ।  
सर्ववर्जितचिन्मात्रः सर्वानन्दमयः परः ॥ २ ॥  
सर्वतेजःप्रकाशात्मा नादानन्दमयात्मकः ।  
सर्वानुभवनिर्मुक्तः सर्वध्यानविवर्जितः ॥ ३ ॥  
सर्वनादक्लातीत एष आत्माऽहमव्ययः ।  
आत्मानात्मविवेकादिभेदाभेदविवर्जितः ॥ ४ ॥  
शान्ताशान्तादिहीनात्मा <sup>२</sup>नादान्तज्योतिरूपकः ।  
महावाक्यार्थतो दूरो ब्रह्मास्मीत्यतिदूरतः ॥ ५ ॥  
तच्छब्दवर्ज्यस्त्वंशब्दहीनो वाक्यार्थवर्जितः ।  
क्षराक्षरविहीनो यो <sup>३</sup>नादान्तज्योतिरेव सः ॥ ६ ॥  
अखण्डैकरसो वाऽहमानन्दोऽस्मीति वर्जितः ।  
सर्वातीतख्यभावात्मा <sup>४</sup>नादान्तज्योतिरेव सः ॥ ७ ॥

<sup>१</sup> सर्वानन्द—क, अ २, उ १.

<sup>२</sup> नादान्तज्यो—अ.

<sup>३</sup> नादान्तज्यो—अ, अ २.

<sup>४</sup> नादान्तज्यो—अ, अ २.

आत्मेति <sup>१</sup>शब्दहीनो य आत्मशब्दार्थर्वर्जितः ।  
 अचिदानन्दहीनो य एषैवात्मा सनातनः ॥ ८ ॥ .  
 स निर्देष्टुमशक्यो यो वेदवाक्यैरगम्यगः ।  
 यस्य किञ्चिद्द्विनास्ति किञ्चिदन्तः किञ्चन च ॥ ९ ॥  
 यस्य लिङ्गं प्रपञ्चं वा ब्रह्मैवात्मा न संशयः ।  
 नास्ति यस्य शरीरं वा जीवो वा भूतभौतिकः ॥ १० ॥  
 नामरूपादिकं नास्ति भोज्यं वा भोगभुक् च वा ।  
 सद्वाऽसद्वा स्थितिर्वाऽपि यस्य नास्ति क्षराक्षरम् ॥ ११ ॥  
 गुणं वा विगुणं वाऽपि स म आत्मा न संशयः ।  
 यस्य वाच्यं वाचकं वा श्रावणं मननं च वा ॥ १२ ॥  
 गुरुशिष्यादिभेदं वा देवलोकाः सुरासुराः ।  
 यत्र धर्मधर्मं वा शुद्धं वाऽशुद्धमण्वपि ॥ १३ ॥  
 यत्र कालमकालं वा निश्चयः संशयो न हि ।  
 यत्र मन्त्रमन्त्रं वा विद्याऽविद्ये न विद्यते ॥ १४ ॥  
 द्रष्टृदर्शनदश्यं वा ईषन्मात्रं <sup>२</sup>कलात्मकम् ।

कुमारेण साकं ऋभुर्नाम ब्रह्मानसपुत्रः सोऽपि शिवमुखतः  
 अखण्डैकरसचिन्मात्रज्ञानतदनुभवतदान्तग्रिकमुख्यफलात्मकजीवन्मुक्तिविदेहमु-  
 क्त्योः इयत्ताभवगम्य कृतकृत्यघर्दं गतः खलु । तं कदाचित् निदायो  
 नाम मुनिः समस्तवेदशास्त्रपुराणेतिहासादिषु आत्मानात्मानौ स्त इति श्रूयते  
 तयोः इयत्ताजिज्ञासया पृष्ठवानित्याह श्रुतिः—निदाघ इति । तत्प्रश्नमङ्गीकृत्य

<sup>१</sup> शब्दरूपो—क.

<sup>२</sup> कलामृतं—अ २, क.

स होवाच । किं तत् इत्यत्र सर्ववाच् इति । सर्ववाचोऽवधिः अशब्दत्वात् । सर्वचिन्तावधिः प्रतीचक्षिन्तादिवृत्तिप्रासत्वात् । स्वाज्ञादिदृष्ट्या सर्वकारणकार्यात्मा ॥ १ ॥ सर्वनादमयः नादतज्जवेदशास्त्रसिद्धान्तार्थत्वात् । स्वाज्ञसर्पितसर्ववर्जितचिन्मात्रः ॥ २ ॥ स्वानुभूतिभ्यानादिविषयस्य सविशेषता स्यादित्यत आह—सर्वेति ॥ ३-४ ॥ तत्त्वंपदवाक्यार्थं आत्मेत्यत आह—महावाक्येति ॥ ५ ॥ क्षराक्षरविहीनः क्षराक्षरकलनाविरळपरमाक्षरत्वात् ॥ ६-८ ॥ परमात्मनो व्याविद्वनानापदवाक्यार्थत्वेन महावाक्यात्मसच्चिदानन्दशब्दतद्वाच्यार्थवर्जितत्वात् स निर्देषुमिति । कर्मकाण्डगोचरवेदवाक्यैः साक्षादगम्यतां गच्छतीति अगम्यगः ॥ ९-१४ ॥

अनात्मनः सर्वस्य मिथ्यात्मम्

अनात्मेति प्रसङ्गे वा अनात्मेति मनोऽपि वा ॥ १९ ॥

अनात्मेति जगद्वाऽपि <sup>१</sup>नास्त्यनात्मेति निश्चिन्तु ।

सर्वसंकल्पशून्यत्वात्मर्वकार्यवर्जनात् ॥ १६ ॥

केवलं ब्रह्ममात्रत्वात् <sup>२</sup>नास्त्यनात्मेति निश्चिन्तु ।

देहत्रयविहीनत्वात्कालत्रयविवर्जनात् ॥ १७ ॥

जीवत्रयगुणाभावात्तापत्रयविवर्जनात् ।

लोकत्रयविहीनत्वात्सर्वमात्मेति शासनात् ॥ १८ ॥

चित्ताभावाच्चिन्तनीयं देहाभावाज्जरा न च ।

पादाभावाद्विर्नास्ति हस्ताभावात्क्रिया न च ॥ १९ ॥

मृत्युर्नास्ति जनाभावाहुद्वयभावात्सुखादिकम् ।

धर्मो नास्ति शुचिर्नास्ति सत्यं नास्ति <sup>३</sup>भयं न च ॥ २० ॥

<sup>१</sup> नास्तिनास्तीति—क, अ, अ १, अ २.

<sup>२</sup> मास्तिनास्तीति—अ २.

<sup>३</sup> भव—अ २.

अक्षरोच्चारणं नास्ति गुरुशिष्यादि नास्त्यपि ।

॒काभावे द्वितीयं न न द्वितीये न चैकता ॥ २१ ॥

सत्यत्वमस्ति चेत्किञ्चिद्<sup>१</sup> सत्त्वं न च संभवेत् ।

असत्यत्वं यदि भवेत्सत्यत्वं न <sup>२</sup>घटिष्यति ॥ २२ ॥

शुभं यद्यशुभं विद्धि अशुभाच्छुभमिष्यते ।

भयं यद्यभयं विद्धि ह्यभयाद्यमापत्तं ॥ २३ ॥

<sup>३</sup>बन्धत्वमस्ति चेन्मोक्षो बन्धाभावे क्र मोक्षता ।

मरणं यदि चेज्जन्म जन्माभावे मृतिर्न च ॥ २४ ॥

त्वमित्यपि भवेच्चाहं त्वं नो चेदहमेव न ।

इदं यदि तदेवास्ति तदभावादिदं न च ॥ २५ ॥

अस्तीति चेन्नास्ति तदा नास्ति चेदस्ति किञ्चन ।

कार्यं चेत्कारणं किञ्चित्कार्याभावे न कारणम् ॥ २६ ॥

द्वैतं यदि तदाऽद्वैतं द्वैताभावेऽद्वयं न च ।

दृश्यं यदि दृगप्यस्ति दृश्याभावे दृगेव न ॥ २७ ॥

अन्तर्यदि बहिः सत्यमन्ताभावे बहिर्न च ।

पूर्णत्वमस्ति चेत्किञ्चिदपूर्णत्वं प्रसन्न्यते ॥ २८ ॥

तस्मादेतत्कन्तिनास्ति त्वं चाहं वा इमे इदम् ।

नास्ति दृष्टान्तिकं सत्ये नास्ति दार्ढान्तिकं हाजे ॥ २९ ॥

<sup>१</sup> सत्यं—अ, अ १, अ २.

<sup>२</sup> वदि—अ.

<sup>३</sup> इदं श्लोकार्धं (उ) (उ १) कोशयोनास्ति.

परं ब्रह्माहमस्मीति स्मरणस्य मनो न हि ।

ब्रह्मात्रं जगदिदं ब्रह्मात्रं त्वमप्यहम् ॥ ३० ॥ ०

चिन्मात्रं केवलं चाहं नास्त्यनात्मेति निश्चिनु ।

इदं प्रपञ्चं नास्त्येव नोत्पत्रं नो स्थितं क्वचित् ॥ ३१ ॥

चित्तं प्रपञ्चमित्याहुर्नास्ति नास्त्येव सर्वदा ।

न प्रपञ्चं न चित्तादि नाहंकारो न जीवकः ॥ ३२ ॥

मायाकार्यादिकं नास्ति माया नास्ति भयं न हि ।

कर्ता नास्ति क्रिया नास्ति श्रवणं मननं न हि ॥ ३३ ॥

समाधिद्वितयं नास्ति मातृमानादि नास्ति हि ।

अज्ञानं चापि नास्त्येव ह्यविवेकं कदाचन ॥ ३४ ॥

अनुबन्धवत्तुष्कं न संबन्धत्रयमेव न ।

न गङ्गा न गया सेतुर्न भूतं नान्यदस्ति हि ॥ ३५ ॥

न भूमिर्न जलं नाम्रिर्न वायुर्न च खं क्वचित् ।

न देवा न च दिक्पाला न वेदा न गुरुः क्वचित् ॥ ३६ ॥

न दूरं नान्तिकं नाळं न मध्यं न क्वचित्प्रियतम् ।

नाद्वैतं द्वैतसत्यं वा ह्यसत्यं वा इदं न च ॥ ३७ ॥

बन्धमोक्षादिकं नास्ति सद्वाऽसद्वा सुखादि वा ।

जातिनास्ति गतिर्नास्ति वर्णो नास्ति न लौकिकम् ॥ ३८ ।

सर्वं ब्रह्मेति नास्त्येव <sup>१</sup>ब्रह्मेत्यपि च नास्ति हि ।

चिदित्येवेति नास्त्येव चिदहंभाषणं न हि ॥ ३९ ॥

<sup>१</sup> ब्रह्म इत्येव—क, अ, अ १, अ २. ब्रह्मेत्येव च—उ १.

अहं ब्रह्मात्मि नास्त्येव नित्यशुद्धोऽत्मि न कञ्चित् ।  
 आचा यदुच्यते किंचिन्मनसा मनुते कञ्चित् ॥ ४० ॥

बुद्ध्या निश्चिनुते नाम्ति चित्तं ज्ञायते न हि ।  
 योगियोगादिकं नाम्ति सदा मर्वं सदा न च ॥ ४१ ॥

अहोरात्रादिकं नाम्ति स्मानध्यानादिकं न हि ।  
 भ्रान्तिरभ्रान्ति<sup>१</sup> नास्त्येव नास्त्यनात्मेति निश्चिनु ॥ ४२ ॥

वेदं शास्त्रं पुराणं च कार्यं कारणमीश्वरः ।  
 लोको भूतं जनस्त्वैक्यं मर्वं मिथ्या न मंशयः ॥ ४३ ॥

बन्धो मोक्षः सुखं दुःखं ध्यानं चित्तं सुरासुराः ।  
 गौणं सुख्यं परं चान्यत्सर्वं मिथ्या न संशयः ॥ ४४ ॥

वाचा वदति यत्किंचित्संकल्पैः कल्प्यते च यत् ।  
 मनसा चिन्त्यते यद्यत्सर्वं मिथ्या न संशयः ॥ ४५ ॥

बुद्ध्या निश्चीयते <sup>२</sup>यद्यच्चित्ते निश्चीयते कञ्चित् ।  
 शास्त्रैः प्रपञ्चयते यद्यन्नेत्रैः<sup>३</sup> व निरीक्ष्यते ॥ ४६ ॥

श्रोत्राभ्यां श्रूयते यद्यदन्यत्सद्भावमेव च ।  
 नेत्रं श्रोत्रं गात्रमेव मिथ्येति च सुनिश्चितम् ॥ ४७ ॥

<sup>४</sup>इदमित्येव निर्दिष्टमयमित्येव कल्प्यते ।  
 त्वमहं तदिदं सोऽहमन्यत्सद्भावमेव च ॥ ४८ ॥

<sup>१</sup> नास्त्येव—उ.

<sup>३</sup> व—उ १.

<sup>२</sup> किंचि—क, अ १.

<sup>४</sup> इदं मिथ्येव—अ.

यद्यत्संभाव्यते लोके सर्वसंकल्पसंभ्रमः ।

सर्वाध्यासं सर्वगोप्यं सर्वभोगप्रभेदकम् ॥ ४९ ॥ ९

सर्वदोषप्रभेदाश्च नास्त्यनात्मेनि निश्चिनु ।

मदीयं च त्वदीयं च ममेति च तवेति च ॥ ५० ॥

मह्यं तुभ्यं मयेत्यादि तत्सर्वं वितथं भवेत् ।

रक्षको विष्णुरित्यादि ब्रह्मा सृष्टेस्तु कारणम् ॥ ५१ ॥

मंहरे रुद्र इत्येवं मर्व मिथ्येति निश्चिनु ।

स्तानं जपस्तपो होमः स्वाध्यायो देवपूजनम् ॥ ५२ ॥

मन्त्रं तन्त्रं च सत्सङ्गो गुणदोषविजृम्भणम् ।

अन्तःकरणसङ्घाव अविद्यायाश्च संभवः ॥ ५३ ॥

अनंककोटिब्रह्माण्डं मर्व मिथ्येति निश्चिनु ।

सर्वदेशिकवाक्योक्तियेन केनापि निश्चितम् ॥ ५४ ॥

दृश्यते<sup>१</sup> जगति यद्यद्यद्यजगति वीक्ष्यते ।

वर्तते<sup>१</sup> जगति यद्यत्सर्वं मिथ्येति निश्चिनु ॥ ५५ ॥

येन केनाक्षरेणोक्तं येन केन विनिर्णितम् ।

येन केनापि गदितं येन केनापि मोदितम् ॥ ५६ ॥

येन केनापि यहत्तं येन केनापि यत्कृतम् ।

यत्र यत्र शुभं कर्म यत्र यत्र च दुष्कृतम् ॥ ५७ ॥

यद्यत्करोषि सत्येन सर्वं मिथ्येति निश्चिनु<sup>२</sup> ।

<sup>१</sup> जगती—अ, अ १.

<sup>२</sup> अत्र प्रथमखण्डान्तः—॥ १ ॥—चिह्नितोऽस्ति—अ १.

निदाघेन आत्मानात्मयाथात्म्यमनुबूहीति यत् पृष्ठं तत्र स्वातिरिक्ता-विद्यापदतत्कार्यजातापहवसिद्धोऽयमात्मेत्यात्मयाथात्म्यमभिहितम् । अथानात्म-याथात्म्यमुच्यते—अनात्मेति । अनात्मा अस्ति नास्तीति वार्ताऽपि न विद्यते । अविद्यारूपेण अविद्याऽभावेऽपि तत्कार्यमनोरूपेण जगद्गूपेण वा अविद्या स्यादित्यत आह—अनात्मेति ॥ १९ ॥ मनःकार्यजगद्वाऽपि न विद्यते । यस्मादेवं तस्मात् कार्यकारणात्मना येन केनापि वा हे निदाघ नास्त्यनात्मेति निश्चिनु निश्चयवान् भव, “नाविद्याऽस्तीह नो माया” इति, “अविद्यमानैवाविद्यावस्तुत्त्वविचारणाम्” इति,

नात्मभावेन नानेदं न स्वेनापि कथं चन ।

न पृथङ् नापृथक्किञ्चिदिति तत्त्वविदो विदुः ॥

इति श्रुतिस्मृतिगौडपादाचार्योक्तेः । जगन्मनोऽनात्मासम्भवे हेतुवयमाचष्टे—सर्वेति ॥ सर्वसङ्कल्पशून्यत्वात् सङ्कल्पादिवृत्तिसहस्रजुष्मानसाभावात् । सर्वकार्यविवर्जनात् मनःकार्यजगद्भावात् ॥ १६ ॥ ब्रह्मात्रस्य निश्च्रियोगिकत्वेन मनस्तत्कार्यहेत्यनात्मापहवसिद्धत्वात् नास्त्यनात्मेति निश्चिनु । इतश्च अनात्मासम्भवे हेतूनुपन्यस्यति—देहेति ॥ १६—२० ॥ यद्यत् सापेक्षं तत्तत् सविशेषं अनात्मत्वात् । यद्यत् अनात्मा न भवति तत्तत् सविशेषमपि न भवति यथा निर्विशेषं ब्रह्मेति श्रुतियुक्तिः स्वविकल्पितानात्मापहवसिद्धात्म-मात्रसिद्धये सापेक्षश्रुतिवाक्यान्युपन्यस्यति—एकाभाव इति ॥ २१—२७ ॥ अन्त्वाभावे, विसर्गलोपः, अन्तरभावे ॥ २८—३० ॥ कथं पुनः अनात्मा नास्तीत्युच्यते सम्भूतिस्थितिप्रलयवदनात्मप्रपञ्चदर्शनादित्यत आह—इदमिति ॥ अयं प्रपञ्चः इति वक्तव्ये इदं प्रपञ्चं इति लिङ्गव्यत्ययः ॥ ३१—३६ ॥ नाळं [न आळं] दूरान्तिकयोः अन्तराळमित्यर्थः । मिथः सापेक्षतया नाढैतं ॥ ३७—४१ ॥ भ्रान्तिः अतस्मिन् तद्वावः, अभ्रान्तिः तस्मिन् तद्वावः, भ्रान्त्यादिगतभावस्य तूलान्तःकरणाविद्याकार्यत्वेन कारणतुल्यत्वात् । अभ्रान्ति नास्तीत्यत्र विसर्गलोप इति केचित् । तत्पक्षे—भ्रान्तिरभ्रान्ति

नास्त्येव इति पाठः ॥ ४२ ॥ स्वाङ्गदृष्ट्या यदत विकल्पितं स्वज्ञस्तु  
तत्तत् मिथ्येति मन्यते इत्याह वेदमित्यादिना । वेदं इति विभक्ति-  
व्यत्ययः ॥ ४३-५७ ॥

अहंवस्तुनः परमात्मत्वम्

त्वमेव परमात्माऽसि त्वमेव परमो गुरुः ॥ ९८ ॥

त्वमेवाकाशरूपोऽसि साक्षिहीनोऽसि सर्वदा ।

त्वमेव सर्वभावोऽसि त्वं ब्रह्मासि न संशयः ॥ ९९ ॥

कालहीनोऽसि कालोऽसि सदा ब्रह्मासि चिद्धनः ।

सर्वतः स्वस्वरूपोऽसि चैतन्यघनवानसि ॥ ६० ॥

सत्योऽसि मिद्धोऽसि सनातनोऽसि मुक्तोऽसि मोक्षोऽसि  
मुदामृतोऽसि ।

देवोऽसि शान्तोऽसि निरामयोऽसि ब्रह्मासि पूर्णोऽसि परात्परोऽसि ॥

समोऽसि मच्चासि सनातनोऽसि सत्यादिवाक्यैः प्रतिबोधितोऽसि ।

सर्वाङ्गहीनोऽसि सदा स्थितोऽसि ब्रह्मन्द्रुदादिविभावितोऽसि ॥

सर्वप्रपञ्चमवर्जितोऽसि सर्वेषु भूतेषु च <sup>१</sup>भावितोऽसि ।

सर्वत्र संकल्पविवर्जितोऽसि सर्वागमान्तार्थविभावितोऽसि ॥ ६३ ॥

सर्वत्र संतोषसुखासनोऽसि सर्वत्र ग्रन्थादिविवर्जितोऽसि ।

सर्वत्र लक्ष्यादिविवर्जितोऽसि ध्यातोऽसि विष्णवादिसुरैरजत्वम् ॥

<sup>१</sup> भावितो—अ. भाव्यतो—उ १.

१ चिद्राकारस्वरूपोऽसि चिन्मात्रोऽसि निरकुराः ।  
 ॥ आत्मन्येव स्थितोऽसि त्वं सर्वशून्योऽसि निर्गुणः ॥ ६९ ॥  
 आनन्दोऽसि परोऽसि २ त्वमेक एवाद्वितीयकः ।  
 चिद्रनानन्दरूपोऽसि परिपूर्णस्वरूपकः ॥ ६६ ॥  
 सदसि त्वमसि ज्ञोऽसि सोऽसि जानासि वीक्षसि ।  
 सच्चिदानन्दरूपोऽसि वासुदेवोऽसि वै ३ प्रभुः ॥ ६७ ॥  
 अमृतोऽसि विमुश्चासि चञ्चलो ह्यञ्चलो ह्यसि ।  
 सर्वोऽसि सर्वहीनोऽसि शान्ताशान्तविवर्जितः ॥ ६८ ॥  
 सत्तामात्रप्रकाशोऽसि सत्तासामान्यको ह्यसि ।  
 नित्यसिद्धिस्वरूपोऽसि सर्वॄसिद्धिविवर्जितः ॥ ६९ ॥  
 ईषन्मात्रविशून्योऽसि अणुमात्रविवर्जितः ।  
 अस्तित्ववर्जितोऽसि त्वं नास्तित्वादिविवर्जितः ॥ ७० ॥  
 लक्ष्यलक्षणहीनोऽसि निर्विकारो निरामयः ।  
 सर्वनादान्तरोऽसि त्वं कला५काष्ठाविवर्जितः ॥ ७१ ॥  
 ब्रह्मविष्णवीशहीनोऽसि स्वस्वरूपं प्रपश्यसि ।  
 स्वस्वरूपावशेषोऽसि स्वानन्दाभ्यौ निमज्जसि ॥ ७२ ॥  
 ६ स्वात्मराज्ये स्वमेवासि स्वयंभावविवर्जितः ।  
 शिष्टपूर्णस्वरूपोऽसि स्वस्मार्त्कचिन्न पश्यसि ॥ ७३ ॥

१ चिद्राकाश—अ.

२ त्वमेकमे—उ.

३ विमुः—क, अ २.

४ विद्ध—उ.

५ काष्ठ—अ १.

६ स्वात्मा—अ.

स्वस्वरूपान्नं चलसि स्वस्वरूपेण जृम्भसि ।  
स्वस्वरूपादनन्योऽसि ह्यहमेवासि निश्चिनु ॥ ७४ ॥<sup>१</sup>

वेदं शास्त्रं इत्यारभ्य एतावता प्रन्थेन सर्वं मिथ्येत्यवशृतं; किमहं  
मिथ्याऽन्तःपाती इत्याशङ्कामानमालक्ष्य मिथ्याऽऽधारो निराधारो वा परमात्मा  
त्वमसीत्याह—त्वमेवेति । भगवदात्मना ब्रह्मविद्याऽऽचार्यत्वात् ॥ ९८—७४ ॥

अविद्यातत्कार्यप्रपञ्चस्य निष्प्रतियोगिकाभावरूपत्वम्  
इदं प्रपञ्चं यत्किञ्चिद्यज्जगति विद्यते ।  
दृश्यरूपं च द्वयूपं सर्वं शशाविषाणवत् ॥ ७५ ॥  
भूमिरापोऽनले वायुः स्वं मनो बुद्धिरेव च ।  
अहंकारश्च तेजश्च लोकं सुवनमण्डलम् ॥ ७६ ॥  
नाशं जन्म च सत्यं च पुण्यपापजयादिकम् ।  
रागः कामः क्रोधलोभौ ध्यानं ध्येयं गुणं परम् ॥ ७७ ॥  
गुरुशिष्योपदेशादिरादिरन्तं शमं शुभम् ।  
भूतं भव्यं वर्तमानं लक्ष्यं लक्षणमद्वयम् ॥ ७८ ॥  
शमो विचारः मनोषो भोक्तृभोज्यादिरूपकम् ।  
यमाद्यष्टाङ्ग्योगं च गमनागमनात्मकम् ॥ ७९ ॥  
आदिमध्यान्तरङ्गं च ग्राह्यं त्याज्यं हरिः शिवः ।  
इन्द्रियाणि मनश्चैव अवस्थात्रितयं तथा ॥ ८० ॥

<sup>१</sup> अत्र द्वितीयखण्डान्तः—॥ २ ॥—चिह्नितोऽस्ति—क. अ १, अ २.

<sup>२</sup> वीर्यते—उ.

चतुर्विंशतितत्त्वं च साधनानां चतुष्टयम् ।  
 छन्नातीयं विजातीयं लोका भूराद्यः क्रमात् ॥ ८१ ॥  
 सर्ववर्णश्रमाचारं मन्त्रतत्रादिसंग्रहम् ।  
 विद्याऽविद्यादिरूपं च सर्ववंदं जडाजडम् ॥ ८२ ॥  
 बन्धमोक्षविभागं च ज्ञानविज्ञानरूपकम् ।  
 श्रोधाबोधस्थरूपं वा द्वैताद्वैतादिभाषणम् ॥ ८३ ॥  
 सर्ववेदान्तसिद्धान्तं सर्वशास्त्रार्थनिर्णयम् ।  
 अनंकजीवसद्गावमंकजीवादिनिर्णयम् ॥ ८४ ॥  
 यद्यद्व्यायति चितेन यद्यत्संकल्प्यते क्वचित् ।  
 बुद्ध्या निश्चीयते यद्यद्वृणा संशृणोति यत् ॥ ८५ ॥  
 यद्यद्वाचा व्याकरोति यद्यदाचार्यभाषणम् ।  
 यद्यत्<sup>१</sup> स्वरेन्द्रियैर्भाव्यं यद्यन्मीमांस्यते पृथक् ॥ ८६ ॥  
 यद्यव्यायेन निर्णीतं महद्विवेदपारगैः ।  
 शिवो क्ष[ह]रति लोकान्वै एवमादिक्रियादिकम् ॥ ८७ ॥  
 ब्रह्मा सृजति लोकान्वै एवमादिक्रियादिकम् ।  
 यद्यदस्ति पुराणेषु यद्यद्वेदेषु<sup>२</sup> निर्णयम् ॥ ८८ ॥  
 सर्वोपनिषदां भावं सर्वं शाशविषाणवत् ।<sup>३</sup>

हे स्वामिन् भवदनुग्रहमहिन्ना शिष्यपूर्णस्वरूपोऽस्मीत्यत्र न हि संशयोऽस्ति ।  
 पुरा अनुभूतस्वान्तर्बाह्यविजृम्भितदग्नश्यकलनान्वितव्यष्टिसमष्टिविभागेद्वस्त्वाविद्या-

<sup>१</sup> सुरे—अ १. सर्वे—क,

<sup>२</sup> निर्णितम्—अ, अ १.

<sup>३</sup> अत्र तृतीयखण्डान्तविहं ॥ ३ ॥—अ १.

पदतत्कार्यप्रपञ्चस्य का गतिः इत्याकाङ्क्षायां स्वाज्ञदृष्टया सत्यत्वेन  
<sup>१</sup>स्वज्ञदृष्टया मिथ्यात्वेन अनुभूतोऽपि परमार्थदृष्टया शशविषाणवत् निग्रतियोगि-  
 काभावरूप एवेत्याह—इदमिति ॥ ७९ ॥ स्वातिरिक्तापहवः उक्तः ।  
 पुनरपहोतव्यविषयाभावात् उत्तरग्रन्थारम्भः किमर्थं इत्याकाङ्क्षायां, सत्य-  
 मपहवविषयो न विद्यते तस्य शशविषाणवत् अवस्तुत्वात् । तथाऽपि  
 “इदं प्रपञ्चं” इत्यादि “सर्वं शशविषाणवत्” इत्यन्तश्चुतिशृत्यर्थतया  
 उत्तरग्रन्थारम्भो युज्यते इत्याह—भूमिरित्यादि ॥ ७६—८३ ॥  
 तूलान्तःकरणाविद्याया यदनेकत्वं तदनेकजीवसद्वावप्रयोजकं; आदिशब्देन  
 एकत्वानेकत्वहेत्वविद्याद्वयस्य व्यावहारिकादिदृष्टया मिथ्यात्वम् ॥ ८४—८८ ॥  
 परमार्थदृष्टया ब्रह्मातिरिक्तस्य शशविषाणवत् अवस्तुत्वं युज्यत एवेत्यर्थः ॥

सङ्कल्पादिस्तु मन एव सर्वानर्थंहनुः

देहोऽहमिति संकल्पं तदन्तःकरणं स्मृतम् ॥ ८९ ॥

देहोऽहमिति “संकल्पो महत्संमार उच्यते ।

देहोऽहमिति संकल्पं तद्व्याधमिति चोच्यते ॥ ९० ॥

देहोऽहमिति संकल्पं तहुःवमिति चोच्यते ।

देहोऽहमिति यत् ज्ञानं तदेव नरकं स्मृतम् ॥ ९१ ॥

देहोऽहमिति संकल्पं जगत्सर्वमितीर्यं ।

देहोऽहमिति संकल्पो हृदयग्रन्थरीरितः ॥ ९२ ॥

देहोऽहमिति यज्ञानं तदेवाज्ञानमुच्यते ।

देहोऽहमिति यज्ञानं तदसद्वावमेव च ॥ ९३ ॥

<sup>१</sup> स्वाज्ञ—उ १.

<sup>२</sup> संकल्प—क.

देहोऽहमिति या बुद्धिः सा चाविद्येति भण्यते ।

देहोऽहमिति यज्ञानं तदेव द्वैतमुच्यते ॥ ९४ ॥

देहोऽहमिति संकल्पः सत्यजीवः स एव हि ।

देहोऽहमिति यज्ञानं परिच्छिन्नमितीरितम् ॥ ९५ ॥

देहोऽहमिति संकल्पो महापापमिति स्फुटम् ।

देहोऽहमिति या बुद्धिस्तृप्णा दोषामयः किल ।

यत्किंचिदपि संकल्पं तापत्रयमितीरितम् ॥ ९६ ॥

कामं क्रोधं बन्धनं सर्वदुःखं विश्वं दोषं कालनानास्वरूपम् ।

यत्किंचेदं सर्वमंकल्पजालं तत्किंचेदं मानसं सोम्य विद्धि ॥ ९७ ॥

मन एव जगत्सर्वं मन एव <sup>१</sup>महारिषुः ।

मन एव हि मंसारो मन एव जगत्त्वयम् ॥ ९८ ॥

मन एव महदुःखं मन एव जरादिकम् ।

मन एव हि कालं च मन एव मलं तथा ॥ ९९ ॥

मन एव हि संकल्पो मन एव हि जीवकः ।

मन एव हि नित्तं च मनोऽहंकार एव च ॥ १०० ॥

मन एव महद्वन्धं मनोऽन्तःकरणं च तत् ।

मन एव हि भूमिश्च मन एव हि तोयकम् ॥ १०१ ॥

मन एव हि तेजश्च मन एव मरुन्महान् ।

मन एव हि चाकाशं मन एव हि शब्दकम् ॥ १०२ ॥

स्पर्शं रूपं रसं गन्धं कोशाः पञ्च मनोभवाः ।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि मनोमयमितीरितम् ॥ १०३॥.

दिक्पाला वस्त्रो रुद्रा आदित्याश्च मनोमयाः ।

दृश्यं जडं द्रन्द्वजातमज्ञानं मानसं स्मृतम् ॥ १०४ ॥

संकल्पमेव यन्लिङ्गित्तत्त्वास्तीति निश्चितु ।

नास्ति नास्ति जगत्सर्वं गुरुशिष्यादिकं नहि ॥ १०५ ॥

इत्युपनिषत् ॥<sup>1</sup>

स्वाङ्गदृष्टिप्रसक्तम्यातिरिक्तानर्थनिदानं कि इन्याशङ्क्य सर्वानर्थहेतुः  
सङ्कल्प एवेत्याह—देह इति ॥ सङ्कल्पमित्यादि विभक्तिव्ययः ॥ ८९—९६ ॥  
सङ्कल्पमूलं किमित्यत्र कामं इत्यादि ॥ ९७—१०४ ॥ स्वाविद्यापदतत्कार्यजातं  
मन एवेत्यर्थः । इत्युपनिषच्छङ्कः अध्यायपरिसमाप्त्यर्थः ॥ १०५ ॥

इति पञ्चमोऽध्यायः

## षष्ठोऽध्यायः

सर्वस्य सच्चिदानन्दत्वम्

ऋग्युः—

सर्वं सच्चिन्मयं विद्धि सर्वं सच्चिन्मयं ततम् ।

सच्चिदानन्दमद्वैतं सच्चिदानन्दमव्ययम् ॥ १ ॥

सच्चिदानन्दमात्रं हि सच्चिदानन्दमन्यकम् ।

सच्चिदानन्दरूपोऽहं सच्चिदानन्दमेव खम् ॥ २ ॥

सच्चिदानन्दमेव त्वं सच्चिदानन्दकोऽस्म्यहम् ।

<sup>1</sup> अत्र चतुर्थखण्डान्तचिह्नं ॥ ४ ॥—क,

यदत् स्वाज्ञाध्यात्मिकलिप्तं नामरूपविकल्पजालं तत्तत् स्वज्ञाध्यात्मा  
सचिदानन्दमुम् । परमार्थदृष्ट्या ब्रह्ममात्रातिरिक्तप्रसक्तिरेव नास्ति । यदि  
स्वाज्ञादिदृष्ट्या अस्ति नास्तीति प्रसक्तं तदा तत् असदेव । सातिरिक्तासदपहवसिद्धं  
निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रमवशिष्यते इत्येतत्प्रपञ्चनाय षष्ठाभ्याय आगम्यते—  
अभ्युरिति ॥ १-२ ॥

सर्वस्य ब्रह्मत्वम्

न मनोबुद्ध्यहंकारचित्तमंवातका अमी ॥ ३ ॥  
न त्वं नाहं न चान्यं वा सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ।  
न वाक्यं न पदं वेदं नाक्षरं न जडं क्वचित् ॥ ४ ॥  
न मध्यं नादि नान्तं वा न सत्यं न निवन्धनम् ।  
न दुःखं न सुखं भावं न माया प्रकृतिस्तथा ॥ ५ ॥  
न देहं न मुखं धारणं न जिह्वा न च तालुनी ।  
न दन्तोष्ठौ ललाटं च निशासोच्छ्वास एव च ॥ ६ ॥  
न स्वेदमस्थि मांसं च न रक्तं न च मूत्रकम् ।  
न दूरं नान्तिकं नाङ्गं नोदरं न किरीटकम् ॥ ७ ॥  
न हस्तपादचलनं न शाखं न च शासनम् ।  
न वेत्ता वेदनं वेद्यं न जाग्रत्स्वप्नसुप्तयः ॥ ८ ॥  
तुर्यातीतं न मे किंचित्सर्वं सञ्चिन्मयं ततम् ।  
नाध्यात्मिकं नाधिभूतं नाधिदैवं न मायिकम् ॥ ९ ॥  
न विश्वस्तैजसः प्राज्ञो विराट्सूत्रात्मकेश्वराः ।  
न गमागमचेष्टा च न नष्टं न प्रयोजनम् ॥ १० ॥

त्यान्यं ग्राह्यं न दूष्यं वा <sup>१</sup>हमेध्यामेध्यकं तथा ।  
 न पीनं न कृशं क्लेदं न कालं देशभाषणम् ॥ ११ ॥  
 न सर्वं न भयं द्वैतं न वृक्षतृणर्पवताः । १२ ॥  
 न ध्यानं योगसंसिद्धिर्न ब्रह्मक्त्रवैश्यकम् ॥ १३ ॥  
 न पक्षी न मृगो नाङ्गी न लोभो मोह एव च ।  
 न मदो न च मात्सर्यं कामक्रोधाद्यस्तथा ॥ १४ ॥  
 न खीशुद्विडालादि भक्ष्यभोज्यादिकं च यत् ।  
 न प्रौढहीनौ नास्तिक्यं न वार्तावसरोऽस्ति हि ॥ १५ ॥  
 न लौकिको न लोको वा न व्यापारो न मूढता ।  
 न भोक्ता भोजनं भोज्यं न <sup>२</sup>मातृ मानमेयकम् ॥ १६ ॥  
 न शत्रुमित्रपुत्रादिर्न माता न पिता स्वसा ।  
 न जन्म न मृतिर्वद्धिर्न देहोऽहमिति भ्रमः ॥ १७ ॥  
 न शून्यं नापि चाशून्यं नान्तःकरणसंसृतिः ।  
 न रात्रिर्न दिवा नक्तं न ब्रह्मा न हरिः शिवः ॥ १८ ॥  
 न वारपक्षमासादि वत्सरं न च चञ्चलम् ।  
 न ब्रह्मलोको वैकुण्ठं न कैलासो न चान्यकः ॥ १९ ॥  
 न स्वर्गं न च देवनन्दो नाश्चिलोको न चाश्चिकः ।  
 न यमो यमलोको वा न लोका लोकपालकाः ॥ २० ॥  
 न भूर्भुवःस्वस्त्रैलोक्यं न पातालं न भूतलम् ।  
 नाविद्या न च विद्या च न माया प्रकृतिर्जडा ॥ २१ ॥

<sup>१</sup> हमेध्यं मे—अ, अ १.

<sup>२</sup> मात्रं—उ.

न स्थिरं क्षणिकं नाशं न गतिर्न च धावनम् ।  
 अ ध्यातव्यं न मे स्नानं न मन्त्रो न जपः क्वचित् ॥ २१ ॥  
 न पदार्थं न पूजार्हं नाभिषेकं न चार्चनम् ।  
 न पुष्पं न फलं पत्रं गन्धपुष्पादिधूपकम् ॥ २२ ॥  
 न स्तोत्रं न नमस्कारो न प्रदक्षिणमण्वपि ।  
 न प्रार्थना पृथगभावो न हविर्नाम्निवन्दनम् ॥ २३ ॥  
 न होमो न च कर्माणि न दुर्वाक्यं सुभाषणम् ।  
 न गायत्री न वा मंधिर्न<sup>१</sup> मनस्यं न दुःस्थितिः ॥ २४ ॥  
 न दुराशा न दुष्टात्मा न चण्डालो न पौल्कसः ।  
 न दुःसहं दुरालापं न किरातो न कैतवम् ॥ २५ ॥  
 न पक्षपातं पक्षं वा न विभूषणतस्करौ ।  
 न च डम्भो डाम्भिको वा न हीनो नाधिको नरः ॥ २६ ॥  
 नैकं द्वयं त्रयं तुर्यं न महत्त्वं न चाल्पता ।  
 न पूर्णं न परिच्छिङ्गं न काशी न त्रतं तपः ॥ २७ ॥  
 न गोत्रं न कुलं सूत्रं न विभुत्वं न शून्यता ।  
 न स्त्री न योषि॒न्नो वृद्धा न कन्या न वितन्तुता ॥ २८ ॥  
 न सूतकं न जातं वा नान्तर्मुखसुविभ्रमः ।  
 न महावाक्यमैक्यं वा नाणिमादिविभूतयः ॥ २९ ॥  
 'सर्वं चैतन्यमात्रत्वात्सर्वदोषः सदा न हि ।  
 सर्वं सन्मात्ररूपत्वात्सच्चिदानन्दमात्रकम् ॥ ३० ॥

<sup>१</sup> नमस्यं—उ.      <sup>२</sup> तुष्टात्मा—उ १.      <sup>३</sup> ज्ञानवृद्धं—उ १.      <sup>४</sup> सर्वचै—उ.

ब्रह्मैव सर्वं नान्योऽस्ति तदहं तदहं तथा ।  
 तदेवाहं तदेवाहं ब्रह्मैवाहं सनातनम् ॥ ३१ ॥ ०  
 ब्रह्मैवाहं न संसारी ब्रह्मैवाहं न मे मनः ।  
 ब्रह्मैवाहं न मे बुद्धिब्रह्मैवाहं न चेन्द्रियम् ॥ ३२ ॥  
 ब्रह्मैवाहं न देहोऽहं ब्रह्मैवाहं न गोचरः ।  
 ब्रह्मैवाहं न जीवोऽहं ब्रह्मैवाहं न भेदभूः ॥ ३३ ॥  
 ब्रह्मैवाहं जडो नाहमहं ब्रह्म न मे मृतिः ।  
 ब्रह्मैवाहं न च प्राणो ब्रह्मैवाहं परात्परः ॥ ३४ ॥  
 इदं ब्रह्म परं ब्रह्म मत्यं ब्रह्म प्रसुर्हि सः ।  
 कालो ब्रह्म कला ब्रह्म सुखं ब्रह्म स्वयंप्रभम् ॥ ३५ ॥  
 एकं ब्रह्म द्वयं ब्रह्म मोहो ब्रह्म शमादिकम् ।  
 दोषो ब्रह्म गुणो ब्रह्म दमः शान्तं विभुः प्रभुः ॥ ३६ ॥  
 लोको ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म शिष्यो ब्रह्म सदाशिवः ।  
 पूर्वं ब्रह्म परं ब्रह्म शुद्धं ब्रह्म शुभाशुभम् ॥ ३७ ॥  
 जीव एव मदा ब्रह्म सच्चिदानन्दमस्म्यहम् ।  
 सर्वं ब्रह्ममयं प्रोक्तं सर्वं ब्रह्ममयं जगत् ॥ ३८ ॥  
 स्वयं ब्रह्म न संदेहः स्वस्मादन्यत्र किञ्चन ।  
 सर्वमात्मैव शुद्धात्मा सर्वं चिन्मात्रमद्वयम् ॥ ३९ ॥  
 नित्यनिर्मलरूपात्मा ह्यात्मनोऽन्यत्र किञ्चन ।

सच्चिदानन्दब्रह्मातिरेकेण न मन इत्यादि ॥ ३-२९ ॥ “न  
 मनोबुद्ध्यहङ्कार” इत्यारभ्य “अणिमादिविभूतयः” इत्यन्तं यद्यत्

स्वाङ्गदृष्ट्यागेपितं स्वज्ञदृष्ट्या ब्रह्मातिरिक्तं नेत्यपोदितं च तत्तत् सर्व-  
मित्यादि ॥ ३०—३९ ॥

ब्रह्मणः निष्प्रतियोगिकस्वमात्रत्वम्

अणुमात्रलसद्गुणमणुमात्रमिदं जगत् ॥ ४० ॥

अणुमात्रं शरीरं वा ह्यणुमात्रमसत्यकम् ।

अणुमात्रमचिन्त्यं वा चिन्त्यं वा ह्यणुमात्रकम् ॥ ४१ ॥

ब्रह्मैव सर्वं चिन्त्यात्र ब्रह्मात्रं जगत्त्वयम् ।

आनन्दं परमानन्दमन्यत्किञ्चिन्न किंचन ॥ ४२ ॥

चैतन्यमात्रमोकारं ब्रह्मैव सकलं स्वयम् ।

अहमेव जगत्सर्वमहमेव परं पदम् ॥ ४३ ॥

अहमेव गुणातीत अहमेव परात्परः ।

अहमेव परं ब्रह्म अहमेव गुरोर्गुरुः ॥ ४४ ॥

अहमेवाखिलाधार अहमेव सुखात्सुखम् ।

आत्मनोऽन्यज्जगन्नास्ति आत्मनोऽन्यत्सुखं न च ॥ ४५ ॥

आत्मनोऽन्या गतिर्नास्ति सर्वमात्ममयं जगत् ।

आत्मनोऽन्यन्नहि क्वापि आत्मनोऽन्यतृणं न हि ॥ ४६ ॥

आत्मनोऽन्यन्तुषं नास्ति सर्वमात्ममयं जगत् ।

ब्रह्मात्रमिदं सर्वं ब्रह्मात्रमसन्न हि ॥ ४७ ॥

ब्रह्म<sup>1</sup>मात्रं श्रुतं सर्वं स्वयं ब्रह्मैव केवलम् ।

ब्रह्मात्रं वृतं सर्वं ब्रह्मात्रं रसं सुखम् ॥ ४८ ॥

<sup>1</sup> मात्रमिदं—अ, अ १.

ब्रह्मात्रं चिदाकाशं सच्चिदानन्दमद्वयम् ।  
 ब्रह्मणोऽन्यतरनास्ति ब्रह्मणोऽन्यज्ञगत्र च ॥ ४९ ॥  
 ब्रह्मणोऽन्यदहं नास्ति ब्रह्मणोऽन्यत्फलं न हि ।  
 ब्रह्मणोऽन्यत्तृणं नास्ति ब्रह्मणोऽन्यत्पदं न हि ॥ ५० ॥  
 ब्रह्मणोऽन्यदुरुर्नास्ति ब्रह्मणोऽन्यदसद्वपुः ।  
 ब्रह्मणोऽन्यन्न चाहंता त्वत्तेदन्ते न हि क्वचित् ॥ ५१ ॥  
 स्वयं ब्रह्मात्मकं विद्धि स्वस्मादन्यन्न किंचन ।  
 यत्किञ्चिद्दृश्यते लोकं यत्किञ्चिद्भ्रा<sup>१</sup>प्यते जनैः ॥ ५२ ॥  
 यत्किञ्चिद्भुज्यते क्वापि तत्सर्वमसदेव हि ।  
 कर्तृभेदं क्रियाभेदं गुणभेदं रसादिकम् ॥ ५३ ॥  
 लिङ्गभेदमिदं सर्वमसदेव सदा सुखम् ।  
 कालभेदं देशभेदं वस्तुभेदं जयाजयम् ॥ ५४ ॥  
 यद्यद्देदं च तत्सर्वमसदेव हि केवलम् ।  
 असदन्तःकरणकमसदेवेन्द्रियादिकम् ॥ ५५ ॥  
 असत्प्राणादिकं सर्वं मंथात्मसदात्मकम् ।  
 असत्यं पञ्चकोशाख्यमसत्यं पञ्च देवताः ॥ ५६ ॥  
 असत्यं षड्कारादि असत्यमरिवर्गकम् ।  
 असत्यं षड्तुश्चैव असत्यं षड्सूक्तथा ॥ ५७ ॥  
 सच्चिदानन्दमात्रोऽहमनुत्पन्नमिदं जगत् ।  
 आत्मैवाहं परं सत्यं <sup>२</sup>नान्याः संसारदृष्ट्यः ॥ ५८ ॥

<sup>१</sup> षट्ते—अ, अ१, उ१, क.

<sup>२</sup> नान्यासं—अ१, अ२, क.

सत्यमानन्दरूपोऽहं चिद्रुद्वानन्दविग्रहः ।

अहमेव परानन्द अहमेव परात्परः ॥ ५९ ॥

ज्ञानाकारमिदं सर्वं ज्ञानानन्दोऽहमद्वयः ।

सर्वप्रकाशरूपोऽहं <sup>१</sup>सर्वाभावस्वरूपकः ॥ ६० ॥

अहमेव सदा भासीत्येवंरूपं कुतोऽप्यसत् ।

त्वमित्येवं परं ब्रह्म चिन्मयानन्दरूपवान् ॥ ६१ ॥

चिदाकारं चिदाकाशं चिदेव परमं सुखम् ।

आत्मैवाहमसन्नाहं कूटस्थोऽहं गुरुः परः ॥ ६२ ॥

सच्चिदानन्दमात्रोऽहमनुत्पन्नमिदं जगत् ।

कालं नास्ति जगन्नास्ति मायाप्रकृतिरेव न ॥ ६३ ॥

अहमेव हरिः साक्षादहमेव सदाशिवः ।

शुद्धचैतन्यभावोऽहं शुद्धसत्त्वानुभावनः ॥ ६४ ॥

अद्वयानन्दमात्रोऽहं चिद्रौपैकरसोऽस्म्यहम् ।

सर्वं ब्रह्मैव सततं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ ६५ ॥

सर्वं ब्रह्मैव सततं सर्वं ब्रह्मैव चेतनम् ।

सर्वान्तर्यामिरूपोऽहं सर्वसाक्षित्वलक्षणः ॥ ६६ ॥

परमात्मा परं ज्योतिः परं धाम परा गतिः ।

सर्ववेदान्तसारोऽहं सर्वशास्त्रसुनिश्चितः ॥ ६७ ॥

योगानन्दस्वरूपोऽहं मुख्यानन्दमहोदयः ।

सर्वज्ञानप्रकाशोऽस्मि मुख्यविज्ञानविग्रहः ॥ ६८ ॥

सर्व—क.

तुर्यातुर्यप्रकाशोऽस्मि तुर्यातुर्यादिवर्जितः ।

चिदक्षरोऽहं सत्योऽहं वासुदेवोऽजरोऽमरः ॥ ६९ ॥

अहं ब्रह्म चिदाकाशं नित्यं ब्रह्म निरञ्जनम् ।

शुद्धं बुद्धं सदामुक्तमनामकमरूपकम् ॥ ७० ॥

सच्चिदानन्दरूपोऽहमनुत्पन्नमिदं जगत् ।

सत्यासत्यं जगन्नास्ति संकल्पकलनादिकम् ॥ ७१ ॥

नित्यानन्दमयं ब्रह्म केवलं सर्वदा स्वयम् ।

अनन्तमव्ययं शान्तमेकरूपमनामयम् ॥ ७२ ॥

स्वाङ्गदृष्टिविकल्पतब्रह्मातिगित्तजगतः परिच्छिन्नतां तदभिष्ठानब्रह्मणः  
त्रिविधपरिच्छेदशून्यतां वस्तुतो ब्रह्मातिगित्तसामान्यस्य अपहवतां ब्रह्मणो  
निष्प्रतियोगिकस्वमात्रतां चाह—अणुमात्रेति ॥ ४०—४६ ॥ जगत्  
स्वाङ्गविकल्पतासत्प्रपञ्चापहवसिद्धनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रमित्याह—ब्रह्ममात्रमि-  
दमिति ॥ ४७ ॥ उक्तार्थमेव प्रपञ्चयति—ब्रह्ममात्रं श्रुतं इत्यादिना  
॥ ४८—४९ ॥ केवलं ब्रह्म कीदृशं इत्यन आह—अनन्तमिति ॥ ७२ ॥

### स्वातिरिक्तप्रपञ्चस्यासत्त्वम्

मत्तोऽन्यदस्ति चेन्मिथ्या यथा मरुमरीचिका ।

वन्ध्याकुमारवच्चने भीतिश्वेदस्ति किञ्चन ॥ ७३ ॥

शशशृङ्गेण नागेन्द्रो मृतश्वेजगदस्ति तत् ।

मृगतृष्णाजलं पीत्वा तृपश्वेदस्तिवदं जगत् ॥ ७४ ॥

नरशृङ्गेण नष्टश्वेत्कश्चिदस्तिवदमेव हि ।

गन्धर्वनगरे सत्ये जगद्वति सर्वदा ॥ ७५ ॥

गगने नीलिमासत्ये जगत्सत्यं भविष्यति ।

• शुक्तिकारजतं सत्यं भूषणं चेज्जगद्वेत् ॥ ७६ ॥

रजुसर्पेण दृष्टश्वेत्तरो <sup>१</sup>भवतु संसुतिः ।

जातरूपेण बाणेन ज्वालाग्नौ नाशिते जगत् ॥ ७७ ॥

विन्द्याटव्यां पायसान्नमस्ति चेज्जगद्वेत् ।

रम्भास्तम्भेन काष्ठेन <sup>२</sup>पाके मिद्दे जगद्वेत् ॥ ७८ ॥

सद्यः कुमारिकारूपैः पाके मिद्दे जगद्वेत् ।

चित्रस्थदीपैस्तमसो नाशश्वेदस्त्वदं जगत् ॥ ७९ ॥

मामात्पूर्वं मृतो मत्यर्या ह्यागतश्वेज्जगद्वेत् ।

तत्रं क्षीरस्वरूपं चेत्कचिन्नित्यं जगद्वेत् ॥ ८० ॥

गोस्तनादुद्धवं क्षीरं पुनरारोपणे जगत् ।

भूरजोड्बधौ समुत्पन्ने <sup>३</sup>जगद्वतु सर्वदा ॥ ८१ ॥

कूर्मरोम्णा गजे बद्धे जगदम्नु तदोत्कटे ।

नालस्थतन्तुना मेरुशालितश्वेज्जगद्वेत् ॥ ८२ ॥

तरङ्गमालया सिन्धुर्बद्धश्वेदस्त्वदं जगत् ।

अग्नेरधश्वेज्ज्वलनं जगद्वतु सर्वदा ॥ ८३ ॥

ज्वालावह्निः शीतलश्वेदस्तिरूपमिदं जगत् ।

ज्वालाग्निमण्डले पद्मवृद्धिश्वेज्जगदस्त्वदम् ॥ ८४ ॥

<sup>१</sup> भवति—अ १, अ २, क.

<sup>२</sup> पाकसिद्धिर्ज—अ, अ १, अ २, क.

<sup>३</sup> जगद्वति—अ २, क.

महच्छैलेन्द्रनीलं वा संभवेच्चेदिदं जगत् ।

मेरुरागत्य पद्माक्षे स्थितश्चेदस्त्विदं जगत् ॥ ८९ ॥<sup>१</sup>

निगिरिश्चेद्भूमसूतुमेंरुश्चलवदस्त्विदम् ।

मशकेन हते सिंहे जगत्सत्यं तदाऽस्तु ते ॥ ९६ ॥

अणुकोटर<sup>२</sup>विस्तीर्णं ब्रैलोक्यं चेज्जगद्वेत् ।

तृणानलश्च नित्यश्चेत्क्षणिकं यज्जगद्वेत् ॥ ९७ ॥

स्वप्नदृष्टं च यद्वस्तु जागरे चेज्जगद्वः ।

नदीवेगो निश्चलश्चेत्केनापीढं भवेज्जगत् ॥ ९८ ॥

क्षुधितस्याग्निं भोज्यश्चेत्त्रिमिषं कल्पितं भवेत् ।

जात्यन्धै रत्नविषयः सुज्ञातश्चेज्जगत्सदा ॥ ९९ ॥

नपुंसककुमारस्य स्त्रीसुखं चेद्भवेज्जगत् ।

निर्मिनः शशशृङ्गेण <sup>३</sup>रथश्चेज्जगदस्ति तत् ॥ १० ॥

सद्योजाता तु या कन्या भोगयोग्या भवेज्जगत् ।

वन्ध्या <sup>४</sup>गर्भासितसौख्यं ज्ञाता चेदस्त्विदं जगत् ॥ ११ ॥

काको वा हंसवद्वच्छेज्जगद्वतु निश्चलम् ।

महाखरो वा सिंहेन युध्यतं चेज्जगत्स्थितिः ॥ १२ ॥

महाखरो गजगतिं गतश्चेज्जगदस्तु तत् ।

संपूर्णचन्द्रसूर्यश्चेज्जगद्वातु स्वयं जडम् ॥ १३ ॥

<sup>१</sup> विस्तीर्ण—अ.      <sup>२</sup> भोज्य—अ, अ १.      <sup>३</sup> जगते—अ, अ २.

<sup>४</sup> गर्भासितसौ—अ.    गर्भासवत्सौ—अ १.

चन्द्रसूर्यादिकौ त्यक्त्वा राहुश्चदृश्यतं जगत् ।

● भृष्टबीजसमुत्पन्नवृद्धिश्चेजगदस्तु सत् ॥ ९४ ॥

<sup>१</sup>दरिद्रो धनिकानां च <sup>२</sup>सुखं भुझे तदा जगत् ।

शुनां वीर्येण सिंहस्तु जितो यदि जगत्तदा ॥ ९५ ॥

ज्ञानिनो हृदयं मूढैर्जीतं <sup>३</sup>चेत्कल्पनं तदा ।

श्वानेन सागरे पीते निःशेषेण मनो भवेत् ॥ ९६ ॥

शुद्धाकाशो मनुष्येषु पतितश्चेत्तदा जगत् ।

भूमौ वा पतितं व्योम व्योमपुष्पं <sup>४</sup>सुगन्धकम् ॥ ९७ ॥

शुद्धाकाशो वने जाते चलितं तु तदा जगत् ।

केवले दर्पणं नास्ति प्रतिक्रिम्बं तदा जगत् ॥ ९८ ॥

अजकुक्षौ जगत्तास्ति ह्यात्मकुक्षौ जगत् हि ।

सर्वथा भेदकलनं द्वैतद्वैतं न विद्यते ॥ ९९ ॥

मायाकार्यमिदं भेदमस्ति चेद्वाहावनम् ।

देहोऽहमिति दुःखं चेद्वाहाहमिति निश्चयः ॥ १०० ॥

हृदयग्रन्थिरस्तित्वे छेदनं ब्रह्मचक्रकम् ।

संशये समनुप्राप्ते ब्रह्मनिश्चयं मामृथात् ॥ १०१ ॥

अनात्मरूपचोरश्चेदात्मरक्षस्य रक्षणम् ।

नित्यानन्दमयं ब्रह्म केवलं सर्वदा स्वयम् ॥ १०२ ॥

परिच्छित्तिव्ययकलनाऽनेकत्वप्रसक्तौ अनन्तमित्याद्यनेकविशेषणविशिष्टं न  
वस्तुतः तदस्ति । यदि मदतिरेकेण अनन्तमित्यादिविशेषणमस्तीति भान्तिः

<sup>१</sup> दरिद्र्धे—अ.      <sup>२</sup> सुखे ज्ञाते—उ.      <sup>३</sup> चेदस्तित्वदं जगत्—अ.

<sup>४</sup> सग—क.    सुगन्धिकं—अ १.      <sup>५</sup> मामृथेत्—अ, अ १, क.

तदा तदसदेवेत्याह—मत्त इति । कथं पुनः स्वातिरिक्तप्रपञ्चस्य अत्यन्तामत्त्वं, घटोऽस्ति पटोऽस्ति इत्याद्यनेकधा प्रतीयमानत्वात्, इत्याशङ्कायाः<sup>१</sup> अस्त्यस्तीति प्रतीतेः सन्मात्रत्वेन निग्रतियोगिकब्रह्मात्रत्वात् तत्र स्वानिरिक्तप्रपञ्चासम्बवे “वन्ध्याकुमारवचने भीतश्चेदस्त्विदं जगत्” इत्याद्यनेकद्युग्रान्तेन विश्वसत्त्वं विडम्बयन् विश्वासत्त्वं प्रकटयति वन्ध्येत्यादिना ॥ ७३-७८ ॥ अस्त्विदं जगत् परमार्थदृष्ट्येत्यर्थः ॥ ७९-८० ॥ पर्यन्तपर्यंतो निगिरिः ॥ ८६-८८ ॥ अग्निभोज्यः, विसर्गलोपः ॥ ८९-९० ॥ सद्यःकुमारिका, सद्योजाता तु या कन्या, इत्यत्र पुनरुक्तिः स्यादिति चेत् न; शब्दभेदवत् अर्थमेदसम्भवात् । तत् कथमित्यत्र “सद्यःकुमारिकारूपैः” वैद्यशास्त्राव्यातौषधिविशेषैः इन्धनैः “पाके सिद्धे” इत्युक्त्या पाकसाधनेन्द्रनविशेषो द्योत्यते, कुमारिकाया जलपूरितत्वेन नित्यक्लिन्तत्वात्, तस्या गाढाग्रिमध्यपातितत्वेऽप्यग्निशान्तिकरत्वात् न पुनर्वचः, तस्या पाकासम्भवात् ॥ ९१-९८ ॥ यदेवमप्होतव्यं व्यष्ट्यादिकलनाविशिष्टं जगत् तत्र समष्टिजगदजुक्षौ व्यष्टिजगजीवकुक्षौ वर्तते, नह्यभावपदमहर्तीत्याशङ्क्य कालत्रयेऽपि न विद्यत इत्याह—अजेति । स्वाङ्गस्वज्ञदृष्टिविभातद्वाद्वत्वृत्तेगपि परमार्थदृष्ट्याऽसम्भवात् स्वमात्रे स्वातिरिक्तकलना नास्त्येवेत्यर्थः ॥ ९९ ॥ तथाऽपि ब्रह्मानुसन्धानमजस्य कर्तव्यभित्यत आह— मायेति । भेदः स्वाङ्गपृथ्या अस्ति चेत् स्वज्ञदृष्ट्या इदं जगत् न भवति किं तु ब्रह्मवेदमिति ब्रह्मभावनं कर्तव्यं, न हि परमार्थदृष्ट्यः तदुभयमस्तीत्यर्थः । तथा देहोऽहमिति ॥ १००-१०१ ॥ वस्तुतः नित्यानन्दमयं ब्रह्म केवलं निग्रतियोगिकब्रह्मात्रमित्यर्थः ॥ १०२ ॥

अहं ब्रह्मेति भावनाविधिः

एवमादिसुदृष्टान्तैः साधितं ब्रह्मात्रकम् ।

ब्रह्मैव सर्व<sup>१</sup>भवनं भुवनं नाम संत्यज ॥ १०३ ॥

<sup>१</sup> भुवनं—अ

अहं ब्रह्मेति निश्चित्य अहंभावं परित्यज ।

सर्वमेव लयं याति सुसहस्तस्थपुष्पवत् ॥ १०४ ॥

न देहो न च कर्माणि सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ।

न भूतं न च कार्यं च न चावस्थाचतुष्टयम् ॥ १०५ ॥

लक्षणात्रयविज्ञानं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ।

सर्वव्यापारमुत्सृज्य ह्यहं ब्रह्मेति भावय ॥ १०६ ॥

अहं ब्रह्म नं संदेहो ह्यहं ब्रह्म चिदात्मकम् ।

सच्चिदानन्दमात्रोऽहमिति निश्चित्य तत्त्यज ॥ १०७ ॥

वन्ध्याकुमारवचन इति एवमादि इति । अस्यामुपनिषदि—

चिन्मात्रमेव चिन्मात्रमखण्डैकरसं रसम् ।

सर्ववर्जितचिन्मात्रं ब्रह्ममात्रमसन्न हि ॥

इत्यादिश्चुत्या योऽर्थोऽभिहितः स्वातिरिक्तसर्वापह्वसिद्धं स्वमात्रमिति तमेतमर्थं दुर्विज्ञेयं मन्यमाना श्रुतिः स्वाज्ञानं यथायथा स्वातिरिक्तापह्वसिद्धब्रह्ममात्र-ज्ञानमुदेति तथातथा भूयोभूयः प्रसङ्गमापाद्यापाद्य स्वप्रकटितसिद्धान्तार्थमेव आदौ “तेजोबिन्दुपरं” इत्यारभ्य पञ्चदशाङ्गज्ञानयोगसहितमवान्तरवाक्येनाखण्डशुद्धचैतन्ययाथात्मयं प्रतिपाद्य, स्वाङ्गदृष्ट्या दृश्यजडजगद्रूतभावादिस्वर्गान्तर-खण्डताप्रसन्तकौ कुमारशिवसंवादरूपेण “अखण्डैकरसं दृश्यं” इत्यादि “अखण्डैकरसं सर्वं” इत्यन्तेन “अखण्डैकरसः स्वयं” इति प्रकटयित्वा, अथ पुनरिदमयमित्यादिशब्दवाच्यभावानामचिन्मात्रत्वप्रसन्तकौ “यत्किञ्चिद्यन्न किञ्चिच्च सर्वं चिन्मात्रमेव हि” इत्यादिना निष्प्रतियोगिकचिन्मात्रस्वरूपमभिधाय, ब्रह्मद्वयप्रसन्तकौ “अखण्डैकरसं ब्रह्म चिन्मात्रान् हि भिद्यते” इत्यखण्डैकरसचिन्मात्रयोरेकार्थपर्यवसानत्वमुक्त्वा, अथ “परं ब्रह्मस्वरूपोऽहम्” इत्यारभ्य स्वातिरिक्तप्रपञ्चासत्त्वप्रकटनपूर्वकं स्वानुभवं प्रकाशयित्वा, अहं ब्रह्मस्पीतिमन्त्रमाहात्म्यप्रशंसापूर्वकं मुमुक्षुकोटिग्राह्यतां प्रतिपाद्य, तदान्तराळिकमुख्यफलप्रकटनव्याजेन “चिदात्माऽहं परात्माऽहं” इत्युपकर्त्य

“स्वस्वरूपे स्वयं स्वप्न्ये स जीवन्मुक्त उच्यते” इत्यन्तेन निर्विशेष-  
ज्ञानान्तराल्कफलजीवन्मुक्ति, “ब्रह्मभूतः प्रशान्तात्मा” ८ इत्युपक्रम्य  
“स्वात्मानमेव मोदत्व वैदेही मुक्तिगो भव” इत्यन्तेन ब्रह्ममात्रज्ञानमुख्यफलं  
तन्मात्रावस्थानलक्षणविदेहमुक्ति च प्रकटयित्वा, पुनराख्यायिकाऽन्तरमवलम्ब्य  
“सर्ववाचोऽवधिर्ब्रह्म” इत्यादिना स्वात्मयाथात्म्यं, “अनात्मेति प्रसङ्गमो  
वा” इत्यादिना अनात्मयाथात्म्यं च प्रतिपाद्य आत्मानात्मेत्युक्त्या  
तयोरेकत्वानेकत्वप्रसक्तसविशेषतां “एकाभावे द्वितीयं न” इत्यादिमा-  
पेक्षशुतियुक्तिभिः दिधिलयित्वा, क्वचित् क्वचित् स्वातिरिक्तयोः आत्मानात्मनोः  
शब्दभेदेन अर्थभेदेन च स्वमात्रस्य निप्रतियोगिकभावरूपत्वं स्वातिरिक्त-  
सामान्यस्य “इदं प्रपञ्चं नास्त्येव” इत्यादिना “वन्न्याकुमारवचने  
भीतिश्वेत्” इत्यादिस्वातिरिक्तजगदत्यन्तासम्भवदृष्टान्तेन च शशविष्णवत्  
अत्यन्ताभावरूपतां च विभक्तिलङ्घापुरुषव्यत्ययमप्यनादरेण विस्मृत्येव  
महता वैगेन यत इयं श्रुतिः जामितामन्तरेण प्रवृत्ता अतोऽस्मिन्  
वेदान्तशास्त्रसमुदाये न हि पुनरुक्तिशङ्का सेद्दुं पारयति । स्वाज्ञादिमात्र-  
भावमापन्नायाः श्रुतेः स्वसन्तानस्वातिरिक्तमस्ति नास्तीति विभ्रमापहवसिद्धनिष्ठ-  
तियोगिकब्रह्मात्रावशेषलक्षणविकल्पेभवकैवल्यसाम्राज्यपद्माभिषेचनकर्मव्यप्रत्वात्  
सद्भिर्गत न कोऽपि दोषः स्मर्तव्यः । प्रकृते तु यद्यज्ञोऽसि तदा आदौ  
ब्रह्मैव सर्वभवनं सर्वाधिकरणं विच्छिन्नय । ततः स्वाधिष्ठयनिरूपितमधिष्ठान-  
भ्रममपि भुवनं सन्त्यज ॥ १०३ ॥ सर्वं अहं ब्रह्मेति निश्चित्य  
तत्रत्याहम्भावं परित्यज । यदेवमुद्योगवानसि तदा यद्यत् स्वविकलिपतं  
तत्तत् सर्वमेव ॥ १०४ ॥ तदार्णी न देह इत्यादि ॥ १०५ ॥ जहदादि  
लक्षणा । आदौ सर्वव्यापारं ॥ १०६ ॥ नन्दिश्चयमपि संत्यज, तद्वत्तेरपि  
स्वातिरिक्ततया त्याज्यत्वात् । तथा चोक्तं—

तस्मिन् काले विदेहोतिदेहस्मरणवर्जितः ।

ईषन्मात्रं स्मृतं चेदस्तदा सर्वसमन्वितः ॥

इति ॥ १०७ ॥

शास्त्रसम्प्रदायविधिः

शांकरीयं महाशाखं न देयं यस्य कस्यचित् ।  
 नास्तिकाय कृतद्वाय दुर्वृत्ताय दुरात्मने ॥ १०८ ॥  
 गुरुभक्तिविशुद्धान्तःकरणाय महात्मने ।  
 सम्यक् परीक्ष्य दातव्यं मामं षाण्मासवत्सरम् ॥ १०९ ॥  
 सर्वोपनिषदभ्यासं दूरतस्त्यन्य सादरम् ।  
 तेजोबिन्दूपनिषदमभ्यसेत्सर्वदा मुदा ॥ ११० ॥  
 सकृदभ्यासमात्रेण ब्रह्मैव भवति स्वयम् ।  
 ब्रह्मैव भवति स्वयमित्युपनिषद् ॥ १११ ॥

शास्त्रसम्प्रदायार्थं प्रकट्यन् उपसंहरति—शाङ्करीयमिति । कस्य  
 वा न देयं कस्य वा देयं इत्यत आह—नास्तीति ॥ १०८—१०९ ॥  
 एवं गुरुमुखात् लब्धविद्यो मुमुक्षुः सर्वोपनिषद् । सर्वं परित्यज्य  
 एतदभ्यासेन किमित्यत आह—सकृदिति । सकुच्छवणपठनमात्रतो विद्वान्  
 सर्वोपहृवसिद्धानेत्प्रतियोगिकब्रह्मात्रमवशिष्यत इत्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दः  
 तेजोबिन्दूपनिषद्यत्समाप्त्यर्थः ॥ १११ ॥

इति षष्ठोऽध्यायः

श्रीवामुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्व्यायोगिना ।  
 लिखितं स्याद्विवरणं तेजांबिन्दोः स्फुटं लघु ॥  
 तेजोबिन्दूपनिषदो व्याख्यानप्रत्यविस्तरः ।  
 चतुष्पञ्चाशदधिकशतानां सप्तकं स्मृतः ॥

इतीशाद्योत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे सप्तत्रिंशत्सङ्ख्यापूरकं  
 तेजोबिन्दूपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

<sup>1</sup> शैवमेतन्म—अ.

# त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्

पूर्णमदः— इति शान्तिः

ब्राह्मणम्

आत्मब्रह्मविषयं प्रश्नाः

त्रिशिखी ब्राह्मण आदित्यलोकं जगाम । तं गत्वोवाच ।  
भगवन् किं देहः किं प्राणः किं कारणं किमात्मा ॥ १ ॥

योगज्ञानैकसंसिद्धिशिवतत्त्वतयोज्ज्वलम् ।  
प्रतियोगिविनिर्मुक्तं परं ब्रह्म भवाम्यहम् ॥

इह खलु शुद्ध्यजुर्वेद्यविभक्तेयं त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् निष्प्रतियोगिकब्रह्म-  
मात्रपर्यवसन्ना तदुपायाष्टाङ्गयोगप्रपञ्चप्रकाशिनी विजृम्भते । तस्याः  
स्वल्पग्रन्थतो विवरणमारम्भते । त्रिशिखिब्राह्मणादित्यप्रश्नप्रतिवचनरूपेयं आख्या-  
यिका विद्यास्तुत्यर्था । केयं आख्यायिका इत्यत आह—त्रिशिखीति ।  
नामतः त्रिशिखी, ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः, सनातनो नाम मुनिः, आदित्यलोकासनं  
आदित्यं विधिवत् उपसङ्गम्य देहप्राणादिकं तत्कारणं किं, स्वयं वा  
कीदृशा इति प्रच्छ ॥ १ ॥

सर्वस्य शिवत्वम्

म होवाच सर्वमिदं शिव एव विजानीहि । किं तु नित्यः  
शुद्धो निरजनो विमु<sup>१</sup>रद्धयानन्दः शिव एकः स्वेन<sup>२</sup>भासेदं सर्वं  
<sup>३</sup>सृष्टा तसायःपिण्डवत्<sup>४</sup>ऐक्यं भिन्नवत् अवभासते । तद्वासकं  
किमिति चेत् उच्यते । सञ्चलब्दवाच्यं अविद्याशब्दं ब्रह्म ॥ २ ॥

तत्प्रश्नं अङ्गीकृत्य तं होवाच भगवान् । किमिति? सर्वमिदं इत्यादि ।  
त्वया किं देह इत्यादि यत् पृष्ठं तत् शिव एवेति विजानीहि, सर्वस्य  
शिवाज्ञानविकल्पतत्वात् । विकल्पाधिकरणत्वे अनित्यत्वादि स्यात् इत्यत  
आह—किन्त्वति । स्वाज्ञस्वविकल्पतत्विकल्पजालं अनित्यत्वादिदोषदृष्टमेव ।  
किन्तु तद्विकल्पनाधारो नित्यत्वादिविशेषणविशिष्टः अद्वैतात्मा शिव एक एव,  
न कदाऽपि द्वैतभावमुपैतीत्यर्थः । विकल्पजातं केन विकल्पितं सदेकतां  
गतं, तद्वासकं किं इत्याशङ्कायां य एकः शिवः स स्वेन तेजसा सर्वमिदं  
सृष्टा तेन तसायःपिण्डवत् एकीभूय तद्वैलक्षण्येनापि भासते इत्याह—स्वेनेति ।  
ऐक्यं प्राप्य स्वज्ञदृष्ट्या भिन्नवत् अवभासते । किं तदित्यत्र किं देह इत्यादि  
त्रिशिखिप्रश्नप्रतिवचने सर्वमिदं शिव एवेति यत् प्रतिज्ञातं तत्र स्वविकल्पित-  
कार्यपेक्षया स्वस्य कारणत्वं स्वातिरिक्ताव्यक्तादेः कार्यत्वं च विशदीकरोति—  
सदिति । “सदेव सोम्येदमग्र आसीत्” इति स्वाविद्यायोगात् शब्दत्वं  
स्वेन रूपेण ब्रह्मत्वं सिद्धं इत्यर्थः ॥ २ ॥

ब्रह्मणः अखिलजगदुत्पत्तिः

ब्रह्मणोऽव्यक्तम् । अव्यक्तान्महत् । महतोऽहंकारः ।  
अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि । पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि ।  
पञ्चमहाभूतेभ्योऽखिलं जगत् ॥ ३ ॥

<sup>१</sup> रद्धयः शि—क.

<sup>२</sup> भासेनेदं—क, अ २.

<sup>३</sup> दृष्टा—क, अ, अ १, अ २.

<sup>४</sup> एकं—अ, अ १.

केवलब्रह्मणः कल्पनाऽनविकरणत्वेन निष्प्रतियोगिकनिर्विकल्पत्वात् तत्  
तिष्ठतु, शब्दब्रह्मणः किं विकल्पितं इत्यत आह—ब्रह्मणोऽव्यक्तमिति ।  
ततः किं इत्यत्र गुणसाम्यभावमापन्नाव्यक्तात् महत् । सत्वभावमापन्नमहतः  
अहङ्कारः । रजोभावमापन्नाहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणि । तमःप्रधान-  
पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि, पञ्चीकृतानीत्यर्थः । तमस्तमःप्रधानत्रिगुणो-  
पसर्जनपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतेभ्यः अखिलं जगत् ॥ ३ ॥

एकस्य पिण्डस्य बहुधा विभागः

<sup>१</sup> तदस्त्रिलं किमिति । भूतविकारविभागादिति । एकस्मिन्  
पिण्डे कथं भूतविकारविभाग इति । <sup>२</sup> तत्कार्यकारणभेदरूपेण  
अंशतत्त्ववाचकवाच्यस्थानभेदविषयदेवताकोशभेदविभागा भवन्ति ॥

एकस्य पिण्डात्मनो जगतः कथं अग्निलन्वं इत्यत्र पञ्चीकृतपञ्चमहा-  
भूतविकारविभागादिति । तत्राप्याक्षिपति—एकस्मिन्निति । तत्प्रकारमाह—  
तदिति । पृथिव्यादेः आकाशकार्यन्वं आकाशादेः पृथिव्यादिकागणन्वमिति  
तत्तद्वत्कार्यकारणभेदरूपेण पृथिव्यादिपञ्चभूतविभागः । आकाशाद्यश्श्रोत्रादि-  
तत्त्वभेदेन तेषामभिधानाभिधेयभेदेन तत्तद्वत्कस्थानभेदेन शब्दादिविषयभेदेन  
दिगादिदेवताभेदेन आनन्दमयादिकोशभेदेन च बहुधा विभागा भवन्ति ।  
एकस्मिन् अविद्याऽण्डपिण्डे भूतभौतिकविकारविभागाः उपपद्यन्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥

आकाशार्दीनामंशभेदाः

अथाकाशः अन्तःकरणमनोबुद्धिचित्ताहंकाराः । वायुः  
समानोऽदानोव्यानापानप्राणाः । वह्निः श्रोत्रत्वक्षुर्जिह्वाघ्राणाः ।  
आपः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः । पृथिवी वाक्पाणिपादपायूपस्थाः ॥

<sup>१</sup> जगदस्त्रिलं—क.    <sup>२</sup> तत्कार्य—क, अ, अ १, अ २.    <sup>३</sup> दान—अ.

एवं यत् सूक्तिं तदर्थं आकाशादिकमेण विशदीकरोति—अथेत्यादिना ॥  
आकाशांशा उच्यते । अथ वाय्वाद्यांशा उच्यन्ते—वायुरिति ॥ ५ ॥

तेषां विषयमेदाः

ज्ञानसंकल्पनिश्चयानुसंधानाभिमाना आकाश<sup>१</sup>कार्यान्तः-  
करणविषयाः । समीकरणोन्नयनग्रहण<sup>२</sup>श्रपणोच्छासा वायुकार्य-  
प्राणादिविषयाः । <sup>३</sup>शब्दस्पर्शरूपरमगन्धा अभिकार्यज्ञानेन्द्रियविषया  
अब्राह्मिता । वचनादानगमनविसर्गानन्दाः पृथिवीकार्यकर्म-  
न्द्रियविषयाः । कर्मज्ञानेन्द्रियविषयेषु प्राणतन्मात्रविषया  
अन्तर्भूताः । मनोब्रुद्धयोश्चित्ताहंकारौ चान्तर्भूतौ ॥ ६ ॥

अंशभेदानुकृत्या विषयमेदानाह—ज्ञानेति ॥ ६ ॥

सूक्ष्मभूतमात्राः

अवकाशविधूतर्दर्शनपिण्डीकरणधारणाः सूक्ष्मतमा <sup>४</sup>जैव-  
तन्मात्रविषयाः ॥ ७ ॥

सूक्ष्मभूतमात्रा उच्यन्ते—अवकाशेति ॥ ७ ॥

आश्यात्मिकादिविभागः

एवं द्वादशाङ्गानि आश्यात्मिकान्याधिभौतिकान्याधिदैवि-  
कानि । अत्र निशाकरचतुर्मुखदिग्वातार्कं रुणाक्षयश्चीन्द्रोपेन्द्रप्रजापति-  
<sup>५</sup>यमा अक्षाधिदेवतास्त्रौद्वादिशनाङ्ग्यन्तःप्रवृत्ताः प्राणा एवाङ्गानि  
अङ्गज्ञानं तदेव ज्ञातेति ॥ ८ ॥

<sup>१</sup> कार्या अन्तः—अ २.

<sup>२</sup> श्रपणो—क, अ.

<sup>३</sup> कर्मज्ञानेन्द्रियविषयेषु शब्दस्पर्श—अ.

<sup>४</sup> ‘जैव’ इत्येतत् ‘एव’ इति शोधितं—क.

<sup>५</sup> यमास्या—क, अ, अ १, अ २.

अंशादिभेदेन एवं इत्यादि । अत्र आत्मानं देहं भूतजातं देवताजातं च अधिकृत्य भवन्तीति आध्यात्मिकानि इत्यादि । तत्र अध्यात्मिकानि आधिभौतिकानि उक्तानि । अत्र आधिदैविकविवक्षया करणाधिपाः उच्यन्ते— अत्रेति । इडादि द्वादशनाडी । यत् सर्वाङ्गगङ्गानं अन्तःकरणं तदेव उपाधित्वेन योऽभिमन्यते स एव ज्ञाता जीवो भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

### ज्ञातृत्वापाराभिव्यक्तिः

अथ व्योमानिलानलजलान्नानां पञ्चीकरणमिति । ज्ञातृत्वं समानयोगेन श्रोत्रद्वारा शब्दगुणो वागधिष्ठित आकाशे तिष्ठति आकाशस्तिष्ठति । मनो व्यानयोगेन त्वग्द्वारा स्पर्शगुणः पाण्यधिष्ठितो वायौ तिष्ठति वायुस्तिष्ठति । बुद्धिरुद्धानयोगेन चक्षुद्वारा रूपगुणः पादाधिष्ठितोऽप्तौ तिष्ठत्याग्निस्तिष्ठति । चित्तमपानयोगेन जिह्वाद्वारा रसगुण उपस्थाधिष्ठितोऽप्सु तिष्ठत्यापस्तिष्ठन्ति । अहंकारः प्राणयोगेन ग्राणद्वारा गन्धगुणो गुदाधिष्ठितः पृथिव्यां तिष्ठति पृथिवी तिष्ठतीत्येवं वेद ॥ ९ ॥

एवं आध्यात्मिकादितापत्रयं निरूप्य अथ पञ्चीकरणाभिव्यक्तज्ञातृत्वापृति व्यक्तीकरोति—अथेति । पञ्चीकरणमिति पञ्चीकरणनिष्पन्नं ज्ञातुः ज्ञातृत्वमित्यर्थः । व्यष्टिसमित्पञ्चागेपाधिकरणजीवेश्वरयोः व्यापृतिं भूत-तत्कार्यानुप्रवेशं चाह—ज्ञातृत्वमिति । जीवेशाववष्टय्य ज्ञातृत्वं इत्यादि । आकाशस्तिष्ठति आकाशादौ आकाशादिः भूत्वा तिष्ठतीत्यर्थः । एवं वेद य एवं पञ्चभूततत्कार्यासङ्गान्तर्यामिणं वेद सोऽन्तर्यामी भवतीति शोषः ॥ ९ ॥

## मन्त्रः

ब्रह्मणः सकाशात् पश्चीकरणान्ता स्थिः

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

पृथग्भूते षोडश कलाः स्वार्थभागान्<sup>१</sup> परान् क्रमात् ।

अन्तःकरणैव्यानादिरसैपायुनभःक्रमात् ॥ १ ॥

‘मुख्यान् पूर्वोत्तरैर्भागैर्भूते भूते चतुश्चतुः ।

पूर्वमाकाशमाश्रित्य पृथिव्यादिषु<sup>५</sup> संस्थितः ॥ २ ॥

‘मुख्या’उच्चें परा ज्ञेया ना[अ]परानुत्तरान्विदुः ।

एवमंशो अभूत्समात्तेभ्यशां<sup>९</sup>शो अभूत्तथा ॥ ३ ॥

तस्मादन्योन्यमाश्रित्य ह्यो<sup>१०</sup>तं प्रोतमनुक्रमात् ।

ब्राह्मणेन योऽर्थोऽभिहितः तमेतमर्थं मन्त्रा अप्यनुवदन्तीत्याह—अत्रेति । स्वाङ्गविकलिपतस्वातिरिक्तषोडशकलानत्कार्यजातात् स्वज्ञदृष्टया पृथग्भूते निष्क्रक्ते ब्रह्मणि निर्बीजे सकलकलनानिर्वाहकस्वाङ्गदृष्टया प्रश्नोपनिषत्परिपठितप्राणादिनामान्तकला बीजरूपेण आदौ विकलिपिताः सत्यः स्वारोपाधिकरणेश्वरयोगात् इंधरो भूत्वा । अन्तःकरणशब्देन तत्कारणं आकाशमुच्यते, व्यानशब्देन वायुः, अक्षिशब्देन अग्निः—अक्षणः तैजसत्वात्—रसशब्देन आपः, पायुशब्देन पृथिवी, इत्येवं नभःक्रमात् आकाशादिक्रमात् परान् स्वार्थभागान् पञ्चभूतानां मुख्यान् अंशान् क्रमात् तत्तद्वृते निक्षिप्य ॥ १ ॥ पूर्वोत्तरैः आकाशादिपृथिव्यन्तैः भागैः तत्तद्वृतार्धशानां तत्तद्वृते निक्षिसत्वात् शिष्ठार्धशान् चतुश्चतुर्था विधाय आकाशः स्वांशेतरार्धशान् वाय्वादिभूतचतुष्टये निक्षिप्य, तथा वायुः स्वांशेतरार्धशान् आकाशाग्निजलपृथिवीषु निक्षिप्येत्यादि

<sup>१</sup> परान्—अ १.

<sup>२</sup> व्यानोऽक्षिः—क.

<sup>३</sup> पायु नभः—क, अ २.

<sup>४</sup> मुख्यात्—क, अ १.

<sup>५</sup> संस्थिताः—अ १.

<sup>६</sup> परा—अ.

<sup>७</sup> ऊर्ध्व—अ १.

<sup>८</sup> एवमंशा—क, अ, अ १, अ २.

<sup>९</sup> शा—क, अ, अ १, अ २.

<sup>१०</sup> तप्रोतं—अ १.

समानम् । एवं पञ्चीकृते सति पूर्वं आकाशमाश्रित्य योऽशोऽस्ति सोऽयं पञ्चीकरणानन्तरं पृथिव्यादिषु संस्थितो भवति ॥ २ ॥ ऊर्ध्वे पूर्वं तत्तद्वूतमुख्यांशा एव पराः श्रेष्ठाः इति श्लेष्याः । पञ्चीकृतेऽपि “वैशाख्यात् तद्वादस्तद्वादः” इति वैष्यासिकसूत्रानुरोधेन तत्तद्वूतव्यपदेशात् परत्वं युज्यते । उत्तरान् मुख्यांशेतरान् अंशान् अपरान् गौणान् विदुः तद्विद्व इत्यर्थः । यस्मात् एवं पञ्चभूतांशाः अभूत् तस्मात् तेभ्यः मुख्यांशेभ्यः तथा गौणांशाः अभूत् । “पञ्चभूतांशा अभूत्” “गौणांशा अभूत्” इति पाठे अभूवनित्यर्थे अभूदिति वचनव्यत्ययः ॥ ३ ॥ यस्मात् एवं तस्मात् अनुक्रमात् ओरं प्रोतं यथा भवति तथा पञ्चभूतेषु मुख्यांशोऽज्ज्वलेषु गौणांशाः अन्योन्यमाश्रित्य वर्तन्ते इत्यर्थः ॥

## चराचरात्मकविश्वसृष्टिः

पञ्चभूतमया भूमिः सा चेतनममन्विता ॥ ४ ॥  
 तत ओषधयोऽन्नं च ततः पिण्डाश्चतुर्विधाः ।  
 रसासृङ्गमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्ळानि धातवः ॥ ५ ॥  
 केचित्तद्योगतः पिण्डा भूतेभ्यः संभवाः क्वचित् ।  
 तस्मिन्नन्नमयः पिण्डो नाभिमण्डलसंस्थितः ॥ ६ ॥  
 अस्य मध्येऽस्ति हृदयं सनालं पद्मकोशवत् ।  
 सत्वान्तर्वर्तिनो देवाः कर्त्रहंकारचेतनाः ॥ ७ ॥  
 अस्य बीजं तमःपिण्डं मोहरूपं जडं घनम् ।  
 वर्तं कण्ठमाश्रित्य मिश्रीभूतमिदं जगत् ॥ ८ ॥  
 प्रत्यगानन्दरूपात्मा <sup>१</sup>मूर्धि स्थाने परंपदे ।  
 अनन्तशक्ति<sup>२</sup>संयुक्तो जगद्वूपेण भासते ॥ ९ ॥

<sup>१</sup> मूर्धः—अ.<sup>२</sup> संयुक्ते—अ, अ १.

एवं पञ्चीकृतभूततः चेतनयुक्तात् किं जायते इत्यत्र चराचरात्मकं विश्वं  
जायते इत्याह—पञ्चेति ॥ ४ ॥ चेतनाधिष्ठितात् ततः, चैतन्याधिष्ठितान्नात्,  
जरायुजादिभेदेन चतुर्विधाः पिण्डाः सज्जाताः इत्यर्थः । धातवोऽप्यन्नादेव  
जायन्ते इत्याह—रसेति ॥ ५ ॥ केचिदेव वदन्तीत्याह—केचिदिति ।  
तद्योगतः शुक्लशोणितयोगतः पिण्डाः भुक्तान्नपुरुपभूतेभ्यः सज्जातशुक्लशोणित-  
सम्भवाः पिण्डाः इति केचिदाहुः । सर्वथा अन्नमया इत्यर्थः । अन्नसारः पिण्डः  
क्व आसनमहंति इत्यत आह—तस्मिन्निति । तस्मिन् भूतकदम्बे, तस्य  
सर्वप्राणिर्जीवननिमित्तत्वात् ॥ ६ ॥ तन्मध्ये किं वर्तते इत्यत आह—  
अस्येति । अन्नमयस्य । तदाश्रित्य के वर्तन्ते इत्यत आह—सत्त्वेति ।  
सत्त्वान्तर्वर्तिनः सत्त्वगुणप्रवानाः इन्द्रादयो ब्रह्मादयश्च देवाः वर्तन्ते ।  
यद्वा—कर्त्रहङ्कारचेतनाः अन्तःकरणविशिष्टाः देवाः इन्द्रियाणि विद्यन्ते  
इत्यर्थः ॥ ७ ॥ हृदयबीजं किं इत्यत आह—अस्येति । घनम् स्वाज्ञानमित्यर्थः ।  
तत् कुत्र वर्तते इत्यत आह—वर्तते इति । “स्वाज्ञानं मनःस्थानं  
गळान्तं” इति श्रुत्यनुरोधेन कण्ठं कण्ठासनं मनः आश्रित्य वर्तते । तेन  
स्वाज्ञानकबलितमनसा इदं जगत् मिश्रीभूतं व्याप्तं भवति ॥ ८ ॥ जगतः  
स्वाज्ञानमिश्रितत्वे जगद्गृहेण भानं किं इत्यत आह—प्रत्यगिति । जगतः  
स्वाज्ञानव्यासत्वेऽपि “तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम्” इति श्रुत्या स्वाज्ञानास्पृष्टमूर्ध्नि  
स्थाने परंपदे प्रत्यगानन्दरूपात्मा स्थिरासनो भूत्वा ईश्वरात्मना अनन्त-  
शक्तियुक्तः सन् जगद्गृहेण भासते । यतः एवं अतः जगद्गृहेणापि भानं  
प्रत्यगात्मनिष्ठं न स्वाज्ञानतत्कार्यं जगन्निष्ठं इत्यर्थः ॥ ९ ॥

## अवस्थाचतुष्यम्

सर्वत्र वर्तते जाग्रत्स्व<sup>१</sup>म् जाग्रति वर्तते ।

सुषुप्तं च तुरीयं च नान्यावस्थासु कुत्रचित् ॥ १० ॥

<sup>१</sup> प्रजा—अ १, अ २.

सर्वदेशेष्वनुस्यूतश्च<sup>१</sup>तूरुपः शिवात्मकः ।

यथा महाफले सर्वे रसाः सर्वप्रवर्तकाः ॥ ११ ॥

तथैवान्नमये कोशे कोशास्तिष्ठन्ति <sup>२</sup>चान्तरे ।

यथा कोशस्तथा जीवो यथा जीवस्तथा शिवः ॥ १२ ॥

सविकारस्तथा जीवो निर्विकारस्तथा शिवः ।

कोशास्तस्य विकारास्ते ह्यवस्थाः<sup>३</sup>सु प्रवर्तकाः ॥ १३ ॥

यथा रसाशये फेनं मथनादेव जायते ।

मनोनिर्मथनादेव विकल्पा ब्रह्मस्तथा ॥ १४ ॥

जगत्कलनानिर्विर्यावस्था चतुष्टयेयतां तद्वासकचिद्वातुस्वरूपं चाह—  
सर्वत्रेति । साक्षिभास्यप्रपञ्चे सर्वत्र जाग्रदवस्था वर्तते, करणग्रामव्यापृतेः  
स्फुर्णं अवगन्तुं शक्यत्वात् । अन्नमयकोशे प्राणादिकोशवत् जाग्रति  
स्वप्रादित्रयं वर्तते, नान्यावस्थास्त्रियर्थः ॥ १० ॥ जाग्रदवस्थायाः स्वप्रायाधा-  
रत्वं स्वागंपाधारेश्वरगनिष्ठं इत्याह सर्वेति । विश्वविगडोत्रादिद्विर्य-  
विकल्पान्तरूपेण व्यष्टिसमष्ट्यात्मकजाग्रदादिसर्वदेशेष्वनुस्यूतः प्रभ्यगात्मा सदा  
वर्तते इत्यर्थः । कथं पुनः प्रतीचः सर्वानुस्यूतन्वं इत्यत्र विकारवत्  
कोशजीवद्वृष्टान्तेन सर्वानुस्यूतत्वं साधयति—यथंति । यथा अन्नमयकोशः  
सर्वकोशाधारे व्यापकश्च भवति तथा जीवः यथा कृत्स्नकोशविकारं  
आत्मात्मीयाभिमानपूर्वकं व्याप्त्य वर्तते तथा तद्रिकागस्यृष्टः सन् शिवोऽपि  
वर्तते । जीवशिवयोः सविकारगनिर्विकारत्वं कोशाभिमानभावाभावनिष्ठम्  
॥ ११-१३ ॥ य(क?)स्मात् अवस्थात्रयतद्वेतुपञ्चकोशादिविकल्पः सज्ञात  
इत्यत्र—मथनसज्ञातरसाशयफेनवत् एवं मनोनिर्मथनात् जाग्रदादि विद्यते  
इति । सङ्कल्पात् एवमादिवह्वो विकल्पाः जायन्ते, मनःसङ्कल्पाभावे  
किमपि नास्तीत्यर्थः ॥ १४ ॥

<sup>१</sup> तुरुपः—अ, क.

<sup>२</sup> चापरं—क, क २.

<sup>३</sup> सं—अ २.

## दक्षिणोत्तरायणगतिः

कर्मणा वर्तते कर्मीं तत्यागाच्छान्तिमाप्नुयात् ।  
 अयने दक्षिणे प्राप्ते प्रपञ्चाभिमुखं गतः ॥ १५ ॥  
 अहंकाराभिमानेन जीवः स्याद्द्वि सदाशिवः ।  
 स चाविवेकप्रकृतिसङ्कल्प्या तत्र मुखते ॥ १६ ॥  
 नानायोनिशतं गत्वा शेतेऽसौ वासनावशात् ।  
 विमोक्षात्संचरत्येव मत्स्यः कूलद्वयं यथा ॥ १७ ॥  
 ततः कालवशादेव ह्यात्मज्ञानविवेकतः ।  
 उत्तराभिमुखो भूत्वा स्थानात्स्थानान्तरं क्रमात् ॥ १८ ॥  
 मूर्ध्याधायात्मनः प्राणान्योगाभ्या<sup>१</sup>मं स्थितश्चरन् ।

एवं सूङ्गल्पसञ्चातनानाविधकर्मणा कर्मीं जीवो मनःकल्पितसंसारपाशेन निरुच्छ्वासं बद्धः सन् वर्तते । यावत् स्वज्ञानेन स्वभावापत्तिः तावत् संसरति । यदाऽप्य स्वज्ञानेन स्वज्ञानतत्कार्यं त्यजति तदा स्वातिरिक्तविभ्रमशान्तिमाप्नुयात् । शिवस्य जीवत्वं जीवस्य शिवत्वं कथं भवतीत्याशङ्क्य अनात्मनि आत्माभिमानात् शिवस्य जीवत्वं तदभिमतिस्यागात् जीवस्य शिवत्वं च स्यादित्याह—अयन इति । ज्ञानगन्धविकल्कामसङ्गल्पादिघटितेषापूर्तादिकर्मणा अयने दक्षिणे पाप्ते ॥ १५—१७ ॥ कदा जीवः शिवो भवति? स्वभावासौ किं साधनं? इत्यत आह—तत इति । ततो निष्कामबुद्ध्या अनुष्ठितसत्कर्मफलसमर्पणेभ्वरप्रसादात् उत्तराभिमुखो भूत्वा “तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति” इत्यादिस्थानात् स्थानान्तरं प्राप्य शबलब्रह्मपदं क्रमात् प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १८ ॥ किं कुर्वन् उत्तराभिमुखो भवति इत्यत आह—

<sup>१</sup> स्थितः—अ २.

मूर्धीति । सिद्धाध्यासनस्थो योगी स्वात्मनः प्राणात् सुषुप्ताद्वारेण मूर्धि  
आधाय सदा एवं योगाभ्यासं चरन् यथोक्तकाले मूर्धानं भित्त्वा देवयानेन  
पथा ब्रह्मलोकमेत्य न पुनरावर्तते इत्यर्थः ॥

सद्योमुक्तिप्रापकं ज्ञानम्

योगात्संजायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रवर्तते ॥ १९ ॥

योगज्ञानपरो नित्यं स योगी न प्रणश्यति ।

विकारस्थं शिवं पश्येद्विकारश्च शिवं न तु ॥ २० ॥

योगप्रकाशकं योगैर्घर्यायेच्चानन्यभावनः ।

केवलकर्मानुष्टुनफलं चान्द्रपदं, कर्मज्ञानसमुच्चयानुष्टुनफलं तु ब्रह्मलो-  
कावासिः इत्युक्त्वा सद्यः केवल्यप्रापकनिर्विशेषज्ञानं सोपायमाह -योगादिति ।  
स्वाश्रमाचारस्त्वृतनित्यादिसाधनचतुर्थ्यवद्भुष्टिसर्ववेदान्तश्रवणयोगात् निर्विशेष-  
ज्ञानं सञ्चायते । यथोक्तमननाभिवर्थितज्ञानात् योगो निर्दिष्यासो ब्रह्मातिगित्तं  
न किञ्चिदस्तीति सम्यज्ञानं प्रवर्तते प्रादुर्भवति ॥ १० ॥ नित्यमेवं योगज्ञानपर्योगे  
योगी स्वाज्ञवत् स्वातिरिक्तास्तित्वधिया न कदाऽपि प्रणश्यति सम्यज्ञानसमकालं  
सर्वापद्वसिद्धनिग्रतियोगिकब्रह्ममात्रभावापन्नो भवतीत्यर्थः । सम्यज्ञानोपायस्तु  
—“सर्वं खल्विदं ब्रह्म” इति श्रुत्यनुरोधेन स्वाज्ञदृष्टिप्रसक्तसर्वविकारस्थं  
शिवं पश्येत् । एवं सर्वं ब्रह्मेति बोधे सिद्धे सर्वविकारजातं शिवे न कि-  
ञ्चिदस्तीति विज्ञानं जायते ॥ २० ॥ ततो विज्ञानयोगी सर्वविकारासम्भवसिद्धं  
ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रं इति अनन्यभावनः सम्यज्ञानीभूत्वा पुरोदितश्रवणा-  
दियोगैः सञ्चातसम्यज्ञानयोगप्रकाशकं आत्मानं ब्रह्ममात्रं ध्यायेत् । एवं  
ध्यानात्मकसम्यज्ञानसमकालं कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः ॥

## ज्ञानोपायमूलो योगः

योगज्ञाने न विद्येते तस्य भावो न सिध्यति ॥ २१ ॥

तस्मादभ्यासयोगेन मनःप्राणान्निरोधयेत् ।

योगी निश्चितधारेण क्षुरेणैव निकृन्तयेत् ॥ २२ ॥

शिखा<sup>१</sup> प्राणमयी वृत्तिर्याद्यष्टाङ्गसाधनैः ।

यदि श्रवणाधिकारी न भवति तस्य स्वप्रेऽपि योगज्ञाने न विद्येते, सम्यज्ञानभावोऽपि न सिध्यति ॥ २१ ॥ यस्मात् एवं तस्मात् । एवं अभ्यासयोगतः ब्रह्मस्तिप्रतिबन्धकाज्ञानं योगी निश्चितधारेण अभ्यासयोगक्षुरेणैव निकृन्तयेदिति ॥ २२ ॥ एवं अभ्यासयोगः केनोपायेन जायते इत्यत आह—शिखेति । वक्ष्यमाणयमाद्यष्टाङ्गयोगसाधनैः प्राणमयी वृत्तिः योगशिखा अभ्यासयोगफलप्रापिका सज्जायते इत्यर्थः ॥

## कर्मज्ञानयोगो

ज्ञानयोगः कर्मयोग इति योगो द्विधा मतः ॥ २३ ॥

क्रियायोगमथेदानीं शृणु ब्राह्मणसत्तम ।

अव्याकुलस्य चित्तस्य बन्धनं विषये कचित् ॥ २४ ॥

यत्संयोगो द्विजश्रेष्ठ स च द्वैकिद्यमश्रुते ।

कर्म कर्तव्यमित्येव विहितेष्वेव कर्मसु ॥ २५ ॥

बन्धनं मनसो<sup>२</sup> नित्यं कर्मयोगः स उच्यते ।

यत्तु चित्तस्य<sup>३</sup> सततमर्थे श्रेयसि बन्धनम् ॥ २६ ॥

<sup>१</sup> ज्ञातमयी—अ २. ज्ञानमयी—क.

<sup>२</sup> नित्यः—क.

<sup>३</sup> वितत—क.

ज्ञानयोगः स विजेयः सर्वसिद्धिकरः शिवः ।  
 यस्योक्तलक्षणे योगे द्विविधेऽव्यव्ययं मनः ॥ २७०॥  
 स याति परमं श्रेयो मोक्षलक्षणमञ्जसा ।

ज्ञानकर्मभेदेन योगद्वैविध्यं तदियत्तामाह—ज्ञानेति ॥ २३ ॥ तत्र  
 क्रियायोगं इत्यादि । किं तत् ? अव्याकुलस्य इत्यादि ॥ २४ ॥  
 क्रियायोगस्य कथं द्वैविध्यं इत्यत्र कर्म कर्तव्यं इत्यादि । ईश्वरगाधनधिया  
 निष्कामकर्मानुष्ठानाभिनिवेश एव कर्मयोग इत्यर्थः ॥ २५ ॥ श्रेयोमागार्भभिनिवेश  
 एवं ज्ञानयोगः इत्याह—यत्त्विति ॥ २६ ॥ एवं उपायोपेयद्विविधयोगानुष्ठानतः  
 श्रेयो भवतीत्याह—यस्येति ॥ २७ ॥

निर्विशेषब्रह्मज्ञानोपायः अष्टाङ्गयोगः  
 देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इत्युच्च्यते बुधैः ॥ २८ ॥  
 अनुरक्तिः परे नत्वं सततं नियमः स्मृतः ।  
 सर्ववस्तुन्युदासीनभाव<sup>1</sup> आसनमुत्तमम् ॥ २९ ॥  
 जगत्सर्वमिदं मिथ्याप्रतीतिः प्राणसंयमः ।  
 चित्तस्यान्तर्मुखीभावः प्रत्याहारस्तु सत्तम ॥ ३० ॥  
 चित्तस्य निश्चलीभावो धारणा धारणं विदुः ।  
 सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते ॥ ३१ ॥  
 ध्यानस्य विस्मृतिः सम्यक्समाधिरभिधीयते ।

पूर्वोक्तनिर्विशेषब्रह्मज्ञानोपायतया संक्षेपविस्तराभ्यां अष्टाङ्गयोगं उपदि-  
 शति—देहेति ॥ २८—३१ ॥

<sup>1</sup> मासन—क, अ, अ १, अ २.

## दशविंशत्यमनियमः

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयाऽर्जुवम् ॥ ३२ ॥

क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश ।

तपस्सन्तुष्टिरास्तिक्यं दानमाराधनं हरेः ॥ ३३ ॥

वेदान्तश्रवणं<sup>१</sup>चैव हीर्मतिश्च जपे व्रतम् ॥

इति ॥

उत्तमाधिकारिणां ब्रह्मज्ञानसाधनतया अष्टाङ्गयोगो निरूपितः । तत्र  
यमो दशधा भिद्यते इत्यत आह—अहिंसेति ॥ ३२ ॥ तथा नियमोऽ-  
पीत्याह—तप इति ॥ ३३ ॥

हठयोगरीत्या आसनानि

आसनानि तदङ्गानि स्वस्तिकाढीनि वै द्विज ॥ ३४ ॥

<sup>२</sup>वर्ण्यते स्वस्तिकं पादतलयोरुभयोरपि ।

पूर्वोत्तरे जानुनी द्वे <sup>३</sup>कृत्वाऽऽसनमुदीरितम् ॥ ३५ ॥

सब्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ।

दक्षिणेऽपि तथा सब्यं गोमुखं गोमुखं यथा ॥ ३६ ॥

एकं चरणमन्यस्मिन्बूरावारोप्य निश्चलः ।

आस्ते यदिदमेनोद्घं वीरासनमुदीरितम् ॥ ३७ ॥

गुदं नियम्य गुल्फाभ्यां व्युत्कमेण <sup>४</sup>समाहितः ।

योगासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः ॥ ३८ ॥

<sup>१</sup> हीर्मत जप इत्यादि लक्षणं—अ, अ १.

<sup>२</sup> कृत्वासन—अ.

<sup>३</sup> वर्ण्यन्ते—क, अ, अ १, अ २.

<sup>४</sup> समाहितः—अ, अ १.

उर्वोरुपरि वै धते यदा पादतले उमे ।  
 पद्मासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविषापहम् ॥ ३९ ॥ ०  
 पद्मासनं सुसंस्थाप्य <sup>१</sup> तदकुष्ठद्वयं पुनः ।  
 व्युत्क्रमेणैव हस्ताभ्यां बद्धपद्मासनं भवेत् ॥ ४० ॥  
 पद्मासनं सुसंस्थाप्य जानूर्वोरन्तरे करौ ।  
 निवेश्य भूमावातिष्ठेद्योमस्थः कुकुटासनः ॥ ४१ ॥  
 कुकुटासनबन्धस्थो दोभ्यां संबध्य कन्धरम् ।  
 शेते कूर्मवदुत्तान एतदुत्तानकूर्मकम् ॥ ४२ ॥  
 पादाकुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि ।  
 धनुराकर्षकाकृष्टं धनुरासनमीरितम् ॥ ४३ ॥  
 सीवनीं गुल्फ़ <sup>२</sup>देशोभ्यो निपीड्य व्युत्क्रमेण तु ।  
 प्रसार्य <sup>३</sup>जानुनोर्हस्तावासनं सिंहस्त्रपकम् ॥ ४४ ॥  
 गुल्फ़ौ च वृषणस्याघः <sup>४</sup>सीविन्युभयपार्श्वयोः ।  
 निवेश्य <sup>५</sup>भूमौ हस्ताभ्यां बद्धा भद्रासनं भवेत् ॥ ४५ ॥  
<sup>६</sup>सीवनीपार्श्वमुभयं गुल्फ़ाभ्यां व्युत्क्रमेण तु ।  
 निपीड्यासनमेतच्च मुक्तासनमुदीरितम् ॥ ४६ ॥

<sup>१</sup> पद—क.

<sup>२</sup> देशाभ्यां—अ, क, अ १, अ २.

<sup>३</sup> जानुनो (तो?) हस्तौ—अ, क, अ १, अ २.

<sup>४</sup> सीविन्यो—क, अ २.

<sup>५</sup> पादौ—अ, क, अ १, अ २.

<sup>६</sup> ‘सीवनीं गुल्फ़देशाभ्यां निपीड्य’ इति च—क.

<sup>१</sup>अवष्टम्य धरां सम्यक्तलाभ्यां हस्तयोद्विष्योः ।

पर्पौ नाभिपाशेषं तु स्थापयित्वा मयूरकत् ॥ ४७ ॥

समुच्चतशिरः<sup>२</sup>पादो मयूरासनमिष्यते ।

वामोरुम्ले दक्षाञ्जि जान्वोवेष्टितपाणिना ॥ ४८ ॥

वामेन वामाङ्गुष्ठं तु गृहीतं मत्स्यपीठकम् ।

योनिं वामेन संपीड्य मेद्वादुपरि दक्षिणम् ॥ ४९ ॥

ऋजुकायः समासीनः सिद्धासनमुदीरितम् ।

प्रसार्य मुवि पादौ<sup>३</sup> तु दोभ्यामङ्गुष्ठमादरात् ॥ ५० ॥

जानूपरि ललाटं तु पश्चिमं ताणमुच्यते ।

येन केन प्रकारेण सुखं<sup>४</sup>धार्य च जायते ॥ ५१ ॥

तत्सुखासनमित्युक्तमशक्तस्तत्समाचरेत् ।

आसनं विजितं येन जितं तेन जगत्त्वयम् ॥ ५२ ॥

अथ मध्यमाधिकारिणां हठयोगरीत्या आसनाद्वग्नानि उपदिशति—आसनानीति ॥ ३४ ॥ तत्र स्वस्तिकासनलक्षणमाह—वर्ण्यत इति ॥ ३५ ॥ गोमुखासनलक्षणमुच्यते—सब्य इति ॥ ३६ ॥ वीरासनलक्षणमाचष्टे—एकमिति ॥ ३७ ॥ योगासनलक्षणं व्यनक्ति—गुदमिति ॥ ३८ ॥ पदासनलक्षणं प्रकाशयति—ऊर्वोरिति ॥ ३९ ॥ बद्रपद्मासनलक्षणं विशदयति—पद्मासनमिति । हस्ताभ्यां बद्धेति यत् तत् बद्धपद्मासनं भवेत् ॥ ४० ॥ कुक्षुटासनप्रकारं व्यतीकरोति—पद्मेति ॥ ४१ ॥ उत्तानकूर्मलक्षणमाह—कुक्षुटेति ॥ ४२ ॥ धनुरासनमाह—

<sup>१</sup> अवष्टम्याधरां—अ.

<sup>२</sup> तौ—अ.

<sup>३</sup> पाद—क, अ, अ १, अ २.

<sup>४</sup> धर्य—अ, अ २.

पादेति ॥ ४३ ॥ सिंहासनं दर्शयति—सीविनीमिति ॥ ४४ ॥ भद्रासन-  
लक्षणमाह—गुल्फाविति ॥ ४५ ॥ मुक्तासनस्वरूपमाह—सीविनीति ॥ ४६ ॥  
मथूरासनप्रकारमाह—अवष्टभ्येति ॥ ४७ ॥ मत्स्यासनलक्षणमाचष्टे—  
वामेति ॥ ४८ ॥ सिद्धासनलक्षणमाह—योनिमिति ॥ ४९ ॥ पञ्चमताणलक्षणं  
प्रकटयति—प्रसार्येति ॥ ५० ॥ अशक्तोपयोग्यासनमाह—येनेति ॥ ५१ ॥  
आसनफलमाह—आसनमिति ॥ ५२ ॥

नाडीशुद्धिपूर्वकप्राणायामविधिः

यमैश्च नियमैश्चैव ह्यासनैश्च सुसंयतः ।

नाडीशुद्धि च कृत्वाऽऽदौ प्राणायामं समाचरेत् ॥ ५३ ॥

देहमानं स्वाङ्गुलिभिः षण्णवत्यङ्गुलायतम् ।

प्राणः शरीरादधिको द्वादशाङ्गुलमानतः ॥ ५४ ॥

देहस्थमनिलं देहसमुद्भूतेन वहिना ।

न्यूनं समं वा योगेन कुर्वन्नहविदिष्यते ॥ ५५ ॥

यमाद्यङ्गत्रयविशिष्टयोगिनो नाडीशुद्धिपूर्वकं प्राणायामकममाह—  
यमैश्चेति । पूर्वोक्तेः ॥ ५३ ॥ अभ्यासानुकूलदेहप्राणमानं तत्र प्राणाभ्यासफल  
चाह—देहमानमिति ॥ ५४—५५ ॥

अग्रिमण्डलस्वरूपम्

देहमध्ये शिखिस्थानं तसजाम्बूनदप्रभम् ।

त्रिकोणं द्विपदामन्यच्चतुरश्रं चतुष्पदाम् ॥ ५६ ॥

वृत्तं <sup>१</sup>विहङ्गमानं तु षडश्रं <sup>२</sup>सर्पजन्मनाम् ।

अष्टाश्रं स्वेदजानां तु तस्मिन्दीपवदुञ्ज्वलम् ॥ ५७ ॥

<sup>१</sup> विहङ्गमानं—उ.

<sup>२</sup> सर्व—क, अ २.

मूलाग्निमण्डलस्वरूपमाह—देहेति ॥ ९६ ॥ तत्त्वान्त्वग्निमण्डले  
तस्मिन् उज्ज्वलं वह्नि विद्वीत्यर्थः ॥ ९७ ॥

## नाभिस्थानम्

कन्दप्थानं मनुष्याणां <sup>१</sup>देहमध्यं नवाङ्गुलम् ।  
चतुरङ्गुलमुत्सेष्वं चतुरङ्गुलमायतम् ॥ ९८ ॥  
अण्डाकृति तिरश्चां च द्विजानां च चतुष्पदाम् ।  
तुन्दमध्यं तदिष्टं वै तन्मध्यं नाभिरिष्यते ॥ ९९ ॥  
मनुष्यादिदेहमध्यं विशदयति—कन्देति ॥ ९८-९९ ॥

## नाडीचक्रे जीवब्रह्मणम्

तत्र चक्रं द्वादशारं तेषु विष्वादिमूर्तयः ।  
अहं तत्र स्थितश्चक्रं भ्रामयामि स्वमायया ॥ ६० ॥  
अरेषु भ्रमते जीवः क्रमेण द्विजसत्तम ।  
तन्तुपञ्चरमध्यस्था यथा भ्रमति लूतिका ॥ ६१ ॥  
प्राणाधिरूढश्चरति जीवस्तेन विना न हि ।

तत्रस्थनाडीचक्रं विष्वादिभिरधिष्ठितं सत् वर्तते । तत्राहमन्तर्याम्यात्मना  
स्थित्वा तत्त्वाल्यामीत्याह—तत्रेति । तत्र नाभिमध्ये नाडीचक्रं ।

ईश्वरः सर्वभूतानां ह्वेशोऽर्जुन तिष्ठति ।  
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्राखटानि मायया ॥  
इति स्मृत्यनुरोधेन अहं इत्यादि ॥ ६० ॥ को वा त्वया भ्राम्यते इत्यत  
आह—अरेष्विति । नाडीचक्रारेषु । जीवब्रह्मणं सद्व्याप्तमाह—तन्त्वति ।  
लूतिका ऊर्णनाभिः कीटविशेषः । तथा जीवः चलनमेतीत्यर्थः ॥ ६१ ॥

<sup>१</sup> देहमध्ये—अ.

कुण्डलिनीस्थानं तद्व्यापारश्च

तस्योच्चेऽ कुण्डलीस्थानं नाभेस्तिर्यगथोर्ध्वतः ॥ ६८ ॥

अष्टप्रकृतिरूपा सा चाषधा कुण्डलीकृता ।

यथावद्वायु<sup>१</sup>संचारं <sup>२</sup>जलान्नादि च नित्यशः ॥ ६३ ॥

परितः कन्दपाश्चेऽ तु निरुच्यैव सदा स्थिता ।

मुखेनैव समावेष्य ब्रह्मरन्धमुखं तथा ॥ ६४ ॥

योगकालेन मरुता साग्निना ओषिता सती ।

स्फुरिता हृदयाकाशे नागरूपा महोन्ज्वला ॥ ६५ ॥

तदूर्ध्वविलसितकुण्डलिनीस्थानं तद्व्यापारं चाह—तस्येति । नाडीचक्रस्य  
तस्य ॥ ६२ ॥

भूमिरापोडनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।

अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्ठा ॥

इति स्मृत्यनुगोधेन अष्टप्रकृतिरूपा वायुसञ्चारं प्राणापानयोरैक्य-  
मित्यर्थः । भुक्तजलान्नादि ॥ ६३ ॥ किं कुर्वती स्थितेत्यत्र मुखेनैव  
इत्यादि ॥ ६४ ॥ सा कदा ऊर्ध्वं प्रसरतीत्यत्र योगकालेन इत्यादि ॥ ६५ ॥

देहमध्यस्थनाडीकन्दस्वरूपम्

<sup>३</sup>अपानाद्वयकुलादूर्ध्वमधो मेद्रस्य तावता ।

देहमध्यं मनुष्याणां हन्मध्यं तु चतुष्पदाम् ॥ ६६ ॥

<sup>१</sup> सारं च—क, अ १, अ २.

<sup>२</sup> चलनादि—अ. ज्वलनादि—क, अ १, अ २. ‘सञ्चारं जलान्नादि’ इति  
च—क, अ २.

<sup>३</sup> अपानद्वय—अ, अ १.

इतरेषां तुन्द<sup>१</sup>मध्यं नानानाडीसमावृतम् ।

चतुष्प्रकारद्वयाते देहमध्ये सुषुप्तया ॥ ६७ ॥

कन्दमध्ये स्थिता नाडी सुषुप्ता सुप्रतिष्ठिता ।

पद्मसूत्रप्रतीकाशा ऋजुरूर्ध्वं प्रवर्तिनी ॥ ६८ ॥

ब्रहणो विवरं यावद्विषुदाभासनालकम् ।

वैष्णवी ब्रह्मनाडी च निर्वणप्राप्तिपद्धतिः ॥ ६९ ॥

इडा च पिङ्गला चैव तस्याः सव्येतरे स्थिते ।

इडा समुत्थिता कन्दाद्वामनासापुटावधिः ॥ ७० ॥

पिङ्गला चोत्थिता तस्माद्विनासापुटावधिः ।

गान्धारी हस्तिजिह्वा च द्वे चान्ये नाडिके स्थिते ॥ ७१ ॥

पुरतः पृष्ठतस्तस्याः वामेतरद्वशौ प्रति ।

पूषायशस्त्रिनीनाडिचौ तस्मादेव समुत्थिते ॥ ७२ ॥

सव्येतरश्रुत्यवधि पायु<sup>२</sup>मूलावलम्बुसा ।

अधोगता शुभा नाडी मेद्रान्तावधिरायता ॥ ७३ ॥

पादाङ्गुष्ठावधिः कन्दादधोयाता च कौशिकी ।

दशप्रकारभूतास्ताः कथिताः कन्दसंभवाः ॥ ७४ ॥

<sup>१</sup> मध्ये—अ १, अ.

<sup>२</sup> चतुष्प्रकारेत्यादि श्लोकार्थ (अ, अ १) कोशानुसारेण मूले भृतं.

<sup>३</sup> प्रकाशिनी—क, अ २.

<sup>४</sup> शुदामं स—क, अ २.

<sup>५</sup> मूलादलम्बुसा—अ.

तन्मूला बह्वो नाड्यः <sup>१</sup>स्थूलाः सूक्ष्माश्च नाडिकाः ।  
 द्वासप्तिसहस्राणि स्थूलाः सूक्ष्माश्च नाड्यः ॥ ७५ ॥  
 संख्यातुं नैव शक्यन्ते <sup>२</sup>स्थूलमूलाः पृथग्विधाः ।  
 यथाऽश्वत्थं<sup>३</sup>दले सूक्ष्माः स्थूलाश्च विततास्तथा ॥ ७६ ॥

देहमध्यं तदाश्रयनाडीकन्दस्वरूपमाह—अपानादिति ॥ ६६—६७ ॥  
 तत्र केयं प्रधाननाडी? तदाश्रित्य कति नाड्यो वर्तन्ते? इत्यत्रोच्यते—कन्देति ।  
 वीणादण्डभाग्रित्य ऋजुरुर्धर्वप्रवर्तिनी ॥ ६८ ॥ कियत्पर्यन्तं ऊर्ध्वं  
 प्रवृत्तेत्यत्र ब्रहरन्ध्रान्तमित्याह—ब्रह्मण इति । विशुलेखेव आ समन्तात्  
 भासमाननाळकं ब्रहरन्ध्रं तावत्, मूलाधारमारभ्य ब्रहरन्ध्रपर्यन्तं प्रवर्तते  
 इत्यर्थः । तस्या नाम निर्दिशति—वैष्णवीति । विष्णवधिष्ठितत्वात् । ब्रह्मनाडी  
 ब्रहलोकप्रापकत्वात्, तदन्तर्गतकैवल्यनाडी । निर्वाणप्राप्तिपद्धतिः कैवल्य-  
 सृतित्वात् ॥ ६९ ॥ तदाश्रयनाड्यः उच्यन्ते—इडा चेति ॥ ७०—७१ ॥  
 असङ्घेयत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति ॥ ७६ ॥

नाडीचराः वायवः

प्राणापानौ समानश्च उदानो व्यान एव च ।  
 नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनंजयः ॥ ७७ ॥  
 चरन्ति दशनाडीषु दश प्राणादिवायवः ।  
 प्राणादिपञ्चकं तेषु प्रधानं तत्र च द्रव्यम् ॥ ७८ ॥  
 प्राण एवायवा ज्येष्ठो जीवत्मानं विभर्ति यः ।  
 आस्यनासिकयोर्मध्यं हृदयं नाभिमण्डलम् ॥ ७९ ॥

<sup>१</sup> स्थूलसूक्ष्माश्च—अ, क, अ १, अ २..

<sup>२</sup> स्थूले—अ, अ १.

<sup>३</sup> दक्षे—अ, अ १.

पादाङ्गुष्ठमिति प्राणस्थानानि द्विजसत्तम ।  
 ●अपानश्चरति ब्रह्मन् गुदमेद्रोरुजातुषु ॥ ८० ॥  
 समानः सर्वगात्रेषु सर्वव्यापी व्यवस्थितः ।  
 उदानः सर्वसन्धिस्थः पादयोर्हस्तयोरपि ॥ ८१ ॥  
 व्यानः श्रोत्रोरुक्त्यां च गुल्फस्कन्धगलेषु च ।  
 नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिषु संस्थिताः ॥ ८२ ॥  
 तुन्दस्यं जलमन्नं च <sup>१</sup>रमादि च समीकृतम् ।  
 तुन्दमध्यगतः प्राणस्तानि कुर्यात्यृथक्षृथक् ॥ ८३ ॥  
 इत्यादिचेष्टनं प्राणः करोति च पृथक् स्थितः ।  
 अपानवायुमूत्रादेः करोति च विसर्जनम् ॥ ८४ ॥  
 प्राणापानादिचेष्टादि क्रियते व्यानवायुना ।  
 उज्जीर्यते शरीरस्थमुदानं नभस्तता ॥ ८५ ॥  
 पोषणादि शरीरस्य समानः कुरुते सदा ।  
 उद्घारादिक्रियो नागः कूर्मोऽश्यादिनिर्मीलनः ॥ ८६ ॥  
 कृकरः क्षपयोः कर्ता दत्तो निद्रादिकर्मकृत् ।  
 मृतगात्रस्य <sup>३</sup>शोभादि धनंजय उदाहृतः ॥ ८७ ॥

नाडीचरा वायवः कतिसङ्ख्याकाः इत्यत्र प्राणापानौ इत्यादि ॥ ७७ ॥  
 तेषु कः प्रधानः इत्यत आह—प्राणादीति ॥ ७८ ॥ तेषां स्थानानि  
 निर्दिशति—आस्येति ॥ ७९—८२ ॥ प्राणादिव्यापारमाह—तुन्दस्थमिति  
 ॥ ८३—८६ ॥ क्षपयोः निमेषोन्मेषयोः ॥ ८७ ॥

<sup>१</sup> रसानि च समीकृतौ—अ, अ १.   <sup>३</sup> स्थितं—अ, क, अ १, अ २.

<sup>२</sup> शोभादेर्धनजयः इति मुद्रितपुस्तके. यो भाति धनजयः—अ.

नाडीश्चानपुरः सरा नाडीशुद्धिः

नाडीभेदं मरुद्धेदं मरुतां स्थानमेव च ।

चेष्टाश्च विविधास्तेषां <sup>१</sup>ज्ञात्वैवं द्विजसत्तम ॥ ८८ ॥

शुद्धौ यतेत नाडीनां पूर्वोक्तज्ञानसंयुतः ।

एवं नाडीभेदस्थानादिकं ज्ञात्वा तच्छुद्धयर्थं यतेदित्याह—  
नाडीति ॥ ८८ ॥

योगाभ्यासस्थलं तद्रिधिश्च

विविक्तदेशं मास्थाय सर्वसंबन्धवर्जितः ॥ ८९ ॥

योगाङ्गद्रव्यसंपूर्णं तत्र दारुमये शुभे ।

आसने कल्पिते दर्भकुशकृष्णाजिनादिभिः ॥ ९० ॥

तावदासनमुत्सेधे तावद्वयसमायते ।

उपविश्यासनं सम्यकस्वस्तिकादि यथारुचि ॥ ९१ ॥

योगस्थलं योगविधिं चाह—विविक्तेति ॥ ८९-९१ ॥

चिन्मुद्रासहितकेवलकुंभकम्

बद्धा प्रागासनं विप्र ऋजुकायः समाहितः ।

नासाग्रन्यस्तनयनो दन्तै<sup>१</sup>दन्तानसंस्यशन् ॥ ९२ ॥

रसनां तालुनि न्यस्य स्वस्थचित्तो निरामयः ।

आकुञ्जितशिरः किञ्चिन्निबध्नन्योगमुद्या ॥ ९३ ॥

हस्तौ यथोक्तविधिना प्राणायामं समाचरेत् ।

<sup>१</sup> ज्ञात्वैव—अ, अ १.      <sup>२</sup> माश्रित्य—क, अ २. मासाय—अ, अ १.

<sup>३</sup> दन्तासनं-

प्राणायामलक्षणं वक्तुं भूमिकां रचयति—वद्योति । नासिकाबन्धनं  
बन्धत्रयं वा योगमुद्रेत्यर्थः ॥ ९२-९३ ॥ हस्तौ इत्यादि । यद्वा—हस्तौ  
चिन्मुद्रायुतौ विधाय केवलकुम्भकप्राणायामं कुर्यादित्यर्थः ॥

सहितप्राणायामः

रेचनं पूरणं वायोः शोधनं रेचनं तथा ॥ ९४ ॥  
चतुर्भिः क्लेशनं वायोः प्राणायाम उदीर्यते ।

सहितप्राणायामलक्षणमाह—रेचनमिति ॥ ९४ ॥ प्राणायामारम्भसमये  
शरीरगतदृष्टवायुरेचनं ततः पूरणं ततः कुम्भकेन वायोः शोधनं पुनः  
निःशेषतो रेचनं, एवं चतुर्भिः पर्यायैः वायोः क्लेशनं उपक्रमप्राणायामः  
उदीर्यते । एवं प्राणायामत्रये कृते सति अथ यथोक्तप्राणायामयोग्यं शरीरं  
भवतीत्यर्थः ॥

नाडीशोधकप्राणायामः

हस्तेन दक्षिणैव पीडयेन्नासिकापुटम् ॥ ९५ ॥  
शनैः शनैरथ बहिः प्रक्षिपेत्पिङ्गलानिलम् ।  
इडया वायुमापूर्य ब्रह्मन्धोडशमात्रया ॥ ९६ ॥  
पूरितं कुम्भयेत्पश्चाच्छ्रुःषष्ठ्या तु मात्रया ।  
द्वात्रिंशन्मात्रया सम्यग्नेचयेत्पिङ्गलानिलम् ॥ ९७ ॥  
एवं पुनः पुनः कार्यं व्युत्क्रमानुक्रमेण तु ।  
संर्घूर्णकुम्भवदेहं कुम्भयेन्मातंरिध्ना ॥ ९८ ॥  
पूरणान्नाडयः सर्वाः पूर्यन्ते मातरिध्ना ।  
एवं कृते सति ब्रह्मन्धरन्ति दश वायवः ॥ ९९ ॥

हृदयाम्भोरुहं चापि व्याकोचं भवति स्फुटम् ।  
तत्र पश्येत्परात्मानं वासुदेवमकल्मषम् ॥ १०० ॥

<sup>१</sup>प्रातर्मीध्यन्दिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान् ।  
शैनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ १०१ ॥

एकाहमात्रं कुर्वाणः सर्वपापैः प्रमुच्यते ।  
संवत्सरत्रयादूर्ध्वं प्राणायामपरो नरः ॥ १०२ ॥

योगसिद्धो भवेदोगी वायुजिद्विजितेन्द्रियः ।  
अल्पाशी स्वल्पनिद्रश्च तेजस्वी बलवान्भवेत् ॥ १०३ ॥  
अपमृत्यु<sup>२</sup>मपक्रम्य दीर्घमायुरवाप्न्यात् ।

नाडीशोधनहेतुतया अभ्यसनीयप्राणायामक्रमः उच्यते—हस्तेनेति ।  
अनुक्रमस्तु, इडया आपूर्य कुम्भित्वा पिङ्गल्या रेचनम् । व्युल्क्रमस्तु,  
पिङ्गल्या आपूर्य कुम्भित्वा इडया रेचनम् ॥ ९९-९७ ॥ एवं अहरहः  
चतुर्वारं दिनैकमात्रावृद्धिपूर्वकं अशीतिप्राणायामभ्यसेत् इत्याह—सम्पूर्णेति  
॥ ९८-९९ ॥ व्याकोचं विकासम् ॥ १००-१०३ ॥

### प्राणायामफलम्

प्रस्वेदजननं यस्य <sup>३</sup>प्राणायामेषु सोऽधमः ॥ १०४ ॥

कम्पनं वपुषो यस्य प्राणायामेषु मध्यमः ।

उत्थानं वपुषो यस्य स उत्तम उदाहृतः ॥ १०५ ॥

अधमे व्याधिपापानां नाशः स्यान्मध्यमे पुनः ।

पापरोगमहाव्याधिनाशः स्यादुत्तमे पुनः ॥ १०६ ॥

प्रातर्मी—अ, अ २.

<sup>२</sup> मतिक्रम्य—क, अ, अ १, अ २.

प्राणायामस्तु—क, अ, अ १, अ २.

अल्पमूत्रोऽल्पविष्टश्च लघुदेहो मिताशनः ।

●पटिन्द्रियः पदुमतिः कालत्रयविदात्मवान् ॥ १०७ ॥

रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भीकरणमेव यः ।

करोति त्रिषु कालेषु नैव तस्यास्ति दुर्लभम् ॥ १०८ ॥

प्रथमाभ्यासकाले स्वेदकम्पनोत्थानादिसिद्धिं तत्फलं चाह—  
प्रस्वेदेति ॥ १०४—१०७ ॥ केवलकुम्भकारूढयोगिनो वाञ्छितार्थसिद्धिः  
स्यादित्याह—रेचकमिति ॥ १०८ ॥

#### प्राणधारणाद्रागनाशः

नाभिकन्दे च नासाग्रे पादाङ्गुष्ठे च यत्रवान् ।

धारयेन्मनसा प्राणान्सन्ध्याकालेषु वा सदा ॥ १०९ ॥

सर्वरोगैर्विनिर्मुक्तो जीवेयोगी गतकृमः ।

कुक्षिरोगविनाशः स्यान्नाभिकन्देषु धारणात् ॥ ११० ॥

<sup>1</sup>नासाग्रधारणादीर्घमायुः स्याद्देहलाघवः ।

ब्राह्मे मुहूर्ते संप्राप्ते वायुमाकृष्य जिह्या ॥ १११ ॥

पिबत्तिषु मासेषु वाक्सिद्धिर्महती भवेत् ।

<sup>2</sup>अभ्यस्यतुश्च षण्मासान्महारोगविनाशनम् ॥ ११२ ॥

यत्रयत्र धृतो वायुरङ्गे रोगादिदूषिते ।

धारणादेव मरुतस्तत्तदारोग्यमशुते ॥ ११३ ॥

<sup>1</sup> नासाग्रे—क, अ, अ १, अ २.

<sup>2</sup> अभ्यासतश्च—मु. ‘अभ्यस्यतश्च’ इति तु पाठो युक्तो भाति.

यददङ्गं रोगदूषितं भवति तत्तदङ्गगवायुधारणात् तत्तदोगनिवृत्तिद्वारा  
आयुर्वृद्धिः स्यादिल्याह—नाभीति । केवलकुम्भकाभ्याससिद्धो योगी  
नाभिकन्दे इत्यादि ॥ १०९—११३ ॥

षणमुखीमुश्रया मनोजयः

मनसो धारणादेव पवनो धारितो भवेत् ।

मनसः स्थापने हेतुरुच्यते द्विजपुङ्गव ॥ ११४ ॥

कारणानि समाहृत्य विषयेभ्यः समाहितः ।

अपानमूर्ध्वमा<sup>१</sup>कृष्णेदुदरोपरि धारयेत् ॥ ११९ ॥

बद्धन्कराभ्यां श्रोत्रादिकरणानि <sup>२</sup>यथातथम् ।

<sup>३</sup>युज्ञानस्य यथोक्तेन <sup>४</sup>वर्त्मना स्ववशं मनः ॥ ११६ ॥

<sup>५</sup>मनोवशात्प्राणवायुः स्ववशे स्थाप्यते सदा ।

मनःप्राणयोरविनाभावात् मनोवशार्थं षणमुखीमुद्रां दर्शयति—मनस  
इति ॥ ११४ ॥ किं तत्? कारणानि इत्यादि ॥ ११९—११६ ॥  
मनोवशतः प्राणोऽपि स्ववशो भवतीत्याह—मन इति ॥

प्राणगतिः

नासिकापुटयोः प्राणः पर्यायेण प्रवर्तते ॥ ११७ ॥

तिक्ष्वश्च नाडिकास्तासु स <sup>६</sup>यावन्तश्चरत्ययम् ।

शङ्खनीविवरे याम्ये प्राणः प्राणभृतां सताम् ॥ ११८ ॥

<sup>७</sup>तावन्तं च पुनः कालं सौम्ये चरति संततम् ।

<sup>१</sup> कृष्ण उ—अ. <sup>२</sup> यथा तथा—क, अ २. <sup>३</sup> युज्ञानश्च—अ, अ १.

वर्तनात्—क, अ २.

<sup>५</sup> मनश्चक्षुश्च वै—अ, अ १.

<sup>६</sup> यावन्तं च—क, अ २. यावन्तश्च—अ १.

<sup>७</sup> तावन्तश्च—अ, क, अ २.

प्राणगतिं विवृणोति—नासिकेति ॥ ११७ ॥ मूलाधारमारभ्य  
 भूमध्यान्तमिडापिङ्गलादिभेदेन तिष्ठत्वा इत्यादि । इडाटिभेदेन तिष्ठो नाडिकाः  
 सन्ति । नासु सुषुप्तायां प्राणगतिः प्राणशृतां मध्ये सतां योगिनामेव भवति ।  
 अयोगिनां तु सोऽयं प्राणः शङ्खवत् अन्तर्गतंत्रयविशिष्टं शङ्खिनी नासिका  
 तस्या याम्ये विवरे पिङ्गलेतिविश्रुतदक्षिणनासापुटे यावन्तं कालं  
 चरति ॥ ११८ ॥ पुनः तावन्तं कालं सौम्ये वामनासापुटे चरति ।  
 एवं प्राणगतिः पिङ्गलेतयोः सन्ततं भवतीत्यर्थः ॥

प्राणगात्रानन योगवासिः

इत्यं क्रमेण चरता वायुना वायुजिन्नरः ॥ ११९ ॥

अहश्च रात्रिं पक्षं च <sup>१</sup>मासं मत्वायनादिकम् ।

अन्तर्मुखो विजानीयात् <sup>२</sup>कालभेदं <sup>३</sup>समाहितः ॥ १२० ॥

अङ्गुष्ठादि<sup>४</sup>स्वावयवास्फुरणादर्शनैरपि ।

अरिष्टैर्जीवितस्यापि जानीयात्क्षयमात्मनः ॥ १२१ ॥

ज्ञात्वा यतेत कैवल्यप्राप्तये योगवित्तमः ।

पादाङ्गुष्ठे कराङ्गुष्ठे स्फुरणं यस्य नश्यति ॥ १२२ ॥

तस्य संवत्सरादूर्ध्वं <sup>५</sup>जीवितव्यक्षयो भवेत् ।

मणिबन्धे तथा गुलफे स्फुरणं यस्य नश्यति ॥ १२३ ॥

षणमासावधिरेतस्य जीवितस्य स्थितिर्भवेत् ।

<sup>६</sup>कूर्परास्फुरणं यस्य तस्य त्रैमासिकी स्थितिः ॥ १२४ ॥

<sup>१</sup> मासमृत्यु—मु. <sup>२</sup> कालभेदस्त्वा—अ, अ १. <sup>३</sup> समाहितं—अ २.

<sup>४</sup> स्वावयवात्—क. स्वावयव—अ, अ १.

<sup>५</sup> जीवितस्य—क, अ, अ २.

<sup>६</sup> कूर्पे—अ, क, अ २.

कक्षे मेहनपाश्चें च स्फुरणानुपलम्भने ।  
 मासावधि<sup>१</sup>जीवितं स्यात् <sup>२</sup>तदर्थं सत्वदर्शने ॥ १२५ ॥  
 आश्रिते <sup>३</sup>जठरे द्वारे दिनानि दशा जीवितम् ।  
 ज्योतिः खद्योतवद्यस्य तदर्थं तस्य जीवितम् ॥ १२६ ॥  
 जिह्वाग्रादर्शने त्रीणि दिनानि स्थितिरात्मनः ।  
 ज्वालाया दर्शने मृत्युद्विदिने भवति ध्रुकम् ॥ १२७ ॥  
 एवमादीन्यरिष्टानि दृष्टाऽस्युः<sup>४</sup>क्षरकारणम् ।  
 निःश्रेयसाय युज्ञीत जपध्यानपरायणः ॥ १२८ ॥  
 मनसा परमात्मानं ध्यात्वा तद्रूपतामियात् ।

यदेवं वायुगतिज्ञो योगी भवति तदा स्वगङ्गास्त्रानुरोधेन स्वकालगति विदित्वा ज्ञाटिति मानसं निःश्रेयसाय युज्ञन् अनात्मापहवसिद्धं परमात्मानं स्वमात्रमिति ज्ञात्वा तद्वावापनो भवेदित्याह—इत्थमिति ॥ ११९—१२० ॥  
 कालभेदज्ञानोपायमाह—अङ्गुष्ठादीत्यादिना ॥ १२१ ॥ स्ववाक्यं स्वयमेव विवृणोति—पादाङ्गुष्ठ इति ॥ १२२—१२८ ॥

मर्मस्थानेषु प्राणस्य प्रत्याहारः  
 यद्यष्टादशभेदेषु मर्मस्थानेषु धारणम् ॥ १२९ ॥  
 स्थानात्स्थानं समाकृष्य प्रत्याहारः स उच्यते ।  
 पादाङ्गुष्ठं तथा गुल्फं जड्वामध्यं तथैव च ॥ १३० ॥  
 मध्यमूर्वेश्च मूलं च पायुर्हृदयमेव च ।  
 मेहनं देहमध्यं च नार्भिं च गलकूर्परम् ॥ १३१ ॥

<sup>१</sup> जीवितस्य—अ, क, अ १, अ २.

<sup>२</sup> तदर्थस्य तु—अ.

<sup>३</sup> जठर—क, अ २.

<sup>४</sup> क्षय—अ, क, अ १, अ २.

तालुमूलं च मूलं च ध्राणस्थास्तोऽस्मि यज्ञलम् ।

त्रिवोर्मध्यं ललाटं च मूलमूर्च्छं च जानुनी ॥ १३२ ॥

मूलं च करयोर्मूलं महान्त्येतानि वै द्विज ।

प्रत्याहारप्रकारमाह—यदीति ॥ १२९ ॥ कानि मर्मस्थानानीत्यत  
आह—पादाङ्गुष्ठमिति । पादाङ्गुष्ठादश्यादश्यानेषु आगोहावरोहणक्रमेण प्राणं  
प्रत्याहरेदित्यर्थः ॥ १३०—१३२ ॥

धारणाप्रकारः

पञ्चभूतमये देहे भूतेष्वेतेषु पञ्चसु ॥ १३३ ॥

मनसो धारणं यत्तद्युक्तस्य च यमादिभिः ।

धारणा सा च संसारसागरोत्तारकारणम् ॥ १३४ ॥

सङ्क्षेपविस्तरगम्यां धारणाप्रकारमाह—पञ्चेति । प्रविभक्तपञ्च-  
भूतेषु ॥ १३३—१३४ ॥

देहावयवेषु पञ्चभूतधारणम्

आजानुपादपर्यन्तं पृथिवीस्थानमिष्यते ।

<sup>१</sup>पीतला चतुरखा च वसुधा वज्रलाञ्छिता ॥ १३५ ॥

सर्तव्या पञ्चघटिका तत्रारोप्य प्रभञ्जनम् ।

आजानुकटिपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्तितम् ॥ १३६ ॥

अर्धचन्द्रसमाकारं श्वेतमर्जुनलाञ्छितम् ।

सर्तव्यमम्भः श्वसनमारोप्य दशः<sup>२</sup>नाडिका ॥ १३७ ॥

<sup>१</sup> पितला—मु.

<sup>२</sup> नाडिकां—क. नाडिकाः—अ.

आदेहयध्यकर्त्यन्तमग्निस्थानमुदाहृतम् ।

तत्र सिन्दूरवर्णोऽशिर्ज्वलं दश पञ्च च ॥ १३८ ॥

<sup>१</sup>सर्तव्या घटिका प्राणं कृत्वा कुम्भे तथेरितम् ।

नाभेरुपरि नासान्तं वायुस्थानं तु तत्र वै ॥ १३९ ॥

वेदिकाकारवद्धम्बो बलवान्भूतमारुतः ।

सर्तव्यः कुम्भकेनैव प्राणमारोप्य मारुतम् ॥ १४० ॥

घटिकार्किशतिस्तसाद् <sup>२</sup>प्राणाङ्गुष्ठाविलावधि ।

व्योमस्थानं नभस्तत्र भिन्नाञ्जनसमप्रभम् ॥ १४१ ॥

<sup>३</sup>व्योम्नि मारुतमारोप्य कुम्भकेनैव यद्वान् ।

स्वदेहावयवे पृथिव्यादिपञ्चभूतधारणं तत्फलं चाह—आजान्विति  
॥ १३९ ॥ एवं पृथिव्यादिपञ्चभूतधारणात् पञ्चभूतमौतिकजयः । तत्र  
मृत्युरपि न विद्यते इत्यर्थः । अबादिधारणाक्रममाह—आजान्विति  
॥ १३६—१४१ ॥

पृथिव्यादिषु अनिरुद्धादिध्यानं तत्फलं च

पृथिव्यंशे तु देहस्य चतुर्बाहुं किरीटिनम् ॥ १४२ ॥

अनिरुद्धं हरिं योगी यतेत भवमुक्तये ।

अबंशे पूर्येयोगी नारायणमुद्यग्नीः ॥ १४३ ॥

प्रद्युम्नमग्नौ वाय्वंशे संकर्षणमतः परम् ।

व्योमांशे परमात्मानं वासुदेवं सदा सरेत् ॥ १४४ ॥

अचिरादेव तत्प्रासिर्युज्ञानस्य न संशयः ।

<sup>१</sup> सर्तव्या नाडिका—अ, क, अ १, अ २.

<sup>२</sup> प्राणा—अ १.

<sup>३</sup> छ्येयं मारुत—अ, अ १.

एवं आदौ पञ्चभूतधारणां कृत्वा अथ पृथिव्याद्यंशेषु अनिरुद्धादीन्  
ध्यायेदित्यहु—पृथिवीति ॥ १४२—१४४ ॥ ध्यानफलमाह—  
अचिरादिति ॥

परमात्मध्यानं तत्फलं च

बद्धा योगासनं पूर्वं हृदेशो हृदयाङ्गलिः ॥ १४९ ॥  
नासाग्रन्यस्तनयनो जिह्वां कृत्वा च तालुनि ।  
दन्तैर्दन्तानसंसृश्य ऊर्ध्वकायः समाहितः ॥ १४६  
संयमेच्चेन्द्रियग्राम<sup>१</sup>मात्मबुद्धया विशुद्धया ।  
चिन्तनं वासुदेवस्य परस्य परमात्मनः ॥ १४७ ॥  
स्वरूपव्याप्तरूपस्य ध्यानं कैवल्यसिद्धिदम् ।  
याममात्रं वासुदेवं चिन्तयेत्कुम्भकेन यः ॥ १४८ ।  
सप्तजन्मार्जितं पापं तस्य नश्यति योगिनः ।

परमात्मध्यानोपायं तत्फलं चाह—बद्धेति ॥ १४५—१४७ ॥  
एवं ध्यानावान्तरफलमाह—याममिति ॥ १४८ ॥ पापं तदुपलक्षितागाम्यादि-  
कर्मत्रयम् ॥

तुरीयातीतं वासुदेवचैतन्यम्  
नाभिकन्दात्समारभ्य यावद्वृद्यगोचरम् ॥ १४९ ॥  
जाग्रद्वृत्तिं विजानीयात्कण्ठस्थं स्वप्नवर्तनम् ।  
सुषुप्तं तालुमध्यस्थं तुर्यं भ्रूमध्यसंस्थितम् ॥ १५० ॥

<sup>१</sup> मात्र—उ.

तुर्यातीतं परं ब्रह्म ब्रह्मरन्धे तु लक्षयेत् ।

जाग्रद्वृत्तिं समारभ्य यावद्वृष्टिविलान्तरम् ॥ १९१ ॥

तत्रात्माऽयं <sup>१</sup>तुरीयः स्यात् <sup>२</sup>तुर्यान्ते विष्णुरुच्यते ।

वासुदेवापेक्षया तुर्यातीतं भिन्नं इत्याशङ्क्य तुर्यातीतभूमिकाप्रदर्शनपूर्वकं  
वासुदेवचैतन्यमेव तुर्यातीतमित्याह—नाभीति ॥ १४९ ॥ ब्रह्मरन्ध्राद्य-  
सम्भवप्रबोधतः तुर्यातीतमेव विष्णुतत्त्वं नेतरदित्यर्थः ॥ १९०—१९१ ॥

सगुणध्यानम्

ध्यानंनैव समाशुक्तो व्योक्ति चात्यन्तनिर्मले ॥ १९२ ॥

सूर्यकोटिद्वितीरं नित्योदितमधोक्षजम् ।

हृदयाम्बुरुहासीनं ध्यायेद्वा विश्वरूपिणम् ॥ १९३ ॥

अनेकाकारखचित्तमनेकवद्नान्वितम् ।

अनेकमुजसंयुक्तमनेकायुधमण्डितम् ॥ १९४ ॥

नानावर्णधरं देवं शान्तसुग्रमुदायुधम् ।

अनेकनयनाकीर्णं सूर्यकोटिसमप्रभम् ॥ १९५ ॥

ध्यायतो योगिनः सर्वमनोवृत्तिर्विनश्यति ।

सगुणनिर्गुणध्यानप्रकारमाह—ध्यानेनेति ॥ १९२ ॥ ध्यायेत्  
यद्वा विगजं विश्वरूपिणम् ॥ १९३ ॥ अनेकाकारखचितं स्थिरचरा-  
त्मकमित्यर्थः ॥ १९४—१९५ ॥ वैगाजपदध्यानफलमाह—ध्यायत इति ।  
वैराजपदध्यानारूढमनसः विगजो विभुत्वेन तत्रैव पर्यवसन्नत्वात् मनो मनस्तत्त्वं  
विहाय वैगाजपदमेव भजतीत्यर्थः ॥

<sup>१</sup> तु तुर्यस्य—क, अ २, तुरीयस्य—अ, अ १.

<sup>२</sup> कथान्ते—अ, अ १.

## निरुणध्यानम्

हृत्पुण्डरीकमध्यस्थं <sup>१</sup>चैतन्यज्योतिरव्ययम् ॥ १९६ ॥

कदम्बगोलकाकारं तुर्यातीतं परात्परम् ।

अनन्तमानन्दमयं चिन्मयं भास्करं विमुम् ॥ १९७ ॥

निवातदीपसद्शमकृत्रिममणिप्रभम् ।

ध्यायतो योगिनस्तस्य मुक्तिः करतले स्थिता ॥ १९८ ॥

निरुणध्यानमाह— हृदिति ॥ हृत्पुण्डरीकमध्ये प्रत्यग्रूपेण तिष्ठतीति हृत्पुण्डरीकमध्यस्थम् । हृत्सम्बन्धात जडत्वप्रसक्तौ चैतन्यज्योतिः । तस्य स्वाश्रयनाशात् व्ययप्रसक्तौ अव्ययम् ॥ १९६ ॥ कदम्बगोलकवत् आकारो यस्य सहस्रागस्य तत् कदम्बगोलकाकारम् । “तुर्यं मूर्खि संस्थितम्” इति श्रुत्यनुरोधेन तत्र उपलभ्यमानतुर्यायस्य तदाकृतित्वं युज्यत एवेत्यर्थः । तदुपाध्यमावे तदेव तुर्यातीतं पगत् तुर्यादपि परं, अनन्तं परिच्छेदत्रयाभावात्, “देशतः कालतो वस्तुतः परिच्छेदरहितं ब्रह्म” इति श्रुतेः । आनन्दमयं, परमानन्दस्वरूपत्वात् । चिन्मयं, चिन्मात्रत्वात् । खद्योतादिसूर्यान्तभासामपि भासकाकारत्वात् भास्करम् । विद्वदृष्ट्या ब्रह्मात्रं भवतीति विमुम् ॥ १९७ ॥ निवातदीपसद्शमं, आकाशवदचलत्वात् । अकृत्रिमकौस्तुभादिमणिप्रभं प्रकाशमात्रमित्यर्थः । य एवंविशेषणविशिष्टं ब्रह्म स्वमात्रधिया ध्यायति तस्य एवं ध्यायतो योगिनो मुक्तिः विदेहमुक्तिः करे स्थिता, तद्वावापन्त्वात् इत्यर्थः ॥ १९८ ॥

सविशेषज्ञानस्यापि मुक्तिहेतुत्वम्

विश्वरूपस्य देवस्य रूपं यत्किंचिदेव हि ।

स्थवीयः सूक्ष्ममन्यद्वा पश्यन्हृदयपङ्कजे ॥ १९९ ॥

<sup>१</sup> वैतानज्योति—अ, अ १.

ध्यायतो योगिनो यस्तु साक्षादेव प्रकाशते ।  
 अणिमादिफलं चैव सुखेनैवोपजायते ॥ १६० ॥ १  
 जीवात्मनः परस्यापि यद्येवमुभयोरपि ।  
 अहमेव परंब्रह्म ब्रह्माहमिति संस्थितिः ॥ १६१ ॥  
 समाधिः स तु विज्ञेयः सर्ववृत्तिविवर्जितः ।  
 ब्रह्म संपद्यते योगी न भूयः संसृतिं ब्रजेत् ॥ १६२ ॥  
 एवं विशोध्य तत्त्वानि योगी निःस्पृहचेतसा ।  
 यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयमेव प्रशास्यति ॥ १६३ ॥  
 ग्राह्याभावे मनःप्राणो निश्चयज्ञानसंयुतः ।  
 शुद्धसत्त्वे परे लीनो जीवः सैन्धवपिण्डवत् ॥ १६४ ॥  
 मोहजालकं मंधातं विश्वं पश्यति स्वप्रवत् ।  
 सुषुप्तिवदश्वरति स्वभावपरिनिश्चलः ॥ १६५ ॥  
 निर्वाणपदमाश्रित्य योगी कैवल्यमश्रुते ॥  
 इत्युपनिषत् ॥

निर्विशेषज्ञानिन एव मुक्तिः न हि सविशेषज्ञानिनः इत्याशङ्क्य सविशेषज्ञानस्य निर्विशेषज्ञानहेतुतया तस्यापि मुक्तिहेतुत्वं सिद्धं इत्याह—विश्वरूपस्येति ॥ १९९ ॥ अणिमादिफलं सकामस्येत्यर्थः । यदि निष्कामः तदा तस्य प्रत्यगभिन्नब्रह्मनिर्विकल्पकसमाधिः स्यादिति ॥ १६० ॥ समाधिलक्षणमप्याह—जीवेति । अब्रह्मत्वानात्मत्वप्रसक्तौ तनिरसनाय तयोः एकत्वप्रबोधाय च व्यतिहारेण अहमेव परं ब्रह्म ब्रह्माहमिति प्रत्यगभिन्नब्रह्मरूपेण

<sup>१</sup> सङ्ख्यातो—अ, अ १.

<sup>२</sup> निश्चयः—अ, अ १.

अवस्थानासंप्रज्ञातनिर्विकल्पकसमाधिभलात्  
पराक्षापेश्चुप्रत्यगभिन्ब्रह्मगतविशेषासम्भवप्रबोधसिद्धं ब्रह्म संपद्यते ॥ १६१—  
१६२ ॥ केन ब्रह्म सम्पद्यते इत्यत्र—एवं इति । स्वातिरित्स्पृहा-  
विरलचेतसा ब्रह्म सम्पद्यते इत्यर्थः । मनवादिकरणग्रामे सति ब्रह्मसम्पत्तिः  
कुत इत्याशङ्कुष्ठ निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रप्रबोधसमकालं आभासतो वाऽपि  
करणग्रामोऽस्तीति यदि भ्रान्तिः तदा तच्छान्तिः भवेदिति सदृष्टान्तमाह—  
यथेति । प्रशास्यते शास्यति ॥ १६३ ॥ कुतः? स्वातिरेकेण ग्राहाभावे  
प्राणोपाधिकः शुद्धसत्त्वे परे लीनो जीवः सलिलसैन्धवपिण्डवत् जीवभावं  
विहाय ब्रह्मभूतो भवतीत्यर्थः ॥ १६४ ॥ यदि स्वातिरित्स्पृहस्पृहतिः  
स्यात् तदा तत्स्फूर्तीं मोह इत्यादि । तदस्फूर्तीं सुषुप्तिवद्यश्चरति सः  
स्वभावपरिनिश्चलः ॥ १६५ ॥ स्वातिरित्स्पृहस्पृहत्यंपहवसिद्धनिष्प्रतियोगिक-  
ब्रह्ममात्रतया अवस्थानं यत् तत् निर्वाणपदम् । एवं ब्रह्ममात्रज्ञानयोगी  
ज्ञानसमकालं कैवल्यरूपेण अवशिष्यते इत्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दः  
त्रिशिखिब्रह्मणोपनिषत्समाध्यर्थः ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।  
प्रकृतोपनिषद्ब्रह्मात्म्या लिखिता स्फुटतो लघु ॥  
प्रकृतोपनिषद्ब्रह्मात्म्या षष्ठ्युत्तरशतत्रयम् ॥

इति श्रीमदीशायष्टोत्रशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे चतुश्चत्वारिंशत्सङ्क्षयापूरकं  
त्रिशिखिब्रह्मणोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

---

# दर्शनोपनिषत्

आप्यायन्तु—इति शान्तिः

जीवन्मुक्तिसाधनं अष्टाङ्गयोगः

दत्तात्रेयो महायोगी भगवान्भूतभावनः ।

चतुर्मुजो महाविष्णुर्योगसाम्राज्यदीक्षितः ॥ १ ॥

तस्य शिष्यो मुनिवरः सांकृतिर्नाम भक्तिमान् ।

पप्रच्छ गुरुमेकान्ते प्राञ्चलिर्विनयान्वितः ॥ २ ॥

भगवन्बूहि मे योगं साष्टाङ्गं सप्रपञ्चकम् ।

येन विज्ञानमात्रेण जीवन्मुक्तो भवाम्यहम् ॥ ३ ॥

सांकृते शृणु वक्ष्यामि योगं साष्टाङ्गदर्शनम् ।

यमादृष्टाङ्गयोगेऽब्रह्ममात्रप्रबोधतः ।

योगिनो यत्पदं यान्ति तत्कैवल्यपदं भजे ॥

इह खलु सामवेदप्रविभक्तेयं दर्शनोपनिषत् निर्विशेषब्रह्मज्ञानसहकृतयमादृष्टाङ्ग-  
योगप्रकटनश्चप्राप्नुय्यते । अस्याः स्वल्पप्रन्थितो विवरणमारभ्यते । साङ्कृतिदत्तात्रेयप्रश्नप्रतिवचनरूपेयं आख्यायिका  
विद्यास्तुत्यर्था । आख्यायिकामवतारयति—दत्तात्रेय इति ॥ १-२ ॥  
किमिति ? भगवन् इत्यादि ॥ ३ ॥ साङ्कृतिना एवं पृष्ठो भगवानाह—  
साङ्कृत इति ॥

अश्राङ्गोदेशः

यमश्च नियमश्चैव तथैवासनमंव च ॥ ४ ॥  
 प्राणायामस्तथा ब्रह्मन्प्रत्याहारस्ततः परम् ।  
 धारणा च तथा ध्यानं समाधिश्चाष्टमं मुनं ॥ ५ ॥  
 अष्टाङ्गगानि कानीत्यत आह— यमश्चेति ॥ ४—५ ॥

दशविधयमः

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्य दयाऽर्जवम् ।  
 क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश ॥ ६ ॥  
 दशधा भिन्नयमावयवमाह— अहिंसेति ॥ ६ ॥

अहिंसा

वेदोक्तेन प्रकारेण विना सत्यं तपोधन ।  
 कायेन मनसा वाचा हिंसा हिंसा न चान्यथा ॥ ७ ॥  
 आत्मा सर्वगतोऽच्छेद्यो न ग्राह्य इति या मतिः ।  
 मा चाहिंसा वरा प्रोक्ता मुने वेदान्तवेदिभिः ॥ ८ ॥

उपायोपेयभेदेन अहिंसादिदशयमलक्षणमाह—वेदेति । वेदोक्तयज्ञीयप-  
 श्वादिहिंसा अहिंसैवेत्यर्थः ॥ ७ ॥ यद्वा—आत्मेत्यादि ॥ ८ ॥

सत्यम्

चक्षुरादीन्द्रियैर्दृष्टं श्रुतं ग्रातं मुनीश्वर ।  
 तस्यैवोक्तिर्मितसत्यं विप्र तत्त्वान्यथा भवेत् ॥ ९ ॥

सर्वं सत्यं <sup>१</sup>वरं ब्रह्म न चान्यदिति या मतिः ।  
 तच्च सत्यं वरं प्रोक्तं वेदान्तज्ञानपारगैः ॥ १० ॥  
 उपायोपेयसत्यलक्षणं तु—चक्षुरित्यादि ॥ ९-२९ ॥

## अस्तेयम्

अन्यदीये तृणं रत्ने काञ्छने मौक्किकेऽपि च ।  
<sup>२</sup>मनसा विनिवृत्तिर्या तदस्तेयं विदुर्बुधाः ॥ ११ ॥  
 आत्मन्यनात्मभावेन व्यवहारविवर्जितम् ।  
 यत्तदस्तेयमित्युक्तमात्मविद्विर्महा<sup>३</sup>मुने ॥ १२ ॥

## ब्रह्मचर्यम्

कायेन वाचा मनमा स्त्रीणां परिवर्जनम् ।  
 ऋतौ भार्या नदा <sup>४</sup>स्वस्य ब्रह्मचर्यं तदुच्यते ॥ १३ ॥  
 ब्रह्मभावे मनश्चारं ब्रह्मचर्यं परन्तप ।

## दया

स्वात्मवत्सर्वभूतंषु कायेन मनमा गिरा ॥ १४ ॥  
 अनुज्ञा या दया मैव प्रोक्ता वेदान्तवंदिभिः ।

## आर्जवम्

पुत्रं मित्रे कलत्रे च रिषौ स्वात्मनि संततम् ॥ १५ ॥  
 एकरूपं <sup>५</sup>मुने यत्तदार्जवं प्रोच्यते मया ।

<sup>१</sup> परं—अ., क.      <sup>२</sup> मनसाऽपिनि—अ.      <sup>३</sup> मते—क, अ, अ १.  
<sup>४</sup> तस्य—अ १, क.      <sup>५</sup> मनो—अ.

क्षमा

कायेन मनसा वाचा शत्रुभिः परिपीडिते ॥ १६ ॥  
बुद्धिक्षोभनिवृत्तिर्या क्षमा सा मुनिपुङ्गव ।

मनिः

वेदादेव विनिर्मांकः संमारम्य न चान्यथा ॥ १७ ॥  
इति विज्ञाननिष्पत्तिर्वृतिः प्रोक्ता हि वैदिकैः।  
अहमात्मा न चान्योऽम्मीन्येवमपच्युता मनिः ॥ १८ ॥

मिताहारः

अल्पमृष्टाशनाभ्यां च चतुर्थीशावशेषकम् ।  
<sup>१</sup>तस्माद्योगानुगुणयेन भोजनं मितभोजनम् ॥ १९ ॥

शौचम्

स्वदेहमलनिर्मांको मृजज्ञाभ्यां महामुने ।  
यत्तच्छौचं भवेद्वाद्यं मानसं मननं विदुः ॥ २० ॥  
अहं शुद्ध इति ज्ञानं शौचमाहुर्मनीषिणः ।  
अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः ॥ २१ ॥  
उभयोरन्तरं ज्ञात्वा कस्य शौचं विद्धीयते ।  
ज्ञानशौचं परित्यन्य बाह्य यो रमते नरः ॥ २२ ॥  
स मूढः काञ्चनं त्यक्त्वा लोष्टं गृह्णाति सुत्रत ।

<sup>१</sup> यस्य—अ,

ब्रह्मात्मवेदनविधिः

ज्ञानाभृतेन तृसम्य कृतकृत्यस्य योगिनः ॥ २३ ॥  
 न चास्ति किंचित्कर्तव्यमस्ति चेन स तत्त्ववित् ।  
 लोकत्रयेऽपि कर्तव्यं किंचिन्नास्त्यात्मवेदिनाम् ॥ २४ ॥  
 तस्मात्सर्वप्रथमेन मुनेऽहिंसादिसाधनैः ।  
 आत्मानमक्षरं ब्रह्म विद्धि<sup>१</sup>ज्ञानात् वेदनात् ॥ २५ ॥

इति प्रथमः स्वणः

दशविधनियमः

तपः संतोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।  
 सिद्धान्तश्रवणं चैव हीर्मतिश्च जपो व्रतम् ॥ १ ॥  
 एते च नियमाः प्रोक्तास्तान्वद्यामि क्रमाच्छृणु ।  
 दशधा भिन्ननियमावयवानाह—तप इति ॥ १ ॥

तपः

वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः ॥ २ ॥  
 शरीरशोषणं यत्तत्प इत्युच्यते बुधैः ।  
 को वा मोक्षः कथं<sup>२</sup>केन संसारं प्रतिपन्नवान् ॥ ३ ॥  
 इत्याऽलोकनमर्थज्ञास्तपः शंसन्ति पण्डिताः ।  
 उपायोपेयंभेदेन तपआदिनियमलक्षणमाह—वेदेति ॥ २-१० ॥

<sup>१</sup> ज्ञानात्म—अ,

<sup>२</sup> तेज—उ,

<sup>३</sup> लोकन—अ २, क.

सन्तोषः

३८४  
हृच्छालाभतो नित्यं प्रीतिर्या जायते नृणाम् ॥ ४ ॥  
तत्संतोषं विदुः प्राज्ञाः परिज्ञानैकलत्पराः ।  
<sup>१</sup>ब्रह्मावलोकपर्यन्ताद्विरक्षया यद्गमेत्प्रियम् ॥ ९ ॥  
सर्वत्र विगतस्त्रेहः संतोषं परमं विदुः ।

आस्तिक्यम्

श्रौते स्मार्ते च विश्वासो <sup>२</sup>यत्तदास्तिक्यमुच्यते ॥ ६ ॥

दानम्

न्यायार्जितधनं श्रान्ते श्रद्धया वैदिके जनं ।  
अन्यद्वा <sup>३</sup>यत्प्रदीयन्ते तद्वानं प्रोच्यते मया ॥ ७ ॥

ईश्वरपूजनम्

रागाद्यपेतं हृदयं वागदुष्टाऽनृतादिना ।  
हिंसादिरहितं कर्म यत्तदीश्वरपूजनम् ॥ ८ ॥

सिद्धान्तश्रवणम्

सत्यं ज्ञानमनन्तं च परानन्दं परं ध्वम् ।  
प्रत्यगित्यवगान्तव्यं वेदान्तश्रवणं <sup>४</sup>बुधः ॥ ९ ॥

<sup>१</sup> ब्रह्मादि—उ.

<sup>२</sup> यस्तदा—अ, अ १.

<sup>३</sup> यत्प्रदीयेत—अ. यत्प्रतीयन्ते—उ १.

<sup>४</sup> बुधः—अ, अ १, अ २. बुध—क.

स्त्रीः

वेदलौकिकमार्गेषु कुत्सितं कर्म यद्वेत् । १  
 तस्मिन्भवति या लज्जा ह्रीः सैवेति प्रकीर्तिता ॥ १० ॥

मतिः

वैदिकेषु च सर्वेषु श्रद्धा या सा मतिर्भवेत् ।  
 गुरुणा चोपदिष्टोऽपि <sup>१</sup>तत्र संबन्धवर्जितः ॥ ११ ॥  
 वेदविरुद्धमार्गः गुरुणा उपदिग्याऽपि तत्र संबन्धवर्जितः सन  
 वेदोक्तानुष्ठानमेव कुर्यादित्यर्थः ॥ ११-१६ ॥

जपः

वेदोक्तेनैव मार्गेण मन्त्राभ्यामो जपः स्मृतः ।  
 कल्पसूत्रे यथा वेदे धर्मशास्त्रे पुराणके ॥ १२ ॥  
 इतिहासे च वृत्तिर्था स जपः प्रोच्यते मया ।  
 जपस्तु द्विविधः प्रोक्तो वाचिको मानमस्तथा ॥ १३ ॥  
 वाचिकोपांशुरुचैश्च द्विविधः परिकीर्तितः ।  
 मानसो मननध्यानभेदाद्वैविद्यमाश्रितः ॥ १४ ॥  
 उच्चर्जपादुपांशुश्च महत्वगुणमुच्यते ।  
 मानसश्च तथोपांशोः सहत्वगुणमुच्यते ॥ १५ ॥

<sup>१</sup> तत्त्व—अ.

उच्चैर्जपश्च सर्वेषां यथोक्तफलदो भवेत् ।  
त्रीचैः श्रोत्रेण चेन्मन्त्रः <sup>१</sup>श्रुतश्चिष्टफलं भवेत् ॥ १६ ॥

इति द्वितीयः खण्डः

आसनानि नव  
स्वस्तिकं गोमुखं पद्मं वीरमिहासने तथा ।  
भद्रं मुक्तासनं चैव मग्नामनमेव च ॥ १ ॥  
सुखासनसमार्थ्यं च नवमं मुनिपुङ्गव ।  
यमनियमलक्षणमुक्त्वा आसनलक्षणमाह—स्वस्तिकमिति ॥ १-१४ ॥

स्वस्तिकम्

जानूर्वोरन्तरे कृत्वा सम्यक् पादतले उभे ॥ २ ॥  
समग्रीवशिरःकायः स्वस्तिकं नित्यप्र्यसेत् ।

गोमुखम्

सब्ये दक्षिणगुल्फं तु शृष्टपाश्चेऽनियोजयेत् ॥ ३ ॥  
दक्षिणेऽपि तथा सब्यं गोमुखं तत्प्रचक्षते ।

पदम्

अङ्गुष्ठावधि गृहीयाद्वस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु ॥ ४ ॥  
ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्र कृत्वा पादतलद्वयम् ।  
पद्मासनं भवेत्प्राज्ञ सर्वरोगभयापहम् ॥ ५ ॥

<sup>१</sup> श्रुतःस्याचिष्टफले—अ. श्रुतं चे—क, अ २.

देहमध्यं विजानीहि मनुजानां तु सांकृते ।  
 कन्द्रस्थ्यानं मुनिश्रेष्ठ मूलाधारान्वाङ्गुलम् ॥ ३ ॥  
 चतुरङ्गुलमायामविस्तारं मुनिपुङ्गव ।  
 कुकुटाण्डवदाकारं भूषितं तु त्वगादिभिः ॥ ४ ॥  
 तन्मध्ये नाभिरित्युक्तं योगज्ञैर्मुनिपुङ्गव ।

प्राणायामस्य नाडीपुङ्गदेहप्राणनिर्वर्त्यत्वेन देहतत्कार्येयत्तापगिज्ञानं विन  
 प्राणायामसिद्धिः न स्यादिति देहनाडीप्राणेयत्तां प्रपञ्चयति—शरीरमिति  
 शिखिस्थानं अग्निस्थानम् ॥ १—१० ॥

## नाडीपरिगणनम्

कन्द्रमध्यस्थिता नाडी सुषुम्नेति प्रकीर्तिता ॥ ५ ॥  
 तिष्ठन्ति परितस्तस्य नाडयो मुनिपुङ्गव ।  
 द्विसप्तिसहव्याणि तामां मुख्याश्चतुर्दशा ॥ ६ ॥  
 सुषुम्ना पिङ्गला तद्वदिङ्गा चैव सरस्वती ।  
 पूषा च वरुणा चैव हस्तिजिह्वा यशस्विनी ॥ ७ ॥  
 अलम्बुसा कुहूश्चैव विश्वोदारा पथस्विनी ।  
 शङ्खिनी चैव गान्धारा इति मुख्याश्चतुर्दशा ॥ ८ ॥  
 आसां मुख्यतमास्तिस्तस्तिसृष्टेकोत्तमोत्तमा ।  
 ब्रह्मनाडीति सा प्रोक्ता मुने वेदान्तवेदिभिः ॥ ९ ॥  
 पृष्ठमध्यस्थितेनास्था वीणादण्डेन सुव्रत ।  
 सह मस्तकपर्यन्तं सुषुम्ना सुप्रतिष्ठिता ॥ १० ॥

कुण्डल्याः स्थानं स्वरूपं च

नाभिकन्दादधः स्थानं कुण्डल्या द्युम्लं मुने ।

अष्टप्रकृतिरूपा सा कुण्डली मुनिसत्तम ॥ ११ ॥

यथावद्वायुचेष्टां च जलाकादीनि नित्यशः ।

परितः कन्दपार्श्वेषु निरुद्घैव सदा स्थिता ॥ १२ ॥

स्वमुखेन <sup>१</sup>सदाऽज्ञेष्टच ब्रह्मरन्धमुखं मुने ।

कुण्डलिनीस्थानं तत्त्वरूपं चाह नाभीति । पृथिव्यसंजोवाव्या-  
काशमनोबुद्धयहङ्काररूपिण्यः अष्टौ प्रकृतयः ॥ ११-१२ ॥

नाडीस्थानानि

सुषुम्नाया इडा मध्ये दक्षिणे पिङ्गला स्थिता ॥ १३ ॥

मरस्वती कुहूश्चैव सुषुम्नापार्श्वयोः स्थिते ।

गान्धारा हस्तिजिह्वा च इडायाः पृष्ठपूर्वयोः ॥ १४ ॥

पूर्णा यशस्विनी चैव पिङ्गलापृष्ठपूर्वयोः ।

कुहोश्च हस्तिजिह्वाया मध्ये विश्वोदरा स्थिता ॥ १५ ॥

यशस्विन्याः कुहोर्मध्ये वरुणा सुप्रतिष्ठिता ।

पूर्णायाश्च सरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता यशस्विनी ॥ १६ ॥

गान्धारायाः सरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता च शङ्खिनी ।

अलम्बुसा स्थिता पायुपर्यन्तं कन्दमध्यगा ॥ १७ ॥

पूर्वभागे सुषुम्नाया राकायाः संस्थिता कूहूः ।

अधश्चोर्ध्वं स्थिता नाडी <sup>२</sup>याम्यनासान्तमिष्यते ॥ १८ ॥

<sup>१</sup> समावेष्टय—क, अ २.

<sup>२</sup> वामना—अ, अ १।

इडा तु सव्यनासान्तं संस्थिता मुनिपुङ्गव ।  
 यशस्विनी च वामस्य पादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते ॥ १९ ॥  
 पूषा वामाक्षिपर्यन्ता पिङ्गलायास्तु पृष्ठतः ।  
 पयस्विनी च याम्यस्य कर्णान्तं प्रोच्यते बुधैः ॥ २० ॥  
 सरस्वती तथा <sup>१</sup>चोर्ध्वं गता जिह्वा तथा मुने ।  
 हस्तिजिह्वा तथा सव्यपादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते ॥ २१ ॥  
 शङ्खिनी नाम या नाडी सव्यकर्णान्तमिष्यते ।  
 गान्धारा सव्यनेत्रान्ता प्रोक्ता वेदान्तवेदिभिः ॥ २२ ॥  
 विश्वोदराभिधा नाडी कन्दमध्ये व्यवस्थिता ।

मुषुम्नानार्ढीपरितः प्रधाननाड्यः तिष्ठन्तायाह—सुषुम्नाया इति  
 ॥ १३—२२ ॥

नाडीषु वायुसञ्चारः

प्राणोऽपानस्तथा व्यानः ममानोदान एव च ॥ २३ ॥  
 नागः कूर्मश्च कृकगे देवदत्तो धनंजयः ।  
 एते नाडीषु मर्वासु चरन्ति दश वायवः ॥ २४ ॥  
 तेषु प्राणाद्यः पञ्च मुख्याः पञ्चसु सुव्रत ।  
 प्राणमङ्गस्तथाऽपानः पूज्यः प्राणमन्योर्मुनं ॥ २५ ॥  
 आस्यनासिक्त्योर्मध्ये नाभिमध्ये तथा हृदि ।  
 प्राणसंज्ञोऽनिलो नित्यं वर्तते मुनिसत्तम ॥ २६ ॥

<sup>१</sup> चोर्ध्वं गता जिह्वान्तं स्थिता मुने—क, अ २. चोर्ध्वानाजिह्वायास्तथा मुने—अ १.  
 चोर्ध्वाजिह्वायाश्च तथा मुने—अ.

अपानो वर्तं नित्यं गुद<sup>१</sup>मध्योरुजानुषु ।  
 उदरे सकले कथां नाभौ जड्हे च सुव्रत ॥ २७ ॥  
 व्यानः श्रोत्राक्षिमध्ये च ककुञ्छयां गुल्फयोरपि ।  
 प्राणस्थानं गले चैव वर्तं मुनिपुङ्गव ॥ २८ ॥  
 उदानसंज्ञो विज्ञेयः पादयोर्हस्तयोरपि ।  
 समानः सर्वदेहेषु व्याप्य तिष्ठत्य<sup>२</sup>संशयः ॥ २९ ॥  
 नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिषु संस्थिताः ।

एवमुक्तासु नार्ढीषु प्राणादयश्चरन्तीत्याह—प्राण इति ॥ २३—२६ ॥  
 उदरे सकले यावदुदरे । जड्हे जड्हयायां ॥ २७—२९ ॥

वायुव्यापाराः

निःश्वासोच्छ्वासकामाश्य प्राणकर्म हि सांकृते ॥ ३० ॥  
 अपानाख्यस्य वायोस्तु विष्मूत्रादिविमर्जनम् ।  
 समानः सर्वसामीप्यं करोति मुनिपुङ्गव ॥ ३१ ॥  
 उदान ऊर्ध्वगमनं करोत्येव न संशयः ।  
 व्यानो <sup>३</sup>विवादकृत् प्रोक्तो मुने वेदान्तवेदिभिः ॥ ३२ ॥  
 उद्धारादिगुणः प्रोक्तो नागाख्यस्य महामुने ।  
 धनंजयस्य शोभादि कर्म प्रोक्तं हि सांकृते ॥ ३३ ॥  
 निमीलनादि कूर्मस्य क्षुधा तु कृकरस्य च ।  
 देवदत्तस्य विप्रेन्द्र तन्द्रीकर्म प्रकीर्तिम् ॥ ३४ ॥

प्राणादिदशवायुव्यापारानाह—निःश्वासेति ॥ ३०—३४ ॥

<sup>१</sup> मेद्रोर—क, अ २.

<sup>२</sup> संशयम्—अ.

<sup>३</sup> विनाद—क.

नाडीदेवता:

सुषुम्नायाः शिवो दंव इडाया देवता हरिः । ०

पिङ्गलाया विरिञ्चः स्यात् सरस्वत्या विराणमुने ॥ ३९ ॥

पूषाऽधिदेवता प्रोक्तो वरुणा वायुदेवता ।

हस्तिजिह्वाभिधायास्तु वरुणो देवता भवेत् ॥ ३६ ॥

यशस्विन्या मुनिश्रेष्ठ भगवान् भास्करस्तथा ।

अलम्बु<sup>१</sup>माया अब्रात्मा वरुणः परिकीर्तिः ॥ ३७ ॥

कुहोः क्षुदेवता प्रोक्ता गान्धारी चन्द्रदेवता ।

शङ्खिन्याश्वन्द्रमास्तद्वत् पथस्विन्याः प्रजापतिः ॥ ३८ ॥

विश्वोदराभिधायास्तु भगवान् पावकः पतिः ।

मुषुम्नादिचतुर्दशनार्डादेवताभेदमाह सुषुम्नाया इति ॥ ३९-३८ ॥

नाडीषु चन्द्रसूर्यसञ्चारः

इडायां चन्द्रमा नित्यं चरत्येव महामुने ॥ ३९ ॥

पिङ्गलायां रविस्तद्वन्मुने वेदविदां वर ।

सदेऽपिङ्गलयांश्वन्द्रसूर्यौ चागतः इत्याह—इडायामिति ॥ ४० ॥

नाडीषु संवत्सरात्मकप्राणसूर्यसञ्चारः

पिङ्गलाया इडायां तु वायोः संक्रमणं तु यत् ॥ ४० ॥

तदुत्तरायणं प्रोक्तं मुने वेदान्तवेदिभिः ।

इडायाः पिङ्गलायां तु प्राणसंक्रमणं मुने ॥ ४१ ॥

<sup>१</sup> वाधमन्यात्मा—अ, अ १.

दक्षिणायनभित्युक्तं पिङ्गलायामिति श्रुतिः ।

डापिङ्गल्योः संविं यदा प्राणः समागतः ॥ ४२ ॥

अमावास्या तदा प्रोक्ता देहे देहभृतां वर ।

मूलाधारं यदा प्राणः प्रविष्टः पण्डितोत्तम ॥ ४३ ॥

तदाद्यं विषुवं प्रोक्तं तापसैस्तापसोत्तम ।

प्राणसंज्ञो मुनिश्रेष्ठं मूर्धनं <sup>१</sup>प्राविशद्यदा ॥ ४४ ॥

तदन्त्यं विषुवं प्रोक्तं तापसैस्तत्त्वचिन्तकैः ।

निःश्वासोच्छ्वासनं सर्वं मासानां संक्रमो भवेत् ॥ ४५ ॥

<sup>२</sup>इडया कुण्डलीस्थानं यदा प्राणः समागतः ।

सोमग्रहणभित्युक्तं तदा तत्त्वविदां वर ॥ ४६ ॥

यदा पिङ्गलया प्राणः कुण्डलीस्थानमागतः ।

तदातदा भवेत् सूर्यग्रहणं मुनिपुङ्गव ॥ ४७ ॥

संवत्सरात्मकप्राणसूर्यस्य नाडीगशिसञ्चागतो दिनपश्चमासायनादिग्रहणादिः  
भवतीत्याह—पिङ्गलाया इति ॥ ४१—४७ ॥

### अन्तस्तीर्थप्राशस्त्यम्

श्रीपर्वतं शिरःस्थाने केदारं तु ललाटके ।

वाराणसीं महाप्राज्ञं भ्रुवोघ्राणस्य मध्यमे ॥ ४८ ॥

कुरुक्षेत्रं कुचस्थाने प्रयागं हृत्सरोरुहे ।

चिदम्बरं तु हन्मध्ये आधारे कमलालयम् ॥ ४९ ॥

<sup>१</sup> प्रविशेयदा—अ.

<sup>२</sup> इडायाः—अ, अ १, अ २.

आत्मतीर्थं समुत्सृज्य वहिस्तीर्थानि यो ब्रजेत् ।

करस्यं स महारतं त्यक्त्वा काचं विमार्गते ॥ ९० ॥

भावतीर्थं परं तीर्थं प्रमाणं सर्वकर्मसु ।

अन्यथाऽलिङ्कचते कान्ता<sup>१</sup> अन्यथाऽलिङ्कचते सुता ॥ ९१ ॥

तीर्थानि तोयपूर्णानि देवान् काष्ठादिनिर्भितान् ।

योगिनो न प्रपद्यन्ते स्वात्मप्रत्ययकारणात् ॥ ९२ ॥

वहिस्तीर्थात् परं तीर्थमन्तस्तीर्थं महामुने ।

आत्मतीर्थं महातीर्थमन्यतीर्थं निरर्थकम् ॥ ९३ ॥

चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्त्रानैर्न शुद्ध्यति ।

शतशोऽपि जलैर्घैतं सुराभाण्डमिवाशुनि ॥ ९४ ॥

विषुवायनकालेषु ग्रहणे चान्तरं सदा ।

वाराणस्यादिके स्थाने स्त्रात्वा शुद्धो भवेत्तरः ॥ ९५ ॥

ज्ञानयोगपरगाणां तु पादग्रक्षालितं जलम् ।

भावशुद्धचर्थं<sup>२</sup> मज्जानां तत्तीर्थं मुनिपुज्जव ॥ ९६ ॥

मस्तकाद्याधारान्तं श्रीझौलादिपुण्यस्थलं भवतील्याह—श्रीपर्वतमिति  
॥ ४८-४९ ॥ एवं भावनामयमात्मतीर्थं तदेव मुमुक्षुभिः सेव्यं इति  
स्तौति—आत्मतीर्थमिति । काचं—काचमणिम् ॥ ९० ॥ देहादिनिर्वर्त्य-  
सर्वकर्मसु तीर्थबुद्धिः गगेयसीत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तस्तु—अन्यथोति ॥ ९१ ॥  
अत एवं तीर्थानीति ॥ ९२ ॥ तदेव आत्मतीर्थम् ॥ ९३ ॥ बाद्यतीर्थस्त्रानेन  
कोऽपि न शुद्ध्यतीति सदृष्टान्तमाह—चित्तमिति ॥ ९४ ॥ न तथा

<sup>१</sup> ‘भावेनदुहिताऽन्यथा’ इति पाठान्तरम्—उ.      <sup>२</sup> मज्जानात्—अ, अ १.

भावतीर्थस्त्रानेनेत्याह—विषुवेति । भूमध्यादिस्थानेषु स्वात्मलक्ष्यानुसन्धानतः  
शुद्धात्मैव भवतीत्यर्थः ॥ ९५ ॥ एवमात्मतीर्थस्त्रानानधिकारे[री]तीर्थपादचरणोद-  
कस्पर्शातः शुद्धो भवतीत्याह—ज्ञानेति ॥ ९६ ॥

आत्मनि शिवदृष्टिः

तीर्थे दाने जपे यज्ञे काष्ठे पाषाणके सदा ।  
शिवं पश्यति मूढात्मा शिवे देहे प्रतिष्ठिते ॥ ९७ ॥  
अन्तःस्थं मां परित्यज्य बहिष्ठं यस्तु सेवते ।  
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य लिहेत् कूर्परमात्मनः ॥ ९८ ॥  
शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः ।  
अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमाः परिकल्पिताः ॥ ९९ ॥

स्वाज्ञाः स्वातिरिक्तात्मानं द्रष्टुमिच्छन्ति, स्वज्ञाः स्वमात्मानं पश्यन्तीत्याह—  
तीर्थे इति ॥ ९७-९८ ॥ अत एव शिवमिति । अयोगिजनानुकम्पया  
प्रतिमाऽपि विकल्पितेत्याह—अज्ञानामिति ॥ ९९ ॥

ब्रह्मदर्शनेन ब्रह्मभावः

अपूर्वमपरं ब्रह्म स्वात्मानं सत्यमद्वयम् ।  
प्रज्ञानघनमानन्दं यः पश्यति स पश्यति ॥ ६० ॥  
नाडीपुङ्गं सदाऽसारं नरभावं महामुने ।  
समुत्सृज्यात्मनाऽन्त्मानमहमित्यवधारय ॥ ६१ ॥  
अशरीरं शरीरेषु महान्तं विमुमीश्वरम् ।  
आनन्दमक्षरं साक्षान्मत्वा धीरो न शोचति ॥ ६२ ॥

विभेदजनके ज्ञाने नष्टे ज्ञानबलान्मुने ।

आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं <sup>१</sup>किं करिष्यति ॥ ६३ ॥

निर्विशेषं ब्रह्म यः पश्यति स तदेव भवतीत्याह—अपूर्वमिति ।  
यस्मात् पूर्वं कारणं परं कार्यं वा न विद्यते तत् कार्यकारणकलनाशून्यं  
ब्रह्म स्वमात्रमिति यः पश्यति स तन्मात्रमवशिष्यते इत्यर्थः ॥ ६० ॥  
यावच्चित्तशुद्धिः तावत् नरभावनया योगं युज्जीत, ततः शुद्धावुदितायां नरभावं  
विहाय ब्रह्मावेन वर्तस्वेत्याह—नाडीति ॥ ६१ ॥ यः कोऽप्येवमात्मानं  
जानाति स कृतकृत्यो भवतीत्याह—अशरीरमिति ॥ ६२ ॥ स्वाज्ञान-  
जभेददृष्ट्यपाये निर्भदं ब्रह्म प्रसीदतीत्याह—विभेदेति । वस्तुतः कालत्रये-  
उप्यसंभवभेदः किं करिष्यति? स्वस्य लब्धात्मकत्वान्निर्भदं ब्रह्मावशिष्यते  
इत्यर्थः ॥ ६३ ॥

इति चतुर्थः खण्डः

### नाडीशोधनम्

सम्यक्कथय मे ब्रह्मन् नाडीशुद्धिं समाप्तः ।

यया शुद्धया सदा ध्यायन् जीवन्मुक्तो भवाम्यहम् ॥ १ ॥

सांकृते शृणु वक्ष्यामि नाडीशुद्धिं समाप्तः ।

विध्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसंकल्पवर्जितः ॥ २ ॥

यमाद्यष्टाङ्गसंयुक्तः शान्तः सत्यपरायणः ।

स्वात्मन्यवस्थितः सम्यक् ज्ञानिभिश्च सुशिक्षितः ॥ ३ ॥

<sup>१</sup> कः—अ.

पर्वताग्रे नदीतीरि विल्वमूले वनेऽथवा ।

<sup>३</sup> नोरमे शुचौ देशे मठं कृत्वा समाहितः ॥ ४ ॥

आरभ्य चासनं पश्चात् प्राढ्मुखोदङ्मुखोऽपि वा ।

समग्रीवशिरःकायः संवृतास्यः सुनिश्चलः ॥ ५ ॥

नासाग्रे शशभृद्धिस्वे बिन्दु<sup>१</sup>पद्ये तुरीयकम् ।

स्ववन्तमसृतं पश्येन्नेत्राभ्यां सुसमाहितः ॥ ६ ॥

<sup>२</sup> इडया प्राणमाकृष्य पूरयित्वोदरस्थितम् ।

ततोऽर्थं देहमध्यस्थं ध्यायन् ज्वालावलीयुतम् ॥ ७ ॥

बिन्दुनादसमायुक्तमग्निबीजं विचिन्तयेत् ।

पश्चाद्विरेचयेत् सम्यक् प्राणं पिङ्गलया बुधः ॥ ८ ॥

पुनः पिङ्गलयाऽपूर्य वहित्रीजमनुस्मरेत् ।

पुनर्विरेचयेद्विमानिडैव शैनैःशैनैः ॥ ९ ॥

त्रिचतुर्वासरं <sup>३</sup>वाऽथ त्रिचतुर्वारमेव <sup>४</sup>च ।

षट्<sup>५</sup>कृत्वो विचरेन्नित्यं <sup>६</sup>रहस्येवं त्रिसंघिषु ॥ १० ॥

नरभावमावितनाढीशुद्विलुभुत्सया पृच्छतीत्याह—सम्यगिति ॥ १ ॥

प्रश्नोत्तरं भगवानाह—साङ्घकृत इति ॥ कस्तत्प्रकारः इत्यत्र—विध्युक्तेति

॥ २-५ ॥ स्वदमृतचन्द्रबिम्बं नासाग्रे अवलोकयन् योगं समारभेदित्यर्थः

॥ ६-७ ॥ रामिति अग्निबीजम् ॥ ८-९ ॥ प्रतिदिनं त्रिचतु-

र्वारम् ॥ १०-१४ ॥

<sup>१</sup> मध्यतु—अ १. मध्यं तु—अ.      <sup>२</sup> इडाया:—अ.      <sup>३</sup> वाऽपि—अ.

<sup>४</sup> वा—अ.      <sup>५</sup> कृत्वा—अ १, अ ३, क.      <sup>६</sup> रहस्यै—उ, अ १.

नाडीशुद्धिचिह्नानि

नाडीशुद्धिमवाप्नोति पृथक् चिह्नोपलक्षितः । ११ ॥  
 शरीरलघुता दीर्घिवृद्धेर्जठरवर्तिनः ॥ ११ ॥  
 नादाभिव्यक्तिरित्येतच्चिह्नं तत्सिद्धिसूचकम् ।  
 यावदेतानि संपर्शयेत्तावदेवं समाचरेत् ॥ १२ ॥

स्वात्मशुद्धिः

अथैतत् परित्यज्य स्वात्मशुद्धिं समाचरेत् ।  
 आत्मा शुद्धः सदा नित्यः सुखरूपः स्वयंप्रभः ॥ १३ ॥  
 अज्ञानान्मलिनो भाति ज्ञानाच्छुद्धो <sup>१</sup>विभात्ययम् ।  
 अज्ञानमलपङ्कं यः क्षालयेज्ञानतोयतः ।  
 स एव सर्वदा शुद्धो नान्यः कर्मरतो हि सः ॥ १४ ॥

इति पञ्चमः खण्डः

प्राणायामलक्षणम्

प्राणायामक्रमं वक्ष्ये सांकृते शृणु सादरम् ।  
 प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः ॥ १ ॥  
 वर्णत्रयात्मकाः प्रोक्ता रेचपूरककुम्भकाः ।  
 स एष प्रणवः प्रोक्तः प्राणायामश्च तन्मयः ॥ २ ॥

<sup>१</sup> अब—उ,

इडया वायुमाकृष्य पूर्यित्वोदरस्थितम् ।  
 श्वनैः षोडशभिर्मौत्रैरकारं तत्र संस्मरेत् ॥ ३ ॥  
 पूरितं धारयेत् पश्चाच्चतुःषष्ठ्या तु मात्रया ।  
 उकारमूर्तिमत्रापि संस्मरन् प्रणवं जपेत् ॥ ४ ॥  
 यावद्वा शक्यते तावद्वारयेऽन्नपतत्परः ।  
 पूरितं रेचयेत् पश्चान्मकारेणानिलं बुधः ॥ ५ ॥  
 श्वनैः पिङ्गलया तत्र द्वात्रिशन्मात्रया पुनः ।  
 प्राणायामो भवेदेषः ततश्चैवं समभ्यसेत् ॥ ६ ॥  
 पुनः पिङ्गलयाऽपूर्य मात्रैः षोडशभिस्तथा ।  
 अकारमूर्तिमत्रापि स्मरेदेकाग्रमानमः ॥ ७ ॥  
 धारयेत् पूरितं विद्वान् प्रणवं संजपन् वशी ।  
 उकारमूर्तिं <sup>१</sup>सं ध्यायन् चतुःषष्ठ्या तु मात्रया ॥ ८ ॥  
 मकारं तु सरन् पश्चाद्रेचयेदिडयाऽनिलम् ।  
 एवमेव पुनः कुर्यादिडयाऽपूर्य बुद्धिमान् ॥ ९ ॥  
 एवं समभ्यसेन्नित्यं प्राणायामं मुनीश्वर ।  
 एवमभ्यासतो नित्यं षण्मासाद् ज्ञानवान् भवेत् ॥ १० ॥  
 वत्सराद्वह्निविद्वान् स्यात् तस्मान्नित्यं समभ्यसेत् ।  
 योगाभ्यासरतो नित्यं स्वधर्मनिरतश्च यः ॥ ११ ॥  
 प्राणसंयमनेनैव ज्ञानान्मुक्तो भविष्यति ।

विशेषतः प्राणायामेति ॥ १-११ ॥

<sup>१</sup> संधाय च—अ २. संध्यायां च—अ १. स ध्यायात् च—अ.

## पूरकादिलक्षणम्

बाह्यादापूरणं वायोरुद्दे पूरको हि सः ॥ १२ ॥ १

संपूर्णकुम्भवद्रायोर्धारणं कुम्भको भवेत् ।

बहिर्विरेचनं वायोरुद्दराद्रेचकः स्मृतः ॥ १३ ॥

पूरकादिलक्षणमाह—बाणादिति ॥ १२-१३ ॥

## प्राणायामसिद्धयः

प्रस्वेदजनको यस्तु प्राणायामेषु सोऽधमः ।

कम्पनं मध्यमं विद्यादुत्थानं चोत्तमं विदुः ॥ १४ ॥

पूर्वपूर्वं प्रकुर्वीत यावदुत्थानसंभवः ।

संभवत्युत्तमे प्राज्ञः प्राणायामे सुखी भवेत् ॥ १५ ॥

प्राणायामेन चित्तं तु शुद्धं भवति सुव्रत ।

चित्ते शुद्धे शुचिः साक्षात् प्रत्यगज्योतिर्व्यव<sup>१</sup>स्थितः ॥ १६ ॥

<sup>२</sup>प्राणश्चित्तेन संयुक्तः परमात्मनि तिष्ठति ।

प्राणायामपरस्यास्य पुरुषस्य महात्मनः ॥ १७ ॥

देहश्चोत्तिष्ठते तेन किंचिज्ज्ञानाद्विमुक्तता ।

रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भकं नित्यमन्यसेत् ॥ १८ ॥

सर्वपापविनिर्मुक्तः सम्यज्ञानमवाग्न्यात् ।

मनोजवत्वमाप्नोति पलितादि च नश्यति ॥ १९ ॥

<sup>१</sup> स्थितम्—अ.

<sup>२</sup> प्राणचि—उ, क.

प्राणायामैकनिष्ठस्य न किंचिदपि दुर्लभम् ।

स्मान् सर्वप्रथलेन प्राणायामान् ममभ्यमेत् ॥ २० ॥

स्वेदादिसिद्धिमाह— प्रस्वेदेति ॥ १४—१७ ॥ उत्तिष्ठते भूत-  
लात् ॥ १८—२० ॥

रोगनिर्वर्तकप्राणायामभेदाः

विनियोगान् प्रवक्ष्यामि प्राणायामस्य सुव्रत ।

संध्ययोर्ब्रह्मकालेऽपि मध्याहे वाऽथवा सदा ॥ २१ ॥

बाह्यं प्राणं समाकृष्य <sup>१</sup>पूरयित्वोदरेण च ।

नासाग्रे नाभिमध्ये च पादाङ्गुष्टे च धारणात् ॥ २२ ॥

सर्वरोगविनिर्मुक्तो जीवेद्वर्षशतं नरः ।

नासाग्रधारणाद्वाऽपि जितो भवति सुव्रत ॥ २३ ॥

सर्वरोगनिवृत्तिः स्याक्षाभिमध्ये तु धारणात् ।

शरीरलघुता विप्र <sup>२</sup>पादाङ्गुष्टनिरोधनात् ॥ २४ ॥

जिह्या वायुमाकृष्य यः पिबेत् सततं नरः ।

श्रमदाहविनिर्मुक्तो योगी नीरोगतामियात् ॥ २५ ॥

जिह्या वायुमाकृष्य जिह्वामूले निरोधयेत् ।

पिबेदमृतमव्यग्रं सकलं सुखमाप्न्यात् ॥ २६ ॥

इड्या वायुमाकृष्य भ्रुवोर्मध्ये निरोधयेत् ।

यः पिबेदमृतं शुद्धं व्याधिभिर्मृच्यते हि सः ॥ २७ ॥

<sup>१</sup> पूरयित्वाऽऽद—अ १.

<sup>२</sup> पादाङ्गुष्ट—अ.

इडया वेदतत्त्वज्ञ तथा पिङ्गलैव च ।  
 नाभौ निरोधयेतेन व्याधिभिर्मुच्यते नरः ॥ २८ ॥  
 मासमात्रं त्रिसन्ध्यायां जिह्वयाऽरोप्य भास्तम् ।  
 अभृतं च <sup>१</sup>पिबन्नाभौ मन्दमन्दं निरोधयेत् ॥ २९ ॥  
 वातजाः पित्तजा दोषा नश्यन्त्येव न संशयः ।  
 नासाभ्यां वायुमाकृष्य नंत्र <sup>२</sup>द्वन्द्वे निरोधयेत् ॥ ३० ॥  
 नंत्ररोगा विनश्यन्ति तथा श्रोत्रनिरोधनात् ।  
 तथा वायुं समारोप्य धारयेच्छरसि स्थितम् ॥ ३१ ॥  
 शिरोरोगा विनश्यन्ति सत्यमुक्तं हि सांकृते ।

योगसिद्धयन्तरायरोगनिरासकान् धारणाभेदानाह—विनियोगानिति ।  
 ब्राह्मकाले ब्राह्मे मुहूर्ते ॥ २१—३५ ॥

पण्मुखीमुद्राभ्यासादिना वायुजयः  
 स्वस्तिकासनमास्थाय समाहितमनास्तथा ॥ ३२ ॥  
 अपानमूर्वमुत्थाप्य प्रणवेन शर्नैः शर्नैः ।  
 हस्ताभ्यां धारयेत्सम्यक् कर्णादिकरणानि च ॥ ३३ ॥  
 अङ्गुष्ठाभ्यां मुने श्रोत्रे तर्जनीभ्यां तु चक्षुर्णी ।  
 नासापुटावथान्याभ्यां प्रच्छाद्य करणानि वै ॥ ३४ ॥  
 आनन्दाविर्भवो यावत् तावन्मूर्धनि ‘धारयेत् ।  
 प्राणः प्रयात्यनैव ब्रह्मरन्ध्रं महामुंनं ॥ ३५ ॥

<sup>१</sup> पिब—क, अ २.

<sup>२</sup> द्वन्द्व—अ १.

<sup>३</sup> द्वन्द्व—अ १.

<sup>४</sup> धारणात्—क, अ १, अ २.

ब्रह्मरन्धं गते वायौ नादशोत्पद्यतेऽनघ ।  
 ● राश्चध्वनिनिभश्चादौ मध्ये मेषध्वनिर्यथा ॥ ३६ ॥  
 शिरोमध्यगते वायौ गिरिप्रस्तवणं यथा ।  
 पश्चात् प्रीतो महा<sup>१</sup>प्राज्ञ साक्षादात्मोन्मुखो भवेत् ॥ ३७ ॥  
 पुनस्तज्ज्ञाननिष्पत्तिर्योगात् संसारनिहृतिः ।  
<sup>२</sup>दक्षिणोत्तरगुल्फेन सीविनीं पीडयेत् स्थिराम् ॥ ३८ ॥  
 सव्येतरेण गुल्फेन पीडयेहुद्धिमान् नरः ।  
 \* जान्वोरधः स्थितां सन्धि स्मृत्वा देवं त्रियम्बकम् ॥ ३९ ॥  
 विनायकं च संस्मृत्य तथा वागीश्वरीं पुनः ।  
<sup>३</sup>लिङ्गनालात् समाकृष्य वायुमप्यग्रतो मुने ॥ ४० ॥  
 प्रणवेन नियुक्तेन विन्दुयुक्तेन बुद्धिमान् ।  
 मूलाधारस्य विग्रेन्द्र मध्ये तं तु निरोधयेत् ॥ ४१ ॥  
 निरुद्य वायुना दीपो वहिरुहति कुण्डलीम् ।  
 पुनः सुषुम्नया वायुर्वहिना सह गच्छति ॥ ४२ ॥  
 एवमभ्यसतस्तस्य जितो वायुर्बैद्यूशम् ।

एवं षण्मुखीमुद्राभ्यासतः ब्रह्मरन्धमिति ॥ ३६ ॥ यथा तथा  
 चन्द्रमण्डलगिरितः अमृतप्रवाहो जायते । तेन भ्रूमध्यस्थज्योतिर्लिङ्गमाभिषिच्य  
 तदमृतास्वादनतो योगी विमृत्युः भवति । ततः पश्चात् ॥ ३७-३८ ॥  
 दक्षिणेतरगुल्फाभ्यां सीविनीं मेद्गुदान्तराछस्थनार्डीं सम्पीडयन् जान्वोरधः-  
 स्थितसन्धिं शिवलिङ्गं स्मृत्वा विनायकं वागीश्वरीं च ध्यात्वा ततो  
 लिङ्गनालादियादि ॥ ३९-४२ ॥

<sup>१</sup> प्राज्ञः—अ.

<sup>२</sup> दक्षिणेतर—अ, अ २, क.

<sup>३</sup> लिङ्गे—क.

वायुजयचिह्नानि

प्रस्वेदः प्रथमः पश्चात् कम्पनं मुनिपुञ्जव ॥ ४३ ॥  
उत्थानं च शरीरस्य चिह्नेतज्जितेऽनिले ।

वायुजयसूचकचिह्नान्याह — प्रस्वेद इति ॥ ४३—४८ ॥

वायुजयेन रोगपापविनाशवैराग्यपूर्विका ज्ञानोत्पत्तिः  
एवमन्यसत्सत्स्य मूलरोगो विनश्यति ॥ ४४ ॥  
भगन्धरं च नष्टं स्यात् सर्व<sup>१</sup>रोगाश्च सांकृते ।  
पातकानि विनश्यन्ति क्षुद्राणि च महान्ति च ॥ ४५ ॥  
नष्टे पापे विशुद्धं स्याच्चित्तदर्पणमद्भुतम् ।  
पुनर्ब्रह्मादिभोगेभ्यो वैराग्यं जायते हृदि ॥ ४६ ॥  
विरक्तस्य तु संसाराज्ञानं कैवल्यसाधनम् ।  
तेन पाशापहानिः स्यात् <sup>२</sup>ज्ञात्वा देवं सदाशिवम् ॥ ४७ ॥  
ज्ञानाभृतरसो येन सकृदास्वादितो भवेत् ।  
स सर्वकार्यमुत्सृज्य तत्रैव परिधावति ॥ ४८ ॥  
ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतद्विचक्षणाः ।  
अर्थस्वरूपमज्ञानात् पश्यन्त्यन्ये कुटृष्टयः ॥ ४९ ॥  
आत्मस्वरूपविज्ञानादज्ञानस्य परिक्षयः ।  
क्षीणेऽज्ञाने महाप्राज्ञ रागादीनां परिक्षयः ॥ ५० ॥

<sup>१</sup> रोगाणि—उ.      <sup>२</sup> ज्ञाना—अ ।. ज्ञानादेव सदाशिवः—अ.      <sup>३</sup> लक्ष—उ.

रागाद्यसंभवे प्राज्ञ पुण्यपापवि<sup>१</sup>मर्शनम् ।

त्योर्नाशे शरीरेण न पुनः संप्रयुज्यते ॥ ९१ ॥

विचक्षणाः ज्ञानिनः ॥ ४९—५० ॥ विमर्शनं विशोधनं  
विनाशनमित्यर्थः ॥ ९१ ॥

इति षष्ठः खण्डः

प्रत्याहारलक्षणम्, तद्देवाश्च

अथातः संप्रवस्थ्यामि प्रत्याहारं महामुने ।

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः ॥ १ ॥

बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ।

यत्पश्यति तु तत्सर्वं ब्रह्म पश्यन्समाहितः ॥ २ ॥

प्रत्याहारो भवेदेष ब्रह्मविद्धिः पुरोदितः ।

<sup>२</sup>यदच्छुद्धमशुद्धं वा करोत्यामरणान्तिकम् ॥ ३ ॥

तत्सर्वं ब्रह्मणे कुर्यात् प्रत्याहारः स उच्यते ।

अथवा नित्यकर्माणि ब्रह्माराधनबुद्धितः ॥ ४ ॥

काम्यानि च तथा कुर्यात् प्रत्याहारः स उच्यते ।

अथवा वायुमाकृष्य स्थानात् स्थानं निरोधयेत् ॥ ५ ॥

दन्तमूलात्तथा कण्ठे कण्ठादुरसि मारुतम् ।

उरोदेशात् समाकृष्य नाभिदेशे निरोधयेत् ॥ ६ ॥

<sup>१</sup> मर्दनम्—अ, अ १, अ २, क.

<sup>२</sup> यदिद्धु—अ २.

नाभिदेशात् समाकृष्य कुण्डल्यां तु निरोधयेत् ।  
 कुण्डलीदेशतो विद्वान् मूलाधारे निरोधयेत् ॥ ७ ॥  
 अथापानात् कटिद्वन्द्वे तथोरौ च सुमध्यमे ।  
 तस्माज्ञानुद्वये जह्वे पादाङ्गुष्ठे निरोधयेत् ॥ ८ ॥  
 प्रत्याहारोऽयमुक्तस्तु प्रत्याहारपैः पुरा ।

यमनियमासनप्राणायामेयता प्रतिपाद्य ततः प्रत्याहारस्वरूपमाह—  
 अथेति ॥ १-१२ ॥

प्रत्याहारफलम्

एवमध्यासयुक्तस्य पुरुषस्य महात्मनः ॥ ९ ॥  
 सर्वपापानि नश्यन्ति भवरोगश्च सुब्रत ।

वायुधारणात्मकप्रत्याहारः

नासाभ्यां वायुमाकृष्य निश्चलः स्वस्तिकासनः ॥ १० ॥  
 पूर्येदनिलं विद्वानापादतलमस्तकम् ।  
 पश्चात् पादद्वये तद्वत् मूलाधारे तथैव च ॥ ११ ॥  
 नाभिकन्दे च हन्मध्ये कण्ठमूले च तालुके ।  
 भ्रुवोर्मध्ये ललाटे च तथा मूर्धनि धारयेत् ॥ १२ ॥

वदान्तसम्मतप्रत्याहारः

देहे त्वात्ममर्ति विद्वान् समाकृष्य समाहितः ।  
 आत्मनाऽत्मनि निर्द्वन्द्वे निर्विकल्पे निरोधयेत् ॥ १३ ॥

प्रत्याहारः समाख्यातः साक्षाद्वेदान्तवेदिभिः ।  
अवमध्यसतस्तस्य न किञ्चिदपि दुर्लभम् ॥ १४ ॥

किं बहुना—देहे इति ॥ १३—१४ ॥

इति सप्तमः खण्डः

### पञ्चमूतेषु धारणा

अथातः संप्रवक्ष्यामि धारणाः पञ्च सुत्रत ।  
देहमध्यगते व्योम्नि बाह्याकाशं तु धारयेत् ॥ १ ॥  
प्राणे बाह्यानिलं तद्वत् ज्वलने चाग्निमौद्रे ।  
तोयं तोयांशके भूर्मि भूमिभागे महामुने ॥ २ ॥  
हयरावलकाराख्यं मन्त्रमुच्चारयेत् क्रमात् ।  
धारणैषा परा प्रोक्ता सर्वपापविशोधिनी ॥ ३ ॥  
<sup>१</sup>जान्वन्तं पृथिवी ह्यशो ह्यपां <sup>२</sup>पाय्वन्तमुच्यते ।  
<sup>३</sup>हृदयांशस्तथाऽऽयंशो भ्रू<sup>४</sup>मध्यान्तोऽनिलांशकः ॥ ४ ॥  
आकाशांशस्तथा प्राज्ञ मूर्धांशः परिकीर्तिः ।  
ब्रह्माणं पृथिवीभागे विष्णुं तोयांशके तथा ॥ ५ ॥  
अऽयंशो च महेशानमीश्वरं चानिलांशके ।  
आकाशांशो महाप्राज्ञ धारयेत् सदाशिवम् ॥ ६ ॥

प्रत्याहारलक्षणमुक्त्वा धारणालक्षणमाह—अथेति ॥ १—६ ॥

जान्वन्तः—अ.

<sup>१</sup> पाय्वन्त—अ २, क. पाय्वन्त उ, अ.

<sup>३</sup> हृदयान्त—अ, अ १.

<sup>४</sup> मध्यांशो—क, अ २.

## आत्मनि धारणा

अथ वा तव वक्ष्यामि धारणां मुनिपुङ्गव । १

पुरुषे सर्व<sup>१</sup>शास्तारं बोधानन्दमयं शिवम् ॥ ७ ॥

धारयेद्गुद्धिमान् नित्यं सर्वपापविशुद्धये ।

ब्रह्मादिकार्थरूपाणि स्वेस्वे संहृत्य कारणे ॥ ८ ॥

सर्वकारणमव्यक्तमनिरूप्यमचेतनम् ।

साक्षादात्मनि संपूर्णे धारयेत् प्रणवे मनः ।

इन्द्रियाणि समाहृत्य मनसात्मनि योजयेत् ॥ ९ ॥

पुरुषे प्रतीचि स्वातिगिर्क्तसर्वग्रासतया शिवं धारयेत् । यदा—पुरुषे परमात्मनि सर्वशास्तारं प्रत्यञ्च धारयेत् ॥ ७—९ ॥

इत्यष्टमः खण्डः

## सविशेषब्रह्माध्यानम्

अथातः संप्रवक्ष्यामि ध्यानं संसारनाशनम् ।

ऋतं सत्यं परं ब्रह्म सर्वसंसारभेषजम् ॥ १ ॥

ऊर्ध्वरैतं विरूपाक्षं विश्वरूपं महेश्वरम् ।

सोऽहमित्यादरेणैव ध्यायेद्योगीश्वरेश्वरम् ॥ २ ॥

धारणामुक्त्वा सविशेषनिर्विशेषब्रह्माध्यानमाह—अथेति । ऋतं कर्मफलमपरं ब्रह्म । सत्यं ज्ञानफलं परं ब्रह्म ॥ १—२ ॥

<sup>१</sup> शस्ता—उ १.

<sup>२</sup> रूपं—अ, अ१.

निर्विशेषग्रहाध्यानम्

अथ वा सत्यमीश्वानं ज्ञानमानन्दमद्वयम् ।  
 अत्यर्थ<sup>१</sup>ममलं नित्यमादिमध्यान्तवर्जितम् ॥ ३ ॥  
 तथाऽस्थूलमनाकाशमसंपृश्यमचाक्षुषम् ।  
 न रसं न च गन्धारब्यमप्रमेयमनूपमम् ॥ ४ ॥  
 आत्मानं सच्चिदानन्दमनन्तं ब्रह्म सुन्नत ।  
 अहमस्मीत्यभिध्याये<sup>२</sup>हैहातीतं विमुक्तये ॥ ५ ॥

अर्थजातमतील्य इतिमात्रतया वर्तते इति अत्यर्थम् ॥ ३ ॥  
 अनाकाशमित्यादिपञ्चविशेषणतः पञ्चभूतवैलक्षण्यमुक्तं भवति ॥ ४-६ ॥

ध्यानफलम्

एवमन्यासयुक्तस्य पुरुषस्य महात्मनः ।  
 क्रमाद्वेदान्तविज्ञानं<sup>३</sup> विजायेत न संशयः ॥ ६ ॥

इति नवमः खण्डः

समाधिस्त्वरूपम्

अथातः संप्रवक्ष्यामि समाधिं भवनाशनम् ।  
 समाधिः संविदुत्पत्तिः परजीवैकतां प्रति ॥ १ ॥  
 नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्यो दोषवर्जितः ।  
<sup>४</sup>एकः सन् भिद्यते भ्रान्त्या मायया न स्वरूपतः ॥ २ ॥

मत्तलं—अ, अ १, अ २, क.

विज्ञायेत—अ २.

<sup>२</sup> द्वयेया—मु.

<sup>४</sup> एकस्मिन्—उ.

तस्माद्दैत्येवास्ति न प्रपञ्चो न संसृतिः ।  
 यथा<sup>१</sup>काशो घटाकाशो <sup>२</sup>मठाकाश इतीरितः ॥ ३ ॥  
 तथा भ्रान्तैर्द्विधा प्रोक्तो ह्यात्मा जीवेश्वरात्मना ।  
 नाहं देहो न च प्राणो नन्दिद्याणि मनो न हि ॥ ४ ॥  
 सदा साक्षिस्वरूपत्वाच्छ्व <sup>३</sup>एवास्ति केवलः ।  
 इति धीर्या मुनिश्वेष सा समाधिरहितोच्यते ॥ ५ ॥

ध्यानप्रकारमुक्त्वा समाधिप्रकारमाह—अथेति ॥ १-२ ॥ यस्मादेवं  
 तस्मात् । यथा<sup>१</sup>काश एव घटाकाशः ॥ ३-६ ॥

## ब्रह्ममात्रावशाः:

सोऽहं ब्रह्म न संसारी न मत्तोऽन्यः कदाचन ।  
 यथा फेनतरङ्गादि समुद्रादुत्थितं पुनः ॥ ६ ॥  
 समुद्रे लीयते तद्वत् जगन्मय्यनुलीयते ।  
 तस्मान्मनः वृथङ् नास्ति जगन्माया च नास्ति हि ॥ ७ ॥  
 यस्यैवं परमात्माऽयं प्रत्यग्भूतः प्रकाशितः ।  
 स तु याति <sup>३</sup>च पुंखावं स्वयं साक्षात् परामृतम् ॥ ८ ॥  
 यदा मनसि चैतन्यं भाति सर्वत्रगं सदा ।  
 योगिनोऽव्यवधानेन तदा संपद्यते स्वयम् ॥ ९ ॥  
 यदा सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येव हि पश्यति ।  
 सर्वभूतेषु चात्मानं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ १० ॥

<sup>१</sup> महाकाश—अ, अ १.

<sup>२</sup> एवास्ति—अ २.

<sup>३</sup> सपुं—क, अ १, अ २, उ १. स्वपुं—अ.

यदा सर्वाणि भूतानि समाधिष्ठो न पश्यति ।

द्वकीभूतः परेणासौ तदा भवति केवलः ॥ ११ ॥

यदा पश्यति चात्मानं केवलं परमार्थतः ।

मायामात्रं जगन् कृत्स्नं तदा भवति निर्वृतिः ॥ १२ ॥

यस्मादेवं तस्मात् मनः भृत्य षुथक् नास्ति ॥ ७ ॥  
प्रत्यक्परचितोरैकत्वात् स्वयं इत्यादि । स्वातिरिक्तप्रपञ्चे मायामात्रपदं गते स्वयमेव  
निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रमवशिष्यते इति दर्शनोपनिषत्कलितोऽर्थः ॥ ८-१२ ॥

उपसंहारः

एवमुक्त्वा स भगवान् दत्तात्रेयो महामुनिः ।

<sup>१</sup>सांकृतिः स्वस्वरूपेण सुख<sup>२</sup>मास्तेऽतिनिर्भयः ॥ १३ ॥

इति ॥

आत्मायिकामुपसंहरति—एवमिति । इतिशब्दो दर्शनोपनिषत्परि-  
समाप्त्यर्थः ॥ १३ ॥

इति दशमः खण्डः

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

दर्शनोपनिषद्ब्रह्मात्मा लिखिता ब्रह्ममात्रगा ॥

दर्शनोपनिषद्ब्रह्मात्माप्रन्थस्तु द्विशतं स्पृतः ॥

इति श्रीमदीशाच्युथेतरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे नवतिसंब्यापूरकं  
दर्शनोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

<sup>१</sup> सांकृतेः—अ.

<sup>२</sup> मास्थे—क, अ १.

# ध्यानविन्दूपनिषत्

सह नाववतु— इति शान्तिः

ब्रह्मध्यानयोगमहिमा

यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम् ।  
 मिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन ॥ ? ॥  
 वीजाक्षरं परं <sup>१</sup>विन्दु <sup>२</sup>नादं तस्योपरि स्थितम् ।  
 सशब्दश्वाक्षरे क्षीरं निःशब्दं परमं पदम् ॥ २ ॥  
 अनाहतं तु यच्छब्दं तस्य शब्दस्य यत्परम् ।  
 तत्परं विन्दते यस्तु स योगी छिन्नसंशयः ॥ ३ ॥

ध्यात्वा यद्ब्रह्ममात्रं ते स्वावशेषधिया ययुः ।  
 योगतत्त्वज्ञानफलं तत्स्वमात्रं विचिन्तये ॥

इह ग्वलु कृष्णयजुर्वेदप्रविभक्तेयं ध्यानविन्दूपनिषत् निर्विशेषब्रह्ममात्र-पर्यवसन्नाऽन्तःप्रणवार्थप्रकाशिनी तदुपायाजपाहंसविद्यातदुपायषड्ङ्गयोग-प्रकाशिनी च सर्ता प्रवृत्ता । तस्याः स्वल्पग्रन्थतो विवरणमागम्यते । तस्याः उपोद्घातादिकं कठवल्ल्यादिवत् ऊद्यम् । श्रुतिगदौ तावत् ध्यानयोग-सामान्यमुख्यफलप्रकाठनपूर्वकं निर्विशेषब्रह्मस्वरूपं प्रकाशयति—यदीति ।

<sup>१</sup> विन्दु—अ, अ १. बीज—अ २.

<sup>२</sup> नादान्त—अ.

यस्य कस्यचिद्योगिनोऽनन्तकोटिजन्मसञ्चितं विस्तीर्णं बहुयोजनं यदि  
शेलसमं पापं दुर्भदं विद्यते तदा तदपि वज्रटङ्गोपमब्रह्मध्यानयोगेन भिद्यते  
तिलशशिछृष्टते । इत्थंभूतध्यानयोगं विना कदाचन नान्यो भेदो  
भेदकोऽस्तील्यर्थः ॥ १ ॥ एवं ध्यानयोगं स्तुत्वा ध्येयत्वरूपमाह—बीजेति ।  
प्रणवो हि बीजाक्षरं अकारोकारमकारार्धमात्रात्मकं तत्परं तु विन्दु<sup>१</sup>नादकला-  
कलातीतम् । यः एवंविशेषणविशिष्टः शब्दप्रपञ्चः प्रणवः तस्योपरि  
निर्विशेषतया यत् स्थितं तत् निःशब्दं इत्यर्थः । सशब्दः प्रणवः चशब्दः  
तदभिधेयोपलक्षणार्थः । तस्मिन् शब्दप्रपञ्चे स्वाधिकरणपगमाक्षरे क्षीणे  
विलयमपहवं वा गते सति ततो यन्निःशब्दं ब्रह्म अवशिष्यते तदेव परमं पदं  
विदेहकैवल्यमित्यर्थः ॥ २ ॥ एवंविदं स्तोति—अनाहतमिति ।  
हृजत्वात् नित्यत्वाद्वा अनाहतम् । तुशब्दो नित्यत्वव्यापनार्थः । तथाच  
भाष्यवार्तिककारोक्ते: “नित्यो होङ्कारः” इति, “ओङ्कागस्य तु नित्यत्वात्  
नाञ्जसोत्पत्तिरिष्यते” इति च । यच्छब्दं शब्दात्मकप्रणवरूपं विद्यते  
तस्य शब्दस्य यत् परं व्यष्टिसमष्टिसाक्षिरूपं तन् परं निर्विशेषं ब्रह्म यस्तु  
यो वा को वा स्वमात्रमिति विन्दते सः योगी छिन्नसंशयो विदेहमुक्तो  
भवति ॥ ३ ॥

ब्रह्मणः सूक्ष्मत्वं सर्वव्यापकत्वं च

वालाग्रशतसाहस्रं तस्य भागस्य भागिनः ।

तस्य भागस्य भागार्द्धं तत्क्षये तु निरञ्जनम् ॥ ४ ॥

पुष्पमध्ये यथा गन्धः पयोमध्ये यथा धृतम् ।

तिलमध्ये यथा तैलं पाषाणेष्विव काञ्चनम् ॥ ५ ॥

एवं सर्वाणि भूतानि मणौ सूत्र इवात्मनि ।

स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्वाणि स्थितः ॥ ६ ॥

<sup>१</sup> नादकलातीतम्—अ १.

तिलानां तु यथा तैलं पुष्पे गन्धे इवाश्रितः ।

पुरुषस्य शरीरे तु सबाहाभ्यन्तरे स्थितः ॥ ७ ॥

वृक्षं तु सकलं विद्यच्छाया तस्यैव निष्कला ।

सकले निष्कले भावे सर्वत्रात्मा व्यवस्थितः ॥ ८ ॥

इत्यंभूतयोगिगम्यब्रह्मणो निर्विशेषत्वेन परमसूक्ष्मतामाह—वालाश्रेति । वालाप्रं नीवारशूकं दृश्यादृश्यतया स्थितसुसूक्ष्मं, तस्य शतसाहस्रं लक्षैकांगसूक्ष्मं जीवचैतन्यं सूक्ष्मं व्यष्टिपञ्चव्यापकत्वात्, तस्य जीवचैतन्यगतसूक्ष्मस्य शतसहस्रैकभागयुक्तमीश्वरचैतन्यं सूक्ष्मतरं <sup>१</sup>समष्टशण्डव्यापकत्वात्, तस्यैव भागिनः ईश्वरस्य भागार्थं पञ्चाशत्सहस्रैकभागरूपं साक्षिचैतन्यं सूक्ष्मतमं स्वाविद्यापदतत्कार्यव्यापकत्वात्, साक्ष्यसापेक्षसाक्षिचैतन्यगतसिविशेषक्षये तु तत्सर्वकलनानिरुद्धनं अजनीयस्वातिरिक्तासम्भवात् निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रमवशिष्यते इत्यर्थः ॥ ४ ॥ कथं पुनः साक्षिणोऽविद्यापदव्यापकत्वमित्यत आह—पुष्पेति । पुष्पतिलपाषाणेषु गन्धैर्तेलकाञ्चनं यथा व्याप्य वर्तते, यथा मणिगणे सूत्रं, तथैव जीवात्मना पुरुषस्य शरीरे तु सबाहाभ्यन्तरे स्थितः ॥ ९—७ ॥ ईश्वरसाक्ष्यात्मना ब्रश्नं छेदमर्हतीति वृक्षं तु स्वाविद्यापादं सकलमिति विद्यात् । स्वेन रूपेणाविद्यापदवृक्षं छादयत्यवृणोतीति छाया माया तु निष्कला निरवयवत्वात् । इत्यं सकलं निष्कलं भावे वृक्षच्छायास्थानीयस्वाविद्यापदतद्वेतुमायातत्त्वे सर्वत्र तत्कार्यं च परमात्मा व्यवस्थितः व्याप्य स्थितः, “अन्तर्बिहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः” इति श्रुतेः । यद्वा—सकले जीवादिसाक्ष्यन्ते निष्कले भावे—इत्यत्र द्वितीयार्थं सप्तमी—निष्कलभावं गते पुरा स्वाज्ञदशायां सर्वत्र स्वातिरिक्तं यदनुभूतं तदात्मैव स्वमात्रं व्यवस्थितो भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

<sup>१</sup> समष्टशण्ड—उ १.

प्रणवस्वरूपम्

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ध्येयं सर्वं मुमुक्षुभिः ।  
 पृथिव्यग्निश्च ऋग्वेदो भूरित्येव पितामहः ॥ ९ ॥  
 अकारे तु ल्यं प्राप्ते प्रथमे प्रणवांशके ।  
 अन्तरिक्ष यजुर्वायुर्मुखो विष्णुर्जनार्दनः ॥ १० ॥  
 उकारे तु ल्यं प्राप्ते द्वितीये प्रणवांशके ।  
 द्यौः सूर्यः सामवेदश्च स्वरित्येव महेश्वरः ॥ ११ ॥  
 मकारे तु ल्यं प्राप्ते तृतीये प्रणवांशके ।  
 अकारः पीतवर्णः स्याद्गोगुण उदीरितः ॥ १२ ॥  
 उकारः सात्त्विकः शुक्लो मकारः कृष्णतामसः ।  
 अष्टाङ्गं च चतुष्पादं त्रिस्थानं पञ्चदैवतम् ॥ १३ ॥  
 आँकारं यो न जानाति ब्राह्मणो न भवेत्तु सः ।

तदर्थं मुमुक्षुभिः किं ध्येयमित्यत आह—ओमिति । तस्य  
 सर्वापवादाधिकरणतामाह—पृथिवीति ॥ ९ ॥ प्राप्ते इति सप्तमी प्रथमार्था ।  
 पृथिव्यादिः प्रणवप्रथमांशाकारे विल्यं प्राप्तो भवतीत्युक्त्या सम्भूतिस्थितिरपि  
 तत्रेति द्योल्यते । तथा च अन्तरिक्षादिः द्यौरादिक्ष्व क्रमेण उकारे मकारे च  
 संभूतिस्थितिप्रलयं प्राप्नोतीत्यर्थः;

अकारे लीयते ब्रह्मा उकारे लीयते हरिः ।  
 मकारे लीयते रुद्रः प्रणवो हि परः स्मृतः ॥

इत्यादि श्रुतेः ॥ १०-११ ॥ अकारादिप्रणवमात्राणां त्रिगुणान्वितत्वेन  
 पीतादिवर्णवैशिष्ठ्यमुच्यते—अकार इति ॥ १२ ॥ अङ्गपादस्थानदेवता-

विशिष्टप्रणवज्ञानाज्ञानाभ्यां ब्राह्मणानां ब्राह्मणत्वं भवेदित्याह—अष्टाङ्गमिति ।  
 अकारोकारभक्तिर्विन्दुनादकलाकलातीततत्परभेदेनाष्टावङ्गानि यस्य तं,  
 विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयभेदेन व्यष्टौ, समष्टौ तु विगदसूत्रबीजतुर्यभेदेन, व्यष्टि-  
 समष्ट्यविभागे तु ओतानुज्ञात्रनुज्ञैकरसाविकल्पभेदेन चत्वारः पादा यस्य तं  
 चतुष्पादं, जाग्रदाद्यवस्थात्रयं स्थूलादिदेहत्रयं सत्वादिगुणत्रयं क्रियाशक्त्यादि  
 शक्तित्रयं भूतादिकालत्रयं वा यस्य स्थानमावसर्थं भवति तं त्रिस्थानं,  
 ब्रह्मविष्णुरुद्धेभरसदाशिवा यदवयवाकारादिदेवभावं प्रपेदिरे तं पञ्चदैवतम्  
 ॥ १३ ॥ इत्यंभूतमोङ्कारं यो जानाति स ब्राह्मणो ब्रह्मनिष्ठो जीवन्मुक्तो  
 भवेत् । य एवं न जानाति स ब्राह्मणो न भवेदित्यर्थः ॥

## प्रणवध्यानविधिः

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ॥ १४ ॥

अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ।

निर्वर्तन्ते क्रियाः सर्वास्तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ १९ ॥

ओंकारप्रभवा देवा ओंकारप्रभवाः स्वराः ।

ओंकारप्रभवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ १६ ॥

हृस्त्रो दहति पापानि दीर्घः संपत्प्रदाऽङ्ग्ययः ।

अर्धमात्रासमायुक्तः प्रणवो मोक्षदायकः ॥ १७ ॥

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घशृण्टानिनादवत् ।

अवाच्यं प्रणवस्याग्रं यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १८ ॥

यत एवमन्तःप्रणवो विशिष्टफलदः अतः तंत्साधनेन ब्रह्म  
 जानतस्तद्वावापत्तिः निरङ्गुडां भवेदित्याह—प्रणव इति । अष्टमा-  
 त्रात्मकान्तःप्रणव एव धनुरिव धनुः शरस्थानीयान्तःकरणाधि-  
 करणत्वात् । शरो ह्यात्मा मनः वेगवत्तरत्वाच्छरस्य । किं लक्ष्यमित्यत्र

ब्रह्म तलक्ष्यमुच्यते स्वात्मतया लक्ष्यमाणत्वात् ॥ १४ ॥ तदेतत्क्षयं  
अप्रमत्तेन एकाग्रचित्तेन वेद्धव्यं अन्तःप्रणवार्थब्रह्मैवास्मीत्यनुसन्धानं  
कर्तव्यम् । एवं कृते यथा शरो लक्ष्यनिमग्नो भवति तथा तन्मयो ब्रह्मैव  
भवेत् । सक्रियस्य ब्रह्मभावापत्तिः कुत इत्यत आह—निर्वर्तन्त इति ॥ १५ ॥  
परावाप्रत्यग्भिन्नब्रह्मदर्शनस्य सर्वव्यापृतिन्यासपूर्वकत्वात् ब्रह्मालम्बनोङ्गारस्य  
सर्वरीपाधिकरणतामाह—ओङ्गारेति ॥ १६ ॥ हस्तदीर्घप्लुततया प्रणवजप-  
फलमाह—हस्त इति । “यदि<sup>१</sup> हस्तो भवति सर्वं पाप्मानं दहति  
अमृतत्वं च गच्छति । यदि<sup>२</sup> दीर्घो भवति महतीं श्रियमाप्नोति अमृतत्वं च  
गच्छति । यदि<sup>३</sup> प्लुतो भवति ज्ञानवान् भवति अमृतत्वं च गच्छति”  
इति श्रुतेः ॥ १७ ॥ प्रणवाप्रज्ञानफलमाह—तैलेति ॥ १८ ॥

प्राणायामपूर्वक प्रणवस्यानम्

हृत्पद्मकर्णिकामश्ये स्थिरदीपनिभाकृतिम् ।

अङ्गुष्ठमात्रमचलं ध्यायेदोकारमीश्वरम् ॥ १९ ॥

इडया वायुमापूर्यं पूरयित्वोदरस्थितम् ।

ओंकारं देहमध्यस्थं ध्यायेज्ज्वालावलीवृतम् ॥ २० ॥

ब्रह्मा पूरक इत्युक्तो विष्णुः कुम्भक उच्यते ।

रेचो रुद्र इति प्रोक्तः प्राणायामस्य देवताः ॥ २१ ॥

कथमोङ्गारो ध्येय इत्यत आह—हृदिति ॥ १९ ॥ किं तूर्णीं ध्यातव्य-  
मित्यत आह—इडयेति । “मूलाग्रावग्निरूपं प्रणवं सन्दध्यात्” इति  
शुल्यनुरोधेन मूलाधारत्रिकोणे जाज्वल्यमानतया प्रणवार्थेश्वरं कुम्भकेऽनुध्यायेत्  
॥ २० ॥ प्राणायामावयवदेवतास्वरूपमाह—ब्रह्मेति । पूरकादिकाले ब्रह्मविष्णु-  
रुद्रान् ध्यायेदित्यर्थः ॥ २१ ॥

<sup>१</sup> हस्ता—उ १.

<sup>२</sup> दीर्घा—उ १.

<sup>३</sup> प्लुता—उ १.

## प्रकारान्तरेण प्रणवध्यानम्

आत्मानमरणि कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् । १.

ध्याननिर्मथनाभ्यासा<sup>१</sup>देवं पश्येत्तिगूढवत् ॥ २२ ॥

ओंकारध्वनिनादेन वायोः संहरणान्तिकम् ।

<sup>२</sup>यावद्वलं समादृश्यात्सम्यज्ञादलयावधि ॥ २३ ॥

गमागमस्थं गमनादिशून्यमोकारमेकं रविकोटिदीपसम् ।

पश्यन्ति ये सर्वजनान्तरस्थं हंसात्मकं ते विरजा भवन्ति ॥ २४ ॥

विधान्तरेश्वरध्यानमाह—आत्मानमिति । आत्मानं अन्तःकरणं अधरारणि कृत्वा प्रणवमुत्तरारणि प्रणवोच्चारणपूर्वकं प्रणवार्थब्रह्माहमस्मीति पौनःपुन्येनानुसन्धानं ध्याननिर्मथनाभ्यासः तस्मात् निगृद्गुडकलशान्तरदीपवत् एवं आत्मानमयमहमस्मीति पश्येत् अवलोकयेदिल्यर्थः ॥ २२ ॥ प्रणवोच्चारणप्रणवनादावसानविद्योतब्रह्मदर्शनफलमाह—ओङ्कारेति । यावद्वलमोङ्कारोच्चारणप्रभवनादवायुविलयाधिकरणतया यत् विभाति तत् स्वज्ञदृष्ट्या गमनागमनलक्षणनादरूपप्राणोपाधिस्थमिव भातमपि स्वज्ञदृष्ट्या गमनादिशून्यं अनन्तकोटिरिप्रभं सर्वान्तरं हंसात्मकं प्रलयगमिन्नब्रह्मरूपं ये पश्यन्ति ते विरजाः कृतकृत्याः भवन्तीत्यर्थः ॥ २३-२४ ॥

## सविशेषब्रह्मध्यानम्

यन्मनस्त्रिजगत्स्युष्टिस्थितिप्रलयकर्मकृत् ।

तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ २५ ॥

अष्टपत्रं तु हृत्पद्मं द्वार्तिशत्केसरान्वितम् ।

तस्य मध्यगतो भानुर्भानुमध्यगतः शशी ॥ २६ ॥

<sup>१</sup> देवं—अ, अ १.   <sup>२</sup> यावद्वन्धः—अ २.   <sup>३</sup> व्यसन—अ, अ १, अ २; क.

शशिमध्यगतो वह्र्वहिमध्यगता प्रभा ।  
 भामध्यगतं पीठं नानारब्रप्रवेष्टितम् ॥ २७ ॥  
 तस्य मध्यगतं देवं वासुदेवं निरञ्जनम् ।  
 श्रीवत्सकौस्तुभोरस्कं सुक्तामणिविभूषितम् ॥ २८ ॥  
 शुद्धस्फटिकसंकाशं चन्द्रकोटिसमप्रभम् ।  
 एवं ध्यायेन्महाविष्णुमेवं वा विनयान्वितः ॥ २९ ॥

ब्रह्मात्रावरणं मनः, तदपहृतो निष्प्रतियोगिकं ब्रह्मात्रं प्रकाशते  
 इत्याह—यदिति ॥ २९ ॥ एवं ध्यातुमशक्तस्य यथोक्तलक्षणहृत्कमले  
 सविशेषब्रह्मध्यानप्रकारमाह—अष्टपत्रमिति ॥ २७-२८ ॥ एवं कल्पना-  
 सृष्टमित्यर्थः । एवं ध्यानं कृतं चेत् तत्प्रसादलब्धचित्तशुद्धिप्राप्यज्ञानद्वारा  
 कृतकृत्यो भवेत् । एवं कर्तुमलसस्य एवं वा वक्ष्यमाणपूरकादौ  
 त्रिमूर्तिध्यानमाह—एवमिति ॥ २९-३१ ॥

### त्रिमूर्तिध्यानम्

अतसीपुष्पसंकाशं नाभिस्थाने प्रतिष्ठितम् ।  
 चतुर्मुजं महाविष्णुं पूरकेण विचिन्तयेत् ॥ ३० ॥  
 कुम्भकेन हृदि स्पाने चिन्तयेत्कमलासनम् ।  
 ब्रह्माणं रद्रगौराभं चतुर्वक्रं पितामहम् ॥ ३१ ॥  
 रेचकेन तु विद्यात्मा ललाटस्यं त्रिलोचनम् ।  
 शुद्धस्फटिकसंकाशं निष्कलं पापनाशनम् ॥ ३२ ॥  
 विद्यात्मा सगुणविद्याविद्यशोपासकः । वस्तुतो निष्कलं ॥ ३२ ॥

हत्ये ध्यानं तत्कलं च

अब्जपत्रमधः पुष्पमूर्ध्वनालमधोमुखम् । ८  
 कदलीपुष्पसंकाशं <sup>१</sup> सर्ववेदमयं शिवम् ॥ ३३ ॥  
 शताब्दं शतपत्राढयं विप्रकीर्णाब्जकर्णिकम् ।  
 तत्रार्कचन्द्रवहीनामुर्युपरि चिन्तयेत् ॥ ३४ ॥  
 पद्मस्थोद्भाटनं कृत्वा <sup>२</sup> सूर्यचन्द्राभिर्वर्चसः ।  
 तस्य हृषीजमाहत्य आत्मानं चरते ध्रुवम् ॥ ३५ ॥  
 त्रिस्थानं च <sup>३</sup> त्रिमार्गं च त्रिब्रह्म च त्रयाक्षरम् ।  
 त्रिमात्रमर्धमात्रं वा यस्तं वेद स वेदवित् ॥ ३६ ॥  
 तैलधाराभिवाञ्छिन्नं दीर्घघटानिनादवत् ।  
<sup>४</sup> अवाच्यं प्रणवम्प्याग्रं यस्तं वेद स वेदवित् ॥ ३७ ॥

ध्यानाधारहृदयं विद्यान्तरेण वर्णयति—अब्जेति ॥ अब्जं अब्जातं अम्मयं शरीरं परितः त्रायत इति अब्जपत्रं हृत्कमलं, अधःपुष्पं अधो-भागकुसुमितत्वात्, ऊर्ध्वनालमधोमुखं लम्बमानकदलीपुष्पसद्वां, सर्ववेदमयं वेदहेतुनादाधारगत्वात्, अत एव शिवम् ॥ ३३ ॥ शताब्दं शतायुः-परिमितस्थितित्वात्, शतपत्राढयं शतपत्रकुशोशयोपमत्वात्, विप्रकीर्णाब्ज-कर्णिकं विकसितपद्मकर्णिकोपमं हृत्कमलं यदस्ति तस्य लम्बमानसूर्यचन्द्राभि-वर्चसः हृत्पद्मस्य प्रणवेनोद्भाटनं कृत्वा ऊर्ध्वमुखं विधाय तत्र अर्कचन्द्रवहीनां मण्डलं उपर्युपरि चिन्तयेत् भावयेत् । तस्य हृत्पद्मस्य

<sup>१</sup> सर्ववेदं—अ २. सर्ववेदमवाइमुखं—अ, अ १.

<sup>२</sup> वौधचन्द्राभिर्सूर्यकं—अ, अ १. <sup>३</sup> त्रिमात्रं—अ, अ १, अ २, क.

<sup>४</sup> बिन्दुनादकलातीतं—अ, अ १, अ २, क.

हद्गीजमकाराख्यं तदाहृत्य गृहीत्वा तद्रूपं भ्रुवमात्मानं सम्भाव्य ततस्तत्राकाराथो  
विष्णुश्चरते—पदव्यययः—चरति ॥ ३४—३९ ॥ एवं चरन्तं हंसमात्मानं  
प्रणवत्वेन चिन्तयतः जीवन्मुक्तामाह—श्रिस्थानभिति । अवस्थात्रादि-  
स्थानत्रयं यस्य तं, यद्याथात्प्रविदः <sup>१</sup>सज्जानानुरोधेन धूमार्चिरगतिभेदेन  
यत् यान्ति तं त्रिमार्ग, विश्वविराडोत्त्रब्रह्मादिभेदेन ब्रह्मत्रयं यदर्थभूतं  
तं श्रिब्रह्मात्मकं, अकारादित्रीण्यक्षगणि यदवयवतयोक्तानि तं त्रियाक्षरं,  
हस्तदीर्घप्लुतभेदेन तिस्रो मात्रा यस्य तं त्रिमात्रमर्थमात्रं वा, यः तं वेद  
स वेदवित् जीवन्मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥ “ओङ्काराग्रविद्योतं तुर्यतुरीयं”  
इति श्रुत्यनुरोधेन प्रणवाग्रदर्शनफलमाह—तैलेति ॥ ३७ ॥

ब्रह्मायतने प्राणविलापनम्

यथैवोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः ।  
तथैवोत्कर्षयेद्वायुं योगी योगपथे स्थितः ॥ ३८ ॥  
अर्धमात्रात्मकं कृत्वा कोशभूतं तु पङ्कजम् ।  
कर्षयेन्नालमात्रेण भ्रुवोर्मध्ये ल्यं नयेत् ॥ ३९ ॥  
भ्रूमध्ये तु ललाटे तु <sup>२</sup>नासिकायाम्तु मूलतः ।  
जानीयादमृतस्थानं तद्व्यायतनं महत् ॥ ४० ॥

परागवायुं प्रव्यङ्गमुखं नीत्वा ब्रह्मायतने विलापयेदित्याह—यथेति ।  
यथैव नरः उत्पलनालेन तोयमाकर्षयेत् तथैव योगी योगमार्गे तिष्ठन्  
मूलाधारात् अपानैक्यमापन्नप्राणवायुमूर्धर्वं उत्कर्षयेत् सुषुप्तायामूर्धव्यमुखं  
नयेत् ॥ ३८ ॥ पुनः स्थूलसूक्ष्मबीजभावमापनं दृष्टिमनोग्निभिरेकीभूतं कोशभूतं  
यत् हृदयपङ्कजं वर्तते तत्र अर्धमात्रात्मकं कृत्वा सुषुप्तामार्गेण भ्रुवोर्मध्ये  
ल्यं नयेत् विलयं प्रापयेत् ॥ ३९ ॥ प्राणलयाधिकरणं कीदृशमित्यत आह—

<sup>१</sup> सज्जा—उ.

<sup>२</sup> नासिकायां तु—अ, अ २.

भ्रूमध्ये त्विति । भ्रूमध्यस्य ब्रह्मोपलभिः स्थानत्वात् । हुशब्दत्रयतः तस्मात्  
बहिर्निर्गतमपि तत्रैव पुनः पुनः लयं न येदिति योत्यते ॥ ४० ॥

### षडङ्गयोगः

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।

ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥ ४१ ॥

अमृतस्थाने प्राणादिलयस्य मुषुम्नाद्वाग्कत्वात्, नहि मुषुम्नाप्रवेशः  
सर्वसाधारणो भवति, नहि योगाभ्यासं विना मुषुम्नामार्गः स्त्रयुं शक्यते,  
अतस्तदुपायत्वेन षडङ्गयोग उच्यते—आसनमिति ॥ ४१ ॥

### आसनचतुष्टयम्

आसनानि च तावन्ति यावन्त्यो जीवजातयः ।

एतेषामतुलानभेदान् विजानाति महेश्वरः ॥ ४२ ॥

सिद्धं भद्रं तथा सिंहं पद्मं चेति चतुष्टयम् ।

योगासनानामनेकत्वात् तत्र ऐष्टतया सिद्धायासनचतुष्टयमुद्दिशति—  
आसनानीति । असंख्येयतया दुर्विज्ञेयत्वात् एतेषामिति ॥ ४२ ॥ तेषु  
मुख्यान्यासनचतुष्टयानीत्यत्र सिद्धं इति । तत्प्रतिपादकश्रुतयो लिख्यन्ते—

योर्निं वासेन सम्पीड्य मेद्वादुपरि दक्षिणम् ।

ऋजुकायः समासीनः सिद्धासनमिदं भवेत् ॥

गुल्फौ तु वृषणस्याधः सीविन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।

पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बध्वा सुनिश्चलम् ।

भद्रासनं भवेदेतद्विष्परोगविनाशनम् ॥

सीविनों गुल्फदेशाभ्यां निपीड्य व्युत्क्रमेण तु ।  
 प्रसार्य जानुनोर्हस्तावासनं सिंहरूपकम् ॥  
 ऊर्वैरूपरि वै धते यदा पादतले उभे ।  
 पवासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविषापहम् ॥

इति ॥

योनिस्थानम्

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ॥ ४३ ॥  
 योनिस्थानं तयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते ।  
 आधारारब्ये गुदस्थाने पङ्कजं यच्चतुर्दलम् ॥ ४४ ॥  
 तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामारब्या सिद्धवन्दिता ।  
 योनिमध्ये स्थितं लिङ्गं पश्चिमाभिमुखं तथा ॥ ४९ ॥  
 मस्तके मणिवद्धिङ्गं यो जानाति स योगविन् ।

ततो मूलाधारस्वाधिष्ठानमव्यगतव्यष्टिपञ्चयोन्यादिज्ञानफलं षडाधार-  
 स्वरूपं च विशदयति—आधारमिति ॥ ४३ ॥ मूलाधारस्वाधिष्ठानमध्ये  
 योनिस्थानं वर्तते इत्युक्तम् । तत्र योनिः कौदृशील्यत आह—  
 आधारेति ॥ ४४ ॥ मूलाधारचतुर्दलमध्ये व्यष्टिसंसारप्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुतया  
 योगायोगसिद्धैरपि वन्दिता कामरूपिणी नाम काचन योनिः कुण्डलिनीशक्तिः  
 विद्यते । तस्याः सिद्धासिद्धवन्दितत्वं कथमित्यत्र—यदि हृदयादूर्ध्वगामिनी  
 स्यात्तदा निवृत्तिमार्गभूषणसिद्धसेव्या भवति । यदा पुनः स्वस्थानान्न  
 चलति तदा प्रवृत्तिहेतुतया संसारिसेविता भवतीत्यर्थः । तादृशयोनिमध्ये  
 कुण्डलिनीमध्यप्रदेशे मस्तकभागे मणिवन् भिन्नं स्वयं प्रकाशितं  
 पश्चिमाभिमुखं प्रत्यगात्मलिङ्गं विद्यते । प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रकाशकत्वात् तदसीति  
 यो जानाति स योगविन् प्रत्यक्षपरैक्यज्ञो जीवन्मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ ४९-४६ ॥

## मूलाधारादिचक्रुचकस्वरूपम्

तस्त्रामीकराकारं तडिलेखेव विस्फुरत् ॥ ४६ ॥ ६  
 चतुरस्त्रमुपर्यग्नेभो मेद्वात्प्रतिष्ठितम् ।  
 स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयम् ॥ ४७ ॥  
 स्वाधिष्ठानं ततश्चकं मेद्वेव निगद्यते ।  
 मणिवत्तन्तुना यत्र वायुना पूरितं वपुः ॥ ४८ ॥  
 तत्त्वाभिमण्डलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ।  
 द्वादशारमहाचक्रे पुण्यपापनियन्वितः ॥ ४९ ॥  
 तावज्जीवो भ्रमत्येवं यावत्तत्त्वं न विन्दति ।

ततो मूलाधारस्वरूपमाह—तस्मेति । मूलाधारचक्रस्याग्निमण्डलमेद्वभ्यगत-  
 त्वात् ॥ ४६-४७ ॥ स्वाधिष्ठानस्वरूपमाह—स्वेति । लिङ्गमूले षड्दल्युक्तं  
 स्वाधिष्ठानमित्यर्थः ॥ ४७-४८ ॥ मणिपूरकं व्युत्पादयति- मणिवदिति ।  
 दशादलान्वितं मणिपूरकमित्यर्थः । तत अनाहतचक्रं द्वादशाढलं षोडशाढलं  
 विशुद्धिचक्रं द्विदल्माङ्गाचक्रं तदुपरि चन्द्रसूर्यमण्डलं तदुपरि सहस्रागचक्रं विद्यते  
 इति मन्त्रव्यम् ॥ ४८-४९ ॥ तत्रानाहतचक्रे जीवात्स्वरूपमाह—  
 द्वादशेति । तत्रत्यो जीवो यावत् स्वयाथात्म्यं न जानाति तावत् संसरति,  
 स्वज्ञानेन स्वाज्ञाने नष्टे जीवस्य ब्रह्मात्रन्वादित्यर्थः ॥ ४९-५० ॥

## नाडीचक्रम्

ऊर्ध्वं मेद्वादधो नाभेः कन्दो योऽस्ति खगाण्डवत् ॥ ५० ॥  
 तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणि द्विसप्ततिः ।  
 तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्तिरुदा<sup>१</sup>हता ॥ ५१ ॥

<sup>१</sup> हता:-

प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तत्र दश स्मृताः ।  
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयका ॥ ९२ ॥

गान्धारी हस्तिजिहा च पूषा चैव यशस्विनी ।  
अलम्बुसा कुहूरत्र शङ्खिनी दशमी स्मृता ॥ ९३ ॥

एवं नाडीमयं चक्रं विजेयं योगिनां सदा ।

सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याभिदेवताः ॥ ९४ ॥

इडापिङ्गलासुषुम्नास्तित्वे नाड्यः प्रकीर्तिताः ।

इडा वामे स्थिता <sup>१</sup>नाडी पिङ्गला दक्षिणं स्थिता ॥ ९५ ॥

सुषुम्ना मध्य<sup>२</sup>देशस्था प्राणमार्गाक्षयः स्मृताः ।

ततो नाडीकन्दस्थानं तदियत्तामधिदेवतासहितप्रधाननाडीस्वरूपं चाह—  
ऊर्ध्वमिति ॥ ९०—९३ ॥ योगिनां, तृतीयार्थं पर्षी, योगिभिरित्यर्थः ।  
एतत् सर्वं स्पष्टमिति न व्याख्यातम् ॥ ९४—९६ ॥

### प्राणादिदशवायवः

प्राणोऽपानः समानश्चोदानो व्यानस्तथैव च ॥ ९६ ॥

नागः कूर्मः कृकरको देवदत्तो धनंजयः ।

प्राणाद्याः पञ्च विस्त्याता नागाद्याः पञ्च वायवः ॥ ९७ ॥

एते नाडीसहस्रेषु वर्तन्ते जीवरूपिणः ।

जीवाधिष्ठेयनाडीचरप्राणादिदशवायुनाम निर्दिशति—प्राण इति ॥ ९७ ॥

तत्र प्राणाद्याः पञ्च प्रधानतया विस्त्याताः नागाद्या वायवस्तु

<sup>१</sup> भागे—क, अ १, अ २.      <sup>२</sup> देशे तु—अ १. देशस्थाः—अ २.

उपप्राणः उच्यन्ते ॥ ५७ ॥ तेषां जीवस्येण नाडीचरत्वं जीवस्य  
प्राणापानवशतः यातायातत्वमविश्रान्तमित्याह एत इति ॥ ५८ ॥

## जीवस्य प्राणापानवशत्वम्

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चार्थं न धावति ॥ ५९ ॥  
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वात् दृश्यते ।  
आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्चलति कन्तुकः ॥ ६० ॥  
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तद्वज्जीवो न विश्रयते ।

अविश्रान्तत्वे दृष्टान्तः आक्षिप्त इति ॥ ६१ ॥

## योगकाले प्राणापानैक्यम्

अपानात्कर्षति प्राणोऽपानः प्राणाच्च कर्षति ॥ ६० ॥  
खगरजुवदित्येतद्यां जानाति स योगविन् ।

योगकाले प्राणापानैक्यं तज्ज्ञानफलं चाह अपानादिति । प्राणादपा-  
नादिति पञ्चमी द्वितीयार्थः ॥ ६० ॥

## अजपाहंसविद्या

हक्कारेण चहिर्याति सकारेण विशेषत्पुनः ॥ ६१ ॥  
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।  
शतानि पड़् दिवारात्रं सहस्राण्येकविंशतिः ॥ ६२ ॥  
एतत्संख्याऽन्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।  
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा ॥ ६३ ॥

अस्याः संकल्पमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते ।

● अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ॥ ६४ ॥

अनया सदृशं पुण्यं न भूतं न भविष्यति ।

अहोग्रनिर्वत्योच्चुद्गासनिःश्वासरूपहंसविद्याऽजपाम्बृपमाह — हकारे-  
णेति ॥ ६१ ॥ प्राणापानव्यापारंच्चुद्गासनिःश्वासव्यापारं एव हंसमनुः तं  
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं हंसमन्वावर्तनमंग्लेयत्तामाह — शतानीति ॥ ६२ ॥  
स्वयमजपन् तूर्णीं तिष्ठन्नपि एतत् इति । या अजपनां जपभावमेति सेयं अजपा  
गायत्री सदैवमनुसन्धानयोगिनां मोक्षदा भवति ॥ ६३ ॥ यतः एवं अतः  
अस्याः इति । अजपां स्तौति—अनयेति ॥ ६४ ॥

कुण्डलिनीधनेन मोक्षद्वारविभेदनम्

येन मार्गेण गन्तव्यं <sup>१</sup>ब्रह्मस्थानं निरामयम् ॥ ६५ ॥

मुखेनाच्छाद्य तद्वारं प्रसुप्ता परमंशरी ।

प्रबुद्धा वह्नियोगेन प्रनमा मरुता मह ॥ ६६ ॥

सूचिवद्गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ।

उद्धाटयेत्कपाटं तु यथा <sup>२</sup>कुञ्चिकया हठात् ॥ ६७ ॥

कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥ ६८ ॥

कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं व्रज्वाऽथ पद्मासनं

गाढं वक्षसि सन्निधाय चुबुकं ध्यानं च तच्चेतसि ।

वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयन्पूरितं

मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधं<sup>३</sup>मतुलं शक्तिं<sup>४</sup>प्रभावान्नः ॥ ६९ ॥

<sup>१</sup> ब्रह्मरन्ध्रं—क. ब्रह्मद्वारं—अ २. <sup>२</sup> कुञ्चितया—अ १, अ २.

<sup>३</sup> ममलं—क.

<sup>४</sup> प्रवाहान्—अ २ (पाठान्तरत्वेन).

कुण्डलिनीस्थितिमाह—येनेति । “तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितं” इति  
श्रुत्यनुरोधेन सहस्रारचक्रं ब्रह्मस्थानं, तत्र्योगपलभ्यते हि ब्रह्म  
योगिनाम् । तत्र स्वातिरिक्ताभयवैग्रह्यात् निगमयम् ॥ ६५ ॥ येन  
सुषुम्नामार्गेण तदन्तव्यं तद्वारं स्वमुखेन आच्छान्न परमेश्वर्णा कुण्डलिनी  
प्राणिसामान्यजठे प्रसुप्ता भवति । सा कदा प्रतिबुद्ध्यते इत्यत्र योगिनः  
केवलकुम्भकावस्थायां मूलाधारस्थाग्निना भनसा भरुता च सह प्रबुद्धा सती  
॥ ६६ ॥ सूक्ष्मसूचिवत् गुणं भोगमादाय सुषुम्नयोर्ध्वं ब्रह्मस्थानं सहस्रारं  
ब्रजति । कुण्डलिन्या सुषुम्नावदनं विभेदयेदित्याह—उद्घाटयेदिति ।  
यथा नरो हठात् कुञ्जिकाप्रयत्नेन कवाटमुद्घाटयेत् तथैव योगी कुण्डलिन्या  
मोक्षहेतुसुषुम्नाद्वारं विभेदयेदित्यर्थः ॥ ६७—६८ ॥ सुषुम्नामार्गभेदोपायमाह—  
कृत्येति । आदौ योगी पदासनं बद्धा अथ स्वकरौ संपुटितौ कृत्वा  
वक्षसि चुबुकं चेतसि स्वस्वरूपध्यानं च सन्निधाय वारंवागमपानानिलमूर्ध्वं  
प्रोक्षारयन् आकुञ्जयन् एवं पूरितं प्राणं सुषुम्नायां मुञ्चन् नगो योगी  
सुषुम्नां प्रविष्टकुण्डलिनीशक्तिप्रभावात् निरुपमं अतुलं निरतिशयं ब्रह्माहं  
अहमेव ब्रह्मेति ब्रह्मात्मबोधमुपैति ॥ ६९ ॥

ब्रह्मचर्यादिना कुण्डलिनीवोधः

पद्मासनम्भितो योगी नाडीद्वारेषु पूरयन् ।

मारुतं कुम्भयन्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ७० ॥

अङ्गानां मर्दनं कृत्वा थ्रमजातेन वारिणा ।

कटुम्लवणत्यागी क्षीरपानरतः सुखी ॥ ७१ ॥

ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः ।

अब्दादूर्ध्वं भवेत्पिञ्चो नात्र कार्या विचारणा ॥ ७२ ॥

<sup>1</sup> कन्दोर्ध्वकुण्डलीशक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।

<sup>1</sup> कन्दोर्ध्वं—उ.

एवं सुषुम्नाकुम्भकान्मुक्तो भवतीन्याह पर्येति । यस्तु पुनः योगी पद्मासने स्थित्वा बाह्यं वायुमिडया आकृत्य नाडीद्वारेषु पूरयन् पूरितं मारुतं कुम्भयन् सुषुम्नां प्रापयित्वा यदा योगी ब्रह्मगन्धं भिनति सोऽयं योगी ततो ब्रह्मगन्धं भित्वा यत्प्राप्य तत् प्राप्य मुक्तो भवतीत्यत्र न हि संशयोऽस्तीत्यर्थः ॥ ७० ॥ तत्रोपायमाह—अङ्गानामिति । अभ्यासदशायामादौ प्राणायामकाले स्वेदो जायते । तेन सर्वाङ्गानां मर्दनं कृत्वा दृढकायो भूत्वा तदानीं कटुम्ललवणत्यागी क्षीरपानरतः सुखी ॥ ७१ ॥ एवं ब्रह्मचर्यादिनियमसम्पन्नो भूत्वा संवत्सरादूर्ध्वं सिद्धो भवति ॥ ७२ ॥ यस्य नाडीकन्दोर्ध्वभागे सुषुम्नायां कुण्डलिनीशक्तिः स्यात् सोऽयं योगी योगसिद्धिभाजनं भवति ॥

बन्धत्रयम्

अपानप्राणयोरैक्यं <sup>१</sup>क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ॥ ७३ ॥

युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ।

पार्षिणभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेदुदम् ॥ ७४ ॥

अपानमूर्ध्वमुत्कृप्य मूलबन्धोऽयमुच्यते ।

उड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तमहाखगः ॥ ७५ ॥

उड्यियाणं तदेव स्यात्तत्र बन्धो विधीयते ।

उदरे पश्चिमं ताणं नाभेरुर्ध्वं तु कारयेत् ॥ ७६ ॥

उड्यियाणोऽप्ययं बन्धो मृत्युमातङ्केसरी ।

ब्रह्माति हि शिरोजातमधोगामिनभोजलम् ॥ ७७ ॥

ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ।

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठैसंकोचलक्षणे ॥ ७८ ॥

<sup>१</sup> क्षयोमू—अ १.

<sup>२</sup> दुःखौघल—अ २.

तदङ्गगत्वेन बन्धत्रयं तत्फलं चाचष्टे—अपानेति ॥ ७३—७५ ॥  
 उदरसङ्कोचनं पश्चिमं ताणमिल्यर्थः ॥ ७६ ॥ अयमुक्तियाणवन्यः शिरोनभोजातं  
 सहस्रारनभोविद्यमानं सर्वरोगाकां कफजलं बन्धाति शुक्रं<sup>१</sup> करोती-  
 त्वर्थः ॥ ७७—७८ ॥

खेचरीमुद्राऽभ्यासः

न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ।  
 कणालकुहरे जिहा प्रविष्टा विपरीतगा ॥ ७९ ॥  
 भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिमुद्रा भवति खेचरी ।  
 न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृष्णा ॥ ८० ॥  
 न च मूल्ढा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।  
 पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ॥ ८१ ॥  
 बद्ध्यते न च कालेन यस्य मुद्राऽस्ति खेचरी ।  
 चित्तं चरनि खे यस्माज्जिहा भवति खेगता ॥ ८२ ॥  
 तैर्नैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धनमस्तुता ।

योगाङ्गगतया बन्धत्रयमुक्त्वाऽथ खेचरीमुद्रां तदभ्याससिद्धफलं चाह—  
 कपालेति ॥ ७९ ॥ तदभ्यासान्तगङ्गिकफलं तु न गोग इति ॥ ८०—८२ ॥

खेचर्यम्यासेन वज्रोलिमिद्धिः

खेचर्या मुद्रया यस्य विवरं 'लम्बिकोर्ध्वतः ॥ ८३ ॥  
<sup>२</sup>विन्दुः क्षरति नो यस्य कामिन्यालिङ्गितस्य च ।  
 यावद्विन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः ॥ ८४ ॥

<sup>१</sup> बन्धि—अ २.

<sup>२</sup> वीजं—अ २.

यावद्वदा नभोमुद्रा तावद्विन्दुर्न गच्छति ।  
 ● गलितोऽपि यदा विन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डले ॥ ८९ ॥  
 ब्रजत्यूर्ध्वं हठाच्छक्त्या निवद्धो योनिमुद्रया ।

खेचरीमुद्रारूपस्य जीवनहेतुविन्दुस्थैर्यं वज्रोळिसिद्धिगपि भवतीत्याह—  
 खेचर्येति । खेचर्या मुद्रया यस्य जिह्वा लम्बिकायाः अन्तर्जिह्वाया ऊर्ध्वतः  
 तद्विवरं प्रविशति ॥ ८३ ॥ यच्छब्दस्तच्छब्दार्थः । अप्यर्थः च कारः ।  
 कामिन्यालिङ्गितस्यापि यस्य तस्य नैव विन्दुः शुक्रं क्षरति । यावद्विन्दुस्थैर्यं  
 जायते तावत्स्य मृत्युभयं कुतः संभवति ॥ ८४ ॥ यावत्खेचरीमुद्रा  
 बद्धा भवेत् तावद्विन्दुः न गच्छति । यदा गलितोऽपि विन्दुः योनिमण्डले  
 संप्राप्तोऽपि ॥ ८५ ॥ तदा वज्रोळिसंस्कृतयोनिमुद्रया हठाच्छक्त्या ऊर्ध्वं  
 ब्रजति ॥

द्विविधविन्दौक्यवोथतो जीवन्मुक्तत्वम्

स एव द्विविधो विन्दुः पाण्डरो लोहितस्तथा ॥ ८६ ॥  
 पाण्डरं शुक्रमित्याहुर्लोहिताग्व्यं महारजः ।  
 विद्रुमद्रुमसंकाशं योनिस्थाने स्थितं रजः ॥ ८७ ॥  
 शशिस्थाने वसेद्विन्दुस्तयोरैकयं सुदुर्लभम् ।  
 विन्दुः दिवो रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दू रजो रविः ॥ ८८ ॥  
 उभयोः संगमादेव प्राप्यते परमं वपुः ।  
 वायुना शक्ति<sup>१</sup>चालेन प्रेरितं स्वे यथा रजः ॥ ८९ ॥  
 रविणैकत्वमायाति भवेद्विष्वपुस्तदा ।  
 शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्यसमन्वितम् ॥ ९० ॥  
 द्वयोः समरसीभावं यो जानाति स योगवित् ।

<sup>१</sup> जालेन—अ १.

<sup>२</sup> स्तथा—क, अ १.

बिन्दोद्वैविध्यं तयोरैक्यप्रबोधतो जीवन्मुक्तत्वं चाह— स एवेति ॥ ८६ ॥  
 मूलाधारस्थं योनिस्थानं तत्र गजो देवीतत्त्वं जीवाख्यं वा भवति ॥ ८७ ॥  
 भूमध्यसहस्रारमध्यं शशिस्थानं, तत्र बिन्दुः शिवतत्त्वं वर्सन्ति । तयोः  
 शिवशक्त्योः जीवपरयोर्वा ऐक्यं योगिनो विना यस्य कस्यापि दुर्लभं  
 भवेत् ॥ ८८—९० ॥ शुक्लरजोरूपभूसहस्रारमध्यस्थसोमसूर्यक्यं यो जानानि  
 स योगविन् ब्रह्मवित् भवतीन्यर्थः ॥

महामुद्राऽभ्यासः

शोधनं मलजालानां घटनं चन्द्रसूर्ययोः ॥ ९१ ॥

रसानां शोषणं सम्यङ् महामुद्राऽभिधीयते ॥ ९२ ॥

वक्षोन्यस्त्वहनुर्निपीड्य सुषिरं योनेश्व वामाङ्गिणा

हस्ताभ्यामनुधारयन् प्रविततं पादं तथा दक्षिणम् ।

आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं ब्रह्मा शनै रेचये-

देषा पातक<sup>१</sup>नाशिनी ननु महामुद्रा नृणां प्रोच्यते ॥ ९३ ॥

महामुद्रालक्षणमुच्यते— शोधनमिति । नानासाधनसिद्धेरेचकपूरक-  
 कुम्भकात्मकप्राणायामशुद्धोदकेन नाडीगतमलजातशोधनं चन्द्रसूर्ययोरैक्यं  
 वातपित्तादिरसानां शोषणं च यथा भवति सेयं महामुद्रेत्यभिधीयते  
 ॥ ९१—९२ ॥ महामुद्राभ्याममाह— वश्च इति । आदौ योगी जालन्ध-  
 रवन्धमारोप्य वामाङ्गिणा योनिसुषिरं निपीड्य प्रसारितदक्षिणपादं हस्ताभ्यां  
 धारयन् कुक्षियुगलं श्वसनेनापूर्य कुम्भयित्वाऽथ शनैरिडया रेचयेत् । सेषा  
 रीतिः सर्वपातकनाशिनी नृणां योगिनां योगविन्दनाशिनी महामुद्रेति प्रोच्यते ॥  
 एवं प्राणायाम-उक्तः । अनात्मदेहादिंगताहंभावं [वस्य] प्रतीचि प्रत्याहरणं

<sup>१</sup> नाशनी—उ, सु.

<sup>२</sup> गतं भा—उ १.

प्रत्याहारः । प्रत्यगेव ब्रह्मेति निश्चयां धारणा भवति । अहं ब्रह्माऽस्मि ब्रह्मेवाऽहमस्मि इति दद्यभावना ध्यानम् । ध्यानादित्रिपुर्टाविकल्पलयो निर्विकल्प-समाधिः । “पठड्गां योग उच्यते” इति प्रतिज्ञातत्वात् तदनुरोधेन प्रतिवचनाभावेऽप्येवं प्रत्याहारादि ऊद्यमित्यर्थः ॥ ९३ ॥

हृदये आन्मसाक्षात्कारः

अथात्मनिर्णयं व्याख्यास्ये—हृदि स्थानं अष्टदल्पद्वं वर्तते तन्मध्ये रेखावल्यं कृत्वा जीवात्मस्तुं ज्योतीक्ष्णपमणुमात्रं वर्तते । तस्मिन्सर्वे प्रतिष्ठितं भवति सर्वं जानाति सर्वं करोति सर्वंतत्त्व-रितमहं कर्ताऽहं भोक्ता सुखी दुःखी काणः सख्जो बधिरो मूकः कृशः स्थूलोऽनेन प्रकारेण स्वतन्त्रवादेन वर्तते ॥ ९३-१ ॥ पूर्वदले विश्रमते पूर्वदलं धेतवर्णं तदा भक्तिपुरःसरं धर्मे मतिर्भवति ॥ ९३-२ ॥ यदाऽऽप्येयदले विश्रमते तदाप्येयदलं रक्तवर्णं तदा निद्रालस्यमतिर्भवति ॥ ९३-३ ॥ यदा दक्षिणदले विश्रमते तदक्षिणदलं कृष्णवर्णं तदा द्वेषकोपमतिर्भवति ॥ ९३-४ ॥ यदा नैऋतदले विश्रमते तन्नैऋतदलं नीलवर्णं तदा पापकर्महिसामति-र्भवति ॥ ९३-५ ॥ यदा पश्चिमदले विश्रमते तत्पश्चिमदलं स्फटिकवर्णं तदा क्रीडा<sup>१</sup>विनोदमतिर्भवति ॥ ९३-६ ॥ यदा वायव्यदले विश्रमते वायव्यदलं माणिक्यवर्णं तदा गमन<sup>२</sup>चालन-वैराग्यमतिर्भवति ॥ ९३-७ ॥ यदोत्तरदले विश्रमते तदुत्तरदलं पीतवर्णं तदा सुखशृङ्खारमतिर्भवति ॥ ९३-८ ॥ यदेशानदले

<sup>१</sup> विनोदे—क, अ १, अ २.

<sup>२</sup> चालन—क, अ २.

विश्रमते तदीशानन्दलं वैदूर्यवर्णं तदा दानादिकृपामृतिर्भवति ॥ ९३-९ ॥ यदा संधिसंधिषु मृतिर्भवति तदा वातपितृश्लेष्म-  
महाव्याधिप्रकोपे भवति ॥ ९३-१० ॥ यदा मध्ये तिष्ठति तदा  
सर्वं जानाति गायति नृत्यति पठत्यानन्दं करोति ॥ ९३-११ ॥  
यदा नेत्रश्रमो भवति श्रमनिर्हरणार्थं प्रथमरेखावलयं कृत्वा मध्ये  
निमज्जनं कुरुते प्रथमरेखा बन्धूकपुष्पवर्णं तदा निद्रावस्था भवति ।  
निद्रावस्थामध्ये स्वप्नावस्था भवति । स्वप्नावस्थामध्ये दृष्टं  
श्रुतमनुमानसंभववार्ता इत्यादिकल्पनां करोति <sup>१</sup> तदादिश्रमो भवति  
॥ ९३-१२ ॥ श्रमनिर्हरणार्थं द्वितीयरेखावलयं कृत्वा मध्ये  
निमज्जनं कुरुते द्वितीयरेखा इन्द्रकोपवर्णं तदा सुषुप्त्यवस्था भवति  
सुषुप्तौ केवलपरमेश्वरसंबन्धिनी बुद्धिर्भवति नित्यबोधस्वरूपा भवति  
पश्चात्परमेश्वरसंबन्धरूपेण प्राप्तिर्भवति ॥ ९३-१३ ॥ तृतीयरेखावलयं  
कृत्वा मध्ये निमज्जनं कुरुते तृतीयरेखा पद्मरागवर्णं तदा तुरीयावस्था  
भवति तुरीये केवलपरमात्मसंबन्धिनी मृतिर्भवति नित्यबोधस्वरूपो  
भवति तदा

शैः शैनैरुपरमेहुद्धया धृतिगृहीतया ।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ ९३-१४ ॥  
तदा प्राणापानयोरैक्यं कृत्वा सर्वं विश्वमात्मस्वरूपेण लक्ष्यं  
धारयति यदा तुरीयातीतावस्था तदा मर्वेषामानन्दस्वरूपो भवति  
द्वन्द्वातीतो भवति यावदेहधारणा वर्तते तावत्तिष्ठति पश्चात्परमात्म-

<sup>१</sup> तदाति—क.

<sup>२</sup> स्वरूपे—क, अ १, अ २.

<sup>३</sup> मात्मनिसं—अ २.

<sup>४</sup> संबन्धिनी भवति—क, अ १, अ २.

स्वरूपेण ग्राहिर्भवति इत्यनेन प्रकारेण मोक्षो भवतीदमेवात्मदर्शनोपायं

भवति ॥ १३—१९ ॥

चतुष्पथसमायुक्तमहाद्वारगवास्युना ।

सहस्थित<sup>१</sup>त्रिकोणोर्वगमनं दृश्यतेऽन्युनः ॥ १४ ॥

श्येयनिर्णयः कथं स्यादित्याऽङ्ग्रह्य सोपायं परमात्मनिर्णयमाच्छेदे—  
अथेति । अथ यथोक्ताधिकाग्निभानन्तरं आन्मयाश्रान्त्यं सोपायं व्याख्यास्य इति  
परमद्यावती श्रुतिः पूर्वमाह—हृदीति । हृदयाग्रदलम्बन्धे रेखावलयं कृत्वा  
वृत्ताकारं विभाव्य तन्मध्ये प्राणाधारं हंसञ्जोतीमूर्खं जीवात्मरूपं अणुमात्रं  
वर्तते । य एवं वर्तते तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं भवति तस्य सर्वाधिकरणात् ।  
स हि सर्वं जानाति सर्वं कगोनि यत् कर्तव्यं तत् क्रुतमेव सर्वं अहं कर्ता  
इत्यादिभिमानी सन् वर्तते इन्द्र्यः ॥ १३—१ ॥ तस्य पूर्वादिदल्लोगतो  
धर्मादिवृत्तिमत्त्वमाह—पूर्वोति । सांडयं जीवाख्योऽहं हंसः यदा पूर्वदले  
॥ १३—२—१३—१३ ॥ यत् एवं अतः पूर्वदलादिद्वितीयरेखान्तं विहाय  
तृतीयरेखामवलम्ब्य तुर्यस्वरूपं तुर्यादिविश्वान्तगतहेयांशापहवसिद्धं तुर्यांतीतं  
ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति तन्मात्रतयाऽवशिष्यो भवतीन्माह—तदा शनैः—  
शनैरिति ॥ १३—१४ ॥ यदि स्वातिरिक्तवृत्त्युदयो भवति तदा  
प्राणापानयोरैक्यमित्यादि । सर्वं विश्वमात्मस्वरूपेण लक्ष्यं धारयति,  
विश्वगतहेयांशापहवसिद्धब्रह्मणः स्वावशेषतया लक्षितत्वात् । यदैवमवस्था  
लक्ष्यते तदा स्त्रेयं तुरीयावस्था । यावदेहधारणा . . . ग्राहिर्भवति—  
यावत्प्रातिभासिकतयाऽपि देहोऽस्मीति ज्ञानं तावज्जीवन्मुक्तिदशामवलम्ब्य  
पश्चात् स्वातिरिक्तं न किञ्चिदस्तीति प्रबोधानन्तरं परमात्मैव भवतीत्यर्थः ।  
जीवताया अनेन प्रकारेण मोक्षो भवति । इदमेवात्मदर्शनोपायं  
नेतरदिन्यर्थः ॥ १३—१९ ॥ मन्दानामात्मदर्शनोपायमाह—चतुष्पथेति ।

<sup>१</sup> त्रिकोणार्थ—क, अ २. त्रिकोणार्थ—अ १.

चतुष्पथो जालन्धरबन्धः तेन समायुक्तं महाद्वारं सुषुम्नारन्धं गच्छतीति  
महाद्वारगः सचाऽसौ वायुश्चेति महाद्वारगवायुः तेन महाद्वारगवायुना सह  
स्थितमूलाधारत्रिकोणस्योर्ध्वमूलाधारगमनो मूलाधारस्थसुषुम्नायां द्विप्राणामिमनः-  
कुण्डलिनीप्रवेशमात्रेण स्वभात्राच्युतः परमात्मा हृश्यते साक्षात्क्रयते  
इत्यर्थः ॥ ९४ ॥

नादानुसन्धानतः आत्मदर्शनम्

पूर्वोक्तत्रिकोणस्थानादुपरि पृथिव्यादिपञ्चवर्णकं ध्येयम् ।

प्राणादिपञ्चवायुश्च बीजं वर्णं च स्थानकम् ।

यकारं प्राणबीजं च नीलजीमूतसन्निभम् ।

रकारमङ्गिबीजं च अपानादित्यसंनिभम् ॥ ९५ ॥

लकारं पृथिवीरूपं व्यानं बन्धुकसंनिभम् ।

वकारं जीवबीजं च उदानं शङ्खवर्णकम् ॥ ९६ ॥

हकारं वियत्खरूपं च समानं स्फटिकप्रभम् ।

हन्त्रामि<sup>१</sup>नासिकाकण्ठपादाङ्गुष्ठादिसंस्थितः ॥ ९७ ॥

द्विसप्ततिसहस्राणि नाडिमार्गेषु वर्तते ।

अष्टाविंशतिकोटीषु रोमकूपेषु संस्थितः ॥ ९८ ॥

समानप्राण एकस्तु <sup>२</sup>जीवः स एक एव हि ।

रेचकादित्रयं कुर्याद्वृद्धिचित्तः समाहितः ॥ ९९ ॥

शैनैः समस्तमाकृष्य हृत्सरोरुहकोटे ।

प्राणापानौ च बध्वा तु प्रणवेन समुच्चरेत् ॥ १०० ॥

<sup>१</sup> नासिकर्णं च—क, अ १, अ २.

<sup>२</sup> जीवस्थो—क. जीवस्तो—अ १, अ २.

<sup>१</sup>कण्ठसंकोचनं कृत्वा लिङ्गसंकोचनं तथा ।

● मूलाधारात्सुषुम्ना च <sup>२</sup>ब्रिसतन्तुनिमा शुभा ॥ १०१ ॥

अमूर्तो <sup>३</sup>वर्तते नादो वीणादण्डसमुत्थितः ।

शङ्खनादादिभिश्चैव मध्यमेव ध्वनिर्यथा ॥ १०२ ॥

व्योमरन्त्रगतो नादो मायूरं <sup>४</sup>नादमेव च ।

कपालकुहरे मध्ये चतुर्द्वारस्य मध्यमे ॥ १०३ ॥

तदात्मा राजते तत्र यथा व्योम्नि दिवाकरः ।

कोदण्डद्वयमध्ये तु ब्रह्मरन्त्रेषु शक्ति च ॥ १०४ ॥

स्वात्मानं पुरुषं पश्येन्मनस्तत्र लयं गतम् ।

रत्नानि ज्योतिस्त्रिनादं तु बिन्दु माहेश्वरं पदम् ॥ १०५ ॥

य एवं वेद पुरुषः स कैवल्यं समश्वते ॥ १०६ ॥

इत्युपनिषत् ॥

एवमकृतसाक्षात्काराणां नादानुसन्धानोपायतः तत्पदासि प्रकटय-  
नुपसंहरति—पूर्वेति ॥ ध्येयम्—किं तत् ? प्राणादि । यदेवमपक्षचित्तः  
कश्चित् तेन पूर्वोक्तमूलाधारागत्रिकोणाग्निमण्डलादुपरि प्राणादिवायुजातं पृथिव्यादि-  
पञ्चवर्णयुक्तं ध्येयम् । यकारादिबीजं नीलजीमूतादिवर्णं हृदयादिस्थानविशिष्टं  
ध्येयमिति पूर्वेणान्वयः । आदौ हृदि यकारं प्राणबीजं विद्यात् नीलजीमूततुल्य-  
वर्णविशिष्टं प्राणं जानीयादित्यध्याहार्यम् । गुदे रेफमग्निबीजमपानमादित्यसन्निभं  
विद्यात् ॥ ९५ ॥ पृथिवीबीजं लकारं बन्धूकसन्निभं व्यानं कृत्वशारीरव्यापकं  
विद्यात् । कण्ठदेशे वकारं जीवबीजमुदानं शङ्खवर्णविशिष्टं विद्यात् ॥ ९६ ॥  
इकारं वियद्वीजं संमानं नाभ्यासनं स्फटिकप्रभं च विद्यात् । एवं प्राणपञ्चकं

<sup>१</sup> कर्ण—क, अ १.

<sup>२</sup> पद्म—क, अ १, अ २.

<sup>३</sup> दशयते—उ.

<sup>४</sup> नाद एव—उ.

हन्त्राभिनासिकाकण्ठपादाङ्गुष्ठादिषु संस्थितं विद्यात् ॥ ९७ ॥ तत्र  
समानवायुस्तु द्विसप्तिसहस्रनाडीमार्गेषु सदा सञ्चरन् वर्तते अष्टाविंशतिकोटिग-  
मकूपेषु व्याप्य स्थितो भवति ॥ ९८ ॥ विचार्यमाणे एकस्तु—तुशब्दो-  
वधारणार्थः—समानादिप्राणान्तवायुभेदः एक एव । य एवं पञ्चप्राणाधारः  
सोऽयं जीव एक एव । हिशब्दः प्रसिद्धियोतकः । एवं ज्ञात्वा ततः परं  
रेचकादि इति । एवं यथोक्तपञ्चप्राणारूढजीवस्वरूपं ज्ञात्वा ततो हृषिक्षी  
योगी समाहितो भूत्वा रेचकाद्यवयवत्रयविशिष्टप्राणायामत्रयं कुर्यात् ॥ ९९ ॥  
शनैः स्वान्तःकरणवृत्तिसहस्रं हृत्सरोरुहकोटरे समाकृत्य तत्रैव प्राणापानौ च  
बद्धा प्रणवेन तु प्रणवेनैव प्रणवेनाऽऽज्ञासहस्रारचक्रं प्रत्युष्वरेन् ऊर्ध्वं नयेत्  
॥ १०० ॥ तदुपायतया कण्ठलिङ्गसङ्कोचनग्रहणं बन्धत्रयोपलक्षणार्थम् ।  
तथा बन्धत्रयं कृत्वा मूलाधारान् मूलाधारमागम्य पद्मतन्तुनिभा शुभा  
सुषुम्ना—चशब्दात् तदन्तःकैवल्यनाडी च—प्रतिष्ठिता भवतीति घोल्यते  
॥ १०१ ॥ तत्र सुषुमाश्रयवीणादण्डे समुत्थितः सन् अमूर्तो नादो वर्तते ।  
अत एव वीणादण्डमध्यमेव नादोत्पत्तिस्थानं यथा शङ्खनादादिभिर्श्वैव ॥ १०२ ॥  
हृष्टोमरन्थगतो नादोऽभिन्नतो भवति । यदाऽयं नादो मायूरं नादमे-  
वानुकरोति तदा इडापिङ्गङ्गासुषुम्नाधणिटकाभेदेन चतुर्द्वारागस्य मध्यमे  
कपालकुहरमध्ये ॥ १०३ ॥ तत्र यथा व्योम्नि दिवाकरः तथा परमात्मा  
गजते सम्यग्भिन्नतो भवति । यत्र मनउपलक्षितदृष्टिवाय्वमिकुण्डल्यादिकं  
ल्यं गतं तत्र मूलाधारादिब्रह्मोपलक्षितव्यमध्ये तु—तुश्वार्थः—  
यथाशक्ति यथाकलं ॥ १०४ ॥ स्वात्मानं पुरुषं पश्येत् । किंविशेषणवि-  
शिष्टमित्यत्र, “वत्रदण्डसमृद्धूताः मण्यश्वैकविंशतिः” इति श्रुत्यनुरोधेन  
विश्वतुर्यमित्यागम्याविकल्पानुज्ञैकरसान्तानि एकविंशतितुरीयरक्षानि तेषां  
ज्योतिर्लक्ष्मि ज्योतिर्मदधिकरणं जाग्रज्ञाग्रदादिचतुर्षपञ्चदशविकल्पं न ददातीति  
नदं तदेव नादं तुर्यतुर्यं विन्दु निर्विशेषरूपं महांश्वासौ निष्प्रतियोगिकब्रह्मा-  
त्रतयाऽवस्थातुमीधरश्वेति महेश्वरः तद्वावो माहेश्वरं स्वमात्रतया पद्यते इति  
पदं विद्वान् पश्येदिति पूर्वेणान्वयः ॥ १०५ ॥ विद्याफलं वदन्तुपसंहरति—य

इति । विद्वान् वेदनसमकालं केवल्यरूपेण अवशिष्यते इत्यत्र, “ब्रह्म वेद ब्रह्मेव भवति” इति ज्ञानसमकालमेव ब्रह्मात्रभावापत्तिश्रुतेः । इत्युपनिषद्च्छब्दोऽयं ध्यानविन्दूपनिषत्समास्यर्थः ॥ १०६ ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्वालयोगिना ।  
लिखितं स्याद्विवरणं ध्यानविन्दोः स्फुटं लघु ॥  
ध्यानविन्दुविवरणं त्रिशदधिशतऋणम् ॥

इति श्रीमदीशाद्योत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे एकोनचत्वारिंशत्सङ्क्षयापूरकं  
ध्यानविन्दूपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्



# नादविन्दूपनिषत्

वाङ्मे मनसि—इति शान्तिः

वैराजप्रणवस्वरूपम्

अकारो दक्षिणः पक्ष उकारस्तूत्तरः स्मृतः ।  
मकारं पुच्छमित्याहुरधमात्रा तु मस्तकम् ॥ १ ॥  
पादादिकं गुणास्तम्य शरीरं तत्त्वमुच्यते ।  
धर्मोऽस्य दक्षिणश्चक्षुरधर्मो योऽपरः स्मृतः ॥ २ ॥  
भूर्लोकः पादयोस्तम्य मुवर्लोकस्तु जानुनि ।  
सुवर्लोकः कट्टीदेशो नाभिदेशो महर्जगन् ॥ ३ ॥  
जनोलोकस्तु हृषेशो कण्ठे लोकस्तपस्ततः ।  
भ्रुवोर्ललाटमध्ये तु सत्यलोको व्यवस्थितः ॥ ४ ॥

विराजात्मोपासनया सञ्चातज्ञानवह्निना ।  
दग्ध्वा कर्मक्रियं योगी यत्पदं याति तद्वजे ॥

इह खलु ऋग्वेदप्राविभक्तेयं नादविन्दूपनिषत् विराट्प्रणवप्रकटनपूर्वकं  
तद्रत्सविशेषब्रह्मविदां स्वातज्ञानानुरोधेन सविशेषब्रह्मासिमभिधाय निर्विशेषब्रह्म-

याथात्म्यप्रकटनपूर्वकं तज्ज्ञानान्नादोपायसाधनमम्पन्नानां कर्मत्रयभङ्गप्रभा[भ]व-  
विकल्पेवकेवल्यं प्रकट्यन्ती विजृम्भते स्वयमवान्तरम्बपेण । अस्याः  
स्वल्पग्रन्थतो विवरणमागम्यते । श्रुतिस्तु अकारडित्यादिना । अन्तर्विराट्-  
प्रणवावेकाकृत्य द्वादशमात्रात्मको महावैगजप्रणव उच्चते । तद्वापत्तये  
महाविगजः सुपर्णतयोक्तिः । सुपर्णभावमापन्नमहाविगजः स्मूलप्रपञ्चाभिधायको-  
उद्यमकारो दक्षिणः पक्षः । तस्योत्तरपक्षस्तु सूक्ष्मप्रपञ्चाभिधायक उक्तारः  
स्मृतः । तस्य पुच्छं ब्रौजप्रपञ्चाभिधायकं मकारमिति ब्रह्मविद आहुः ।  
अर्धमात्रा तु तन्मस्तकभावं गतेत्यामनन्ति ॥ ? ॥ तस्य पादादिकं  
सत्त्वादिगुणा भवन्ति । तस्य विशिष्टावयवसम्पन्नं शरीरं तु वगाहोषनिषदुक्त-  
षणवतितस्वजातमुच्यते । अस्य दक्षिणोत्तरचक्षुषी धर्माधर्मी भवतः ।  
दक्षिणश्चक्षुरिति लिङ्गव्यत्ययः ॥ २ ॥ तस्य पादजानुकटिनाभिहृदयकण्ठ-  
भ्रूमध्येषु भूरादिसप्तलोकाः प्रतिष्ठिताः इत्यर्थः । पादयोरिति सप्तमीद्वि-  
वचनम् ॥ ३-४ ॥

१ वैराजविद्याफलम्

सहस्रार्णमती वाऽत्र मन्त्र एष प्रदर्शितः ।  
एवमेतां समाख्यो हंसयोगविचक्षणः ॥ ९ ॥  
न भिद्यते कर्मचारैः पापकोटिशतैरपि ।

एवंविशेषणविशिष्टो वैराजप्रणव उक्तः इत्याह—सहस्रेति । सहस्रार्णमि-  
[र्णमती]ति लिङ्गव्यत्ययः । प्रणवाद्य[द्य]वयवाकारस्य सहस्रावयवत्वं श्रूयते,  
“अकारः सहस्रावयवान्वितः” इति । अत्र अस्मिन् महावैराजप्रणवात्मनि  
सहस्रार्णस्त्वयावयवविशिष्टाकारान्वितोऽयमेष ओङ्कारो मन्त्र अभिधानतया  
स्थितः इति श्रुतिभिः प्रदर्शित इत्यर्थः । वाशब्दः अवधारणे । इत्थं  
वक्ष्यमाणद्वादशमात्रात्मकप्रणवार्थमहाविराटस्मि इत्यनुसन्धानं हंसयोगः, तद्वतः  
पापाद्यमेद्यतामाह—एवमिति । स्वतत्त्वज्ञानेन स्वातिरिक्तकलनां हन्तीति

हंसः । स एवास्मीत्यनुसन्धानं हंसयोगः । तद्विचक्षणः तदभिज्ञो योगी  
॥ ६ ॥ एवमुक्तलक्षणां महार्वैगजविद्यां समाख्यां यता तदनुसन्धानपरे  
भवति तदा स्वकृतकर्मचारैः कर्मप्रभवैः पापकोटिशतैरपि न कदाऽपि भिद्यते—  
इति वक्ष्यमाणविद्याफलं दर्शयति ॥

प्रणवस्य प्रधानमात्राचतुष्यस्वरूपम्

आग्नेयी प्रथमा मात्रा वायव्येषा तथा परा ॥ ६ ॥

भानुमण्डलसंकाशा भवेन्मात्रा तथोत्तरा ।

परमा चार्धमात्रा या वारुणीं तां विदुर्बुधाः ॥ ७ ॥

कालत्रयेऽपि <sup>१</sup>यत्रेमा मात्रा नूनं प्रतिष्ठिताः ।

एष ओंकार आख्यातो धारणाभिर्निबोधत ॥ ८ ॥

प्रधानमात्राचतुष्यस्वरूपमाह—आग्नेयीति । अग्निः वैश्वानरः  
तत्सम्बन्धिनी आग्नेयी वैराज्यकाराभिधाना प्रथमा “मात्रा भवति । तथा  
वायुशब्देन सूत्रात्मोन्यते, “वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं” इति श्रुतेः ।  
तत्सम्बन्धिनी वायवी एषा परा उकाररूपिणी द्वितीया मात्रा भवति ॥ ६ ॥  
भानुमण्डलवत् सम्यक् काशत इति बीजात्मा भानुमण्डलसङ्काशाः  
तदभिधानमकारात्मिका भानुमण्डलसङ्काशा परा तृतीयमात्रा भवेत् । या च  
पुनः मात्रात्रयापेक्षया अर्धमात्रा परमा सर्वोक्तुष्टा भवति बुधाः तामेतां  
स्वविकल्पितमेदजातं स्वेन रूपेण वायति व्याप्तोतीति वरुणः तुर्यः तद्रूपिणी  
वारुणीं चतुर्थमात्रात्मिकां विदुः ॥ ७ ॥ यत्र प्रणवे भूतादिकालत्रयेऽपि  
इमाः मात्राः प्रतिष्ठिताः एषः ओङ्कारः एवं श्रुतिभिराख्यातो भवति ।  
हे स्वाङ्गलोकाः यूयं वक्ष्यमाणघटिकापञ्चकालात्मकघोषिण्यादिमात्रा धारणाभिः  
निबोधत जानयेत्यर्थः ॥ ८ ॥

<sup>१</sup> यस्य—क, अ २.

प्रणवस्य व्यष्टिसमष्टयात्मकद्वादशमात्राभेदविवरणम्

- घोषिणी प्रथमा मात्रा विद्युन्मात्रा तथा परा ।  
पतङ्गिनी तृतीया स्प्याच्चतुर्थी वायुवेगिनी ॥ ९ ॥
- पञ्चमी नामधेया तु पष्ठी चैन्द्यभिधीयते ।  
सप्तमी वैष्णवी नाम अष्टमी शांकरीनि च ॥ १० ॥
- नवमी महती नाम भृतिस्तु दशमी मता ।  
एकादशी भवेन्नारी ब्राह्मी तु द्वादशी परा ॥ ११ ॥

व्यष्टिसप्तष्ठयात्मकद्वादशमात्राभेदं विवृणाति—घोषिणीति ॥ ९ ॥  
अन्तःप्रणवमात्रा अकागद्याः पञ्चब्रह्मवाचका ज्ञेयाः ॥ १० ॥ समष्ट्यकाराद्या-  
[अ]ण्डविराङ्गादिवाचका भवन्ति ॥ ११ ॥

उपासकानां तत्त्वमात्राकालोत्कर्मणफलम्

- प्रथमायां तु मात्रायां यदि प्राणौर्वियुज्यते ।  
भरते वर्षराजाऽसौ सार्वभौमः प्रजायते ॥ १२ ॥
- द्वितीयायां समुत्क्रान्तो भवेद्वक्षो महात्पवान् ।  
विद्याधरस्तृतीयायां गान्धर्वस्तु चतुर्थिका ॥ १३ ॥
- पञ्चम्यामथ मात्रायां यदि प्राणौर्वियुज्यते ।  
उषितः सह देवत्वं सोमलोके महीयते ॥ १४ ॥
- षष्ठ्यामिन्द्रस्य सायुज्यं सप्तम्यां वैष्णवं पदम् ।  
अष्टम्यां ब्रजते रुद्रं पश्चनां च पर्ति तथा ॥ १५ ॥

नवम्यां तु महर्लोकं दशम्यां तु जनं व्रजेत् ।

एकादश्यां तपोलोकं द्वादश्यां ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १६ ॥

षष्ठिघटिकास्वेवं द्वादशमात्रादृष्टिं कृत्वा उपासनां कुर्वतः तत्त्वमात्राकालोत्कर्मणफलमाह—प्रथमायामिति । चतुर्मुखदैवयधोपिण्यागव्याकारभिधानोदयादिपञ्चघटिकाकालपरिमितायां प्रथमायां तु मात्रायां यन्नेवमुपासकः प्राणैः वियुज्यते सोऽसौ योगी भरते वर्षे राजा सर्वभौमः सन् प्रजायते ॥ १२ ॥ तथा च द्वितीयायाम । सप्तम्यर्थे चतुर्थिकेति । प्रथमपर्यायवदेकादशपर्यायोऽप्यूहाः ॥ १३—१६ ॥

निर्विशेषब्रह्मस्वरूपं, तज्ज्ञानफलं च

ततः परतरं शुद्धं व्यापकं निर्मलं <sup>१</sup>शिवम् ।

सदोदितं परं ब्रह्म ज्योतिषामुदयो यतः ॥ १७ ॥

अतीन्द्रियं गुणातीतं मनो लीनं यदा भवेत् ।

अनूपमं शिवं शान्तं <sup>२</sup>योगयुक्तः सदा विशेत् ॥ १८ ॥

तद्युक्तस्तन्मयो जन्तुः शनैर्मुच्चेत् <sup>३</sup>कुले चिरम् ।

संस्थितो योगचारेण सर्वसङ्गविवर्जितः ॥ १९ ॥

ततो विलीनपाशोऽसौ विमलः कमलाप्रभुः ।

तेनैव ब्रह्मभावेन परमानन्दमक्षुते ॥ २० ॥

सविशेषब्रह्मविदाभेवं फलतारतम्यमुक्त्वा निर्विशेषब्रह्मस्वरूपं तज्ज्ञानफलं चाह—तत इति । ततः—“ अकागे दक्षिणः पक्षः ” इत्यारम्य महावैराजाभिधानं सविशेषं ब्रह्म तदुपासकानां तत्फलं चाभिहितं, ततः परतरं महावैराजगतहेयां-

<sup>१</sup> परं—क, अ २.      <sup>२</sup> योगयुक्तं—अ २.      <sup>३</sup> कलेषरं—उ (पाठान्तरं), मु.

शापहृष्टमिदं अत एव शुद्धं, स्वाज्ञात्यथा व्याघ्रमलाशिवप्रसक्तौ व्यापकं  
निर्मेलं शिवं, यतः सूर्यादिज्योनिषामुदयो भवति तदेतत् ब्रह्म सदोदितम्  
॥ १७ ॥ करणग्रामतद्रेतुनिगुणप्रसक्तौ अनीन्द्रियं गुणातीतं निर्गुणं, यदा  
स्वातिरिक्तकलनोज्जीवकमनो लीनं भवेत्तदा तदनूपमं निरूपमं, चिन्मात्रत्वात्  
शिवं, शान्तस्वातिरिक्तं यत् ब्रह्म अवशिष्यते सदा तन्निर्विकल्पकयोगयुक्तो  
विशेन् ॥ १८ ॥ तद्योगयुक्तो जन्तुः तन्मयो भूत्वा स्वकारणभूते कुले  
स्वाविद्याद्यतत्कार्यं शनैःशनैः मुञ्चेन अथ यज्ञिरं चिन्मात्रं भवेत् ।  
कोऽयं एवमधिकारीन्याह— संस्थित इति । योगचारेण योगाभ्यासेन सम्यक्  
स्थितः । अन्तर्बाह्यकलनासङ्गिनो योगाभ्यासेच्छा कुत इत्यत आह—  
सर्वसङ्गविवर्जितः इति ॥ १९ ॥ अतो यीर्गी विमलान्तरो भूत्वा विलीन-  
स्वबल्धनहेतुस्वातिरिक्तपाशः सन् विदेहैवल्यकमलया प्रभवतीति प्रभुः  
परमानन्दं यः स्वेन अनुष्टितः तेनैव ब्रह्मभावेन सर्वापहृवसिद्धं ब्रह्म  
निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति ज्ञानयोगेन अशनुते, कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः ॥ २० ॥

ज्ञानिनः प्रारब्धकर्मभावाभावविचारः

आत्मानं सततं ज्ञात्वा कालं नय महामते ।

प्रारब्धमखिलं मुञ्जनोद्देवं कर्तुर्मर्हमि ॥ २१ ॥

उत्पन्ने चात्मविज्ञाने प्रारब्धं नैव मुञ्चति ।

तत्त्वज्ञानोदयादूर्ध्वं प्रारब्धं नैव विद्यते ॥ २२ ॥

देहादीनामसत्त्वात् यथा <sup>१</sup>स्वप्नो विबोधतः ।

कर्म जन्मान्तरीयं यत्प्रारब्धमिति कीर्तितम् ॥ २३ ॥

यत्तु जन्मान्तराभावात्पुंसो नैवास्ति कर्हिचित् ।

स्वप्नदेहो यथाध्यस्तस्तथैवायं हि देहकः ॥ २४ ॥

<sup>१</sup> स्वप्ने—क, अ १, अ २.

अध्यस्तस्य कुतो जन्म जन्माभावे कुतः स्थितिः ।  
 उपादानं प्रपञ्चस्य मृद्गाण्डस्येव पश्यति ॥ २६ ॥  
 अज्ञानं चेति वेदान्तैस्तस्मिन्नष्टं क विश्वता ।  
 यथा रञ्जुं परित्यन्य सर्पं गृह्णाति वै भ्रमात् ॥ २६ ॥  
 तद्वत्सत्यमविज्ञाय जगत्पश्यति मूढधीः ।  
 रञ्जुखण्डे परिज्ञाते सर्परूपं न तिष्ठति ॥ २७ ॥  
 अधिष्ठाने तथा ज्ञाते प्रपञ्चे शून्यतां गते ।  
 देहस्यापि प्रपञ्चत्वात्प्रारब्धावस्थितिः कुतः ॥ २८ ॥  
 अज्ञानजनबोधार्थं प्रारब्धमिति चोच्यते ।  
 ततः कालवशादेव प्रारब्धे तु क्षयं गते ॥ २९ ॥  
 ब्रह्मप्रणवसंधाननादो ज्योतिर्मयः शिवः ।  
 स्वयमाविर्भवेदात्मा मेशापायेऽशुभानिव ॥ ३० ॥

कंचनापकज्ञानिनमुद्दिश्येदमाह—आत्मानमिति । सततं श्रुत्याचार्य-  
 प्रसादलब्धश्रवणादिसाधनेन स्वात्मानं ब्रह्मेति ज्ञात्वा हे महामते आयुः-  
 शेषकालं नय इच्छाऽनिच्छापरेच्छाप्रभवमुखदुःखतन्मिश्रप्रारब्धमखिलं भुजन्  
 नोद्देवं सन्तापं कर्तुं अर्हसि ॥ २१ ॥ तव एवं उत्पन्ने चात्मविज्ञाने  
 नैव प्रारब्धं त्वां मुञ्चति । यदि ते ब्रह्मात्रतत्त्वज्ञानं जायते तदा न हि ते  
 प्रारब्धं कर्म अस्तीत्याह—तत्त्वज्ञानेति ॥ २२ ॥ प्रारब्धसम्भवे हेतुमाचष्टे—  
 देहादीनामिति । यत् जन्मान्तरीयं कर्म सुखादिभोगप्रदं प्रारब्धं ततु प्रबोधात्  
 स्वप्रवत् तत्त्वज्ञानेन नश्यत्येव । तत्र हेतुः—वस्तुतो देहादीनामसत्त्वात् ॥ २३ ॥  
 एवं देहादीनामसत्त्वे पुंसो जन्मान्तराभावात् यत् प्रारब्धमिति मन्यसे तस्मु

कर्हिचिदपि नैवास्तीति निश्चिन्यन्यर्थः । प्रागब्धायत्तदेहस्यासत्त्वं स्फुटयति  
सदृशान्तं—~~च~~प्रेति ॥ २४—२५ ॥ स्वाज्ञानं अव्यासहेतुः । तस्मिन्  
वेदान्तैः तत्प्रभवज्ञानविज्ञानसम्यज्ञानैः अभावपदं गते क तत्कार्यविश्वता  
सेद्धुं पारयति, देहादेः विश्वान्तःपातित्वात् । न कदाचिपि प्रागब्धादिकर्मन्त्रयं  
विद्यते इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २६—२८ ॥ तथा चेत् कथं प्रागब्धकल्पनेत्यत  
आह—अज्ञानेति । स्वज्ञानेन स्वज्ञानतत्कार्यं नष्टे कथं ते देहो विद्यत इति  
स्वज्ञानानुगोधमाक्षिपन्ति, तद्वाग्वन्धनायेयं प्रागब्धकल्पनेत्यर्थः । ततः  
किमित्यत आह—तत इति । ततः सम्यज्ञानान्दूर्ध्वं कालवशान् ईश्वरप्रसादादेव  
प्रागब्धकर्मोपलक्षितस्वातिरिक्तास्तित्वभ्रमे क्षर्वं अपहवं गते सति ॥ २९ ॥  
अथ पुरा ब्रह्मप्रणवानुसन्धानप्रभवप्रबोधः पुनः स्वातिरिक्तास्तित्वभ्रमं न  
ददाति, ऊर्ध्वोत्तिर्मयः शिळो नादः तुर्यतुयो भूत्वा मेघापाये अंशुमानिव  
स्वयं आविर्भवेत् आत्मा स्वमात्रमवशिष्यत इत्यर्थः ॥ ३० ॥

तुरीयतुरीयाधिगमोपायभूतं नादानुसन्धानम्

सिद्धासनस्थितो योगी मुद्रां संधाय वैष्णवीम् ।

शृणुयाहक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा ॥ ३१ ॥

अभ्यस्यमानो नादोऽयं चाहमावृणुते <sup>१</sup>छवनिम् ।

पक्षाद्विपक्षमस्तिलं जित्वा तुर्यपदं ब्रजेत् ॥ ३२ ॥

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् ।

वर्धमानस्तथाऽभ्यासे श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मतः ॥ ३३ ॥

आदौ जलधिजीमूतभेरीनिर्झरसंभवः ।

मध्ये मर्दलशब्दाभो घण्टाकाहलजस्तथा ॥ ३४ ॥

<sup>1</sup> छवनिः—क, अ १, अ २.

अन्ते तु किंकिणीवंशवीणाप्रमरनिस्वनः ।

इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते सूक्ष्मसूक्ष्मतः ॥ ३५ ॥

महति श्रूयमाणे तु महाभेर्यादिकध्वनौ ।

तत्र सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥ ३६ ॥

घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने ।

रममाणमपि <sup>१</sup>क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत् ॥ ३७ ॥

यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ।

तत्र तत्र स्थिरीभूत्वा तेन सार्धं विलीयते ॥ ३८ ॥

विस्मृत्य सकलं बाह्यं नादे दुरधाम्बुवन्मनः ।

एकीभूयाथ सहसा चिदाकाशे विलीयते ॥ ३९ ॥

उदासीनस्ततो भूत्वा सदाऽन्ध्यासेन संयमी ।

उन्मनीकारकं सद्यो नादमेवावधारयेत् ॥ ४० ॥

सर्वचिन्तां समुत्सृज्य सर्वचेष्टाविवर्जितः ।

नादमेवानुसंदध्यान्नादे चित्तं विलीयते ॥ ४१ ॥

ब्रह्मप्रणवार्थतुर्युर्याधिगमोपायतया      नादानुसन्धानप्रकारमाह —सिद्धा-  
सनेति ॥

गुदं वामेन सम्पीड्य मेद्वादुपरि दक्षिणम् ।

ऋजुकायत्रिवन्धाभ्यां सिद्धासनमिदं भवेत् ॥

इति योगशास्त्रप्रसिद्धसिद्धासने स्थितो योगी

<sup>१</sup> कूलसं— अ २.

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिः निमेषोन्मेषवर्जिता ।  
एषमा वैष्णवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥

इति श्रुतिसिद्धैष्णवी मुद्रामनुसन्धाय स्वान्तरनाहतगतं नादं दक्षिणकर्णे  
सदा शृणुयात् ॥ ३१ ॥ एवं नादश्रवणतः किं स्यादित्यत आह—  
अभ्यस्यमान इति । एवं अभ्यस्तो नादः स्वावागकबाष्पशब्दादिकमाङ्गुष्ठ  
पक्ष्मात्रेण स्वविष्पक्षभूतस्वातिरिक्तास्तित्वं निर्मूल्य नादसाधनो योगी तुरुतुर्यपदं  
स्वमात्रमिति ब्रजेत् ॥ ३२ ॥ नादेयतां तदभ्यामानुभवं च प्रकटयति—  
श्रूयत इति ॥ ३३ ॥ कथं? आदौ ॥ ३४—३५ ॥ तत् किं ग्राहमित्यत  
आह—महतीति ॥ ३६ ॥ यथाकथंचित् नादात् मनो न चालयेदित्याह—  
घनमिति ॥ ३७ ॥ जलभ्यादिभ्रमगनिस्वनान्तनादेषु यत्र कुत्र वा  
मनः स्थिरीभवेत् तेन नादेन साकं चिदाकाशे विर्लीयत इत्याह—यत्रेति  
॥ ३८—३९ ॥ तदितरकार्येषु उदासीनः ॥ ४० ॥ यतो नादाभ्यासः  
क्षिप्रफलदः अत एव सर्वचिन्ताम् ॥ ४१ ॥

नादस्य मनोनियमनसामर्थ्यम्

मकरन्दं पिबन्भृङ्गो गन्धान् <sup>१</sup>नापेक्षते यथा ।  
नादासक्तं सदा चित्तं विषयं न हि काहूते ॥ ४२ ॥  
बद्धः सुनादगन्धेन सद्यः संत्यक्त <sup>२</sup>चापलम् ।  
नादग्रहणतश्चित्तमन्तरङ्ग <sup>३</sup>भुजङ्गमम् ॥ ४३ ॥  
विस्मृत्य विश्व <sup>४</sup>मेकाग्रं कुत्रचित्र हि धावति ।  
<sup>५</sup>मनोन्मत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः ॥ ४४ ॥

<sup>१</sup> नाक्षेपते—उ, अ १.

<sup>२</sup> चापलः—क, अ १, अ २, मु.

<sup>३</sup> भुजङ्गमः—मु.

<sup>४</sup> मेकाग्रः—मु.

<sup>५</sup> मनोम—क, अ १.

नियामनसमर्थोऽयं निनादो निशिताङ्गुशः ।  
 नादोऽन्तरङ्गसारङ्गवन्धने वागुरायते ॥ ४९ ॥ ०  
 अन्तरङ्ग<sup>१</sup>तरङ्गस्य रोधे वेलायतेऽपि च ।

नादासक्तं चित्तं तदतिरिक्तविषयं न काङ्क्षतीति सटष्टान्तमाह—  
 मकरन्दमिति ॥ ४२ ॥ नादपाणानिरच्छासबदं चित्तं अचलं सत्  
 स्वबाहाभ्यन्तरं विस्मृत्य स्तब्धीभवतीत्याह—बद्ध इति ॥ ४३ ॥ स्वान्तर्बाह्यं  
 विस्मृत्य स्वस्मिन्नेव स्थिरं सत् न कुत्रचिन् परिधावतीत्यर्थः । नादाङ्गुशो  
 मनोगजनियमनदक्ष इत्याह—मन इति ॥ ४४ ॥ नादोन्तरङ्गगविहङ्गमतरङ्गगगो-  
 धनजालवेलेव दक्ष इत्याह—नाद इति ॥ ४९ ॥

## उपेयनादस्वरूपम्

ब्रह्मप्रणवसंलभ्ननादो ज्योतिर्मयात्मकः ॥ ४६ ॥  
 मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ।  
 तावदाकाशसंकल्पो यावच्छन्दः प्रवर्तते ॥ ४७ ॥  
 निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मा <sup>२</sup>समीर्यते ।  
 नादो यावन्मनस्तावनादान्ते तु मनोन्मनी ॥ ४८ ॥  
 सशब्दश्याक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम् ।  
 सदा नादानुसंधानात्संक्षीणा वासना <sup>३</sup>भवेत् ॥ ४९ ॥  
 निरञ्जने विलीयते मनोवायू न संशयः ।  
 नादकोटिसहस्राणि विन्दुकोटिशतानि च ॥ ५० ॥  
 सर्वे तत्र लयं यान्ति ब्रह्मप्रणव<sup>४</sup>नादके ।

<sup>१</sup> समुद्रस्य—क, अ २.<sup>२</sup> समीर्यते—अ १, अ २.<sup>३</sup> तुया—क, अ १, अ २.<sup>४</sup> नादकः—उ.

उपायनादस्वरूपमुक्त्वा फलात्मकोपेयनादस्वरूपं तज्ज्ञानफलं च  
प्रकटयति—ब्रह्मोति । अकारस्थूलांशादिप्रविभक्तजाग्रजाग्रदाधिविकल्पानुज्ञैकर-  
सान्तकल्नोपबृंहणात् ब्रह्म यस्मिन् षोडशमात्रात्मकप्रणवे विराजते स  
ब्रह्मप्रणवः तत्संलग्नः सचाऽसौ स्वज्ञानां पगम्भावं न ददातीति  
नदः स एव नादः प्रत्यगात्मा स्वयंप्रकाशकतया ज्योनिर्मयात्मको भवति  
॥ ४६ ॥ यन्मनः पराकृप्रत्यविभागहेतुः तत्र प्रत्यगभिन्नपरग्रहणि लयं याति,  
मनउपलक्षितस्वाविद्यापदाधिकरणं यत् तस्य विग्राहोः नद्विष्णोः व्याप्यसापेक्षव्याप-  
नशीलस्य व्याप्यसापेक्षव्यापकताऽभावे यद्व्याप्तव्यापककलनाविग्रहमवशिष्यते,  
तदेव परमं निश्चितियोगिकनिर्विशेषं तन्मात्रतया पद्यत इति पदं विकल्पेवर-  
कैवल्यमित्यर्थः । किं सदा ब्रह्मप्रणवानुभन्धानं कर्तव्यमित्यवधिमाह—  
तावदिति । यावद्वाहान्तःशब्दकामादिप्रतीतिः नावदाकाशसङ्कल्पः स्वातिरिक्त-  
शब्दादिप्रपञ्चोऽस्ति नास्तीति विभ्रमसङ्कल्पविग्रहो भवेत् ॥ ४७ ॥ ततोऽयं  
निःशब्दतया विभाति परमात्मेति सम्यगीर्यते । नादानुसन्धानावधिं तत्फलं  
चाह—नाद इति ॥ ४८—४९ ॥ ब्रह्मप्रणवनादस्य सर्वापवादाधिकरणतामाह—  
नादेति । नादस्य सर्वसाक्षिणोऽधिगमे यान्तुपायतया कोटिसहस्राणि साधनानि  
सन्ति यानि बिन्दोः ईश्वरस्य अधिगमे सालोक्यादितत्पदासिसाधनानि  
कोटिशतानि सन्ति तानि सर्वाणि ॥ ५० ॥ चशब्दात् ये ये स्वाज्ञविकलिपताः  
विकाराः सन्ति ते सर्वे तत्र ब्रह्मप्रणवनादः प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि लयं  
यान्ति । ततः प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म स्वाधिष्ठेयाभावात् निरधिष्ठानं सत्  
स्वमात्रमवशिष्यत इति भावः ॥

नादारुद्घोगिनां विदेहमुक्तिलाभः

सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिन्ताविवर्जितः ॥ ९१ ॥

मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः ।

शङ्खदुन्दुभिनादं च न शृणोति कदाचन ॥ ९२ ॥

काष्ठवज्ञायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम् ।

न जानाति स शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा ॥ ९३ ॥

न मानं नावमानं च संत्यक्त्वा तु समाधिना ।  
 अवस्थात्रयमन्वेति न चित्तं योगिनः सदा ॥ ९४ ॥  
 जाग्रत्तिदाविनिर्मुक्तः स्वरूपावस्थतामियात् ॥ ९५ ॥  
 दृष्टिः स्थिरा यस्य विना सदृश्यं  
 वायुः स्थिरो <sup>१</sup>यस्य विना प्रयत्नम् ।  
 चित्तं स्थिरं यस्य विनाऽवलम्बं  
 स ब्रह्मतारान्तरनादरूपः ॥ ९६ ॥  
 इत्युपनिषत् ॥

एवं ब्रह्मप्रणवनादारूढयोगिनां स्थितिं तत्कृतकृत्यतां विशदीकरोति—  
 सर्वेति ॥ ९१—९२ ॥ ब्रह्मात्रभावमापनो योगी ब्रह्मातिरिक्तकलनां  
 न जानानि ब्रह्मातिरिक्तयोः निप्रतियोगिकभावाभाववृपत्वात् इत्यर्थः  
 ॥ ९३—९५ ॥ तस्य ब्रह्मप्रणवनादरूपतां दर्शयन् उपसंहरति—दृष्टिरिति ।  
 यस्य हृष्टिवायुचित्तानि हृश्यप्रयत्नावलम्बकलनां विना स्थिरीभूत्वा ब्रह्म-  
 प्रणवपर्यवसन्ना भवन्ति सोऽयं विद्वान् ब्रह्मतारान्तरगतुर्युतुर्यामिधाननादरूपतया  
 अवशिष्यते, विदेहमुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ ९६ ॥ इत्युपनिषच्छब्दौ नादविन्दू-  
 पनिषत्समाप्त्यर्थौ ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।  
 लिखितं स्याद्विवरणं नादविन्दोः स्फुटं लघु ।  
 नादविन्दुविवरणं पञ्चाशदधिकं शतम् ॥

इति श्रीमदीशायशेत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे अष्टविंशत्सङ्ख्यापूरकं  
 नादविन्दूपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

<sup>1</sup> यत्र—उ १.

# पाशुपतब्रह्मोपनिषत्

भद्रं कर्णेभिः— इति शान्तिः

## पूर्वकाण्डः

जगन्नियन्त्रविषयाः समप्रधाः

अथ ह वै स्वयंभूर्ब्रह्मा प्रजाः सृजानीति कामकामो जायते  
कामेश्वरो वैश्रवणः ॥ १ ॥ वैश्रवणो ब्रह्मपुत्रो वालखिल्यः स्वयंभुवं  
परिषुच्छति—जगतां का विद्या का देवता जाग्रत्तुरीययोरस्य को देवो  
‘यानि कस्य वशानि कालाः कियत्प्रमाणाः कस्याज्ञया रवि-  
चन्द्रग्रहादयो भासन्ते कस्य महिमा गगनस्वरूप एतदहं श्रोतु-  
मिच्छामि नान्यो जानाति त्वं ब्रूहि ब्रह्मन् ॥ २ ॥

पाशुपतब्रह्मविद्यासंवेदं परमाक्षगम् ।  
परमानन्दसम्पूर्णं रामचन्द्रपदं भजे ॥

इह खलु अर्थवृणवेदप्रविभक्तेयं पाशुपतब्रह्मोपनिषत् हंससूत्रस्वरूप-  
प्रकटनव्यग्रा निष्प्रतियोगिकब्रह्मात्रपर्यवसन्ना विजयते । अस्याः सङ्क्षेपतो

<sup>1</sup> युगानि—अ.

विवरणमारभ्यते । वालखिल्यस्वयम्भूप्रभप्रतिवचनस्तपेयमाख्यायिका विद्यास्तु-  
त्यर्था । आख्यायिकामवतारयति—अथेति । अथ प्राणयदृष्टपरिपक्वानन्तरस् ।  
हवा इति वृत्तार्थस्मगणायौ निपातौ । स्वयमेव भवतीति स्वयम्भूः ब्रह्मा तस्य  
प्रजाः सृजेयमिति कामं कामः कामकामो जायते प्रादुर्बभूव । तत्सङ्कल्पानुरोधेन  
कामेश्वरो रुदः, “ललाटात् क्रोधजो रुदोऽजायत” इति श्रुतेः, वैश्ववणश्च  
॥ १ ॥ वैश्ववणोनामकः ब्रह्मपुत्रः वालखिल्यो ऋषिषुगश्च स्वयम्भुवं  
परिपृच्छति । किमिति? जगतां का विशेषणादि सप्तथा प्रश्नः कृतः ।  
एतदहं त्वतः सकाशात् श्रोतुमिच्छामि । त्वद्विनन्तदक्ता न हि कोऽपि विद्यते ।  
अतो ब्रह्मन् त्वं ब्रूहि ॥ २ ॥

## सप्तप्रश्नानामुलराणि

स्वयंभूरुवाच—<sup>१</sup>कृत्स्वजगतां मातृका विद्या ॥ ३ ॥  
द्वित्रिवर्णसहिता द्विवर्णमाता त्रिवर्णसहिता चतुर्मीत्रात्मकोङ्कारो मम  
प्राणात्मिका देवता ॥ ४ ॥ अहमेव जगत्स्वयस्यैकः पतिः ॥ ५ ॥  
मम वशानि सर्वाणि युगान्यपि <sup>२</sup>च ॥ ६ ॥ अहो<sup>३</sup>रात्रादिमिति-  
संवर्धिताः कालाः ॥ ७ ॥ मम रूपा रवेस्तेजश्चन्द्रनक्षत्रं<sup>४</sup>ग्रहतेजांसि  
॥ ८ ॥ गगनो मम त्रिशक्तिमायास्वरूपः नान्यो मदस्ति ॥ ९ ॥  
तपोमायात्मको रुदः सात्त्विकमायात्मको विष्णू राजसमायात्मको  
ब्रह्मा । इन्द्रादयस्तामसराज<sup>५</sup>सात्मिका न सात्त्विकः कोऽपि अघोरः  
<sup>६</sup>साधारणस्वरूपः ॥ १० ॥

<sup>१</sup> कृत्स्व—अ १, अ २, क.<sup>२</sup> “च” ल्लम्—क, अ २.<sup>३</sup> रात्रामिति सं—क, अ १, अ २, उ १. रात्रादयः मत्सं—अ.<sup>४</sup> ग्रहस्ते—अ, अ १, अ २. <sup>५</sup> सप्तात्मिका <sup>६</sup> सर्वसाधा—क, अ २.

इति पृष्ठो भगवान् स्वयम्भूत्वात् । किमिति? ‘जगतां का विद्या’ इत्याप्रश्नमपाकरोति—कृत्वा जगतां मातृका अकारादिक्षकारान्तर्लिपिणी विद्या, तस्य वैखरीप्रपञ्चनिर्वाहकत्वात् ॥ ३ ॥ ‘का देवता’ इति द्वितीय-प्रश्नमपाकरोति—द्वित्रिवर्णेति । पदरूपेण द्वित्रिवर्णसहिता स्वयम्पाकरो-काराख्यद्विवर्णं तो मीयत इति द्विवर्णमाता मकारेण सह त्रिवर्णसहिता “स्थूलमेतद्वस्त्वदीर्घप्लुतम्” इति श्रुत्यनुगेधेन य ओङ्कारः चतुर्मात्रात्मको भवति सोऽयं मम प्राणात्मिका देवता ॥ ४ ॥ ‘जाग्रत्तुरीयोरस्य को देवः’ इति प्रश्नमपाकरोति—अहमेवेति । अस्य जाग्रदादितुरीयान्तकलनाकलित्तस्य जगत्त्वयस्य अहमेक एव देवः, मम सूत्रादिरूपेण जगन्त्वयचालकत्वात् ॥ ५ ॥ ‘यानि कस्य वशानि’ इति प्रश्नमपाकरोति—ममेति । कृतादियुगानि, अपिच-शब्दाभ्यां स्थावरजड्गमात्मकं जगत्त्र मद्वाञ् वर्तत इत्यर्थः ॥ ६ ॥ ‘कालाः कियत्प्रमाणाः’ इति प्रश्नमपाकरोति—अहोरात्रेति । निमेषाहोरात्रादिमत्सा संवर्धिताः कल्पावसानाः कालाः ॥ ७ ॥ ‘कस्याङ्गया रविचन्द्रप्रहादयो भासन्ते’ इति प्रश्नमपाकरोति—मम रूपा इति ।

यदादित्यगतं तेजो जगद्वासयतेऽखिलम् ।

यच्चन्द्रमसि यज्ञाम्नो तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥

इति स्मृतेः ॥ ८ ॥ ‘कस्य महिमा गगनस्वरूपः’ इति चरमप्रश्नमपाकरोति—गगन इति । गगनः गगनम् । क्रियाज्ञानेच्छारूपेण दुर्गालिङ्गमीसरस्वतीरूपेण वा मायामयाः तिस्रः शत्र्यः तत्कार्यजातं च मन्महिमास्वरूपमित्यर्थः । अहं एतादृशः परमेश्वरः, मदतिरेकेण न किञ्चिदस्तीत्याह—नान्य इति ॥ ९ ॥ रुद्रादयः किंगुणविद्विष्टाः इत्यत आह—तम इति । तस्य सर्वसंहारकतया तामसगुणोपाधित्वात् । विष्ववतिरेकेण न सात्त्विकः कोऽपि, तस्य सर्वमर्यादापालकतया शुद्धस्वत्वरूपत्वात् । अत एवाऽयं अधोरः सर्वसाधारणस्वरूपः सत्त्वगुणावष्टम्भतः शान्तरूपेण भक्तकोटिसाधारणत्वात् ॥ १० ॥

सृष्टियज्ञे कर्त्तादिनिरूपणम्

समस्तयागानां रुद्रः १ पशुकर्ता रुद्रो यागदेवो विष्णु-  
रघ्वर्युहर्वेन्द्रो देवता यज्ञमुड मानसं ब्रह्म महेश्वरं ब्रह्म ॥ ११ ॥

सृष्टियज्ञे रुद्रादयः कीदृशाः सन्तः किं कुर्वन्ति इत्यत आह—  
समस्तेति । तत्र रुद्रस्तु अग्निष्ठोमादिवाजिमेधान्तसमस्तयागानां विशसनकर्मणि  
पशून् करोतीति पशुकर्ता यागसामान्यस्य पशुप्रधानत्वात् रुद्रः । यागदेवः,  
यागप्रधानाहुतिद्रव्यस्य विष्वायत्तत्वात्, विष्णुः अध्वर्युः अन्यूनाधिकतया  
तत् पालयन् । चालकत्वात् होता इन्द्रः, स्तुतशस्त्रकृत्यात् । तन्नेवतारुपेण  
पशुपतिरेव यज्ञमुक् । मानसं ब्रह्म—वाङ्मौनपूर्वं मानसं मनसा  
सर्वतिवङ्निर्वत्यप्रयोगद्रष्टृत्वेन यज्ञोपवृहणात्—महेश्वरं ब्रह्म ब्रह्मणः सर्वद्रष्टृत्या  
ब्रह्म ब्रह्माणं महेश्वरं विद्धि ॥ ११ ॥

नादानुसन्धानयज्ञः

मानसो हंसः २ मोऽहं हंम इति तन्मयं यज्ञो नादानुसन्धानम् ।

तन्मयविकारो जीवः ॥ १२ ॥

कोऽयं यज्ञ इत्यत्र नादानुसन्धानं इत्याह—मानस इति । हंसः-  
सोऽहमिति चिरभावनातः तन्मयं तद्वावसाधनं यत् नादानुसन्धानं तदेव  
मानसो यज्ञो भवतीत्यर्थः । एवं अनुसन्धाता जीवस्तु उच्छ्रासनिःश्वासवद्यन्मनः  
तन्मयविकारः । जीवस्य प्राणमनउपाधिकत्वात् तद्विकारत्वं युज्यत  
इत्यर्थः ॥ १२ ॥

परमात्मनो हंसत्वनिरूपणम्

परमात्मस्वरूपो हंसः । अन्तर्बहिश्वरति हंसः । अन्तर्गतो-  
उनवकाशान्तर्गतसुपर्णस्वरूपो हंसः ॥ १३ ॥

<sup>१</sup> पशुपतिः कर्ता—अ.

<sup>२</sup> सोहमिति—अ.

हंसस्तु स्वतत्त्वज्ञानेन स्वातिरिक्तत्रम् हन्ति अपहृवं करोतीति हंसः परमात्मा भवति । स कुन्त्र आसनमर्हतीलयत्र—सोऽयं हंसः प्राणापानोपाधियोगात् अन्तर्बहिश्चरति । यदा—सर्वप्राणयन्तर्बहिथर्गति प्रत्यगभिनवब्रह्मरूपेण उपलभ्यते, “अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः” इति श्रुतेः । सर्वप्राणयन्तः कामादयो वर्तन्ते, बाह्ये शब्दादिविषयाश्च, तथा सति स्वव्यासेः अनवकाशात् कथं अन्तर्गतो बहिर्गतो वा भवितुमर्हतीत्यत्र—सर्वप्राणयन्तर्बहिश्च गतकामशब्दादिविषयसर्पप्राप्तसुषुर्णस्वरूपो हंसः । प्रत्यगभिनवं ब्रह्मास्मीति सम्यज्ज्ञानस्य स्वान्तर्बाद्यकलनाविलयपूर्वकत्वात् हंसः स्वान्तर्बहिः व्याप्य परिगृहीते भवतीत्यर्थः । तथाच स्मृतिः—

विषया बाह्यदेशस्था देहस्यान्तर्गहङ्कृतिः ।

सर्वग्रहोपसंशान्तौ स्वयमेवावशिष्यते ॥

इति ॥ १३ ॥

यज्ञमूत्रब्रह्मसूत्रयोः साम्यम्

षण्णवतितत्त्वतन्तुव्यक्तं चित्सूत्रत्रयचिन्मयलक्षणं नवतत्त्व-  
त्रिरावृतं ब्रह्मविष्णुमहेश्वरात्मकमन्त्रित्रयकलोपेतं चिद्गन्धिबन्धनम्  
अद्वैतद्वन्धिः ॥ १४ ॥ यज्ञसाधारणाङ्गं बहिरन्तर्ज्ञलनं यज्ञा-  
ङ्गलक्षणब्रह्मस्वरूपो हंसः ॥ १५ ॥

बाह्यान्तर्मांसमानयज्ञब्रह्मसूत्रयोः साम्यमाह—षण्णवतीति । चतु-  
रड्गुलमानेन षण्णवतिसङ्ख्याविशिष्टं यज्ञसूत्रं यथा व्यक्तं भवति तथा  
षण्णवतितत्त्वतन्तुविशिष्टं ब्रह्मसूत्रं व्यक्तं भवति । यज्ञसूत्रं तु सूत्रत्रयविशिष्टतन्तु-  
लक्षणं, ब्रह्मसूत्रं तु द्वितुर्याविकल्पात्मना चित्सूत्रत्रयचिन्मयलक्षणं भवति ।  
यथा यज्ञसूत्रं सूत्रत्रयं त्रिरावृतं यदि तदा नवसूत्रं भवति तथा ब्रह्मसूत्रमपि  
द्वितुर्याविकल्पत्रयं त्रिरावृतं चेत् नवमहातत्त्वात्मकं भवति । यदा—तुर्यवि-  
श्वविराङ्गोत्रादिभेदेन नवतत्त्वं तुर्यप्राज्ञबीजानुज्ञैकरसात्मना त्रिरावृतं तृतीयपाद-

पर्यवसनं भवति । यदा—नवतत्त्वश्रिराष्ट्रं ब्रह्मसूत्रं ब्रह्मविष्णुमहेश्वरात्मकं  
गार्हपत्याद्यमित्रयक्लोपेतं वा भवति । एवं त्रिधामित्रब्रह्मसूत्रैक्योपायस्तु  
चिन्मात्रादतिरिक्तं त्रिधा विभक्तं न किञ्चिदस्तीति चिद्गन्धिवन्धनम् ।  
व्यष्टिसमितितदैक्यावभासकचित्तामैक्यं ग्रन्थिवन्धनतः कथमित्र—अद्वैतग्रन्थिः  
तदैक्यग्रन्थेः तद्वेदग्रासत्वात् अद्वैतग्रन्थिः अद्वितीयपरमात्मा भवतीत्यर्थः ।  
यथा यज्ञसूत्रब्रह्मग्रन्थिः तदैक्यहेतुः तथा अत्रापीत्यर्थः ॥ १४ ॥ बाह्यान्तः-  
सूत्रयोः सामानाधिकरण्यमाह—यज्ञेति । यज्ञसूत्रं बहिः ज्वलतीति यथा  
बाह्ययज्ञसाधारणाङ्गं भवति तथा ब्रह्मसूत्रं अन्तर्ज्वलतीत्यन्तर्यज्ञसाधारणाङ्गं  
भवतीति ज्ञेयम् । हंसस्तु अन्तर्यज्ञाङ्गलक्षणब्रह्मस्वरूपो भवति ॥ १५ ॥

ब्रह्मयज्ञो ब्राह्मणाधिकारिकः

उपवीतलक्षणसूत्र<sup>१</sup>ब्रह्मगा यज्ञाः । ब्रह्माङ्गलक्षणयुक्तो  
यज्ञसूत्रम् । तद्वेदसूत्रम् । यज्ञसूत्रसंबन्धी ब्रह्मयज्ञः तत्स्वरूपः ॥ १६ ॥

बाह्ययज्ञास्तु उपवीतलक्षणसूत्रवद्ब्रह्मगा ब्राह्मणाश्रया भवन्ति ।  
यज्ञसूत्रं ब्रह्माङ्गलक्षणयुक्तो वेदाङ्गलक्षणयुक्तो ब्राह्मणो भजति । तत्  
ब्रह्मसूत्रमपि स एव भजति । तत् कथं इत्यत्र—यज्ञसूत्रवद्ब्राह्मणसम्बन्धी  
ब्रह्मयज्ञः, ब्रह्मनिष्ठाया ब्राह्मणनिर्वर्त्यत्वात् । यो यज्ञिषुः स तत्स्वरूपो  
भवति ॥ १६ ॥

प्रणवहसस्य ब्रह्मयज्ञत्वम्

अङ्गानि मात्राणि । मनोयज्ञस्य हंसो यज्ञसूत्रम् । प्रणवं  
ब्रह्मसूत्रं ब्रह्मयज्ञमयम् । प्रणवान्तर्वर्तीं हंसो ब्रह्मसूत्रम् । तदेव  
ब्रह्मयज्ञमयं मोक्षक्रमम् ॥ १७ ॥

<sup>१</sup> ब्रह्मसूत्रगा—क.

यत्प्रणवनिष्ठः प्रणवो भवति तदद्गानि कानीत्यत्र—मात्राणि अकारादि-  
मात्राः । अङ्गप्रणवस्वरूपं कीदृशं इत्यत्र—मनोयज्ञस्य अन्तर्यज्ञस्य फलत्वेन  
यो विराजते हंसः तत्स्वरूपमेव यज्ञसूत्रम् । प्रणवं प्रणवः ब्रह्मसूत्रमयं  
ब्रह्मयज्ञस्थ । यत् एवं अतो हंस एव सर्वं, तदतिरिक्तं न किञ्चिद्दर्शित इत्यर्थः ।  
यो हंसः प्रणवार्थतया प्रणवान्तर्हपलभ्यते म एव ब्रह्मसूत्रम् । प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म  
यत् ब्रह्मसूत्रं तदेव ब्रह्मयज्ञमयं निर्विशेषब्रह्मज्ञानम् । तदेव मोक्षक्रमं  
स्वातिरिक्तभ्रममोक्षणस्य स्वमात्रज्ञानमेव साधनं, तदतिरिक्तसाधनजालस्य  
तन्मोक्षणेऽकिञ्चित्करत्वात् । अयमेव हि क्रमः, “नान्यः पन्था अयनाय  
विद्यते” इति श्रुतेः ॥ १७ ॥

ब्रह्मसन्ध्याक्रियास्पो मनोयागः

ब्रह्मसंध्याक्रिया मनोयागः । संध्याक्रिया मनोयागस्य

लक्षणम् ॥ १८ ॥

मनोयागः कीदृशः इत्यत आह—ब्रह्मेति । “तत् त्वमसि,” “अहं  
ब्रह्मस्मि” इति प्रत्यक्परब्रह्मणोरैक्यमेव सन्ध्याक्रिया मनोयागः उच्यते ।  
तयोः सन्ध्याक्रिया हि मनोयागस्य लक्षणं इत्यत्र—जीवात्मपरमात्मनोः  
एकत्वज्ञानेन तयोः भेद एव विभग्नः, सा सन्ध्येति—-

नोदकैर्जयते सन्ध्या न मन्त्रोच्चारणेन तु ।

सन्धौ जीवात्मनोरैक्यं सा सन्ध्या सद्विरुच्यते ॥

इति श्रुतेः स्मृतेश्च ॥ १८ ॥

हंसप्रणवाभेदानुसन्धानं अन्तर्यागः

यज्ञ<sup>१</sup>सूत्रं प्रणवम् । ब्रह्मयज्ञक्रियायुक्तो ब्राह्मणः । ब्रह्मचर्येण  
चरन्ति देवाः । हंससूत्रचर्या यज्ञाः । हंसप्रणवयोरभेदः ॥ १९ ॥

<sup>1</sup> सूत्रप्रणवब्र—अ.

हंसस्य प्रार्थनाखिकालाः । त्रिकालाखिवर्णाः । त्रेताऽन्यनुसंधानो  
यागः । त्रेताऽन्यात्माकृतिवर्णोङ्कारहंसानुसंधानोऽन्तर्यागः ॥ २० ॥  
चित्स्वरूपवत्तन्मयं तुरीयस्वरूपम् । अन्तरादित्ये ज्योतिःस्वरूपो  
हंसः ॥ २१ ॥ यज्ञाङ्कं ब्रह्मसंपत्तिः । ब्रह्म<sup>१</sup>प्रवृत्तितप्रणवहंससूत्रेणैव  
ध्यानमाचरन्ति ॥ २२ ॥

हंसप्रणवयोः अभेदं वकुं भूमिकां करोति—यज्ञसूत्रभिति । यज्ञत्वेन  
सूचनात् यज्ञसूत्रं ब्रह्मप्रणवं प्रणवः, यज्ञस्य विष्णोः प्रणवार्थत्वात् ब्रह्म-  
यज्ञक्रिया निकामकर्मानुष्टानसहकृतध्यानसमाधिः, तदनुष्टाता ब्राह्मणः, तस्य  
परापरब्रह्मवित्त्वात् । “ब्रह्मावे मनश्चारो ब्रह्मचर्यं विदुर्बुद्ध्याः” इति  
श्रुत्यनुरोधेन देवा इन्द्रादयोऽपि सदा ब्रह्मचर्येण चरन्ति, तेषां प्रजापति-  
शिष्यत्वेन ब्रह्मवित्त्वात् । यज्ञा अपि हंससूत्रचर्याः अन्तर्यज्ञानां प्रत्याहार-  
धारणाध्यानमाधीनां हंससूत्रचर्याविर्भावहेतुत्वात् । “आत्ममन्त्वस्य हंसस्य  
परग्रगसमन्वयात्” इति स्मृतिसिद्धः हंसप्रणवयोरभेदः, वाच्यवाचक्योरेकत्वात्  
॥ १९ ॥ हंसप्रणवयोरेकत्वं कथमित्यत्राह—हंसस्येति । प्रयगभिन्नपरमात्मनो  
हंसस्य आन्युपायभूताः प्रार्थनाः श्रवणादयः । ते त्रिकालाः, श्रवणादीनां  
कालपरिच्छेदत्वात् । भूतादित्रिकाला एव अकागदित्रिवर्णाः । विश्विराङ्गोत्रादि-  
त्रेताऽन्यनुसन्धानोऽनुसन्धानमन्तर्यागः । तत् कथं इत्यत्र—विश्वादित्रेताऽन्या-  
त्मनां द्वितुर्याविकल्पपर्यवसन्नानां व्यष्टिसमष्टितदुभैक्याकाराद्याकृतिवर्णवदो-  
ङ्कारार्थनिश्चितियोगिकतुर्यतुर्यहंसः स्वमात्रमित्यनुसन्धानोऽनुसन्धानमन्तर्यागः  
॥ २० ॥ विश्वविराङ्गोत्रादित्रिचित्स्वरूपवत्तन्मयं तद्वत्तहेयांशापायसिद्धं तुर्यप्रवि-  
भक्ततुरीयस्वरूपम् । तद्रिकल्पितान्तरादित्ये स्वान्तःकामादिवृत्यवभासक-  
प्रत्यक्षसूर्ये तदभेदेन विद्योत्तमानज्योतिःस्वरूपो हंसः परमात्मा ॥ २१ ॥  
तदनुसन्धानात्मकान्तर्यज्ञाभिधानाङ्कं सम्यज्ञानमङ्गिग्राह्यसम्पत्तिहेतुः, स्वासेः

<sup>१</sup> प्रवृत्तौ—अ.

स्वातिरिक्तासम्भवसिद्धस्वज्ञानपूर्वकत्वात् । अत एव ब्रह्मविदादयः पराकप्रवृत्ति-  
निरसनपूर्वकं प्रत्यगभिन्नब्रह्मगोचरं प्रवृत्तिः तदालम्बनभूतः प्रणवः  
तदर्थभूतप्रत्यक्षपरविभागेक्यासहतुर्युत्युर्हंसरूपेण तुरीयोङ्गारप्रविद्योतं तुर्यतुर्ये  
“ब्रह्मात्रमसन्न हि” इत्यादिश्रुतिततिसूचनात् हंससूत्रं “मद्भ्वातिरिक्तमणुमात्रं न  
विद्यते” इति निर्विशेषब्रह्मज्ञानं तेनैव हंसः स्वमात्रमिति ध्यानमाचरण्ति ।  
एवंनिष्ठाः तत्स्वरूपा एव भवन्तीत्यर्थः ॥ २२ ॥

षणवतिहंससूत्राणि

प्रोवाच पुनः स्वयंसुवं प्रतिजानीते ब्रह्मपुत्रो क्रषिर्वाल-  
खिल्यः । हंससूत्राणि कतिसंब्यानि कियद्वा प्रमाणम् ॥ २३ ॥  
हृदादित्यमरीचीनां पदं षणवतिः । <sup>१</sup>चित्सूत्राद्याणयोः स्वर्निर्गता  
प्रणवाभारा षड्झुल्लद्दशाशीतिः ॥ २४ ॥

वालखिल्यः स्वयम्भूमुग्रात् एवमवगम्य पुनः म्वावगतिदाढ्यांय  
ब्रह्मयज्ञसूत्रेयतां पृच्छतीयाह—प्रोवाचेति । वालखिल्यो मुनिः पुनः  
स्वयम्भुवं प्रति हे भगवन्—भवान् सर्वं प्रतिजानीते, तव निरङ्गुशसर्वज्ञत्वात्—  
हंसस्य परमात्मनः प्रापकतया सूचनात् सूत्राणि कतिसङ्ख्याकानि कियद्वा  
तत्प्रमाणं तदियत्तेति तद्बुत्सया प्रोवाच पृष्ठवान् ॥ २३ ॥ प्रश्नोत्तरं  
भगवानाह—हृदीति । हृदि विलसितकामादिवृत्तिसहस्रभावाभावप्रकाशन्वि-  
दादित्यमरीचीनां तत्त्वकिरणानां वराहोपनिषत्प्रकाशितानां पदं स्वरूपं  
षणवतिः, कार्पासक्यज्ञसूत्रषणवतितुल्यमित्यर्थः । षणवतिसङ्ख्याक-  
चित्तत्वमरीचयः क आविर्भूता इत्यत्र—चित्सूत्रोपलब्धिहेतुहृदयाद्याद्याणयोः  
विश्वकायविराङ्गुदये तत्सङ्ख्लिपत आविर्भूय—आद्याण इत्यत्राकारः छान्दसः—  
द्याणयोः द्याणाभ्यां अकारादिस्वरात्मकोऽङ्गासरूपेण बहिर्निर्गतानि तत्त्वानि

<sup>१</sup> चित्सूत्रद्या—क, अ.

तेषां भेदाः । किमाधारा इत्यत्र परापरब्रह्माधिष्ठितप्रणवाधाराः सन्तः अद्यापि वर्तन्ते । कतिविधा इत्यत्र षड्कूलदशाशीतिः षण्णवितिविधा भवन्ति । यद्वा—षण्णवत्यङ्गुलपरिमितषण्णवितितत्त्वात्मका भवन्ति ॥ २४ ॥

हंसात्मविद्यैव मुक्तिः

वाम<sup>१</sup>बाहुदक्षिणकटयोरन्तश्चरति हंसः परमात्मा ब्रह्म-  
गुह्यप्रकारो नान्यत्र विदितः ॥ २९ ॥ ये जानन्ति तेऽमृतफलकाः ।  
सर्वकालं <sup>२</sup>हंसं न प्रकाशकम् । प्रणवहंसान्त<sup>३</sup>र्धान<sup>४</sup>प्रकृतिं विना न  
मुक्तिः ॥ २६ ॥

इत्थंभूतविराट्कृतीरवामबाहुदक्षिणकटयोरन्तश्चरति हंसः परमात्मा यथा यज्ञसूत्रं वामबाहुदक्षिणकव्यन्तं विराजते तथा वामबाहुदक्षिण-  
कटयुपलक्षितसर्वाङ्गं स्वाविद्यापदतत्कार्यजातं तदन्तर्बहिश्च विश्वविश्वाद्य-  
विकल्पानुङ्करसान्तभेदेन चरति । वस्तुतस्तु हंसः तत्सर्वाप्हवसिद्धपरमात्म-  
रूपेण अवशिष्यत इति याऽर्थः सोऽयमर्थो ब्रह्मगुह्यप्रकारः नान्यत्र विदितः,  
अत्रैव विशेषतः प्रकटितत्वात् ॥ २९ ॥ विद्याफलमाह—य इति । किं  
सर्वेऽन्येवं हंसं आत्मतया विदित्वा तदेदनफलं अमृतत्वं नाम्युः इत्यत  
आह—सर्वेति ।

श्रुतिः स्मृतिः ममैवाज्ञा यस्तामुलङ्घन्य वर्तते ।  
आज्ञाच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः ॥

इति स्मृतिसिद्धस्वाज्ञारूपश्रुतिस्मृतिमागोङ्गुलघकानां निष्प्रतियोगिकब्रह्मात्रं  
भावरूपं ब्रह्मातिरिक्ताविद्यापदतत्कार्यजातमपि निष्प्रतियोगिकाभावरूपं नानयोः  
वाच्यवाचककार्यकारणाधाराधेयत्वं अस्तीति सर्वकालं सदा न प्रकाशकं

<sup>१</sup> वामबाहोर्द—उ, उ १, अ १.

<sup>२</sup> हंसप्र—अ.

<sup>३</sup> धर्न—क, अ १.

<sup>४</sup> प्रकृतर्वि—क, अ १, अ २, उ.

हंसमात्मानं, विद्धीति शेषः । तेषां स्वापराधदोषावृत्तत्वात् दिवार्भीतसूर्यवदात्मा स्वरूपप्रकाशको न भवतीत्यर्थः । सत्त्वप्रकृतेः मुक्तिः भैतरस्येत्याह— प्रणवेति । प्रणवहंसः स्वान्तःप्रणवार्थतुर्यतुर्यहंसः सांडहमिति ध्यानप्रकृतिः ध्यानशीलो जीवन्मुक्तः । तस्य मुक्तिः करस्था । तं विना न कस्यापि मुक्तिरस्ति ॥ २६ ॥

बाह्यापेक्षया आन्तरयागस्य श्रेष्ठत्वम्

नवसूत्रान्परिचर्चितान् । तेऽपि यद्वद्य चरन्ति । अन्त-  
रादित्यं न ज्ञातं मनुष्याणाम् ॥ २७ ॥ जगदादित्यो रोचत इति  
ज्ञात्वा तं मर्त्या विबुधास्तपनप्रार्थनायुक्ता आचरन्ति ॥ २८ ॥  
वाजपेयः पशुहर्ता अश्वर्युरिन्द्रो देवता अहिंसा धर्मयागः  
परमहंसोऽश्वर्युः परमात्मा देवता पशुपतिः ॥ २९ ॥ ब्रह्मो-  
पनिषदो ब्रह्म । स्वाध्याययुक्ता ब्राह्मणाश्चरन्ति ॥ ३० ॥

ये तु पुनः विश्वविराटोत्रादिप्राज्ञवीजानुङ्गकरसान्ततया मिथ्ये  
भिदाचर्चितान् परस्परभेदेन व्याहृतान् नवसूत्रान् आत्मेति भजन्ति तेऽपि  
यत् ब्रह्मेति वदन्ति तदेव चरन्ति भजन्ति, विश्वादिनवकगतहेयांशापाये  
तेषामपि ब्रह्मरूपत्वात् । तथाऽपि ते यथावत् न जानन्तीत्याह—अन्तरिति ।  
मनुष्याणां मनुष्यैः स्वान्तर्विलसितचिदादित्यस्वरूपं न ज्ञातं, तेषां स्वाज्ञाना-  
वृत्तत्वात् ॥ २७ ॥ तेषां कुत्र लुचिः? जगदात्मकादित्यो रोचते, तेषां  
नामरूपमोहितदृष्टित्वात् । ते परमार्थात् हीयन्त इत्यर्थः । केचन एवं ज्ञात्वा  
मर्त्या विबुधाश्व स्वाज्ञानजस्वातिरिक्तध्वान्तप्रासचित्पनप्रार्थनायुक्ताः चिदादि-  
त्योऽस्मीति नित्यानुसन्धानशीलाः परमार्थतत्त्वमाचरन्ति ॥ २८ ॥  
किमाचरन्तीत्यत्र अन्तर्यागमित्याह—वाजपेय इति । वाजं स्वातिरिक्तान्नरसं

पिबतीति वाजपेयो निर्विशेषज्ञानयज्ञः । देहादावात्मात्मीयाभिमतिपशुं-हरतीति पशुहर्ता । य इन्द्रः परमेश्वरो देवतात्वेन अभिमतः स एव अध्वर्युः भूत्वा ज्ञान-यज्ञचालको भवति । बाह्ययज्ञापेक्षया अस्य श्रैष्टे हेतुः अहिसात्मकोऽयं मोक्षधर्मयागः । ज्ञानयागनिर्वाहकोऽध्वर्युः परमहंसपरिव्राजक एव । यज्ञदेवता तु पशुपतिः परमात्मैव देवता ॥ २९ ॥ इत्थंभूतब्रह्मोपनिषदः परमतात्पर्यार्थस्तु ब्रह्मैव नेतरत्, ब्रह्मणो वेदवेदान्तार्थत्वात् । के एवं आचरन्तीत्यत्र—स्वाध्या-ययुक्ता वेदवेदान्तार्थपारीणाः ब्राह्मणाः आचरन्ति, तेषां ज्ञानयज्ञे मुख्याधिकारित्वात् ॥ ३० ॥

ज्ञानयज्ञरूपोऽश्रमेधः

अश्रमेषो महायज्ञकथा । तद्राजा ब्रह्मचर्यमाचरन्ति ।  
सर्वेषां पूर्वोक्तब्रह्मयज्ञकमं मुक्तिक्रममिति ॥ ३१ ॥

महायज्ञकथा कीटशी इत्यत्र—स्वातिरिक्तप्रपञ्चपशुमेधनं विशसनं अपह्रवः, शः परश्चो वा भवतिविति विश्वासानहोऽश्रमेधः स्वज्ञानसमकालमेव स्वातिरिक्तसामान्यस्य अपहोतुं युक्तत्वात् । इयमेव हि निर्विशेषमहाज्ञानयज्ञ-कथा स्वातिरिक्तर्थः । तादृशाश्रमेधमहायज्ञे निष्प्रतियोगिकस्वभात्रतया राजत इति तद्राजा तेन तद्राजा स्वकृतसाधनानुष्ठानेन ये अनुगृहीताः कृतार्था भवन्त्विति ते हि द्विविधब्रह्मचर्यमाचरन्ति ब्रह्मचर्यस्य तत्प्रसादब्रह्मूतानां मुदुर्लभत्वात् इति यत् तत् सर्वेषां मुमुक्षुणां यो ब्रह्मप्रापकमागोऽस्ति तं पूर्वोक्तब्रह्मयज्ञकमं मुक्तिक्रमं चेति विद्धि ॥ ३१ ॥

तारकहंसज्योतिः

ब्रह्मपुत्रः प्रोवाच । उदितो हंस ऋषिः । स्वयंभूस्तिरोदधे ।  
१रुदो ब्रह्मोपनिषदो हंसज्योतिः पशुपतिः प्रणवम्तारकः स  
एवं वेद ॥ ३२ ॥

<sup>1</sup> ख्योप—क, अ २.

इति स्वयम्भुवा अनुगृहीतः ब्रह्मपुत्रः वालविल्यगणः प्रोवाच ।  
किमिति ? भगवदुपदेशमहिन्ना उदितो हंस ऋषिः सर्वापहवसिद्धनिष्ठ्रतियोगिक-  
स्वमात्रतया हंसः परमात्मा प्रादुर्भूतः, तेन अहं कृतकृत्योऽस्मीति शिष्योक्ति-  
माकर्णं अतीव हर्षितः सन् स्वयम्भूस्तिगोदधे । स्वस्वरूपं गतवानित्यर्थः ।  
रुद्रो वैश्रवणोऽन्येवं वेदेल्याह—रुद्र इति । वैश्रवणेन साकं रुद्रोऽपि  
स्वयम्भूमुखतः ब्रह्मोपनिषदः परमाशयो ब्रह्मतारकार्थः पशुपतिः हंसञ्योति-  
रस्मीत्येवं विदितवानित्यर्थः ॥ ३२ ॥

## उत्तरकाण्डः

अखण्डत्रृस्या ब्रह्मसम्पत्तिः

हंसात्ममालिका<sup>१</sup>वर्णब्रह्मकालप्रचोदिता ।  
परमात्मा पुमानिति ब्रह्मसंपत्तिकारिणी ॥ १ ॥  
अध्यात्मब्रह्मकल्पस्य आकृतिः कीदर्शी कथा ।

कथं एवं विदितवानित्यत आह—हंसेति । अभिषेयरूपस्य हंसात्मनो  
मालिकावणोऽभिधानात्मकोऽयमोङ्कारः तदर्थरूपं ब्रह्मैव कालेश्वरस्वरूपमासाद्य  
एवं कर्तव्यं एवमकर्तव्यमिति सर्वप्राणिहिताहितविषयप्रचोदिता प्रचोदयिता  
प्रेग्को भवति । स्वेन रूपेण पुमान ईश्वरः स्वगतविशेषापाये निष्ठ्रतियोगिक-  
परमात्मा स्वमात्रमविश्वत इति या संविदखण्डाकारवृत्तिरुदेति सेयं ब्रह्म-  
सम्पत्तिं करोतीति ब्रह्मसम्पत्तिकारिणी भवति ॥ १ ॥ इति या “ब्रह्म वेद  
ब्रह्मैव भवति” इत्यादिवेदान्तप्रसिद्धा सैवाध्यात्मब्रह्मकल्पस्यासावाकृतिः  
निरङ्कुशोपायभूतेत्यर्थः । उक्तार्थदाव्यायं चोदयत्येवम्—कीदर्शी कथेति ॥

<sup>१</sup> वर्ण—उ, उ १.

परमात्मनि जगदाविभावो मायिकः

ब्रह्मज्ञानप्रभा सन्ध्या काले गच्छति धीमताम् । १

हंसाख्यो देवमात्माख्यमात्मतत्त्वप्रजा कथम् ॥ २ ॥

<sup>१</sup>अन्तःप्रणवनादाख्यो <sup>२</sup>हंसः प्रत्ययबोधकः ।

अन्तर्गतप्रमा<sup>३</sup>गूढं <sup>४</sup>ज्ञाननालं विराजितम् ॥ ३ ॥

शिवशत्त्वात्मकं रूपं चिन्मयानन्दवेदितम् ।

नादविन्दुकला <sup>५</sup>त्रीणि नेत्र विश्वविचेष्टितम् ॥ ४ ॥

<sup>६</sup>त्रियज्ञानि शिखा त्रीणि <sup>७</sup>द्वित्रीणि संख्यमाकृतिः ।

अन्तर्गूढप्रमा हंसः <sup>८</sup>प्रमाणान्तिर्गतं ब्रह्मः ॥ ९ ॥

ब्रह्माकारवृत्तिकथा कीदृशी इत्यत्र—ब्रह्मज्ञानसूर्यप्रभा प्रत्यक्परचित्सिद्धि-मैक्यं करोतीति सन्ध्येत्युच्यते । तथा हि खलु धीमतां जीवन्मुक्तानां काले गच्छति, जीवन्मुक्तानां निर्विशेषब्रह्मसमाधिश्वपितकालत्वात् । स्वातिरिक्तपराक्ष्रपञ्चग्रासहंसाख्यः प्रत्यक्षदेवं स्वप्रकाशचिन्मात्रं परमात्मानं भजति चेत् तदा स्वात्मतत्त्वे कथं विश्वविगडोत्रादिप्रजा जायते ॥ २ ॥ इत्यत्र—परमार्थतः स्वातिरेकेण कापि प्रजा न जायते, मायया पुनः प्रत्यगादिभावमेत्य यदा भासते तदा तदास्त्यवर्गोऽपि जात इव लक्ष्यत इत्याह—अन्तरिति । नारदपरिब्राजकोपनिषद्यष्टमा त्रात्मकोऽन्तःप्रणवः सम्यक् प्रपञ्चितः । तत्रान्तःप्रणवनादावभासकः प्रत्यक् हंसः स्वान्तर्बाह्यविकल्पितप्रगक्प्रत्ययकदम्बवोधकोऽवभासको भवति । तथा चेत् किं तत् प्रत्यक्तत्त्वं न दृश्यते इत्यत्र—परगद्वामन्तर्गतप्रमया गूढं भाति

<sup>१</sup> अतः—अ.      <sup>२</sup> हंसप्रत्ययरो—क.      <sup>३</sup> रूढम्—उ. क.      <sup>४</sup> ज्ञानं—उ, क.

<sup>५</sup> तत्त्वा—क.      <sup>६</sup> तीतनेत्रं—उ १.      <sup>७</sup> क्रियांगानि.—अ २, क.

<sup>८</sup> द्वित्रीणांसांख्य—अ. द्वित्रीणिसंख्य—क, अ १, अ २. द्वित्रीणीसं—उ १.

<sup>९</sup> प्रमाणं नि—अ, अ १. प्रमाणामि—उ.

तदृष्टा ज्ञाननालं सर्वप्रकाशकज्ञानप्रस्तुपेण प्रकाशितुं नालं नालं, समर्थमिव न हि स्थितमित्यर्थः । किं तदप्रकाशात्मकं? इत्यत्र—स्वेन रूपेण विराजितं तस्य स्वयंप्रकाशत्वेन सर्वप्रकाशकत्वात् ॥ ३ ॥ कैः एवं विदितं इत्यत्र—प्रस्तुगदृष्टिभिः यत् शिवशक्त्यात्मकं शब्दरूपं तदेव स्वगतविशेषांशापायतः सच्चिदानन्दोऽस्मीति वेदितं भवतीत्यत्र

एष सर्वेषु भूतेषु गृहोन्मा न प्रकाशते ।

दृश्यते त्वप्रयया वृद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥

इति श्रुतेः । पुनः म्नाज्ञदृष्टा नादविन्दुकला इति प्रणवात्रयवा: तत्कार्याणि अनुग्रहापसंहागतिंगाधानानि त्रीणि सदाशिवाद्यविशिष्टानि पृथ-द्विकल्पजातं “दक्षिणाक्षिमुखे विश्व” इति, “नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्” इति च, श्रुतिसिद्धनेत्रादिचतुर्दशकारणनिर्वित्यजाग्रदवस्थाभिमानिविश्वविचेष्टितं विकल्पितमित्यर्थः ॥ ४ ॥ विश्वेन कानि कानि विकल्पितार्नात्यत्र स्थूल-सूक्ष्मकारणभेदेन ऋग्ड्वानि ऋग्ड्वाणि तदारूढविश्वतेजसप्राज्ञागव्यशिखाग्नपाणि त्रीणि द्वित्रीणि पञ्चभूततत्कार्यभौतिकानि सङ्कल्पयं मङ्गव्यानि यानि सङ्कल्प्यावाचकानि सर्वत्र आकृतिः नामस्तपविकृतिश्च उक्तानि अनुकूलानि च सर्वाणि विश्वस्वाज्ञानविकल्पितार्नात्यर्थः । एवंविकल्पकविश्वगतविकल्पापाये स एव प्रत्यक् भवतीत्याह-अन्तरिति । यः पुग सर्वप्राणयन्तर्गृहप्रमाणपेण हंसो वर्तते “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” इत्यादिश्रुतिप्रमाणान् प्रत्यगमित्वात्मतत्त्वं बहिर्निर्गतं प्रकाशितं भवति । यदेवं श्रुतिप्रमाणसिद्धं तदेव सच्चिदानन्दमात्मानमद्वितीयं ब्रह्म भावयेत् ॥ ५ ॥

हंसार्कप्रणवध्यानविधिः

ब्रह्मसूत्रपदं ज्ञेयं ब्राह्मचं विध्युक्तलक्षणम् ।

हंसार्कप्रणवध्यानमित्युक्तो ज्ञानसागरे ॥ ६ ॥

एतद्विज्ञानमात्रेण ज्ञानसागरपारगः ।

“ आत्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि ” इति विधिच्छायापह्व[पन]वाक्योरुलक्षणं ब्राह्मणं ब्रह्मात्रतया सूचनात् ब्रह्मसूत्रं स्वावशेषतया पद्यत इति पदं सदैकरूपेण विजृम्भत इति श्लेष्यम् । एवं हंसार्कप्रणवध्यानं यः करोति सोऽयं ज्ञानसागरे ब्रह्मणि समाप्तो भवेदित्युक्तो भवति ॥ ६ ॥ यः कोऽपि मुमुक्षुः एतदुक्तलक्षणं ब्रह्माहमस्मीति विज्ञानमात्रेण स्वान्तर्बाह्यविजृम्भतस्यातिरिक्तज्ञानाज्ञानतत्कार्यभ्रमसांगरपारनिश्चितयेगिकब्रह्ममात्रावस्थानलक्षणविकल्पेभर्गकेवल्यतो भवतीलर्थः ॥

परचित एव करणप्रेक्षकत्वम्

स्वतः शिवः पशुपतिः साक्षी मर्वस्य मर्वदा ॥ ७ ॥

मर्वेषां तु मनस्तेन प्रेरितं नियमेन तु ।

विषये गच्छति प्राणश्चेष्टते वाग्वदत्यपि ॥ ८ ॥

ऋष्टुः पश्यनि रूपाणि श्रोत्रं मर्वं शृणोत्यपि ।

अन्यानि ग्वानि मर्वाणि तेनैव प्रेरितानि तु ॥ ९ ॥

म्वं स्वं विषयमुद्दिश्य प्रवर्तन्ते निरन्तरम् ।

प्रवर्तकत्वं चाग्यस्य मायया न स्वभावतः ॥ १० ॥

श्रोत्रमात्मनि चाग्यस्तं स्वयं पशुपतिः पुमान् ।

अनुप्रविश्य श्रोत्रस्य ददाति श्रोत्रतां शिवः ॥ ११ ॥

मनः स्वात्मनि चाग्यस्तं प्रविश्य परमेश्वरः ।

मनस्त्वं तस्य सत्त्वस्थो ददाति नियमेन तु ॥ १२ ॥

म एव विदितादन्यस्तथैवाविदितादपि ।

अन्येषामिन्द्रियाणां तु कल्पितानामपीश्वरः ॥ १३ ॥

तत्तद्बूपमनुप्राप्य ददाति नियमेन तु ।

स्वाज्ञविकल्पितकरणग्रामसत्त्वे तच्चालकः कः ? इत्यत आह—स्वत  
इति ॥ ७ ॥ स्वस्वविषये ॥ ८-० ॥ न स्वभावतः, स्वतो निर्विकारत्वात्  
॥ १०-१२ ॥ स्वस्यैव करणत्वं करणग्रामचालकत्वं यदि तदा  
अयं संसारी स्यादित्याशङ्क्य तत्रात्मात्मीयाभिमानाभावात् तद्विलक्षणतो न  
संसारीत्याह—स एवेति । यः करणजातम्बूर्खपी मन् तच्चालकोऽपि भवति  
स एव ॥ १३-१४ ॥

आत्मान्यम्य मायाकल्पितन्त्रम्

ततश्छक्षुश्च वाकैव मनश्चान्यानि खानि च ॥ १४ ॥  
न गच्छन्ति स्वयन्योतिःस्वभावे परमात्मनि ।  
<sup>१</sup>अकर्तृविषयप्रत्यक्प्रकाशं स्वात्मनैव तु ॥ १९ ॥  
विना तर्कप्रमाणाभ्यां ब्रह्म यो वेद वेद सः ।

इत्यादि केनोपनिषदि सम्यक् प्रपञ्चितमित्यर्थः । समानप्रकरणत्वात्  
प्रत्यक्त्वमपि मायिकभित्यत्राह—अकर्तृविषयेति ॥ १३ ॥

वस्तुतः स्वात्मनि मायाऽसम्भवः  
प्रत्यगात्मा परं ज्योतिर्माया सा तु महत्तमः ॥ १६ ॥  
तथा सति कथं मायासंभवः प्रत्यगात्मनि ।  
तस्मात्तर्कप्रमाणाभ्यां स्वानुभूत्या च चिद्धने ॥ १७ ॥  
स्वप्रकाशैकसंसिद्धे नास्ति माया परात्मनि ।  
व्यावहारिकदृष्टचेयं विद्याऽविद्या न चान्यथा ॥ १८ ॥

<sup>१</sup> अकर्तृविषय—क, अ १, अ २.

तत्त्वदृष्टया तु नास्त्येव तत्त्वमेवास्ति केवलम् ।  
 व्यावहारिकदृष्टिस्तु प्रकाशाव्यभिचारतः ॥ १९ ॥  
 प्रकाश एव सततं तस्माद्द्वैत एव हि ।  
 अद्वैतमिति चोक्तिश्च प्रकाशाव्यभिचारतः ॥ २० ॥  
 प्रकाश एव सततं तस्मान्मौनं हि युज्यते ।

वस्तुतः स्वात्मनि मायाऽसम्भवमाह—प्रत्यगिति ॥ १६ ॥ यस्मादेव  
 तस्मान् ॥ १७—१८ ॥ स्वातिरेकेण व्यावहारिकदृष्टिरपि नास्तीत्याह—  
 व्यावहारिगिति ॥ १९ ॥ अद्वैतमित्युक्तिरपि न तात्त्विकीत्याह—अद्वैतमिति ।  
 तद्वैतसापेक्षा अद्वैतमिति चोक्तिः ॥ २० ॥

## आन्मज्ञानिनः ब्रह्मात्मत्वम्

अयमर्थो महान्यम्य स्वयमेव प्रकाशितः ॥ २१ ॥  
 न म जीवो न च <sup>१</sup>ब्रह्मा न नान्यदपि किञ्चन ।  
 न तस्य वर्णा विद्यन्तं नाश्रमाश्च तथैव च ॥ २२ ॥  
 न तस्य धर्मोऽधर्मश्च न निषेधो विधिर्वच ।  
 यदा ब्रह्मात्मकं सर्वं विभाति स्वत एव तु ॥ २३ ॥  
 तदा दुःखादिभेदोऽयमाभासोऽपि न भासते ।  
 जगज्जीवादिन्द्रियं पश्यन्नपि परात्मविन् ॥ २४ ॥  
 न तन्पश्यन्ति चिद्रूपं ब्रह्मवस्त्वेव पश्यति ।  
 धर्मधर्मित्ववार्ता च भेदे सति हि भिद्यते ॥ २५ ॥

<sup>१</sup> ब्रह्म—क, अ, अ २.

भेदादोऽभेदस्तथा<sup>१</sup> भेदाभेदः माक्षात्परात्मनः ।

● नास्ति स्वात्मातिगेकेण स्वयमेवाम्नि सर्वदा ॥-२६ ॥

ब्रह्मैव विद्यते साक्षाद्ब्रह्मस्तुतोऽवस्तुतोऽपि च ।

तथैव ब्रह्मविज्ञानी किं गृह्णाति जहाति किम् ॥ २७ ॥

अधिष्ठानमनौपम्यमवाङ्मनसगोचरम् ।

यत्तद्द्रेश्यमग्राह्यमगोत्रं रूपवर्जितम् ॥ २८ ॥

अचक्षुःश्रोत्रमत्यर्थं तदपाणिपदं तथा ।

नित्यं विभुं र्मवगतं सुसूक्ष्मं च नद्व्ययम् ॥ २९ ॥

ब्रह्मैवेदममृतं तत्पुरस्ता-

द्वासानन्दं परमं चैव पश्चान् ।

ब्रह्मानन्दं परमं दक्षिणे च

ब्रह्मानन्दं परमं चोत्तरं च ॥ ३० ॥

स्वात्मन्येव स्वयं सर्वं मदा पश्यति निर्भयः ।

तदा मुक्तो न मुक्तश्च<sup>२</sup> बद्धस्यैव विमुक्तता ॥ ३१ ॥

एवंज्ञानी शिव एवेत्याह—अयमिति ॥ २१ ॥ ब्रह्म चतुर्मुखः

॥ २२-२९ ॥ भेदाभेदः साक्षात् परात्मनः—सापेक्षभेदाभेदयोः

सविशेषत्वात्—नास्ति ॥ २६-२८ ॥ तदपाणिपदं तथा इत्यादि  
मुण्डकोपनिषत्समानप्रकरणमित्यर्थः ॥ २९-३६ ॥

सत्यादि परविद्यासाधनम्

एवंरूपा परा विद्या सत्येन तपसाऽपि च ।

ब्रह्मचर्यादिभिर्धर्मैर्लभ्या वेदान्तवर्त्मना ॥ ३२ ॥

<sup>१</sup> भेदाद् भे—क.

<sup>२</sup> बन्धस्यैव विमुक्तिः—क.

स्वशरीरे स्वयंज्योतिःस्वरूपं पारमार्थिकम् ।  
क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति नेतरे माययाऽवृताः ॥ ३३ ॥

स्वज्ञस्य क्वचित् गमनाभावः  
एवं स्वरूपविज्ञानं यस्य कस्यास्ति योगिनः ।  
कुत्रचिद्रुमनं नास्ति तस्य संपूर्णरूपिणः ॥ ३४ ॥  
आकाशमेकं संपूर्णं कुत्रचिन्नं हि गच्छति ।  
तद्वद्वात्मविच्छेष्टः कुत्रचिन्नैव गच्छति ॥ ३५ ॥

ब्रह्माज्ञानिनः अभक्ष्याभावः  
अभक्ष्यस्य निवृत्त्या तु विशुद्धं हृदयं भवेत् ।  
आहारशुद्धौ चित्तस्य विशुद्धिर्भवति म्यतः ॥ ३६ ॥  
‘चित्ते शुद्धे क्रमाज्ञानं त्रुट्यन्तं ग्रन्थयः स्फुटम् ।  
अभक्ष्यं ब्रह्मविज्ञानविहीनस्यैव देहिनः ॥ ३७ ॥  
न सम्यज्ञानिनसद्वत्सरूपं मकलं खलु ।  
अहमन्नं सदाऽन्नाद इति हि ब्रह्मवेदनम् ॥ ३८ ॥  
ब्रह्मविद्वसति ज्ञानात्सर्वं ब्रह्मात्मनैव तु ।  
ब्रह्मक्षत्रादिकं सर्वं यस्य स्यादोदनं सदा ॥ ३९ ॥  
यस्योपसंचनं मृत्युस्तज्ज्ञानी तादृशः खलु ।  
ब्रह्मस्वरूपविज्ञानाज्जगद्भोज्यं भवेत्खलु ॥ ४० ॥

जगदात्मतया भाति यदा भोज्यं भवेत्तदा ।  
 ब्रह्म<sup>१</sup>स्वात्मतया नित्यं भक्षितं सकलं तदा ॥ ४१ ॥  
 यदा<sup>२</sup>भासेन रूपं जगद्भोज्यं भवेत् तत् ।  
 मानतः स्वात्मना भातं भक्षितं भवति ध्रुवम् ॥ ४२ ॥  
 स्वस्वरूपं स्वयं भुक्षे नास्ति भोज्यं पृथक् स्वतः ।  
 अस्ति चेदस्तितारूपं ब्रह्मवास्तित्वलक्षणम् ॥ ४३ ॥

आहागशुद्धिः चित्तशुद्धिद्वाग ज्ञानहंतुः स्वाज्ञानाम् । स्वज्ञानी तु  
 स्वातिरिक्तं सर्वं स्वमात्रतया प्रसर्तात्याह अभक्ष्यस्येति ॥ ३६ ॥ ज्ञानं जायते  
 तेन त्रुट्यन्ते ॥ ३७—४९ ॥

ज्ञानिनः स्वसर्वात्मत्वदर्शनम्  
 अस्तितालक्षणा मत्ता सत्ता ब्रह्म न चापग ।  
 नास्ति सत्ताऽतिरेकेण नास्ति माया च वस्तुतः ॥ ४४ ॥  
 योगिनामात्मनिष्ठानां माया ह्यात्मनि कल्पिता ।  
 साक्षिरूपतया भाति ब्रह्मज्ञासेन वाधिता ॥ ४५ ॥  
 ब्रह्मविज्ञानसंपन्नः प्रतीतमखिलं जगत् ।  
 पश्यन्नपि सदा नैव पश्यति स्वात्मनः पृथक् ॥ ४६ ॥  
 इत्युपनिषत् ॥

सर्वापहवसिद्धं ब्रह्म निश्चितियोगिकं स्वमात्रमवशिष्यते न कदाचित्  
 तदतिरिक्तमस्तीति ब्रह्मविज्ञानसम्पन्नो योगी स्वाज्ञदृष्टितीतं अखिलं जगत्

<sup>१</sup> सात्म—क.

<sup>२</sup> भासेन—मु.

मरुमरीचितुल्यतया कदाचित् पश्यन्नपि सदा तत् स्वात्मनः पृथक् नैव  
पश्यति । ब्रह्मात्रस्य निश्चितियोगिकत्वेन ब्रह्मातिरिक्तं अस्ति नास्तीति नहि  
विभ्रमावकाशोऽस्तीत्यर्थः ॥ ४६ ॥ इत्युपनिषच्छब्दः प्रकृतोपनिषत्समात्यर्थः ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिग्र्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।  
पाशुपतोपनिषदो व्याख्यानं लिखितं लघु ।  
पाशुपतीयविवृतिः द्विशतग्रन्थभूषिता ॥

इति श्रीमदीशाद्यत्तोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे सप्तसप्ततिसप्तइत्याप्तरकं  
पाशुपतब्रह्मोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्



# ब्रह्मविद्योपनिषत्

सह नाववतु—इति शान्तिः

ब्रह्मविद्यारहस्यार्थप्रणवब्रह्मसूचनम्

अथ ब्रह्मविद्योपनिषदुच्यते—

प्रसादाद्ब्रह्मणस्तस्य विष्णोरङ्गुतकर्मणः ।

रहस्यं ब्रह्मविद्यायां<sup>१</sup> ध्रुवाभिः संप्रचक्षते ॥ १ ॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म यदुक्तं ब्रह्मवादिभिः ।

शरीरं तस्य वक्ष्यामि स्थानं कालत्रयं तथा ॥ २ ॥

तत्र देवाक्षयः प्रोक्ता लोका वेदाक्षयोऽप्यः ।

तित्वो मात्रार्धमात्रा च व्यक्षरस्य शिवस्य तु ॥ ३ ॥

स्वाविद्यातत्कार्यजातं यद्विद्यापहवं गतम् ।

तद्दंसविद्यानिष्पन्नं रामचन्द्रपदं भजे ॥

इह खलु कृष्णयजुवेदप्रविभक्तेयं ब्रह्मविद्योपनिषत् प्रणवहंसविद्यातद्वेद-  
ब्रह्मानुभूतिं प्रकटयन्ती ब्रह्मात्रपर्यवसना विजृम्भते । अस्याः स्वल्पप्रन्थतो

<sup>१</sup> ध्रुवाभिः—क, अ १, अ २.

विवरणमारभ्यते । उपोद्घातादिकमस्याः कठवल्ल्यादिसम्भ् । ब्रह्मविष्णु-  
प्रसादलभ्येयमिति विद्या स्तूयते । श्रुतिरेव स्वाज्ञजनान् प्रत्येवमाह—  
अथेत्यादिना । अथ स्वाज्ञानां ब्रह्मविद्योचितसाधनसम्पत्यनन्तरं इयं  
ब्रह्मविद्योपनिषदुच्यते । तत् कथं? यः सर्वलोकस्थापालयिता च भवति  
तस्य ब्रह्मणः अघटितघटनाघटनपटुतरशक्तेरद्भुतकर्मणो विष्णोश्च प्रसादात्  
ब्रह्मविद्यायां यत् रहस्यं, अनधिकारिणे गोपनीयत्वात्, स्वाज्ञानतत्कार्य-  
स्वातिरिक्तप्रपञ्चतूलाचलभस्मीकरणपटुत्वात् ध्रुवाम्निः प्रत्यक् तदभिन्नः परमात्मेति  
सम्यक् प्रचक्षते ॥ १ ॥ किं तत्स्वरूपमित्याकांक्षायां—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति  
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।  
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्चये चरन्ति  
तते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥

इत्यादिश्रुत्यनुरोधेन सप्रकारं ब्रह्मालभ्यनभूतप्रणवस्वरूपं विशदीकरोति—  
ओमिति ॥ २-३ ॥

प्रणवमात्राचतुष्ट्यप्रपञ्चनम्

ऋग्वेदो गार्हपत्यं च पृथिवी ब्रह्म एव च ।  
अकारस्य शरीरं तु व्याख्यातं ब्रह्मवादिभिः ॥ ४ ॥  
यजुर्वेदोऽन्तरिक्षं च दक्षिणाग्निस्तथैव च ।  
विष्णुश्च भगवान्देव उकारः परिकीर्तिः ॥ ५ ॥  
सामवेदस्तथा द्यौश्चाहवनीयस्तथैव च ।  
ईश्वरः परमो देवो मकारः परिकीर्तिः ॥ ६ ॥  
सूर्यमण्डलमध्येऽथ ह्यकारः शङ्खमध्यगः ।  
उकारश्चन्द्रसंकाशस्तस्य मध्ये व्यवस्थितः ॥ ७ ॥

मकारस्त्वग्निसंकाशो विघूमो विद्युतोपमः ।

६ तिखो मात्रास्तथा ज्ञेयाः सोमसूर्यग्निरूपिणः ॥ ८ ॥

शिखा तु दीपसंकाशा तस्मिन्नुपरि वर्तते ।

अर्धमात्रा तथा ज्ञेया प्रणवस्त्योपरि स्थिता ॥ ९ ॥

सूत्रार्थं व्याकरोति—ऋग्वेद इति । ब्रह्म एव च, ब्रह्मा इत्यर्थः ॥ ४-६ ॥ अकागदेः स्थानं वर्णं चाह—सूर्येति ॥ ७-८ ॥ एवं मात्रात्रयं प्रपञ्चयित्वा अथ अर्धमात्रां प्रपञ्चयति—शिखातिवति । यथा दीपे दीपशिखा वर्तते तथा प्रणवोपरि अर्धमात्रा वर्तत इत्यर्थः ॥ ९ ॥

सुषुम्नायोगेन नाडीसूर्ययोः भेदनम्

पद्मसूत्रनिभा सूक्ष्मा शिखा सा दृश्यते परा ।

सा नाडी सूर्यसंकाशा सूर्यं भित्त्वा तथा परा ॥ १० ॥

द्विसप्तिसहस्राणि नाडीं भित्त्वा च मूर्धनि ।

<sup>१</sup>वरदा सर्वभूतानां सर्वं व्याप्येव तिष्ठति ॥ ११ ॥

सुषुम्नास्वरूपकथनं प्रणवानुसन्धानविधानं तत्सर्वापवादाधिकरण-ब्रह्मज्ञानफलं चाह—पद्मेति । सुषुम्नायाः सूर्यनाडित्वेन तद्वारोत्कान्तस्य मूर्ध्नि ब्रह्मरन्धे लक्ष्यानुसन्धानं कुर्वतः द्विसप्तिसहस्रनाडीभेदनं सूर्यमण्डलभेदनं च उपपद्यत इत्यर्थः ॥ १०-११ ॥

प्रणवनादलयेन मोक्षप्राप्तिः

कांस्यघणटानिनादस्तु यथा लीयति शान्तये ।

ओङ्कारस्तु तथा योन्यः शान्तये सर्वमिच्छता ॥ १२ ॥

<sup>१</sup> वरदः-

यस्मिन्स लीयते शब्दस्तत्परं ब्रह्म गीयते ।  
धियं हि लीयते ब्रह्म सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १३ ॥

एवं योगाभ्यासमकुर्वतोऽपि प्रणवालम्बनेन तत्कलं प्राप्तुं शक्यमित्याह—  
कांस्येति । हेममूलिकाषोडशवारसंस्कृतकांस्यथण्टानादशान्तिवत् षोडशमात्रा-  
कालोच्चारितप्रणवनादलयृक् योगी य एवं प्रणवजपं करोति ॥ १२ ॥  
यस्य—धियमिति विभक्तिव्यत्ययः, प्रथमार्थे द्वितीया—धीः अन्तःकरणं  
प्रणवनादेन साकं विलीयते सोऽयं योगी तत्त्वाधिकरणब्रह्मभूयाय अमृतत्वाय  
स्वातिरिक्तास्तित्वभ्रममोक्षाय कल्पते ॥ १३ ॥

## जीवस्वरूपनिरूपणम्

<sup>१</sup>वायुस्तेजस्तथाकाशाखिविधो जीवसंज्ञकः ।  
स जीवः प्राण इत्युक्ते वालाग्रशतकलिप्तः ॥ १४ ॥  
नाभिस्थाने स्थितं विश्वं शुद्धतत्त्वं सुनिर्मलम् ।  
आदित्यमिव दीप्यन्तं रशिमभिश्चाखिलं शिवम् ॥ १५ ॥

हंसविद्याप्रकटनाय तद्विद्याऽनुष्ठातारं जीवं निरूपयति—वायुरिति ॥ १४ ॥  
तस्य स्थानं निर्दिशति—नाभीति । विश्वं वैश्वानरांशं वस्तुतः स्वगतहेयां-  
शापाये शुद्धतत्त्वम् । शिवं प्रत्यञ्चमात्मानं अन्तःकरणयोगतो जीवं  
पश्यन्ति ॥ १५ ॥

## वन्धमोक्षकारणनिरूपणम्

सकारं च हकारं च जीवो जपति सर्वदा ।  
नाभिदैशाद्विनिष्क्रान्तं विषयव्याप्तिवर्जितम् ॥ १६ ॥

<sup>१</sup> वायुःप्राण—क, अ २.<sup>२</sup> रन्ध्रा—अ १, अ २, क.

तेनेदं निष्कलं विद्यात्खीरात्सर्पिर्यथा तथा ।

कारणेनात्मना युक्तः प्राणायामैश्च पञ्चभिः ॥ १७ ॥

चतुष्कलासमायुक्तो ब्राह्म्यते च हृदि स्थितः ।

गोलकस्तु <sup>१</sup>यदा देहे क्षीरदण्डेन वाऽहतः ॥ १८ ॥

एतस्मिन् <sup>२</sup>वसते शीघ्रमवि<sup>३</sup>श्रामं महाखगः ।

यावन्निश्चसितो जीवस्तावनिष्कलतां गतः ॥ १९ ॥

नभस्यं निष्कलं ध्यात्वा मुच्यते भवबन्धनात् ।

अनाहतध्वनियुतं हंसं यो वेद हृदतम् ॥ २० ॥

स्वप्रकाशचिदानन्दं स हंस इति गीयते ।

सोऽयं जीवः उच्छ्रासनिःश्वासच्छ्लेन सकारं च । निष्क्रमणवेळायां विषयव्याप्तिवर्जितम् ॥ १६ ॥ येन हेतुना विषयविरलः स्यात् तेनेदं निष्कलम् । यथा क्षीरान् कारणात् सर्पिः कार्यतो भिन्नमपि कारणावस्थायां क्षीरमेव भवति तथा अयं सर्पिःस्थानीयो जीवः क्षीरस्थानीयकारणेनात्मना युक्तो भवति । स्वकारणभावापतिमाध्वनं किमित्यत्र—प्राणायामैश्च पञ्चभिः प्राणायामप्रत्याहारधारणाद्यानसमाधिभिः ॥ १७ ॥ विश्वतैजसप्राज्ञतुर्यमेदेन चतुष्कलासमायुक्तो भवति । एवं हृदि स्थितः सन् बन्धमोक्षतत्कार्यकलनासु ब्राह्म्यते चेत्यर्थः । यावत् ब्रह्मनार्दी न प्रविशति तावत् अविश्रान्तं संसरतीत्याह—गोलकस्त्विति । यदा यस्मिन् काले स्थूलदेहे विद्यमान-मूलाधारत्रिकोणाप्रविलसत्सुषुम्नागोलकस्तु क्षीरदण्डेन क्षीरदण्डवलदण्डवत् भोगविशिष्टकुण्डलीशक्तितत्त्वेन प्राणेन वा यावत् अहत अनाक्रान्तो भवति ॥ १८ ॥ तदा एतस्मिन् देहे महाखगो हंसः प्राणाधारो जीवः अविश्रान्तं

<sup>१</sup> यथा—अ १.

<sup>२</sup> हतं—क, अ १, अ २.

<sup>३</sup> वहते—अ १.

<sup>४</sup> श्रान्तं—अ १, उ.

अविश्रान्तं यथा भवति तथा यत् स्वज्ञाननाश्यं शीघ्रं स्वज्ञानमवलम्ब्य वसते वसति, आभूतसंपूर्वं स्वज्ञानावधि संसरतीत्यर्थः । कदा तत्संस्मृतिनिष्ठतिरित्यत आह—यावदिति । अयं जीवः प्राणादिवृत्तिमवष्टम्य यावश्चिश्चसितो न श्वसितः प्राणनादिव्यापारविरक्तो भवति तावत्सर्वकरणव्यापृत्युपरमणलक्षण-निर्विकल्पकावस्थायां निष्कल्पतां गतो भवति ॥ १९ ॥ हृदयनमसि तिष्ठति उपलभ्यत इति नभस्स्थं प्राणादिनामान्तकलाभावात् निष्कल्पमात्मानं ध्यात्वा भवत्वन्धनात् मुच्यते निवृत्तसंसारः कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः । हंसज्ञानी हंस एवेन्याह—अनाहतेति । अनाहतध्वनियुतं हृदयविभातनादोपाधिकमित्यर्थः ॥ २० ॥

हंसविद्यैव परमेश्वरप्राप्तिः

रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भकेन स्थितः सुधीः ॥ २१ ॥

नाभिकन्दे<sup>१</sup> समं कृत्वा प्राणापानौ समाहितः ।

मस्तकम्ब्यामृताम्वादं पीत्वा ध्यानेन सादरम् ॥ २२ ॥

दीपाकारं महादेवं ज्वलन्तं नाभिमध्यमे । .

अभिषिन्यामृतं नैव हंसहंसेति यो जपेत् ॥ २३ ॥

जरामरणरोगादि न तस्य भुवि विद्यते ।

एवं दिनेदिने कुर्यादणिमादिविभूतये ॥ २४ ॥

ईश्वरत्वमवाप्नोति सदाऽभ्यासरतः पुमान् ।

बहवो नैकमार्गेण प्राप्ता नित्यत्वमागताः ॥ २५ ॥

हंसविद्यांमृते लोके नास्ति नित्यत्वसाधनम् ।

केवलकुम्भके परमेश्वरं ध्यायतः तदासिमाह—रेचकमिति २१—२४ ॥ हंसविद्यामृते मुक्तिसाधनं न किञ्चिदस्तीति विद्यां स्तौति—बहव इति ॥ २५ ॥

<sup>१</sup> समौ—क, अ १.

हंसविद्यागुरुभक्तिविधिः

ये ददाति महाविद्यां हंसारब्यां <sup>१</sup>पावनीं पराम् ॥ २६ ॥  
 तस्य दास्यं सदा कुर्यात् <sup>२</sup>प्रज्ञया परया सह ।  
 शुभं वाऽशुभमन्यद्वा यदुक्तं गुरुणा भुवि ॥ २७ ॥  
 तत्कुर्यादविचारेण शिष्यः संतोषसंयुतः ।  
 हंसविद्यामिमां लब्ध्वा गुरुशूश्रूषया नरः ॥ २८ ॥  
 आत्मानमात्मना साक्षाद्वल्ल <sup>३</sup>बुद्धा सुनिश्चलम् ।  
 देहजात्यादिसंबन्धान्वर्णश्रमसमन्वितान् ॥ २९ ॥  
 वेदशास्त्राणि चान्यानि पदपांसुमिव त्यजेत् ।  
 गुरुभक्तिं सदा कुर्याच्छ्रेयसे भूयसं नरः ॥ ३० ॥  
 गुरुरेव हरिः साक्षात्त्रान्य इत्यब्रवीच्छ्रूतिः ॥ ३१ ॥

हंसविद्योपदेष्टारं ईश्वरं मत्वा तदाज्ञाऽनुवर्तीं योगीं तत्प्रसादतः  
 प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मास्मीति निश्चित्य स्वातिरिक्तमविलं त्यक्त्वा यावदुपाधि गुरुदेवतैक्य  
 भावयेदित्याह—यो ददातीति ॥ २६—२९ ॥ “यावदुपाधिपर्यन्तं तावच्छुश्रूषयेत्  
 गुरुन्” इति श्रुत्यनुरोधेन गुरुभक्तिं सदा कुर्यात् ॥ ३० ॥ “गुरुः  
 साक्षात् आदिनारायण एव” इति श्रुतिः ॥ ३१ ॥

आत्मनः श्रुत्याचार्यैकाम्यत्वम्

श्रुत्या यदुक्तं परमार्थं <sup>४</sup>भेतत्  
 तत्संशयो नात्र ततः समस्तम् ।

<sup>१</sup> पारमेश्वरीम्—अ १, अ २, क.

<sup>२</sup> श्रद्धा—अ १.

<sup>३</sup> बुद्ध्या—क.

<sup>४</sup> मेव—क, अ १, अ २.

श्रुत्या विरोधे न भवेत्प्रमाणं

भवेदनर्थाय विना प्रमाणम् ॥ ३२ ॥

देहस्थः सकलो ज्ञेयो निष्कलो देहवर्जितः ।

आप्सोपदेशगम्योऽसौ सर्वतः किमवस्थितः ॥ ३३ ॥

हंसहंसेति यो ब्रूयाद्वांसो ब्रह्मा हरिः शिवः ।

गुरुवक्रात्तु लभ्येत प्रत्यक्षं सर्वतोमुखम् ॥ ३४ ॥

तिलेषु च यथा तैलं पुष्टे गन्धं <sup>१</sup>इवास्थितः ।

पुरुषस्य शररिऽस्मिन् स ब्राह्म्यन्तरे <sup>२</sup>स्थितः ॥ ३५ ॥

श्रुत्युक्तं प्रमाणम् । तदतिरिक्तं अप्रमाणम् । प्रमाणाप्रमाणानुष्ठानतः  
स्वार्थानयौ स्यातामिल्याह—श्रुत्येति ॥ ३२ ॥ देहयोगायोगाम्यां सकळत्व-  
निष्कळत्वं निष्कळस्य देशिकोपदेशगम्यत्वं चाह—देहस्थ इति । सर्वव्यापकोऽपि  
निष्कळः स्वाचार्योपदेशेन गम्यः नान्यथेत्यर्थः ॥ ३३ ॥ आचार्यः क  
इत्यत आह—हंसेति । उक्तार्थमेतत् ॥ ३४ ॥ हंसस्य सदृष्टान्तं सर्वव्यापकता-  
माह—तिलेष्विति ॥ ३५ ॥

सकलनिष्कलदेवताविवेकः

उल्काहस्तो यथा<sup>१</sup>कश्चित् द्रव्यमालोक्य तां त्यजेत् ।

ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चाज्ज्ञानं परित्यजेत् ॥ ३६ ॥

पुष्पवत्सकलं विद्यगदून्धस्तस्य तु निष्कलः ।

वृक्षस्तु सकलं विद्याच्छाया तस्य तु निष्कला ॥ ३७ ॥

<sup>१</sup> इवाश्रितः—क, अ २.

<sup>२</sup> तथा—क, अ २.

<sup>३</sup> लोके—क, अ २.

निष्कलः सकलो भावः सर्वत्रैव व्यवस्थितः ।

उपायः सकलस्तद्बुपेयश्चैव निष्कलः ॥ ३८ ॥

सकले सकलो भावो निष्कले निष्कलस्तथा ।

एकमात्रो द्विमात्रश्च त्रिमात्रश्चैव भेदतः ॥ ३९ ॥

अर्धमात्रा परा ह्रेया तत् ऊर्ध्वं परात्परम् ।

पञ्चधा पञ्चदैवत्यं सकलं परिपठ्यतं ॥ ४० ॥

ब्रह्मणो हृदयस्थानं कण्ठे विष्णुः समाश्रितः ।

तालुमध्ये स्थितो रुद्रो ललाटस्थो महेश्वरः ॥ ४१ ॥

नासाग्रे अच्युतं विद्यात्तम्यान्ते तु परं पदम् ।

परत्वात् परं नास्तीत्येवं शास्त्रम्य निर्णयः ॥ ४२ ॥

देहातीतं तु तं विद्यानामाग्रे द्वादशाङ्गुलम् ।

तदन्तं तं विजानीयात्तत्रम्यो व्यापयेत्प्रभुः ॥ ४३ ॥

केवल्यासावपि तदुपकागकज्ञानं न लाज्यमिल्यत्राह—उल्केति ॥ ३६ ॥

दृश्यादश्ययोः सकलनिष्कलत्वं चाह—पुष्पवदिति । वृक्षः स्वाविद्यापादः ।

स्वज्ञानब्रह्मनात् वृक्षत्वं, तद्भेतुमायायाः तच्छादकत्वात् छायात्वं इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

एवं निष्कलसकलभावः सर्वत्र वर्तत इत्याह—निष्कल इति । स्वाति-

रिक्तकलाविशिष्टस्वाविद्यापदे सकलभावः । तदपवादाधिकरणे निष्कले सकल-

सापेक्षतः सप्रतियोगिकनिष्कले सापेक्षप्रभवसप्रतियोगिकनिष्कलगतसविशेषा-

पहवात् निष्प्रतियोगिकनिष्कलात्मा, अवशिष्यते इत्यर्थः ॥ ३८ ॥ अकारादिमा-

त्राचतुष्यात् परं ब्रह्मेत्याह—एकमात्र इति ॥ ३९ ॥ अकारादिमात्रात्रयापेक्षया

अर्धमात्रा । हृदयादिपञ्चस्थानासनपञ्चब्रह्मातीतं परं ब्रह्मैव, तस्य सर्वपरत्वेन

तत्परं नास्तीत्याह—पञ्चधेति ॥ ४०-४१ ॥ अच्युतं सदाशिवम् ॥ ४२ ॥

तस्य देहातीतत्वं व्यापकत्वं चाह— देहेति । प्राणलयस्थानं नासाग्रद्वादशाङ्गुलं  
यः तद्व्याधारः तं देहातीतं प्रस्यगत्मानं विद्यात् । यः प्रस्यभावविरलः  
तदन्तं तं परमात्मानं जानीयात् । सोऽयं परमात्मा प्रभुः तत्रस्थः  
सर्वातीतपदे स्थितोऽपि स्वविकल्पितं विश्वं विश्वविराङ्गोत्राद्यात्मना  
व्यापयेत् ॥ ४३ ॥

योगस्य परमगोप्यत्वम्, उत्तमाधिकारिण एव दातव्यत्वं च  
मनोऽप्यन्यत्र निक्षिप्तं चक्षुरन्यत्र पातितम् ।  
तथाऽपि योगिनां योगो ह्यविच्छिन्नः प्रवर्तते ॥ ४४ ॥  
एतत्तु परमं गुह्यमेतत्तु परमं शुभम् ।  
नातः परतरं किञ्चिन्नातः परतरं शुभम् ॥ ४५ ॥  
शुद्धज्ञानामृतं प्राप्य परमाक्षरनिर्णयम् ।  
गुह्यादुद्यतमं गोप्यं ग्रहणीयं प्रयत्नतः ॥ ४६ ॥  
नापुत्राय प्रदातव्यं नाशिष्याय कदाचन ।  
गुरुदेवाय भक्त्य नित्यं भक्तिपराय च ॥ ४७ ॥  
प्रदातव्यमिदं शास्त्रं नंतरेष्यः प्रदापयेत् ।  
वाताऽप्य नरकं याति सिध्यते न कदाचन ॥ ४८ ॥

योगिनां करणग्रामस्य स्वस्वव्यापारव्यग्रत्वेन योगविच्छिन्नतिः स्यादि-  
ल्याह—मनोऽपीति । मनस्तु स्वात्मनोऽप्यन्यत्र नादे निक्षिप्तं तथा  
चक्षुषपि नासाग्रे पातितं सङ्कल्परूपादिविषयादुपगतम् । स्वान्तर्बाद्ययोगविज्ञा-  
भावात् योगियोगस्य अविच्छिन्नत्वं युज्यत इत्यर्थः ॥ ४४ ॥ यत् योगमुख्यफलं  
तदतिरिक्तरहस्यं नास्तीत्याह—एतदिति ॥ ४५ ॥ सर्वमन्यत् परिख्यज्य

परमाक्षरज्ञानमेव सदा प्रायं इत्याह—शुद्धेति ॥ परमाक्षरनिर्णयात्मकं ज्ञानं प्रथमादेशिकमुखेन प्रहणीयं प्रायम् ॥ ४६ ॥ यदेवं गुणतमं तत् उत्तमाधिकारिणे दातव्यं तदितरेभ्यो न दातव्यम् । यदि दद्यात् तदा दातुः नरकपातः स्यादित्याह—नैति ॥ ४७—४८ ॥

केवलशास्त्रज्ञानवतोऽपि पापपुण्यलेपाभावः

गृहस्थो ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।

यत्र तत्र स्थितो ज्ञानी परमाक्षरवित्सदा ॥ ४९ ॥

विषयी विषयासक्तो याति <sup>१</sup>देहान्तरे शुभम् ।

ज्ञानादेवास्य शास्त्रस्य सर्वावस्थोऽपि मानवः ॥ ५० ॥

ब्रह्महत्याश्वमेघादैः पुण्यपौर्ये लिप्यते ।

यः कोऽपि वा वृत्त्यादिज्ञानादेव कृतार्थो भवति तस्य न पुण्यपापलेपो-  
इस्तीत्याह—गृहस्थ इति । आभासतोऽपि विषयासक्तिरशनात् अयं सविशेष-  
ज्ञानी ॥ ४९ ॥ तस्य देहावसानसमये विषयामक्तिवैग्व्यात् शुभप्राप्तिरिष्यत  
इत्यर्थः । केवलशास्त्रजन्मज्ञानात् आगामिपुण्यपापालेपो भवतीत्यर्थः ॥ ५० ॥

विविधा आचार्याः

चोदको बोधकश्चैव मोक्षदश्च परः स्मृतः ॥ ९१ ॥

इत्येषां विविधो इत्य आचार्यस्तु महीतले ।

चोदको दर्शयेन्मार्गं बोधकः स्थानं<sup>३</sup>मादिशेत् ॥ ९२ ॥

मोक्षदस्तु परं तत्त्वं यज्ञात्वाऽस्मृतमश्रुते ।

<sup>१</sup> देहान्तरं—उ.

<sup>२</sup> पापैः प्रमुच्यते—क.

<sup>३</sup> माचरेत्—अ २,

चोदकादिभेदेन देशिकत्रैविश्यं तज्ज्ञानतः कृतकृत्यतां चाह—  
चोदक इति ॥ ९१ ॥ “अहं ब्रह्मास्मि” इत्यनुसन्धानं कुर्यादिति स्वाङ्गं  
ब्रह्मभिमुख्येन चोदयतीति चोदको वेदान्तः, मार्गदर्शकत्वात् । “तत्  
त्वमेव त्वमेव तत्” इति स्वाङ्गं बोधयतीति बोधको देशिकः, ब्रह्मप्रापकत्वात्  
॥ ९२ ॥ मत्स्वरूपमेव सर्वं मामेव प्राप्यसि, मद्वितिरिक्तमणुमात्रं न  
विद्यते इति परमोपदेशेन स्वातिरिक्तभ्रममोक्षं ददातीति मोक्षदः परमेश्वरः,  
परतत्त्वस्वरूपत्वात् । यज्ञानात् मुमुक्षुः अमृतो भवति सोऽयं ईश्वर  
इत्यर्थः ॥

प्रणवहंसानुसन्धानात्मकं प्रत्यक्षयजनम्

प्रत्यक्षयजनं देहे संक्षेपाच्छृणु गौतम ॥ ९३ ॥

तेनेष्टा स नरो याति शाश्वतं पद्मव्ययम् ।

स्वयमेव <sup>१</sup>कृतः पश्येदेहे बिन्दुं च निष्कल्म् ॥ ९४ ॥

अयने द्वे च विषुवं <sup>२</sup>सदा पश्यति मार्गविन् ।

कृत्वा यामं पुग वत्स रेत्पृक्कुन्भकान् ॥ ९५ ॥

पूर्वं चोभयमुच्चार्य अर्चयेत्तु यथाक्रमम् ।

नमस्कारेण योगेन मुद्रयाऽरभ्य चार्चयेत् ॥ ९६ ॥

सूर्यस्य ग्रहणं वत्स प्रत्यक्षयजनं स्मृतम् ।

किं तत् प्रत्यक्षयजनं इत्यत्र शृण्वेतत् इत्याह—प्रत्यक्षेति ॥ ९३ ॥ यदा  
प्राणः पिंगल्या कुण्डलिनीस्थानं प्रविशति तदेव सूर्यग्रहणं, येनेष्टा मुनिः  
ब्रह्मपदं एति तत् प्रत्यक्षयजनमित्याह—स्वयमेवेति । इडापिंगल्योः  
पिंगलेडयोः क्रमणं उत्तरग्राणदक्षिणायने भवतः । तथा मूलाधारे मूर्धनि च

<sup>१</sup> तुसंप—अ, अ २, क.

<sup>२</sup> तदा—उ.

यदा प्राणः प्रविशति तदा द्वे विषुवे भवतः । एवं अयनविषुवद्रये च प्राणमार्गविन् स्वयमेव देहे विन्दुं मकलं निकलं च सदा पश्येन पश्यति । हे वत्स पुरुष आदौ रेचपूरककुमभकान् महितान् केवलान् वा अहरहः याममात्रं कृत्वा ॥ ५४-५५ ॥ ओं इति हंस इति च यन्मन्त्रद्वयं पूर्वमुक्तं तदुभयं चार्थानुसन्धानपूर्वकं उच्चार्य यः प्रणवार्थी हंसः सोऽहमित्यनु-सन्धानं नमस्कारयोगः, ऐक्यानुसन्धानस्य नमस्कारयोगत्वात् “नमस्त्वैक्यं प्रवदेत्” इति श्रुतेः । तेन नमस्कारयोगेन स्वानिगिञ्च नेति चिन्मुद्रया शास्मभवीखेचरीमुद्रया वा युक्तः सन् यथाक्रमं आत्मानं अर्चयेन्, सदा सोऽहमस्तीति श्यायेत्, “सोऽहमभावेन पूजयेत्” इति श्रुतेः ॥ ५६ ॥ इदमेव हि प्रत्यक्ष्यजनं विज्ञेयम् ॥

हंसयोगलब्धज्ञानात् मायुज्यप्राप्तिः

ज्ञानात्सायुन्यमेवोक्तं तोये तोयं यथा तथा ॥ ५७ ॥

एते गुणाः प्रवर्तन्ते <sup>१</sup>योगमार्गकृतश्रमैः ।

यस्माद्योगं समादाय सर्वदुःखवहिष्कृतः ॥ ५८ ॥

योगध्यानं सदा कृत्वा ज्ञानं तन्मयतां त्रजेत् ।

ज्ञानात्स्वरूपं परमं हंसमन्तं समुच्चरेत् ॥ ५९ ॥

ब्रह्मज्ञानान् जले जलयोगवत् सायुज्यं प्रत्यक्परैक्यमुक्तं योगिभिः ॥ ५७ ॥ एवं जीवन्मुक्तगुणाः प्रवर्तन्ते । यस्मात् एवं योगाभ्यासक्तः सर्वदुःखवहिष्कृतो भवति तस्मात् योगध्यानं सदा कृत्वा तत्प्रभवविज्ञान-मवाय ज्ञानसमकालं ब्रह्मात्राभियादित्यर्थः ॥ ५८ ॥ यद्यत् अन्तर्बाह्यविलसितं तत्तत् हंस एव, हंसातिगिञ्च न किञ्चिदस्तीति ज्ञानी परमहंसः परमात्मा भवतीत्याह—ज्ञानादिति । हंसः सोऽहमिति यः सदा हंसमन्तमुच्चरेत् सोऽयं

<sup>१</sup> योगाभ्यास—क, अ १, अ २.

सोऽहमिति ज्ञानान् हंसस्य यत् परमं स्वरूपं यत् निष्प्रतियोगिकस्वमात्रं  
अवशिष्यते तदेव भवतीत्यर्थः ॥ ९० ॥

### हंसोपलब्धिस्थानम्

प्राणिनां देहमध्ये तु स्थितो हंसः सदाऽच्युतः ।  
हंस एव परं सत्यं हंस एव तु <sup>१</sup>सत्यकम् ॥ ६० ॥  
हंस एव परं वाक्यं हंस एव तु वैदिकम् ।  
हंस एव परो रुद्रो हंस एव परात्परम् ॥ ६१ ॥  
सर्वदेवस्य मध्यस्यो हंस एव महेश्वरः ।  
पृथिव्यादिशिवान्तं तु अकाराद्याश्र वर्णकाः ॥ ६२ ॥  
कूटान्ता हंस एव स्यान्मातृकेति व्यवस्थिताः ।

म कुत्रांपलभ्यते इत्यत आह— प्राणिनामिति । निल्यानुमन्भानात्  
स्वमात्राच्युतो हंसः हृदयोपलभ्यते इत्यर्थः । हंसस्य मार्वात्म्यमाह—  
हंस एवेति । अक्षाक्षाभिपान्तर्यामित्वात् ॥ ६०—६१ ॥ अभिवेयं अभिधानं च  
हंस एवेत्याह—पृथिव्यादीति ॥ ६२ ॥ कूटशब्देन क्षकार उच्यते ॥

### हंसमन्वानुस्मरणपूर्वकसमाध्यस्यासः

मातृकारहितं मन्त्रमादिश्यन्ते न कुत्रचित् ॥ ६३ ॥  
हंसञ्योतिरनूपम्य देवमध्ये व्यवस्थितम् ।  
दक्षिणामृतमाश्रित्य ज्ञानमुद्रां प्रकल्पयेत् ॥ ६४ ॥

<sup>१</sup> शक्तिदं—अ २. शक्तिकं—अ १, क.

मदा समाधिं कुर्वीत हंसमन्त्वमनुस्मर्ण ।  
अनिर्मलस्फटिकाकारं दिव्यरूपमनूपमम् ॥ ६५ ॥  
मध्यदेशे परं हंसं ज्ञानमुद्राऽऽत्मरूपकम् ।

मातृकामन्त्वयोर्गक्यं हंसज्योतिरवगम्य ज्ञानमुद्रामावध्य स्वात्ममन्त्रं  
स्मरन् सदा समाधिं कुर्वीतेत्याह—मातृकंति । अनूपमयं अनूपमं निरुपमं  
सर्वदेवभूमध्ये दक्षिणाभिमुखं देवमाश्रित्य ॥ ६३—६४ ॥ देवं कीदृशमित्यत्र  
निर्मलेति ॥ ६५ ॥

हंसस्यासननिरूपणम्

प्राणापानसमानाश्चोदानव्यानां च वायवः ॥ ६६ ॥  
पञ्चकर्मेन्द्रियैर्युक्ताः क्रियाशक्तिबलोद्यताः ।  
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनंजयः ॥ ६७ ॥  
पञ्चज्ञानेन्द्रियैर्युक्ता ज्ञानशक्तिबलोद्यताः ।  
पावकः शक्तिमध्ये तु नाभिचक्रे रविः स्थितः ॥ ६८ ॥  
<sup>१</sup>बद्धमुद्रा कृता येन नासाग्रे तु स्वलोचनं ।

हंसः क आसनमहतीत्यत्र नाभिचक्रे नासाग्रे नेत्रयोश्च व्यवस्थित  
इत्याह—प्राणेति ॥ ६६—६७ ॥ शक्तिद्वयमध्ये मूलाधारस्थपावकरूपेण हंस  
एव स्थितः । येन नासाग्रे स्वलोचने च बद्धखेचरीमुद्रा कृता सोऽयं हंसो  
रविर्भूत्वा नाभिचक्रे नासाग्रे लोचनयोश्च स्थित इत्यर्थः ॥ ६८ ॥

हंसयोगाभ्यासकमः

अकारे वहिरित्याहुर्ल्कारे हृदि संस्थितः ॥ ६९ ॥

<sup>१</sup> बन्धमुद्रा—मु. बन्ध—उ.

मकारे च भ्रुवो<sup>१</sup>र्मध्ये प्राणशक्त्या प्रबोधयेत् ।

ब्रह्मग्रन्थिरकारे च विष्णुग्रन्थिर्हृदि स्थितः ॥ ७० ॥

रुद्रग्रन्थिर्भ्रुवोर्मध्ये भिद्यते<sup>२</sup>क्षरवायुना ।

अकारे संस्थितो ब्रह्मा उकारे विष्णुरास्थितः ॥ ७१ ॥

मकारे संस्थितो रुद्रस्तोऽम्यान्तः परात्परः ।

कण्ठं संकुच्य नाड्यादौ स्तम्भितं येन शक्तिः ॥ ७२ ॥

रसना पीड्यमानंयं षोडशीतोर्ध्वगामिनी ।

त्रिकूटं त्रिविधं चैव गोलाखं निखरं तथा ॥ ७३ ॥

त्रिशङ्खं वज्रमोकारमूर्ध्वनालं भ्रुवोर्मुखम् ।

कुण्डलीं चालयन्प्राणान्भेदयन्शाशिमण्डलम् ॥ ७४ ॥

साधयन्वज्रकुम्भानि नव द्वाराणि बन्धयेत् ।

सुमनःपवनारूढः सरागो निर्गुणस्तथा ॥ ७५ ॥

ब्रह्मस्थानं तु नादः स्याच्छ्रंकिंन्यमृतवर्षिणी ।

पट्टचक्रमण्डलोद्घारं ज्ञानदीपं प्रकाशयेत् ॥ ७६ ॥

सर्वभूतस्थितं देवं सर्वेषां नित्यमर्चयेत् ।

आत्मरूपं तमालोक्य ज्ञानरूपं निरामयम् ॥ ७७ ॥

दृश्यं तं दिव्यरूपेण सर्वव्यापी निरञ्जनः ।

हंस हंस वदेद्वाक्यं प्राणिनां देहमाश्रितः ।

स प्राणापानयोर्ग्रन्थिरजपेत्यभिधीयते ॥ ७८ ॥

<sup>१</sup> मध्यं—अ १.

<sup>२</sup> त्रिविधा—अ १, अ २, क.

<sup>३</sup> न्यामृ—क, अ १, अ २.

सहत्वमेकं व्ययुतं षट् शतं चैव सर्वदा ।

उच्चरन्पतितो हंसः सोऽहमित्यभिधीयते ॥ ७९ ॥

पूर्वभागे ह्यधोलिङ्गं शिखिन्यां चैव पश्चिमम् ।

न्योतिरिङ्गं भ्रुवोर्मध्ये नित्यं ध्यायेन्सदा यतिः ॥ ८० ॥

विराढादिरूपेणाकागदिमात्रात्रये यो वसेन् तं प्राणं इत्याह—  
अकार इति । अकारे मूलाधारे च वह्निः वैश्वानगे वर्तत इत्याहुः ।  
शिष्टं स्पष्टम् ॥ ६९ ॥ यथोक्तस्थानविशिष्टाकारादिमात्रात्रये यत् विद्यते  
ग्रन्थित्रयं तद्रूपसज्जानवायुना भिद्यते । तत अकारादौ ब्रह्मादयः प्रकाशन्ते ।  
तद्वेहकलनापाये निर्विशेषपरमात्मा स्वमात्रं प्रकाशते इत्याह—ब्रह्मेति  
॥ ७०—७१ ॥ तदर्शनग्रन्थित्रयभेदनोपायतया योगमुपदिशति—कण्ठमिति ।  
जालन्धरबन्धेन कण्ठं सङ्कुच्य सिद्धासनारूढेन येन योगिना नाडयादौ  
सुषुप्तामूले कुण्डलिनीशक्तिः कुण्डलिनीशक्त्या सह दृष्टिप्राणादौ स्तम्भिते  
सति ॥ ७२ ॥ अथ “ऊर्ध्वमुन्मत इत्योङ्कारः” इति श्रुत्यनुरोधेनाकारादि-  
परान्तरोडशावयवा यस्य सः षोडशीप्रणव इव ऊर्ध्वगामिनी घण्टका-  
कुहरणामिनी इयं जिह्वा पीडथमाना भवति तनुतामेत्य ब्रह्मबिलं प्रविशति ।  
तदा तिस्रो नाडयो यत्रैक्यं भजन्ति तं त्रिकूटं भ्रूमध्यं मूलाधारविशुद्धशादि-  
भेदेन तत् त्रिविधं विराजते । तत्र गोशब्देन पृथिव्यादिभूतपञ्चकतत्कार्य-  
मुच्यते, तत्त्वियादिप्रलये यदात्मना लीयते सेयं गोला अव्यक्तशक्तिः,  
तदात्मकं खं गोलाखं अव्याकृताकाशं यस्मात् निर्गतं व्याकृताव्याकृताकाशादि-  
पृथिव्यन्तं तत्त्विखरं चिदाकाशं योगिरमणस्थानं ब्रह्म च विद्यत इत्यर्थः ।  
यद्वा—गोशब्देन जिह्वोच्यते । तथा च हठतन्त्रे आम्रायते—“गोमांसं  
भक्षयेत्” इत्यंशविवरणे “गोशब्देनेरिता जिह्वा” इत्युक्तत्वात् ।  
शिष्टं समानम् ॥ ७३ ॥ पुनः त्रिकूटविशेषणमेतत्—इच्छानिच्छापरेच्छाप्रभव-  
स्वान्तरुपलभ्यमानं त्रिशं सुखदुःखत्रयं खादतीति त्रिशङ्गं, अयोगिभिः

कदाऽपि दुर्भेद्यत्वात् वज्रं, ओङ्कारं अकारादिमात्रात्रयावसानस्थानत्वात्, ऊर्ध्वनाळं भ्रुवोमुखं भ्रूमध्यम् । यदि तत्र योगी ज्योतिर्लङ्घं द्रष्टुमिच्छति तदा शक्तिचालनाद्युपायतो ज्ञानदीपं पश्यतीत्याह—कुण्डलीमिति ॥ ७४ ॥ सूर्योजायीशीतत्त्वादीनि वज्रकुम्भकानि, तेषां ग्रन्थित्रयभेदनपटुत्वात् । ततो नादः आविर्भवतीत्याह—सुमन इति । सुमनः मनोङ्गत्वात् पवनारुढः प्राणोपाधिकत्वात् सरागो नेसर्गिकत्वात् तथा निर्गुणः तमआदिगुणत्रया-स्पृष्टत्वात् ॥ ७५ ॥ “दहं पुण्डरीकं वेशम्” इति श्रुतिसिद्धब्रह्मस्थाने नादाविर्भावः स्यात् । शं मुद्रां किरतीति शङ्खिनी चान्द्री कला अमृतवर्षिणी भवति । ततो योगी प्रत्यग्रूपेण प्रकाशयेदित्याह—षडिति । मूलाधारादि-षट्चक्रमण्डलं अधोमुखं ऊर्ध्वं धरतीति षट्चक्रमण्डलोद्धारं ज्ञानज्ञानवृत्तिं दीपयतीति ज्ञानदीपं प्रत्यक्त्वं, तदृपेण विद्वान् प्रकाशयेदित्यर्थः ॥ ७६ ॥ प्रत्यञ्च सर्वान्तरत्त्वेन भावयेदित्याह—सर्वेति । ततः प्रत्यगमित्रपरं ब्रह्मास्मीति ध्यायेदित्याह—आत्मेति ॥ ७७ ॥ ज्ञानिभिः दिव्यरूपेण दृश्यं तं परमात्मानं प्रत्यगमेदेन यो जानाति सोऽयं मुनिः सर्वव्यापी निरञ्जनो भूत्वा । हंसहंसेति वीप्सया “हंसः सोऽहं” इति वाक्यं वदेदिति द्योत्यते । योऽयं हंसानुसन्धानव्यापारः सः ॥ ७८ ॥ अजपाजपसङ्गव्येयत्तामाह—सहस्रमिति ॥ ७९ ॥ एवं हंसयोगिना यतिना प्रत्यहं गत् कर्तव्यं तदाह—पूर्वेति । मुषुम्नायाः पूर्वभागे मूलाधारचक्रे ह्यधोलिङ्गं वैराजतत्त्वं ध्यायेत् । “तस्य मध्ये महानश्चिर्विश्वार्चिर्विश्वतोमुखः” इति शुल्कनुरोदेन अनाहतस्थिरिखिन्यां पावकज्वालायां पश्चिमं सौत्रं प्रत्यगात्मलिङ्गं वा अहमस्मीति ध्यायेत् । भ्रवोराजाचक्रमध्ये तु ब्रह्मात्रभावापत्तौ यतत इति यतिः मुनिः ज्योतिरेश्वरं नित्यं निष्प्रतियोगिक-ब्रह्मात्रलिङ्गं वा सदा ध्यायेत् अहमस्मीत्यनुसन्धानं कुर्यादित्यर्थः ॥ ८० ॥

हंसयोगिना अनुसन्धेयं आत्मस्वरूपम्

अच्युतोऽहमचिन्त्योऽहमतकर्योऽहमजोऽस्म्यहम् ।

अब्रणोऽहमकायोह<sup>1</sup> मनङ्गोऽस्म्यभयोऽस्म्यहम् ॥ ८१ ॥

अशब्दोऽहमरूपोऽहमस्पर्शोऽस्म्यहमद्वयः ।

अरसोऽहमगन्धोऽहमनादिरस्तोऽस्म्यहम् ॥ ८२ ॥

अक्षयोऽहमलिङ्गोऽहमजरोऽस्म्यकलोऽस्म्यहम् ।

अप्राणोऽहममूर्कोऽहमचिन्त्योऽस्म्यकृतोऽस्म्यहम् ॥ ८३ ॥

अन्तर्याम्यहमग्राहोऽनिदेश्योऽहमलक्षणः ।

अगोत्रोऽहमगात्रोऽहमचक्षुष्कोऽस्म्यवागहम् ॥ ८४ ॥

<sup>2</sup> अद्रेश्योऽहमवर्णोऽहमखण्डोऽस्म्यहमद्वुतः ।

अश्रुतोऽहमदृष्टोऽहमन्वेष्टव्योऽमरोऽस्म्यहम् ॥ ८५ ॥

अवायुरप्यनाकाशोऽतंजसोऽव्यभिचार्यहम् ।

अमतोऽहमजातोऽहमतिसूक्ष्मोऽविकार्यहम् ॥ ८६ ॥

अरजस्कोऽतमस्कोऽहमसत्त्वोस्म्यगुणोऽस्म्यहम् ।

अमायोऽनुभवात्माऽहमनन्योऽविषयोऽस्म्यहम् ॥ ८७ ॥

अद्वैतोऽहमपूर्णोऽहमबाध्योऽहमनन्तरः ।

अश्रोत्रोऽहमदीर्घोऽहमव्यक्तोऽहमनामयः ॥ ८८ ॥

अद्वयानन्दविज्ञानघनोऽस्म्यहमविक्रियः ।

अनिच्छोऽहमलेपोऽहमकर्ता॒ऽस्म्यहमद्वयः ॥ ८९ ॥

अविद्याकार्यहीनोऽहमवाङ्मनसगोचरः ।

अनल्पोऽहमशोकोऽहमविकल्पोऽस्म्यविज्वलन् ॥ ९० ॥

आदिमध्यान्तहीनोऽहमाकाशसदृशोऽस्म्यहम् ।

आत्मचैतन्यरूपोऽहमहमानन्दचिद्धनः ॥ ९१ ॥

आनन्दामृतरूपोऽहमात्मसंस्थोऽहमन्तरः ।

आत्मकामोऽहमाकाशात्परमात्मेधरोऽस्म्यहम् ॥ ९२ ॥

ईशानोऽस्म्यहमीडच्चोऽहमहमुत्तमपूरुषः ।

उत्कृष्टोऽहमुपद्रष्टा॒ऽहमुत्तरतरोऽस्म्यहम् ॥ ९३ ॥

केवलोऽहं कविः कर्माध्यक्षोऽहं करणाधिपः ।

गुहाशयोऽहं गोप्ता॒ऽहं चक्षुषश्चक्षुरस्म्यहम् ॥ ९४ ॥

चिदानन्दोऽस्म्यहं चेताश्चिद्धनश्चिन्मयोऽस्म्यहम् ।

ज्योतिर्मयोऽस्म्यहं ज्यायान् ज्योतिषां ज्योतिरस्म्यहम् ॥ ९५ ॥

तमसः साक्ष्यहं तुर्यतुर्योऽहं तमसः परः ।

दिव्यो देवोऽस्मि दुर्दर्शी दृष्टाध्यायो ध्रुवोऽस्म्यहम् ॥ ९६ ॥

नित्योऽहं निरवद्योऽहं निष्क्रियोऽस्मि निरञ्जनः ।

निर्विकल्पोऽहं निराख्यातोऽस्मि निश्चलः ॥ ९७ ॥

निर्विकारो नित्यपूतो निर्गुणो निस्पृहोऽस्म्यहम् ।

निरिन्द्रियो नियन्ताऽहं निरपेक्षोऽस्मि निष्कलः ॥ ९८ ॥

पुरुषः परमात्माऽहं पुराणः परमोऽस्म्यहम् ।

परावरोऽस्म्यहं प्राज्ञः प्रपञ्चोपशंमोऽस्म्यहम् ॥ ९९ ॥

परामृतोऽस्म्यहं पूर्णः प्रभुरस्मि पुरातनः ।  
 ● पूर्णानन्दैकबोधोऽहं प्रत्यगेकरसोऽस्म्यहम् ॥ १०० ॥

प्रज्ञातोऽहं प्रशान्तोऽहं प्रकाशः परमेश्वरः ।  
 एकधा चिन्त्यमानोऽहं द्वैताद्वैतविलक्षणः ॥ १०१ ॥

बुद्धोऽहं भूतपालोऽहं भास्यो भगवानहम् ।  
 महादेवो महानस्मि महाज्ञेयो महेश्वरः ॥ १०२ ॥

विमुक्तोऽहं विभुरहं वरेण्यो व्यापकोऽस्म्यहम् ।  
 वैश्वानरो वासुदेवो विश्वतश्क्षुरस्म्यहम् ॥ १०३ ॥

विश्वाधिकोऽहं विशदो विष्णुर्विश्वकृदस्म्यहम् ।  
 शुद्धोऽस्मि शुक्रः शान्तोऽस्मि शाश्वतोऽस्मि शिवोऽस्म्यहम् ॥

सर्वभूतान्तरात्माऽहमहमस्मि सनातनः ।  
 अहं सकृद्गिभातोऽस्मि स्वे महिन्नि सदा स्थितः ॥ १०५ ॥

सर्वान्तरः स्वयंज्योतिः सर्वाधिपतिरस्म्यहम् ।  
 सर्वभूताधिवासोऽहं सर्वव्यापी स्वराङ्गहम् ॥ १०६ ॥

समस्तसाक्षी सर्वात्मा सर्वभूतगुहाशयः ।  
 सर्वेन्द्रियगुणाभासः सर्वेन्द्रियविवर्जितः ॥ १०७ ॥

स्थानत्रयव्यतीतोऽहं सर्वानुग्राहकोऽस्म्यहम् ।  
 सच्चिदानन्दपूर्णात्मा सर्वप्रेमास्पदोऽस्म्यहम् ॥ १०८ ॥

सच्चिदानन्दमात्रोऽहं स्वप्रकाशोऽस्मि चिद्धनः ।  
 सत्त्वस्वरूपसन्मात्रसिद्धसर्वात्मकोऽस्म्यहम् ॥ १०९ ॥

सर्वाधिष्ठानसन्मा<sup>१</sup>त्रः सर्वबन्धहरोऽस्म्यहम् ।

सर्वग्रासोऽस्म्यहं सर्वद्रष्टा सर्वानुभूरहम् ॥ ११० ॥

एवं यो वेद तत्त्वेन स वै पुरुष उच्यते ॥ इत्युपनिषत् ॥

यथायथा यतिभिः अनुसन्धेयं तदेवाह—अच्युतोऽहमित्यादिना । अच्युतोऽहं, अच्युतस्यभावात्, अचिन्त्यः चित्तवृत्त्यभावात्, अतकर्यः अनिर्वाच्यत्वात्, अजः जन्माद्यभावात् । अब्रण इत्यादिविशेषणत्रयं शरीरत्रयप्रतिषेधार्थम् । अभयः, भयहेतुद्वेताभावात् ॥ ८१ ॥ किं च—अशब्दोऽहमित्यादि । पञ्चतन्मात्रावैरल्प्यात् शब्दादिग्रतिषेधसिद्धोऽस्मि । अद्वयः, द्वैताभावात् । अनादिरमृतः, सम्भूतिप्रल्प्याभावात् ॥ ८२ ॥ किं च—अक्षयोऽहमित्यादि । अक्षयोऽहं, क्षयिष्णुस्थूलशरीराभावात् । अलिङ्गः, अचिह्नत्वात् । अजरः, जगदिपद्मर्म्यभावात् । अप्राणोऽहममूकोऽहं सप्राणवागिन्द्रियाभावात् । अकृतः, कृतिहेत्वभावात् ॥ ८३ ॥ किं च—अन्तर्याम्यहमित्यादि । अन्तर्यामी, सर्वान्तरत्वात् । अप्राणः कर्णः । अनिर्देशः अनिदंस्वरूपत्वात् । अलक्षणः, लक्षणात्रयाभावात् । अगोत्रः, कुलगोत्रविवर्जितत्वात् । अचक्षुष्कः, ज्ञानाक्षाभावात् । अवाक्, कर्माक्षाभावात् ॥ ८४ ॥ किं च—अद्रेश्योऽहमित्यादि । दृश्याभावात् अद्रेश्यः । अवर्णः वर्णश्रिमाभावात् । अखण्डः पूर्णत्वात् । अद्वृतः—स्वस्य निष्प्रतियोगिकस्वमात्रत्वेऽपि स्वाज्ञादिदृष्ट्यनुरोधेन जाग्रजाग्रदाय-विकल्पानुद्देश्यकरसान्तवत् भानात् अद्वृतत्वं युज्यते । वेदान्तवाक्येषु मुमुक्षुभिः अन्वेष्टव्यः । अमरः पारमार्थिकनिल्यत्वात् ॥ ८५ ॥ किं च—अवायुरित्यादि । वाय्याकाशतेजोग्रहणं जलपृथिव्युपलक्षणम् । अतेजस इति षष्ठी प्रथमार्था । अव्यर्भिचारी सदेकरूपत्वात् । अन्तःकरणवृत्तिभिः अमतः । अजातः अजत्वात् । अतिसूक्ष्मः केशकोटयंशैकभागसूक्ष्माव्यक्तादपि

<sup>१</sup> ब्रस्त्वात्मक—क, अ १, अ २.

सूक्ष्मत्वात् । अविकारी विकारकलनावैरल्प्यात् ॥ ८६ ॥ किं च—  
अरजस्क इत्यादि । गुणत्रयगुणसाम्याभावतो निर्गुणत्वात् । अमायः  
निर्मायत्वात् । अनुभवात्मा विज्ञानगम्यत्वात् । अनन्यः ब्रह्माभिनत्वात् ।  
अविषयः निर्विषयत्वात् ॥ ८७ ॥ अद्वैतः निष्प्रतियोगिकत्वात् । अपूर्णः  
जीवात्मना परिच्छिन्नदृष्टित्वात् । यदा—अकारावाच्यविषयवात्मना सर्वत्र  
पूर्णत्वात् । अवाहोऽहमनन्तरः स्ववाहान्तःकलनावैरल्प्यात् । अकरणत्वात्  
परिमाणाभावात् अदृश्यत्वात् अनाविगत्याच्च अश्रोत्रादिविशेषणचतुष्ट्यमुपपद्यते  
॥ ८८ ॥ किं च—अद्वयेति । पूर्णानन्दवोऽस्वरूपत्वात् अनिच्छः ॥ ८९ ॥  
अनल्पः अपरिच्छिन्नत्वात् । अशोकोऽहं निरहङ्कृतित्वात् । अविकल्पः  
निर्विकल्पत्वात् । अविच्चलन् निरग्नित्वात् ॥ ९० ॥ आदिमध्यान्तशूल्यः  
उत्पत्तिस्थितिप्रल्प्याभावात् । आकाशसदृशः चिदाकाशत्वात् ॥ ९१ ॥  
आत्मसंस्थः स्वे माहिन्द्रि स्थितत्वात् । अन्तरः सर्वान्तरत्वात् ॥ ९२ ॥  
उत्तमपूरुषः क्षराक्षराकलनाविरल्पपुरुणोत्तमत्वात्, “उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः  
परमात्मेत्युदाहृतः” इति स्मृतेः । सर्वस्मात् उत्कृष्टः । उपद्रष्टा सर्वसाक्षि-  
स्वरूपत्वात् । उत्तरतरः सर्वोत्तमत्वात् ॥ ९३ ॥ केवलः अशेषविशेषाभावात् ।  
कविः क्रान्तदर्शित्वात् । कर्माध्यक्षः कर्मिणां कर्मफलदातृत्वात् ।  
करणाधिपः दिग्वातादिरूपत्वात् । गुहाशयः सर्वप्रत्यक्स्वरूपत्वात् । गोपा  
विष्णुत्वात् । चक्षुषश्वभुः चक्षुरादीन्द्रियप्रवृत्तिनिमित्तत्वात् ॥ ९४ ॥  
अचेतनचेतयितृत्वात् चेताः । ज्यायान् पृथिव्यादेः । ज्योतिषां ज्योतिः  
सूर्यादिप्रकाशकत्वात् ॥ ९५ ॥ ध्रुवः शाश्वतत्वात् ॥ ९६ ॥ निरञ्जनः  
अमङ्गत्वात् ॥ ९७—१०० ॥ एकधा चिन्त्यमानोऽहं सर्वापहवसिद्धं  
ब्रह्म, निष्प्रतियोगिकैकरूपेण चिन्तनीयत्वात् । सापेक्षद्वैताद्वैतविलक्षणः  
निष्प्रतियोगिकपरमाद्वैतरूपत्वात् ॥ १०१—१०३ ॥ शिवः स्वातिरिक्ताशिवप्रास-  
त्वात् ॥ १०४ ॥ सङ्कषिप्तिभातः निरावृतप्रकाशः ॥ १०५ ॥ स्वराद् स्वमात्रतया  
राजमानत्वात् ॥ १०६ ॥ सर्वेन्द्रियगुणाभासः सर्वेन्द्रियविवर्जितः, साज्ञसज्ज-  
दृष्टिभ्यामित्यर्थः ॥ १०७ ॥ जाग्रदादिस्थानत्रयव्यतीतोऽहम् ॥ १०८—११० ॥

विद्याफलमाह—एवमिति । अच्युतोऽहमित्यादिसर्वानुभूरित्यन्तस्वानुभूतिवाक्यानि  
स्वानुभूतिमहावाक्यरत्नावलीप्रभालोचने प्रायशो व्याख्यातानीत्यर्थः । इत्युपनिष-  
च्छब्दः ब्रह्मविद्योपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।  
ब्रह्मविद्योपनिषदो व्याख्येयं लिखिता लघु ।  
प्रकृतोपनिषद्व्याख्या सप्तल्यधिशतद्वयम् ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छाख्यविवरणे चत्वारिंशत्संख्यापूरकं  
ब्रह्मविद्योपनिषद्विवरणं सन्पूर्णम्

---

# मण्डलब्राह्मणोपनिषत्

पूर्णमदः—इति शान्तिः

## प्रथमं ब्राह्मणम्

आत्मतत्त्वजिज्ञासा

याज्ञवल्क्यो है वै महामुनिरादित्यलोकं जगाम । तमादित्यं  
नत्वा भो भगवन्नादित्यात्मतत्त्वमनुब्रूहीति ॥ १ ॥

ब्राह्मान्तस्तारकाकारं व्योमपञ्चकविग्रहम् ।  
राजयोगैकसंसिद्धं रामचन्द्रमुपास्महे ॥

अथ खलु शुक्ल्यजुर्वेदप्रविभक्तेऽयं मण्डलब्राह्मणोपनिषत् सूक्ष्माष्टांगयोग-  
प्रकटनपूर्वकं लक्ष्यत्रयव्योमपञ्चकतारकद्वयादिप्रकाशकराजयोगसर्वस्वं प्रकाशयन्ती  
विजृम्भते । अस्याः स्वल्पप्रन्थतो विवरणमारभ्यते । याज्ञवल्क्यादित्यप्र-  
श्नप्रतिवचनस्त्वपेयमाख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । आख्यायिकामवतारयति—  
याज्ञवल्क्य इति ॥ १ ॥

सूक्ष्माष्टाङ्गयोगप्रतिज्ञा

स होवाच नारायणः । ज्ञान<sup>१</sup>सहितयमाद्यष्टाङ्गयोग उच्यते ॥ २ ॥

<sup>१</sup> मुख्य—अ, अ १, अ २, क.

याज्ञवल्क्येन एवं पृष्ठः तत्प्रश्नमंगीकृत्य स होवाच । आदिलमण्डलान्तर्वर्तीं सर्वलोकपरायणरूपोऽसौ याज्ञवल्क्यप्रश्नोत्तरमाहेत्यर्थः । किं तदित्याकांक्षायां तत्पृष्टात्मतत्त्वोपायतया यमाद्यष्टांगयोगमादावाह—ज्ञानेति । “ब्रह्मैव सर्वं, ब्रह्मातिरिक्तं न किञ्चिदस्ति” इति ज्ञानं उपेयं तत्सहितः तद्गम्भीत इत्यर्थः ॥ २ ॥

### चतुर्विधयम्:

शीतोष्णाहारनिद्राविजयः सर्वदा शान्तिर्निश्चलत्वं विष-  
येन्द्रियनिघट्यैते यमाः ॥ ३ ॥

अष्टांगेषु चतुर्धा भिन्नयमलक्षणमाह—शीतेति । देहादावात्मात्मीयाभिमानल्यागतः शीतादिविनिवृत्तिः भवति । स्वाप्राप्तं वस्तु नेतीति ज्ञानात् सर्वदा शान्तिः भवति । स्वाभिलिषितलक्ष्ये मनसो निश्चलत्वम् । इन्द्रियेन्द्रियार्थेषु वस्तुचिन्तनं इन्द्रियेन्द्रियार्थनिप्रहो भवति । चशब्दः समुच्चयार्थः । एते चतुष्प्रकारा यमा इत्यर्थः ॥ ३ ॥

### नवविधनियम्:

गुरुभक्तिः सत्यमार्गानुरक्तिः सुखागतवस्त्वनुभवश्च तद्वस्त्व-  
नुभवेन तुष्टिर्निःसङ्गता एकान्तवासो मनोनिवृत्तिः फलानभिलाषो  
वैराग्यभावश्च नियमाः ॥ ४ ॥

नवधा भिन्ननियम उच्यते—गुरुर्विति । नित्यं अमायया स्वाज्ञानमोचक-गुरुभजनं गुरुभक्तिः, “गुरुभक्ति सदा कुर्यात् श्रेयसे” इति श्रुतेः । सत्यं ब्रह्म तत्प्रापकमार्गः तद्वोधः तत्रानुरक्तिः आसक्तिः । निरतिशयसुखरूपतया श्रुत्याचार्यप्रसादादागतब्रह्मवस्त्वनुभवश्च । तद्वस्त्वनुभवेनैव तुष्टिः न बाह्यविषयानुभवतः । तुष्टावपि निस्सङ्गता । सदा आदिमध्यान्तभेदेन एकान्तत्रये वासः—विजने प्रयत्नपूर्वकं मनोनियमनं आदैकान्तं, विजने

सजने वाऽपि प्रयत्नपूर्वकमनोनियमनं मर्त्यकान्तं, विजने सजने वा प्रदेशे  
अप्रयत्नेन मनोनियमनं अन्तेकान्तं, यस्य येन यदा एकान्तं साधितं स तत्रैव  
वसेदित्यर्थः । स्वातिरेकेण मनो नास्तीति द्वाभिसन्धिः मनोनिष्ठतिः ।  
स्वानुष्ठितर्कमफलानभिलाषः । स्वातिरित्तविषयसामान्ये वान्ताशनमूल-  
पुरीषवदिच्छागहित्यं सर्वत्र वैगगयभावश्च । सर्वत्र समुच्चयार्थं चशब्दद्वयम् । एते  
नियमा नवविधाः ॥ ४ ॥

आसनादिषडङ्गविवरणम्

सुखासनवृत्तिश्चिरवासश्चैवमासननियमो भवति ॥ ५ ॥  
पूरककुम्भकरेचकैः षोडशचतुष्षष्टिद्वार्तिशत्संख्यया यथाक्रमं प्राणा-  
यामः ॥ ६ ॥ विषयेभ्य इन्द्रियार्थेभ्यो मनोनिरोधनं प्रत्याहारः  
॥ ७ ॥ विषयव्यावर्तनपूर्वकं चैतन्ये चेतस्त्स्थापनं धारणं भवति  
॥ ८ ॥ सर्वशरीरेषु चैतन्यैकतानता ध्यानम् ॥ ९ ॥ ध्यानविस्मृतिः  
समाधिः ॥ १० ॥

आसननियम उच्यते—सुखेति । यत्र सुखेनाखण्डाकारात्मिका  
वृत्तिरुदेति सा सुखासनवृत्तिः । निरायासेन यत्र चिरं वसति स चिरासनवासः  
॥ ९ ॥ प्राणायामलक्षणमाह—पूरकेति । षोडशमात्राकालपरिमितं पूरकं,  
कुम्भकं तद्वतुर्गुणितं, रेचकं तदर्धमित्यर्थः ॥ ६ ॥ प्रत्याहारलक्षणमाह—  
विषयेभ्य इति ॥ ७ ॥ धारणाध्यानसमाधिलक्षणमाह—विषयेति । सर्वत्र  
विषयेति ॥ ८ ॥ अनेकघटशरावादिषु भिद्यमानेष्वपि यथा तदवच्छिन्नव्योम्न  
एकत्वं तथेत्यर्थः ॥ ९ ॥ समाधिः निर्विकल्पकसमाधिः त्रिपुटीग्रासत्वात् ॥ १० ॥

सूक्ष्मयोगाषाङ्गज्ञानफलम्

एवं सूक्ष्माङ्गानि । य एवं वेद स मुक्तिभागमवति ॥ ११ ॥

एवं अष्टांगयोगज्ञानफलमाह—एवमिति । सूक्ष्म-अष्ट-अङ्गानि ।  
स्वात्तज्ञानानुरोधेन स मुक्तिभागभवति ॥ ११ ॥

इति प्रथमः खण्डः

देहपञ्चदोषनिरसनम्

देहस्य पञ्च दोषा भवन्ति कामक्रोधनिश्चासभयनिद्राः ॥ १ ॥  
तन्निरासस्तु निःसंकल्पक्षमालघवाहाराप्रमादतात्त्वसेवनम् ॥ २ ॥

पञ्चदोषवदेहावच्छिन्नस्य मुक्तिभाक्त्वं कथमित्याशङ्क्य तन्निरासनो-  
पायसत्त्वात् तत्सिद्धिः स्यादियाह—देहस्येति । के ते इत्यत्र—कामेति ॥ १ ॥  
क्रमेण तन्निरासस्तु । निस्सङ्कल्पतः कामादिनिवृत्तिः, क्षमातः क्रोधनिवृत्तिः,  
लघ्वाहारोपलक्षितप्राणायामतः धासरित्थरत्वं, सर्वत्र द्वैतवीन्यागतो भयनिवृत्तिः,  
परमार्थतत्त्वसेवनतः स्वाज्ञाननिद्रानिवृत्तिः । एवं पञ्चदोषशान्तितो मुक्तिभाक्त्वं  
स्यादित्यर्थः ॥ २ ॥

तारकावलोकनं तत्फलं च

<sup>१</sup>निद्राभयसरीसृपं हिंसादितरङ्गं तृष्णावर्ती दारपङ्कं संसारवार्धि  
तर्तुं सूक्ष्ममार्गमवलम्ब्य सत्त्वादिगुणानतिक्रम्य तारकमवलोकयेत्  
॥ ३ ॥ व्रूपञ्चये सच्चिदानन्दतेजःकूटरूपं तारकं ब्रह्म ॥ ४ ॥

अपारदुस्तारसंसारवारिधेः सत्त्वात् तत्तरणोपायो नास्तीत्याशङ्क्य  
लक्ष्यत्रयगोचरतारकनौकासत्त्वात् तदाश्रित्य तद्वारिधिः तरितुं शक्यः इत्याह—

<sup>१</sup> निद्रासरी—उ.

निद्रेति । संसृतेः सागरत्वं कथमित्यत्र निद्रेत्यादि । उक्तविशेषणविशिष्टं संसारवार्धिं तर्तुं तगितुं वश्यमाणसूक्ष्ममार्गम् ॥ ३ ॥ किंतत्ताग्न्यमित्यत्र भ्रूमध्य इति । नासाग्रदर्शिनो भ्रूमध्ये ज्योतिर्दश्यते, सच्चिदानन्दस्य सर्वव्यापकत्वेन चक्षुर्मनोविकल्पिततेजःकूटरूपेऽपि व्यापत्वात् । भ्रूमध्यविलसितसच्चिदानन्दतेजः-कूटरूपस्य परमेश्वररूपत्वेन स्वभजद्वृक्तपटलस्वातिरिक्तास्तित्वलक्षणसंसारसागर-सन्तारणात् तारकत्वम् । वस्तुतः स्वमात्रतया बृहणात् तारकं ब्रह्मेति व्यपदिश्यते ॥ ४ ॥

लक्ष्यत्रयावलोकनेन तारकप्राप्तिः

<sup>१</sup>तदास्युपायं लक्ष्यत्रयावलोकनम् ॥ ५ ॥

तदुपायः कः इत्यपेक्षायामाह—तदास्युपायमिति । विद्धि इत्यर्थः ॥ ५ ॥

अन्तर्लक्ष्यदर्शनम्

मूलाधारादा ब्रह्मरन्ब्रपर्यन्तं सुषुम्ना सूर्याभा । तन्मध्ये तटिक्तोटिसमा मृणालतन्तुसूक्ष्मा कुण्डलिनी । <sup>२</sup>तत्र तमोनिवृत्तिः । तदर्शनात्सर्वपापनिवृत्तिः ॥ ६ ॥ तर्जन्यग्रोन्मीलित<sup>३</sup>कर्णरन्द्रद्वये फूल्कारशब्दो जायते । तत्र स्थिते मनसि चक्षुर्मध्यनीलज्योतिः पश्यति । एवं हृदयेऽपि ॥ ७ ॥

लक्ष्यत्रयं किं इत्यत्र अन्तर्बाह्यमध्यमेदेन तत् त्रिविधम् । तत्र अन्तर्लक्ष्यलक्षणं तत्फलं चाह—मूलेति । वीणादण्डमाश्रित्य सुषुम्ना वर्तते । तटित्क्तोटिसमाभा कुण्डलिनीशक्तिरस्ति । तत्र मनसि स्थिरीभूते स्वाज्ञान-तमोनिवृत्तिः । कुण्डलिनीमध्ये यदाकाशं विद्यते तदर्शनात् सर्वपापनिवृत्तिः

<sup>१</sup> तदुपायं—क, अ १.

<sup>२</sup> कर्णद्वये—क. अ २.

<sup>३</sup> “तत्र” इत्येतत्त्वसम्—अ, उ.

<sup>४</sup> मध्यं—अ, अ १.

भवति ॥ ६ ॥ कर्णद्वयान्तः तर्जनीद्वयप्रवेशो मुकुन्दमुद्रा, तथा तर्जनीति । तर्जनीभ्यां कर्णद्वयपिधानात् तत्र फूल्कारादिनादः उदेति । तत्र स्थिते मनसि साधकः चक्षुरित्यादि । न केवलं नादे, किं तु एवं हृदयेऽपि पश्यति ॥ ७ ॥

### बहिर्लक्ष्यदर्शनम्

बहिर्लक्ष्यं तु नासाग्रे चतुःषडष्टदराद्वादशाङ्गुलीभिः  
क्रमान्नीलघुतिश्यामत्वसद्ग्रन्थभङ्गीस्फुरत्पीतवर्णद्वयोपेतं व्योमत्वं  
पश्यति स तु योगी ॥ ८ ॥ चलदृष्टव्या व्योमभागवीक्षितुः पुरुषस्य  
दृष्टच्छ्रेण्योतिर्गमयूखा वर्तन्ते । तदृष्टिः स्थिरा भवति ॥ ९ ॥  
शीर्षोपरि द्वादशाङ्गुलिमानज्योतिः पश्यति तदाऽमृतत्वमेति ॥ १० ॥

अन्तर्लक्ष्येयत्तामुक्त्वा बहिर्लक्ष्येयत्तामनुक्रामति—बहिरिति । यांगी स्वदृष्टी समे कृत्वा स्वनासाग्रे स्वकृताभ्यासानुरोधेन क्रमाच्चतुर्गादिद्वादशांगुलिपर्यन्तं व्योमत्वं व्योमभावं पश्यति । किंविशिष्टं व्योमेत्यत्र दृश्यमाननीलघुतिः ईषच्छामत्वगुणसदृशा आपाततो गत्तभङ्गी च स्फुरत्पीतवर्णविशिष्टा । तत्र नीलपीतवर्णीं प्रशान्तौ । श्यामादिवर्णस्तु उपसर्जनभूतः । एवं वर्णद्वयविशिष्टं व्योमेत्यर्थः । यदा एवं पश्यति तदा अयं योगी भवति ॥ ८ ॥ एवं दर्शनान्मनो<sup>१</sup>नुगृहीतदृष्टिः स्थिरा भवतीत्याह—चलेति । स्वदृष्टच्छ्रेण्योतिर्गमयूखा किरणाः । यदृष्टिः तत्र समारोपिता तदृष्टिः ॥ ९ ॥ मस्तकोपरि ज्योतिर्दर्शनं अमृतत्वफलकमित्याह—शीर्षेति । यदा अयं योगी शीर्षोपरि ॥ १० ॥

### मध्यलक्ष्यदर्शनम्

मध्यलक्ष्यं तु प्रातश्चित्रादिवर्णसूर्यचन्द्रवहिञ्चालावलीवत्तद्वि�हीनान्तरिक्षवत्पश्यति ॥ ११ ॥ तदाकाराकारी भवति ॥ १२ ॥

<sup>१</sup> निष्ठृहीत—उ.

अभ्यासान्विर्विकारं गुणरहिताकाशं भवति । विस्फुरत्तारकाका-  
 १ रगाद्वामोपमं <sup>२</sup>पराकाशं भवति । कालानलस्मद्योतमाने महाकाशं  
 भवति । सर्वोत्कृष्टपृरमाद्वितीयप्रद्योतमानं तत्त्वाकाशं भवति ।  
 कोटिसूर्यै<sup>३</sup>प्रकाशसंकाशं सूर्याकाशं भवति ॥ १३ ॥ एवमभ्यासा-  
 तन्मयो भवति । य एवं वेद ॥ १४ ॥

अन्तर्बाह्यलक्षणमुक्त्वा मध्यलक्ष्यलक्षणं प्रकटयति—मध्येति ।  
 योगी नातिदूरदेशपुरोभागान्तरिक्षे प्रातरित्यादि ॥ ११ ॥ एवं दर्शनतः  
 किं स्यादित्याशङ्क्य तन्मयत्वं व्योमपञ्चकदर्शनं तद्वावापत्तिर्गपि स्यादित्याह—  
 तदाकारेति ॥ १२—१३ ॥ अभ्यासज्ञानफलमाह—एवमिति ॥ १४ ॥

इति द्वितीयः खण्डः

तारकामनस्कम्भेदेन द्विविधो योगः

तथोगं च द्विधा विद्धि पूर्वोत्तरैविधानतः ।  
 पूर्वं तु तारकं विद्यादमनस्कं तदुत्तरमिति ॥  
 तारकं द्विविधम् । मूर्तितारकममूर्तितारकमिति । यदिन्द्रियान्तं  
 तन्मूर्तितारकम् । यद्युग्मातीतं तदमूर्तितारकमिति ॥ १ ॥

व्योमपञ्चकाभ्यासतः किं स्यादित्यत्र पर्यवसाने तारकामनस्कसिद्धिः  
 स्यादित्याह—तदिति । यद्युग्मातीतं तदमूर्तितारकमिति ॥

<sup>१</sup> रं गा—अ. रा गा—अ १.

<sup>२</sup> परमाका—अ.

<sup>३</sup> रम्युतिप्र—अ, अ १.

<sup>४</sup> प्रकाशं सू—अ १, अ२, क.

<sup>५</sup> विभागतः—अ, अ १, अ २, क.

किं मूर्तितारकं किं अमूर्तितारकं इत्यत्र मूलाधारमारभ्याज्ञाचक्कर्पर्यन्तं मूर्तितारकं, आज्ञाचक्कर्पर्यन्तं अमूर्तितारकमिल्याह—यदिति ॥ १ ॥

मनोयोगविधिः

उभयमपि मनोयुक्तमध्यसेत् । मनो<sup>१</sup>युक्तान्तरदृष्टिस्तारक-  
प्रकाशाय भवति ॥ २ ॥

लक्ष्यदर्शनस्य चक्षुरधीनित्वात् किं मनसेत्याशङ्कय मनोनुगृहीतदृष्टिः  
अन्तर्दृष्टिभूत्वा तारकप्राही भवति न केवलदृष्टिरित्याह—मन इति ॥ २ ॥

पूर्वतारकम्

भ्रूयुगमध्यविले तेजस आविर्भावः । एतत्पूर्वतारकम् ॥ ३ ॥  
पूर्वतारकस्वरूपमाह—भ्रूयुगेति ॥ ३ ॥

उत्तरतारकम्

उत्तरं त्वमनस्कम् । तालुमूलोर्ध्वभागे महञ्ज्योतिर्विद्यते ।  
तद्वर्णनादणिमादिसिद्धिः ॥ ४ ॥

सफलोत्तरतारकस्वरूपमाह—उत्तरं त्विति । सिद्धिः भवति ॥ ४ ॥

उत्तरतारकस्य शाम्भवीपर्यवसानम्

लक्ष्येऽन्तर्बह्यायां दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां च इयं  
शाम्भवी मुद्रा भवति । सर्वतन्त्रेषु गोप्या महाविद्या भवति ।  
तज्ज्ञानेन संसारनिवृत्तिः । तत्पूजनं मोक्षफलदम् ॥ ५ ॥

<sup>१</sup> युक्तान्तर—उ.

<sup>२</sup> न्तस्थवा—अ, अ १.

उत्तरतारकमेव पर्यवसाने मुक्तिफलप्रदशाम्भवीमुद्रा भवनीन्याह—लक्ष्य इति ।  
तथा च क्षुत्युन्तरम्—

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिः निमेघान्मेघवर्जिता ।

एषा सा शाम्भवीमुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥

इति । शाम्भवीज्ञानं संसागनिवर्तकं, तयोगिपूजनं मुक्तिफलदं भवेदिन्याह—  
तदिति ॥ ६ ॥

अन्तर्लक्ष्यलक्षणम्

अन्तर्लक्ष्यं <sup>१</sup>जलज्योतिस्मरूपं भवति महर्षिवेदं अन्तर्बाह्य-  
न्द्रियरदश्यम् ॥ ६ ॥

किं पुनः अन्तर्लक्ष्यमित्यत्र यत्करणग्रामागोचरं तदेव अन्तर्लक्ष्यमित्याह—  
अन्तरिति ॥

इति तृतीयः खण्डः

अन्तर्लक्ष्ये वादिविप्रतिपन्निः

सहस्रारे <sup>१</sup>जलज्योतिरन्तर्लक्ष्यम् । बुद्धिगुहायां सर्वाङ्गसुन्दरं  
पुरुषरूपमन्तर्लक्ष्यमित्यपरे । शीर्षान्तर्गतमण्डलमध्यगं पञ्चवक्त्रमु-  
मासहायं नीलकण्ठं प्रशान्तमन्तर्लक्ष्यमिति केचित् । अङ्गुष्ठमात्रः  
पुरुषोऽन्तर्लक्ष्यमित्येके ॥ १ ॥

<sup>१</sup> ज्वल—अ २.

अन्तर्लक्ष्यविषये वादिविप्रतिपत्तिं परमार्थदृष्ट्या सर्ववादिविकल्पगोचर-  
लक्ष्यस्यैकत्वं तदर्जनतो ब्रह्मनिष्ठत्वं चाह—सहस्रार इति । योगिनः  
बुद्धिगुहायां, अपरे वैश्णवाः । केचित् शैवाः । एके दहरविद्योपासकाः ॥ १ ॥

सर्वलक्ष्यानुस्यूतात्मदर्शनविधिः

उक्तविकल्पं सर्वमात्मैव । तल्लक्ष्यं शुद्धात्मदृष्ट्या वा यः  
पश्यति स एव ब्रह्मनिष्ठो भवति ॥ २ ॥

परमार्थदृष्ट्या योग्यादिभिः उक्तेति । एवमन्तर्लक्ष्यैक्यदर्शी ब्रह्मनिष्ठः  
इत्याह—तल्लक्ष्यमिति ॥ २ ॥

आत्मनिष्ठस्य ब्रह्मभावप्राप्तिः

जीवः पञ्चविंशकः स्वकलिपतचतुर्विंशतितत्त्वं परित्यज्य  
षड्ङिंशकः परमात्माऽहमिति निश्चयाज्जीवन्मुक्तो भवति ॥ ३ ॥  
एवमन्तर्लक्ष्यदर्शनेन जीवन्मुक्तिदशायां स्वयमन्तर्लक्ष्यो भूत्वा पर-  
माकाशाखण्डमण्डलो भवति ॥ ४ ॥

स्वतत्त्वे स्थितो जीवः स्वन्यूनतत्त्वं परित्यज्य स्वाधिकतत्त्ववेदनान्मुक्तो  
भवतीत्याह—जीव इति । ज्ञानकर्माक्षप्राणभूतपञ्चकानि विंशतिः अन्तःकरण-  
चतुष्टयं चेति चतुर्विंशतितत्त्वानि । तदुपाधिको जीवः पञ्चविंशकः,  
“पञ्चविंश आत्मा भवति” इति श्रुतेः । तत्सर्वोपाधिसम्बन्धरहितः  
षड्ङिंशक इत्यर्थः ॥ ३ ॥ जीवन्मुक्तः कां गतिं भजतीत्याशङ्क्य जीवन्मुक्ता-  
मिमतिल्यागानन्तरं ब्रह्मैव भवतीत्याह—एवमिति । भूत्वा तदभिमतिल्यागसम-  
कालम् भवति, परमात्मैव भवतीत्यर्थः ॥

इति चतुर्थः खण्डः

इति प्रथमं ब्राह्मणम्

## द्वितीयं ब्राह्मणम्

सर्वाधारज्योतिरात्मनःअन्तर्लक्ष्यत्वम्

अथ ह याज्ञवल्क्य आदित्यमण्डलपुरुषं पप्रच्छ ।  
 भगवन्नान्तर्लक्ष्यादिकं बहुधोक्तम् । मया तत्र ज्ञातम् । तद्बूहि मण्डम्  
 ॥ १ ॥ तदु होवाच पञ्चभूतकारणं तटित्कूटाभं तद्वच्चतुःपीठम् ।  
 तन्मध्ये <sup>१</sup>तत्त्वप्रकाशो भवति । सोऽतिगृह अव्यक्तश्च ॥ २ ॥

जानन्नपि याज्ञवल्क्यो मन्दबुद्ध्यारोहाय पुनग्न्तर्लक्ष्येयतां पृच्छतीत्याह—  
 अथेति । किमिति ? भगवन्निति । यथावत् मया ॥ १ ॥ तत्प्रश्नोत्तरं  
 भगवानुवाच । किमिति ? पञ्चेति । अन्तर्लक्ष्यात्मनः पञ्चभूतहेतुत्वात्,  
 “आत्मन आकाशः सम्भूतः” इति श्रुतेः । तटित्कूटाभं, तेजःपुञ्चरूपत्वात् ।  
 तद्वत्तेजोवदात्मनः स्वाज्ञादिदृष्टयनुरोधेन तमोगजःसत्त्वगुणसाम्यरूपेण जाग्रदा-  
 द्यवस्थाचतुष्टयभेदेन स्वाविद्यापदस्थूलादिचतुर्गंशभेदेन वा चत्वारि पीठस्था-  
 नानि यस्य तत् तद्वत् चतुष्पीठं, जाग्रदादेः विश्विगडोत्राद्यासनत्वात् ।  
 स्वाधिष्ठिताविद्यापादप्रकाशकः स्वयमेवेत्याह—तदिति । तस्य अविद्यापादस्य  
 मध्ये तद्वत्विशेषजातं ग्रसित्वा तत्त्वप्रकाशः तुर्यतुर्यन्योतिः सदा भवति ।  
 तादृशश्चेत्प्रकाशः किं न दृश्यत इत्यत आह—स इति । स्वावृत्यावृतदृष्टे:  
 सोऽतिगृह अव्यक्तश्च भवति ॥ २ ॥

ज्योतिरात्मशानकलम्

तज्ज्ञानपूषाधिरूढेन ज्ञेयम् । तद्वाद्याभ्यन्तर्लक्ष्यम् ॥ ३ ॥  
 तन्मध्ये जगल्लीनम् । तन्नादविन्दुकलाऽतीतप्रखण्डमण्डलम् ।  
<sup>२</sup>सगुणनिर्गुणखरूपम् । तद्वेत्ता विमुक्तः ॥ ४ ॥

<sup>१</sup> तत्प्र—क.

<sup>२</sup> तत्सगु—अ, अ १, अ २, क.

तत् केन वा ज्ञातुं शक्यते इत्यत आह—तदिति । ज्ञानपूर्वाधिरूढेन स्वाज्ञानसागरं तीव्र्या तत्परं यत् तत् स्वमात्रमिति इत्यम् । तत् कीदृशमित्यत्र तत् बाह्याभ्यन्तर्लक्ष्यं, बाह्याभ्यन्तःकलनाऽपापवार्द्धाधिकरणतया लक्षितत्वात् ॥ ३ ॥ अत एव तन्मध्ये जगज्ञीनं, लयाधारत्वात् । लयाधारत्वे सविशेषता स्यादित्यत आह—तदिति । यत् सर्वाधिकरणं तन्मादेति । नादादिविशेषापूर्वसिद्धं निष्प्रतियोगिकाखण्डैकरसचिन्मात्रमित्यर्थः । सविशेषं तद्विज्ञमित्यत आह—सगुणेति । तद्रत्विशेषाविशेषत्वं स्वाज्ञादिदृष्टिनिष्ठं न स्वनिष्ठमिति । वेदनफलमाह—तद्वेत्तेति ॥ ४ ॥

### शास्त्रभव्या तदधिगमः

आदावग्निमण्डलम् । तदुपरि सूर्यमण्डलम् । तन्मध्ये सुधा<sup>१</sup>चन्द्रमण्डलम् । तन्मध्येऽखण्डब्रह्मतं जोमण्डलम् । तद्विद्युलेखावच्छुक्लभास्वरम् । तदेव शास्त्रभवीलक्षणम् ॥ ५ ॥

यद्रेत्ता मुक्तो भवति तदधिगमापायमाह—आदाविति । सिद्धासनमारुह्य षण्मुक्तीमुद्राऽभ्यासयोगिनः वह्निमण्डलादि क्रमेण दृश्यते । पर्यवसाने तदेवोन्मन्यवस्थाजनकज्ञान्मर्वी भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

### पूर्णिमादृष्टिविधिः

तदर्शनं त्रयो दृष्टय अमा प्रतिपत्पूर्णिमा चेति । निमीलितदर्शनममादृष्टिः । अर्धोन्मीलितं प्रतिपत् । सर्वोन्मीलिनं पूर्णिमा भवति । तासु पूर्णिमाऽभ्यासः कर्तव्यः ॥ ६ ॥ तलक्ष्यं नासाग्रम् । तदा तालुमूले गाढतमो दृश्यते । तदभ्यासादखण्डमण्डलाकारज्योतिदृश्यते । तदेव सच्चिदानन्दं ब्रह्म भवति ॥ ७ ॥

<sup>१</sup> चक्रम—क.

तदर्शनोपायमाह—तदर्शन इति । कथं द्वेषः त्रैविश्यमित्यत्र अभेति ।  
तत्र निर्भीलितेति ॥ ६ ॥ दृष्टित्रयलक्ष्यं किमित्यत्र—तत्त्वश्यमिति ।  
नासाप्रावलोकिनतः किं दृश्यते इत्यत्र—तदेति । एवं तदभ्यासात् । तदृष्ट्या  
तदेव । सचिदानन्दब्रह्मातिरिक्तस्य मृग्यत्वात् सहजानन्दरूपं तदेवेत्यर्थः ॥ ७ ॥

पूर्णिमाद्वेषः शाम्भवीपर्यवसानम्

एवं सहजानन्दे यदा मनो लीयते तदा शांभवी भवति ।  
तामेव खेचरीमाहुः ॥ ८ ॥

तत्र मनोल्य एव शाम्भवीत्याह—एवमिति । पर्यवसाने शाम्भवी-  
खेचर्योः एकलक्ष्यसमाप्त्वात् ॥ ८ ॥

मुद्रासिद्धिः तच्छिह्नानि च

तदभ्यासान्मनःस्थैर्यम् । ततो <sup>१</sup>बुद्धिस्थैर्यम् ॥ ९ ॥ तच्छिह्नानि ।  
आदौ तारकवदृश्यते । ततो वज्रदर्पणम् । <sup>२</sup>ततः परिपूर्णचन्द्रमण्ड-  
लम् । <sup>३</sup>ततो रत्नप्रभामण्डलम् । ततो मध्याह्नार्कमण्डलम् । ततो  
वहिशिग्वामण्डलं क्रमादृश्यते ॥ १० ॥

मुद्राऽभ्यासेन किं स्यादित्यत आह—तदेति ॥ ९ ॥ तच्छिह्नानि  
तस्मिन्द्विच्छिह्नानि । कानीत्यत आह—आदाविति । तारकवत् नक्षत्रवत् ।  
परिष्कृतवज्रवत् दर्पणवचेत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—

नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।  
एतानि रूपाणि पुरस्सराणि ब्रह्मण्यमित्यक्तिकराणि योगे ॥ इति ॥ १० ॥

इति प्रथमः खण्डः

<sup>१</sup> वायुस्थै—अ, अ १, अ २, क.

<sup>२</sup> ततउपरि—क. ततःपू—अ, अ १.

<sup>३</sup> ततो नवर—क, अ २.

प्रणवस्वरूपप्रत्यक्षप्रकाशानुभवः, तच्छानि च

तदा पश्यमाभिमुखप्रकाशः स्फटिकधूत्रविन्दुनादकला-  
नक्षत्रस्थोतदीपनेत्रसुवर्णनवरत्नादिप्रभा दृश्यन्ते । तदेव  
<sup>१</sup>प्रणवरूपम् ॥ १ ॥

यदैवं चिह्नानि दृश्यानि तदा प्रत्यक्षप्रकाशानुभवो भवति । ततः  
कानि चिह्नानि दृश्यन्ते इत्यत्र—स्फटिकेति । दृश्यन्ते प्रणवानुसन्धानं कुर्वतः ।  
विन्दुशब्देन मनस्तत्त्वं, नादशब्देन बुद्धितत्त्वं, कलाशब्देन महत्तत्त्वं, शिष्ठं  
स्पष्टम् । यदेतदेवं दृष्टं तत् सर्वं प्रणवरूपमित्याह—तदिति ॥ १ ॥

षणमुख्या प्रणवाधिगमः

प्राणाणानयोरैकं कृत्वा धृतं कुम्भको नासाग्रदर्शनदृढभावनया  
द्विकराङ्गुलिभिः षणमुखीकरणेन <sup>३</sup>प्रणवादिध्वनिं निशम्य मनस्तत्र  
लीनं भवति ॥ २ ॥

षणमुख्युपायपूर्वकं मनस्तत्कार्यलयाधिकरणं प्रणवार्थं ब्रह्मेत्याह—  
प्राणेति । हठयोगरीत्या प्राणेति । धृतकुम्भको योगी । तत्र नादावसाने  
ब्रह्मणि ॥ २ ॥

प्रणवविदः कर्मलेपाभावः

तस्य न कर्मलेपः । रवेस्त्रियास्तमययोः किल कर्म कर्तव्यम् ।  
एवं<sup>४</sup>विदश्चिदादित्यस्योदयास्तमयाभावात्सर्वकर्माभावः ॥ ३ ॥

<sup>१</sup> प्रणवस्वरूपं—क, अ २.

<sup>२</sup> कुम्भके—अ २.

<sup>३</sup> प्रणवध्वं—क, अ २.

<sup>४</sup> विदिति—अ.

यस्य मनो ब्रह्मणि लीयते तस्य न कर्मलेपः, योगिनो निर्लिङ्गस्त्वात् ।  
कर्तव्यकर्मसु सत्सु कथं तत्र निर्लेपतेत्याशङ्क्य कर्मणामादित्योदयास्तमयनिभित्तवेन  
योग्यात्मादिल्यस्योदयास्तमयाभावात्तन्निभित्तकर्मभावतो निर्लिङ्गोऽयमित्युक्तिरपि  
गौणीत्याह—रवेरिति ।

कर्मणा बध्यते जन्तुः विद्ययाऽमृतमश्नुते ।  
तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यत्यः पारदर्शिनः ॥

इति श्रुतेः ॥ ३ ॥

उन्मन्यवस्थाद्वारा अमनस्कसिद्धिः

शब्दकाललयेन दिवारात्यतीतो भूत्वा सर्वपरिपूर्णज्ञानेनोन्म-  
न्यवस्थावशेन ब्रह्मैक्यं भवति । उन्मन्या अमनस्कं भवति ॥ ४ ॥

एवं प्रणवनादलयतः किं स्यादित्यत्र सर्वकलनाविरङ्गब्रह्मैक्यं भवतीत्याह—  
शब्देति । अभिधानाभिधेयात्मकशब्दकाललयेन—शब्दः अभिधानप्रपञ्चः,  
अभिधेयकलनात्मकः कालः, तयोः श्रावणज्ञानतो मिथ्यादृष्टशा सत्ताबाध एव  
लयः । ततो विज्ञानं जायते । तेन ब्रह्मातिरेकेण दिवाराश्रुपलक्षितावस्थात्रयं  
नास्तीति निश्चयज्ञानतः तदतीतो भूत्वा ततो ब्रह्मातिरिक्तसामान्यासम्भव-  
परिपूर्णसम्यज्ञानेन उन्मन्यवस्था जायते । उन्मनी नाम तत्त्वज्ञानम् ।  
तेन सर्वापहवसिद्धं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति ब्रह्मैक्यं भवति । न हि  
पृथग्भावं गतजीवेशयोरेकत्वमित्यर्थः । उन्मन्या किं जायते इत्यत आह—  
उन्मन्येति । “अमनस्कं स्वरूपं तत्र कलनामलं” इति श्रुत्या  
ब्रह्मैव अमनस्कशब्दार्थः ॥ ४ ॥

अमनस्कपूजाप्रकारः

तस्य निश्चिन्ता ध्यानम् । सर्वकर्मनिराकरणमावाहनम् ।  
निश्चयज्ञानमासनम् । उन्मनीभावः पाद्यम् । सदाऽमनस्कमर्ज्यम् ।

सदा दीपि<sup>१</sup>रपारामृतवृत्तिः स्नानम् । सर्वत्र भावना गन्धः ।  
 दृक्स्वरूपावस्थानमक्षताः । चिदासिः पुष्पम् । चिदग्निस्वरूपं धूपः ।  
 चिदादित्यस्वरूपं दीपः । परिपूर्णचन्द्रामृतस्यैकीकरणं नैवेद्यम् ।  
 निश्चलत्वं प्रदक्षिणम् । सोऽहंभावो नमस्कारः । मौनं स्तुतिः ।  
 सर्वसंतोषो विसर्जनमिति । य एवं वेद ॥ ९ ॥

यदमनस्कं ब्रह्म तस्य ध्यानाद्युपचारः कथमित्याशङ्क्य “सोऽहंभावेन  
 पूजयेत्” इति श्रुत्यनुगोधेन तदम्बील्यनुसन्धानमेव तत्पूजेत्याह—तस्येति ।  
 दीपिमद्भागोचराखण्डाकाग्वृत्तिरेव स्नानमित्यर्थः । सर्वत्र ब्रह्मेति भावना ।  
 भ्रूमध्यसहस्रारान्तराळविलसत्परिपूर्णचन्द्रमण्डलनिस्सृतामृतस्य एकीकरणं अमृत-  
 सागररूपं नैवेद्यम् । सर्वदा संतोषः । सोऽयमेवं ब्रह्मानुसन्धानतो ब्रह्मैव  
 भवतील्यर्थः ॥ ९ ॥

इति द्वितीयः खण्डः

ब्रह्मानुसन्धानेन कैवल्यप्राप्तिः

एवं त्रिपुर्व्यां निरस्तायां निस्तरङ्गसमुद्रवन्निवातस्थितदीपवद-  
 चलसंपूर्णभावाभावविहीनकैवल्यज्योर्तिर्भवति ॥ १ ॥

ब्रह्मानुसन्धानस्य त्रिपुरीकब्लितत्वेन कथं योगी ब्रह्मभावमेतील्याशङ्क्य  
 सर्वापहृवसिद्धं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्यमात्रमित्यनुसन्धानात्मकसम्यज्ञानस्य  
 ध्यात्रादित्रिपुरीग्रासत्वात् ब्रह्मभावापत्तिरिष्यते इत्याह—एवमिति ।  
 स्वातिरिक्तमस्ति नास्तीति भावाभावकलनासम्भवप्रबोधसिद्धं कैवल्यज्योतिः  
 स्वमात्रमवशिष्यते विद्वानित्यर्थः ॥ १ ॥

<sup>१</sup> रक्तारा—अ.

<sup>२</sup> सर्वात्म—अ, अ १,

ब्रह्मवित्स्वरूपम्

१ जाग्रन्निद्राऽन्तपरिज्ञानेन ब्रह्मविद्धवति ॥ २ ॥ -

तस्य ब्रह्मत्वं विना ब्रह्मवित्त्वं कुत इत्यत्र कृत्वब्रह्मवेदनतः ब्रह्मत्वं  
सिद्धमेव । अकृत्वब्रह्मज्ञानतो ब्रह्मवित्त्वं स्यादित्याह—जाग्रदिति ॥ २ ॥

सुषुप्तिसमाध्योः भेदः

सुषुप्तिसमाध्योर्मनोल्याविशेषं ३ पि महदस्त्युभयोर्भेदस्तमसि  
लीनत्वान्मुक्तिहेतुत्वाभावाच्च ॥ ३ ॥ समाधौ सृदिततमोविकारस्य  
तदाकाराकारिताखण्डाकारवृत्त्यात्मकसाक्षिनैतन्ये प्रपञ्चल्यः संपद्यते  
प्रपञ्चस्य मनःकल्पितत्वात् ॥ ४ ॥

सुषुप्तिसमाध्योः मनोल्यसाम्यतः वन्धमुक्तिहेतुत्वं उभयमपि स्यादित्यत  
आह—सुषुप्तीति । तत् कथं? तमसीति ॥ ३ ॥ तत् कथं?  
प्रपञ्चस्येति ॥ ४ ॥

ब्रह्मविदो ब्रह्मभावः

ततो भेदाभावात् कदाचिद्विर्गतेऽपि मिथ्यात्व<sup>१</sup>भानात् ।  
सकृद्विभातसदानन्दानुभवैकगोचरो ब्रह्मवित्तदेव भवति ॥ ५ ॥

मनस्तत्कार्यभावे तत्तदनुस्यूतचैतन्यस्य यत एकत्वं ततः वहिर्गतेऽपि  
मनसि तद्विकल्पितप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वभानात् । सर्वप्रकारेण ब्रह्मवित् ब्रह्मैव  
भवतीत्याह—सकृदिति । सदाद्यावृतित्रयानावृतसकृदिल्यादि ॥ ५ ॥

<sup>१</sup> हानात्—अ.

<sup>२</sup> तदैव—अ.

सङ्कल्पत्यागपूर्वकपरमात्मध्यानेन मुक्तिसिद्धिः

यस्य संकल्पनाशः स्यात्स्य मुक्तिः करे स्थिता । तस्मा-  
द्भावाऽभावौ परित्यन्य परमात्मध्यानेन मुक्तो भवति ॥ ६ ॥  
पुनःपुनः सर्वावस्थासु ज्ञानज्ञेयौ ध्यानध्येयौ लक्ष्यालक्ष्ये दृश्यादृश्ये  
चोहापोहादि परित्यन्य जीवन्मुक्तो <sup>२</sup>भवति । य एवं वेद ॥ ७ ॥

सङ्कल्पभावाभावौ बन्धमुक्तिहेतू स्यातामित्याह—यस्येति । यस्मादेवं  
तस्मात् । सङ्कल्पोऽस्ति नास्तीति तद्भावाभावौ । निश्च्रितियोगिकपरमात्मा  
स्वमात्रमिति ज्ञानाविर्भूतपरमात्मध्यानेन ॥ ६ ॥ इत्थंभूतज्ञानफलमाह—  
पुनरिति । स्वावशेषधिया ब्रह्मणि ज्ञातेऽपि स्वातिरित्तधिया यदि ज्ञानज्ञेयादि-  
वृत्तिरुदेति तदा पुनःपुनरिति । तत्यागाधिकरणं ब्रह्मास्मीति य एवं वेद स  
विद्वान् जीवन्मुक्तो भवेदित्यर्थः ॥ ७ ॥

इति तृतीयः खण्डः

जाग्रदादिपञ्चावस्थाः

पञ्चावस्थाः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरुयतुरीयातीताः ॥ १ ॥

बन्धमोक्षहेतुः कः? इत्यन आह—पञ्चेति । कास्ता इति?-  
जाग्रदिति । पञ्चावस्था इत्यर्थः ॥ १ ॥

प्रवृत्तिसङ्कल्पः

जाग्रति प्रवृत्तो जीवः प्रवृत्तिमार्गासन्त्वः पापफलनरकादि  
माऽस्तु शुभकर्मस्वर्गफलमस्त्वति काङ्क्षते ॥ २ ॥

<sup>१</sup> भावं—उ. भावे—क.

<sup>२</sup> भवेत्—अ २.

तत्र जीवप्रवृत्तिनिवृत्तिसङ्कल्पौ प्रतिपादयति—जाग्रनीति । शुभकर्मजस्वर्गफलम् । एवं कांक्षन् स्वाज्ञः संसागबद्धो भवति ॥ २ ॥

निवृत्तिसङ्कल्पः

एवं स एव स्वीकृतवैराग्यात्कर्मफलजन्मालं संसारबन्धनमलमिति विमुक्त्यमिमुखनिवृत्तिमार्गप्रवृत्तो भवति ॥ ३ ॥

एवं स्थितेष्वनेकेषु कथिदनन्तकोटिजन्मस्वनुष्ठितकर्मफलार्पणसन्तुष्टधरप्रसादतः निवृत्तिमार्गप्रवृत्तो भवतीत्याह—एवमिति । य एवंविधसंसारनिर्विणो भवति सः । इतः कर्मफलजन्म ॥ ३ ॥

ससारतरणमागः

स एव संसारतारणाय गुरुमाश्रित्य कामादि त्यक्त्वा विहितकर्मचरन् साधनचतुष्टयसंपन्नो हृदयकमलमध्ये भगवत्सत्तामात्रान्तर्लक्ष्यरूपमासाद्य सुपुस्त्यवस्थायामुक्तब्रह्मानन्दस्मृतिं लब्ध्वा एक एवाहमद्वितीयः कंचित्कालमज्ञानवृत्त्या विस्मृतजाग्रद्वासनाऽनुफलेन तैजसोऽस्मीति तदुभयनिवृत्त्या प्राज्ञ इदानीमस्यहमेक एव स्थानभेदादवस्थाभेदस्य परं तु न हि मदन्यदिति  
<sup>१</sup>जातिविवेकः शुद्धाद्वैतब्रह्माहमिति .भिदागन्धं निरस्य स्वान्तर्विजृम्भतभानुमण्डलध्यानतदाकाराकारित<sup>२</sup>परब्रह्माकारितमुक्ति<sup>३</sup>मार्गमारुदः परिपक्वो भवति ॥ ४ ॥

<sup>१</sup> जातिवि—अ १.

<sup>२</sup> परब्रह्माकारमु—अ, अ १. परब्रह्मका—क.

<sup>३</sup> मार्गारु—उ.

कामादि पराभावप्रवृत्तिं त्यक्त्वा । पुरा स्वाज्ञादशायां कंचित् कालम् ।  
 तैजसोऽस्मीति विश्वभावग्रासैजसभावमेत्य तद्वोगक्षयतो यत् जाग्रत्स्वप्नकलना-  
 न्वितं तदुभयेति । जाग्रदादिस्थानभेदात् अवस्थाभेदस्य स्वाज्ञानविकलिपतस्य  
 स्वज्ञानतः प्रलयात् यदवशिष्यते तत् परं तु ब्रह्म न हि मदन्यदिति  
 जातिविवेकः—ब्रह्मातिरेकेण जायते इति जातिः जन्मादि न कदुऽपि  
 मेऽस्तीति विवेकः—उदेति । ततः किमित्यत आह—शुद्धेति । ब्रह्माहमिति  
 विज्ञानेन व्यावहारिकभिदागन्धम् । यदा विज्ञानेन भिदागन्धनिरासो  
 भवति तदा स्वान्तःप्रत्यभानुमण्डलसाक्षात्कारो भवति । तद्वयानाभ्यासतः  
 ब्रह्माकाराकारितो यो मुक्तिमार्गः सम्पर्ज्ञानारब्धः तमवष्टभ्य परिपक्षः  
 कृतकृत्यो भवतीर्थः ॥ ४ ॥

मनसो बन्धमोक्षं हंतु त्वनिष्पणम्

मंकल्पादिकं मनो बन्धहेतुः । तद्वियुक्तं मनो मोक्षाय  
 भवति ॥ ९ ॥ तद्वांश्चक्षुरादिब्राह्मप्रपञ्चोपरतो विगतप्रपञ्चगन्धः सर्वं  
 जगदात्मत्वेन पश्यन्त्यक्ताहंकारो ब्रह्माहमस्मीति चिन्तयन्निदं सर्वं  
 यद्यमात्मेति भावयन् कृतकृत्यो भवति ॥ ६ ॥

स्वाज्ञादिदशाविजृम्भतवन्धमोक्षहेतुः मन एवेत्याह—सङ्कल्पादिकमिति  
 ॥ ९ ॥ एवं निस्सङ्कल्पान्तरे योगी स्वातिरिक्तास्तित्वध्रमविरलो भूत्वा  
 ब्रह्मात्रं निष्प्रतियोगिकमिति वेदनसमकालं कृतकृत्यो योगी भवतीत्याह—  
 तद्वानिति । निर्विकल्पकवृत्तिमान् ज्ञानी तद्वान् । “ब्रह्मैवेदं सर्वं”  
 इति श्रुत्यनुरोधेन सर्वं भावयन् ज्ञानसहितभावनातः ॥ ६ ॥

इति चतुर्थः खण्डः

निर्विकल्पकसमाध्यभ्यासंन ब्रह्मविद्वरत्वप्राप्तिः

१ सर्वपरिपूर्णतुरीयातीतब्रह्म<sup>१</sup>भूतो योगी भवति । एवं ब्रह्मेति स्तुवन्ति ॥ १ ॥ सर्वलोकस्तुति<sup>२</sup>पात्रं ३ सर्वलोकसंचारशीलः परमात्मगगने बिन्दुं निश्चिप्य शुद्धद्वैताजाङ्गजामनस्क्रयो-गनिद्राइत्वण्डानन्दपदानुवृत्त्या जीवन्मुक्तो भवति ॥ २ ॥

ब्रह्मभूतः भूत्वा ब्रह्ममात्रयोगी । ब्रह्मविदो य एवं विद्वान् तम् ॥ १ ॥ उक्तविशेषणविदिष्टो यांगी परमात्मगगने बिन्दुं निश्चिप्य चिदाकाशे मनोविलयं कृत्वा तद्विलयाधिकगणशुद्धद्वैतेति । मनोलयाधारशुद्धद्वैते ब्रह्मणि जाङ्गजाग्रदाद्यवस्थावैर्गङ्गयात् अजाङ्गसहजामनस्क्रयोगनिद्रा निर्विकल्प-समाधिः तत्राखण्डानन्दतया पद्यते इत्यत्वण्डानन्दपदं तदनुवृत्त्या अनवरतानुसन्धानात् ब्रह्मविद्वगे भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

अपरिच्छिन्नानन्दस्त्रूपब्रह्मावाप्तिः

तत्त्वानन्दसमुद्रमग्ना योगिनो भवन्ति ॥ ३ ॥ तदपेक्षया इन्द्रादयः स्वत्पानन्दाः । एवं प्राप्तानन्दः परमयोगी भवतीत्युपनिषत् ॥ ४ ॥

यद्ब्रह्म निस्तरंगानन्दसमुद्रतया विव्यातं तत्त्वं ॥ ३ ॥ इन्द्रादिरस्मीत्य-भिमानात् परिच्छिन्नानन्दत्वं, तद्वैपरीत्येव अपरिच्छिन्नब्रह्मभावारूढतया एवम् ॥ ४ ॥

इति पञ्चमः खण्डः

इति द्वितीयं ब्राह्मणम्

<sup>१</sup> भूतयो—क, अ २.

<sup>२</sup> पात्रः—अ, अ १, अ २, क.

३ सर्वदेश—अ, अ १, अ २, क.

## तृतीयं ब्राह्मणम्

शास्त्रभवीमुद्राऽन्वितं अमनस्कम्

याज्ञवल्क्यो महामुर्निर्मण्डलपुरुषं पप्रच्छ स्वामिन्नमनस्क-  
लक्षणमुक्तमपि विस्मृतं पुनस्तलक्षणं ब्रूहीति ॥ १ ॥ तथेति  
मण्डलपुरुषोऽब्रवीत् । इदममन<sup>१</sup>स्कमतिरहस्यम् । यज्ञानेन कृतार्थे  
भवति तत्रित्यं शास्त्रभवीमुद्राऽन्वितम् ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्यो मन्दबुद्धिवैश्वद्यार्थं अमनस्कलक्षणमादित्यं पृच्छतीत्याह—  
याज्ञवल्क्य इति । किमिति? स्वामिन्निति ॥ १ ॥ तत्प्रश्नमंगीकृत्य  
तदुत्तरं भगवानाह—तथेति । किं तदित्यत्र वक्ष्यमाणविद्यां स्तौति—  
इदमिति । मनो यत्र विलीयते अमनीभावमेति इदम् । योगी यज्ञानेन ॥ २ ॥

परमात्मप्रत्ययलक्ष्यदर्शनेन अमनस्कप्राप्तिः

परमात्मदृष्ट्या तत्प्रत्ययलक्ष्याणि दृष्ट्या तदनु सर्वेशमप्रमेयमजं  
शिवं पराकाशं निरालम्बमद्वयं ब्रह्मविष्णुरुद्रादीनामेकलक्ष्यं सर्वकारणं  
परं ब्रह्मात्मन्येव पश्यमानो गुहाविहरणमेवं निश्चयेन ज्ञात्वा  
भावाभावादिद्रन्द्वातीतः संविदितमनोन्मन्य<sup>२</sup>नुभवस्तदनन्तरमखिले-  
न्द्रियक्षयवशादमनस्कसुखब्रह्मानन्दसमुद्रे मनःप्रवाहयोगस्तपनिवात-  
स्थितदीपवदचलं परं ब्रह्म प्राप्नोति ॥ ३ ॥

शास्त्रभवीमुद्रोपायसिद्धं तुर्यचैतन्यं परमात्मदृष्ट्या । ब्रह्मविष्णु-  
रुद्रादीनामिति तृतीयार्थं षष्ठी, तैः सर्वात्मैक्यधिया लक्षितत्वात् ।

<sup>१</sup> स्कलक्षणमति—अ.

<sup>२</sup> न्यवस्थस्त—अ.

गुहाशब्देन बुद्धिगुहोच्यते । तत्र तद्वृत्तिभासकप्रत्यग्रूपेण विहरणात् गुहाविहरणं  
मनो यत्र उन्मनीभावं निस्सङ्कल्पतामेति तादृशं ब्रह्मास्मीत्यनुभवो  
मनोन्मन्यनुभवः । शिष्टं स्पष्टं तत्र तत्र व्याख्यातं च ॥ ३ ॥

ततः संसारनिवृत्तिः

ततः शुष्कवृक्षवन्मूर्च्छानिद्रामयनिश्चासोच्छ्वासाभावान्तः-  
द्वन्द्वः सदाऽचञ्चलग्रात्रः परमशार्नित स्वीकृत्य मनः प्रचारशून्यं  
परमात्मनि लीनं भवति ॥ ४ ॥

योगी स्वात्मानं एवं ज्ञात्वा परब्रह्म प्राप्नोतीत्युक्तम् । ततः परं योगी  
पूर्ववत् किं संसरतीत्याशङ्क्य संसारकलनानिर्वाहकमानसाभावात् ब्रह्मैव  
भवतीत्याह—तत इति । प्राणान्तःकरणसरूपविलयो मूर्च्छा निद्राऽवस्थेत्यर्थः ।  
तन्मयः तद्विकारः मूर्च्छास्वापयोरिव निश्चासोच्छ्वासकामसङ्कल्पादिव्या-  
पृत्यभावात् नष्टद्वन्द्वः । बाह्यान्तर्व्यापारोपरमात् परमशार्नित स्वीकृत्य  
ब्रह्मभूतो विजयते दीर्घनिर्विकल्पकसमाधिपरवशो भवति । तदा तत्  
मनः । शून्यं सत् ॥ ४ ॥

तारकमार्गेण करणविलयद्वारा मनोनाशः

पयःस्नावानन्तरं धेनुस्तनक्षीरमिव सर्वेन्द्रियर्थे परिनष्टे  
मनोनाशं भवति तदेवामनस्कम् ॥ ५ ॥ तदनु नित्यशुद्धः  
परमात्माऽहमेवेति तत्त्वमसीत्युपदेशेन त्वमेवाहमहमेव त्वमिति  
तारकयोगमार्गेणाखण्डानन्दपूर्णः कृतार्थो भवति ॥ ६ ॥

समाधिस्थयोगिनः इन्द्रियग्रामे सति कथं मनोनाश उपपद्यते इत्यत  
आह—पय इति । भवति इति यत् तदेव ॥ ७ ॥ यदि कदाचित्

विरूपलयमप्राप्य सरूपलयमेत्य तन्मनो बहिः निस्सरति तदा तदनु ।  
तारकयोगमागेण योगी करणप्रामविरूपविलयमेव भजति । ततो योगी  
अखण्डेति । ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

इति प्रथमः खण्डः

---

उन्मनीप्राप्त्या योगिनो ब्रह्मात्मभवनम्

परिपूर्ण<sup>१</sup>परमाकाशमभ्यन्नाः प्राप्तोन्मन्यवस्थः संन्यस्तसर्वे-  
न्द्रियवर्गः अनेकजन्मार्जितपुण्यपुञ्जपकैवल्यफलोऽखण्डानन्द-  
निरस्तसर्वक्षेत्रकश्मलो ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवति ॥ १ ॥

त्वमेवाहं न भेदोऽस्ति पूर्णत्वात्परमात्मनः ।

इत्युच्चरन्त्समालिङ्ग्य शिष्यं ज्ञाप्तिमनीनयन् ॥ २ ॥

कथं पुनः योगी कृतार्थो भवतीत्यत आह—परिपूर्णेति ।  
प्राप्तोन्मन्यवस्थः संप्राप्तदीर्घनिर्विकल्पकावस्थः ॥ १ ॥ ब्राह्मणोक्तार्थं  
मन्त्रोऽपि अनुवदति—त्वमेवेति । मण्डलपुरुषो याज्ञवल्क्यं प्रति हे याज्ञवल्क्य  
परमात्मनो मम पूर्णरूपत्वात् त्वमेवाहं नावयोः भेदोऽस्ति इत्युच्चरन्  
स्वशिष्यं याज्ञवल्क्यं गाढं समालिङ्ग्य स्वीयां झर्मि ब्रह्मैव अस्मीति  
प्रज्ञामनीनयन् ॥ २ ॥

इति द्वितीयः खण्डः

इति तृतीयं ब्राह्मणम्

---

<sup>१</sup> पराका—अ १, क.

## चतुर्थ ब्राह्मणम्

व्योमपञ्चकल्पानं तत्कलं च

अथ ह यज्ञवल्क्यो मण्डलपुरुषं पग्न्ते व्योमपञ्च-  
कलक्षणं विस्तरेणानुभूहीति ॥ १ ॥ स होवाचाकाशं पराकाशं  
महाकाशं सूर्यकाशं परमाकाशमिति पञ्च भवन्ति ॥ २ ॥ सबाह्याभ्य-  
न्तरमन्धकारमयमाकाशम् । सबाह्याभ्यन्तरे कालानल्मद्दशं  
पराकाशम् । सबाह्याभ्यन्तरेऽपरिमितद्युतिनिमं तत्त्वं महाकाशम् ।  
सबाह्याभ्यन्तरे सूर्यनिमं सूर्यकाशम् । अनिर्वचनीयन्योतिः सर्वव्यापकं  
निरतिशयानन्दलक्षणं परमाकाशम् ॥ ३ ॥ एवमन्तर्लक्ष्यदर्शना<sup>१</sup>तद्वौपो  
भवति ॥ ४ ॥

पुनः यज्ञवल्क्यो मन्दबुद्धयनुकम्पया व्योमपञ्चकलक्षणं पृच्छतीत्याह—  
अथेति । किमिति? व्योमेति ॥ १ ॥ स होवाच किं तदिति—  
आकाशमित्यादि ॥ २ ॥ तत्र आकाशं कीदृशमित्यत्र जडभूतिरित्याह—  
सबाह्येति । पराकाशं किमित्यत्र जडभूतिप्रासमोहभूतिरित्याह—सबाह्येति ।  
मोहभूतेः कृत्वजडभूतिव्यापकत्वेन तत्परतया च काशमानत्वात् परा-  
काशत्वम् । महाकाशं किमित्यत्र जडमोहभूतिप्रासलीलाभूतिरित्याह—सबाह्येति ।  
लीलाभूतेः जडमोहभूतियां व्यापकत्वेन तदपेक्षया अपरिमितद्युतिनिभतत्वरूपेण  
काशमानत्वात् । सूर्यकाशं किमित्यत्र जडादिभूतित्रयप्रासनित्यभूतिरित्याह—  
सबाह्येति । नित्यविभूतेः लीलादिभूतित्रयव्यापकत्वेन सर्वावभासकसूर्यवत्  
काशमानत्वात् । परमाकाशस्वरूपं किमित्यत्र नित्यभूत्यादिव्यापकत्वेन  
अनिर्वचनीयेति । त्रिपद्मौतेः नित्यादिभूतिचतुष्टयगतहेयांशापहवसिद्धत्वात्

<sup>१</sup> एवं तत्त्वलक्ष्यदर्शनात् तत्तद्वौपो—अ १, अ २, क. एवमन्तर्लक्ष्यमर्दनात्—उ.

निरतिशयादिविशेषणता उपपद्यते इत्यर्थः ॥ ३ ॥ व्योमपञ्चकात्मकभूतिपञ्चक-  
ज्ञानफलमाह—एवमिति ॥ ४ ॥

राजयोगसर्वस्वक्रोडीकरणम्  
नवचक्रं षडाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।  
सम्यगेतन् जानाति स योगी नामतो भवेत् ॥ ५ ॥

गजयोगसर्वस्वं क्रोडीकृत्योपसंहरति । नवचक्रमिति । मूलाधारादि-  
षट्चक्रं ताल्वाकाशभूत्यक्षक्रमेदात् चक्रत्रयं आहत्य नवचक्रम् । लक्ष्यत्रयं  
व्योमपञ्चकं च व्याख्यातम् । सम्यगेतन् सर्वं यो न जानाति तद्याथात्म्याज्ञानात्  
केवलग्रन्थार्थज्ञानमात्रतो नाममात्रयोगी भवति । यस्तु यथावत् जानाति स  
योगी कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणम्

---

## पञ्चमं ब्राह्मणम्

परमात्मनि मनोलयाभ्यासविधिः

सविषयं मनो बन्धाय निर्विषयं मुक्तये भवति ॥ १ ॥  
अतः <sup>१</sup>सर्वं चित्तगोचरम् । तदेव चित्तं निराश्रयं <sup>२</sup>मनोन्मन्यव-  
स्थापरिपक्वं लययोग्यं भवति ॥ २ ॥ तल्लयं परिपूर्णे मयि  
समभ्युसेत् । मनोलयकारणमहमेव ॥ ३ ॥

<sup>१</sup> सर्वं जगच्छित्त—अ, अ १, अ २, क.

<sup>२</sup> उन्म—उ.

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः ।  
 ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिज्योतिरन्तर्गतं मनः ॥ ४ ॥ -  
 यन्मनक्षिणगत्सृष्टिस्थितिव्यसनकर्मकृत् ।  
 तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ५ ॥

बन्धमोक्षहेतुः किमित्याशङ्क्य विषयसंगासंगमन प्रवेत्याह—सविषयमिति ॥ १ ॥ यतः एवं अनः । यथित्तं योगाभ्यासतः शुद्धं भवति तदेव निराश्रयं विषयसंबन्धविग्रहम् ॥ २ ॥ ल्याधिकरणं किमित्यत्र तल्यमिति ॥ ३ ॥ यत् सर्वल्यास्पदं आधेयसापेक्षाधागतविशेषापाये तदेव निर्विशेषपरमपदमित्याह—अनाहतस्येति । अनाहतभवनादान्तर्गतप्रत्यज्योतिर्विकल्पितं स्वातिरिक्तसृष्टिस्थितिनाशनिर्वर्तकं मनो यत्र विलीयते तत् ल्याधिकरणं परमार्थदृष्ट्या निरधिकरणवैष्णवपदरूपेण अवशिष्यते इत्यर्थः ॥ ४-५ ॥

अमनस्काभ्यासंन ब्रह्मावस्थानसिद्धिः

तल्याच्छुद्धाद्वैतसिद्धिर्भेदाभावात् । एतदेव परमतत्त्वम् ॥ ६ ॥ <sup>१</sup> स तज्ज्ञो बालोन्मत्तपिशाचवज्जडवृत्या लोकमाचरेत् ॥ ७ ॥ एवममनस्काभ्यासेनैव नित्यत्रृप्तिरल्पमूलप्रुरीषमितभोजनद्वाङ्गाजाङ्ग्यनिद्राद्वग्वायुचलनाभावब्रह्मदर्श<sup>२</sup>नाज्ञातसुखस्वरूपसिद्धिर्भवति ॥ ८ ॥

यन्मनो द्वैतहेतुः तल्यात् । तदा प्रत्यक्षपरयोः भेदाभावात् । यत् त्वया परमतत्त्वमनुबूहीति पृष्ठं एतदेव ॥ ६ ॥ मदुक्तप्रकारेण य एवं परमतत्त्वं जानाति स तज्ज्ञः । आचरेत् स्वमाहात्म्यव्यापनप्रयोजनाभावात् ॥ ७ ॥

<sup>१</sup> “स” इत्येतत्र—अ, अ १.

<sup>२</sup> नाज्ञा—अ, अ २, क.

एवममनस्काभ्यासतः का सिद्धिरुदेतीत्यत आह—एवमिति । यदा योगी निर्विकल्पकसमाध्याख्याख्योऽपि भवति तदा अतृप्तिहेतुवृत्त्यनुदयात् नियतृप्तिः, समाधितो व्युत्थानेऽपि केवलकुम्भकतो मूत्रपुरीषादेः शोषितत्वात् मूत्रादेरल्पत्वं, उदरे निरवकाशतोऽल्पभोजनं, तथाऽपि योगमहिमा दृढाङ्गत्वं, पदे पदे जाङ्घनिद्राऽभावादजाङ्घनिद्रो निर्विकल्पकसमाधिः । तत्र हर्षवायुचलनाभावतो निश्चलश्राद्धादर्शनसञ्चातं अवाञ्छानसगोचरतया अङ्गातसुखस्वरूपब्रह्ममात्रावस्थानखण्डिणी सिद्धिः भवति । विद्वान् तद्वैषेण अवशिष्यते इत्यर्थः ॥ ८ ॥

अमनस्कसिद्धस्य महिमा

एवं चिरसमाधिजनितब्रह्मामृतपानपरायणोऽसौ संन्यासी  
परमहंस अवधूतो भवति । तद्वर्णनं सकलं जगत्पवित्रं भवति ।  
तत्सेवापरोऽज्ञोऽपि मुक्तो भवति । तत्कुलमेकोत्तरशतं तारयति ।  
तन्मातृपितृजायाऽपत्यवर्गं च मुक्तं भवतीत्युपनिषत् ॥ ९ ॥

यः एवंवित् स एव मुख्यावधूतः, तद्वृष्टिपथं गतं अखिलं  
अखिलतामेति, तत्सेवया अज्ञोऽपि मुच्यते, तत्कुलमपि  
कृतार्थत्वं भजतीति शास्त्रमुपसंहरति—एवमिति । इत्युपनिषद्छद्दः  
प्रकृतोपनिषत्समात्यर्थः ॥ ९ ॥

इति पञ्चमं ब्राह्मणम्

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।  
मण्डलब्राह्मणव्याख्या लिखिता ब्रह्मगोचरा ।  
मण्डलब्राह्मणव्याख्याग्रन्थस्तु त्रिशतं स्मृतः ॥

इति श्रीमदीशायष्टेतरशतोपनिषद्छास्त्रविवरणे अष्टचत्वारिंशत्संख्यापूरकं  
मण्डलब्राह्मणोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

# महावाक्योपनिषत्

भद्रं कर्णेभिः—इति शान्तिः

अपरोक्षानुभवोपदंशाधिकारी

अथ होवाच भगवान्ब्रह्माऽपरोक्षानुभवपरोपनिषदं व्याख्या-  
स्यामः ॥ १ ॥ गुह्याद्गुह्या<sup>१</sup>तरमेषा न प्राकृतायोपदेष्टव्या ।  
सात्त्विकायान्तर्मुखाय परिशुश्रूषये ॥ २ ॥

यन्महावाक्यसिद्धान्तमहाविद्याकलेबरम् ।  
विकलेबरकैवल्यरामचन्द्रपदं भजे ॥

इह खलु अर्थवर्णवेदप्रविभक्तेयं महावाक्योपनिषत् स्वातिरिक्तप्रपञ्चतद-  
सम्भवप्रबोधसिद्धब्रह्ममात्रप्रपञ्चनर्वकं विजयते । अस्याः स्वल्पप्रन्थतो विवरण-  
मारम्यते । उत्तमाधिकारिपुरुषानुपलभ्य ब्रह्म स्वानुभवं प्रकटयतीत्याह—  
अथेति । किमिति? अपरोक्षेति ॥ १ ॥ आदौ वक्ष्यमाणोपनिषदो  
गृहस्यार्थतया गोप्यतामाह—गुह्यादिति । प्राकृताय यथोक्तसाधनविकलाय ।  
कस्मा उपदेष्टव्येत्यत्र सात्त्विकायेति । केवलसत्त्ववृत्तिमत्प्रत्यङ्गमुखाय  
स्वाचार्यशुश्रूषाऽदिसाधनसम्पन्नाय उपदेष्टव्येत्यर्थः ॥ २ ॥

<sup>१</sup> तरेषा—अ.

विद्याऽविद्ययोः स्वरूपं कार्थं च

अथ संसृतिबन्धमोक्षयोर्विद्याऽविद्ये चक्षुषी उपसंहृत्य  
विज्ञायाविद्या<sup>१</sup>लोकाण्डस्तमोद्दृक् ॥ ३ ॥ तमो हि शारीरप्र-  
पञ्चमाब्रह्मस्थावरान्तमनन्ताखिलाजाण्डभूतम् । निखिलनिगमोदि-  
तसकामकर्मव्यवहारो लोकः ॥ ४ ॥

केयमुपनिषदित्यत्र तामेव विशिनष्टि—अथेति । अथ यथोक्तसाधनसम्प-  
त्यनन्तरं मुमुक्षुः स्वातिरिक्तास्तितारूपेयं संसृतिः तदस्तीति प्रवृत्तिमार्गो बन्धः  
तन्नास्तीति निवृत्तिमार्गो मोक्षः । तयोः संसृतिमोक्षबन्धयोः हेतू कावित्यत्र—  
विद्याचक्षुः संसारनिवर्तकतया मोक्षहेतुः । अविद्याचक्षुस्तु संसारोऽस्तीति  
प्रवर्तकतया बन्धहेतुः । ते उभे संसारो नास्त्यस्तीति वेदनरूपे विद्याऽविद्ये  
चक्षुषी ब्रह्मातिरिक्तवस्तुसामान्यासम्भवप्रबोधतः उपसंहृत्य अपहृवं कृत्वा  
तदपहृवसिद्धं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति विज्ञाय । सम्यज्ञानसमकालं  
विद्वान् विदेहमुक्तो भवतीति वाक्यशोषः । अविद्याचक्षुः कीटशमित्यत्राह—  
अविद्येति । ब्रह्मातिरेकेण कालत्रयेऽपि या अविद्यमाना सेयमविद्या तया  
सत्यवल्लोक्यते इत्यविद्यालोकः स एवाण्डः अण्डमविद्यापदं तदेव तमोद्दृष्टिः  
स्वमात्रावागकृत्वात् ॥ ३ ॥ किं तत् स्वावारकं तम इत्यत आह—  
तमो हीति । तमो हि शारीरप्रपञ्चं प्रपञ्चः स्वज्ञानतः कालतो वा शीर्यत  
इति शरीरं तदेव शारीरं अविद्यापदं तत्कार्यं आब्रह्मस्थावरान्तं, तस्य  
निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रावरणतया प्रपञ्चनात् प्रपञ्च इति व्यवहरणात्  
प्रतीतिकालमात्रस्थायिवत् <sup>२</sup>भानाद्वा व्यावहारिकत्वं प्रातिभासिकत्वं च ज्ञेयम् ।  
किं तद्वावहारिकत्वं प्रातिभासिकत्वं च अहंतीत्यत्र—यावत् स्वज्ञानं  
तावदनन्ततया अखिलाण्डवत् अनन्तकोटिब्रह्माण्डवत् भवतीत्यनन्ताखिला-  
जाण्डभूतम् । स्वाज्ञलोकस्तु “वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः,” “चित्रया

<sup>१</sup> लोकान्ध—अ २. लोकाण्डं ततोद्दृक्—अ.

<sup>२</sup> भानाद्वयाव—उ १.

यजेत् पशुकामः,” “अपाम सोममपृता अभूम्,” इत्यादिनिखिलनिगमोदि-  
तसकामकर्मव्यवहारे व्यवहारग्रान् भवति ॥ ४ ॥

हंसविद्याऽन्यासेन परमात्माविर्भावः

नैषोऽन्धकारोऽयमात्मा । विद्या हि काण्डान्तरादित्यो  
न्योतिर्मण्डलं ग्राहं नापरम् ॥ ५ ॥ असावादित्यो ब्रह्मेत्यनप्यो-  
पहितं हंसः सोऽहम् । प्राणापानाभ्यां प्रतिलोमानुलोमाभ्यां  
समुपलभ्यैव सा चिरं लङ्घवा त्रिवृदात्मनि ब्रह्मण्यभिन्नायमाने  
सच्चिदानन्दः परमात्माऽविर्भवति ॥ ६ ॥

स्वात्माऽप्येवं संसरतीत्यत आह—नैषोऽन्धकारोऽयमात्मा ।  
योऽनात्मप्रपञ्चापहवसिद्ध एषोऽयमात्मा नान्धकारो भवति, स्वस्य प्रत्यक्प्रकाशा-  
भिन्नप्रग्रकाशमात्रत्वात् । यावदेवं स्वात्मा नोपलभ्यते तावन्मुक्षुणा  
विद्याऽन्यासः कर्तव्य इत्याह—विद्या हीति । स्वातिरिक्तग्रन्थासहं ब्रह्म  
निष्प्रतियोगिकस्वमात्रतया विद्यत इति ज्ञानविज्ञानसम्यज्ञानतत्त्वज्ञानवृत्तिः  
विद्या हि काण्डान्तरादित्यः कुत्सितस्वाविद्यापदाण्डान्तर्बाह्यावभासकचिदा-  
दित्यपर्यवसन्नेति चिदादित्य इत्युक्ता । सैव चिन्मात्रज्योतिर्मण्डलं, तत्प्रभापुरुङ्गं  
निर्विशेषब्रह्ममात्रगोचरतत्त्वज्ञानमेव ग्राह्यं, तस्य चरमसाक्षात्कारहेतुत्वात्  
ब्रह्ममात्रपर्यवसन्नत्वाच्च । तदेव ग्राहं नापरमपरब्रह्मगोचरं सविशेषज्ञानं,  
कालविळम्बफलदत्त्वात् । तीव्रतममुक्षुण्ठेतन्न ग्राह्यमित्यर्थः ॥ ७ ॥ तथावि-  
धततत्त्वज्ञानप्राप्यपरमात्माविर्भावोपायतत्त्वज्ञानाधिगमहेतुज्ञानविज्ञानादिसाधनं कि-  
मित्यत आह—असाविति । “स यश्चायं पुरुषे । यश्चासावादित्ये । स  
एकः । स य एवंवित् ।” इत्यादिश्रुत्यनुरोधेन अस्मद्दृष्टिगोचरोऽसावादित्यो  
श्च, स्वगतविशेषांशापाये तस्यैव ब्रह्मत्वात् । सोऽयमसावादित्यः नाढीद्वारा  
प्रतिशरीरं समुपलभ्य उच्छ्वासनिधासव्यापारतः प्रतिलोमानुलोमाभ्यां प्राण-  
पानाभ्यां हंसः सूर्यः सोऽहमिति सुहजयाऽप्रयत्ननिष्पन्नयाऽजपयोपहितम् ।

एवमजपाऽनुसन्धाननिष्पन्नं ज्ञानं विज्ञानं सम्यज्ञानं वा चिरं चिरकालसाध्यं  
असौ विद्वान् लब्धवाऽथ व्यष्टिसमितदेक्यप्रपञ्चानुवृत्तविधविराङ्गोत्रादिहितुर्या-  
विकल्पभेदेन विवृदात्मनि ब्रह्मणि व्यष्ट्यादिविभागमूलस्वाज्ञानतत्कार्यनामरूपा-  
पहृवसिद्धनिष्ठत्योगिकब्रह्मप्रावशेषतया अभिध्यायमाने सति अथ  
अनृतजडुःखासम्भवप्रबोधसिद्धसच्चिदानन्दः परमात्मा आविर्भवति  
स्वमात्रमवशिष्यत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

## तत्त्वज्ञानवृत्तिस्वरूपम्

सहस्रभानुमच्छुरिता पूरित<sup>१</sup>त्वादलीया पारावारपूर इव ।  
<sup>२</sup>नैषा समाधिः । <sup>२</sup>नैषा योगसिद्धिः । <sup>२</sup>नैषा मनोलयः । ब्रह्मैक्यं  
तत् ॥ ७ ॥ आदित्यवर्णं तमसस्तु पारे । सर्वाणि <sup>३</sup>रूपाणि विचित्य  
धीरः । नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते ॥ ८ ॥ धाता पुरस्ताद्य-  
मुदाजहार । शकः प्रविद्वान्प्रदिशश्चतत्वः । तमेवं विद्वानमृत इह  
भवति । नान्यः पन्था अयनाय विद्यते ॥ ९ ॥ यज्ञेन यज्ञमयजन्त  
देवाः । तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । ते ह नाकं महिमानः  
सचन्ते । यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ १० ॥

इत्थंभूतब्रह्मात्रपर्यवसन्नतत्त्वज्ञानवृत्तिस्तु युगपदुदितसहस्रोपलक्षिता-  
नन्तकोटिभानुमत्प्रवक्प्रकाशाभिन्नप्रकाशात्मना छुरिता स्फुरिता ।  
पारावारपूर इव निस्तंगंगसमुद्रवत् ब्रह्मात्ररसरूपेण पूरितत्वात् पूर्णत्वात्  
न हि लीयते इत्यलीया ब्रह्मरूपत्वात् । नद्येषा वृत्तिः समाधिः योगसिद्धिः  
मनोलयो वा भवितुर्महति । किं तु प्रत्यग्ब्रह्मैक्यं तन् ॥ ७ ॥ किं  
तत्प्रत्यग्ब्रह्मैक्यं इत्यत आह—आदित्येति । यत् पराक्षापेक्षप्रत्यक्षपरचिदैक्य-

<sup>१</sup> स्वानिलीयः—अ. त्वानिलीयः—अ १.<sup>२</sup> सैषा—अ, अ १.<sup>३</sup> भूतानि—क, अ २.

गतसविशेषापहवसिद्धं तत् स्वातिगित्तमसस्तु पारे विद्योतमानमुद्यास्तमनकल-  
नाविगळचिदादित्यवर्णं चिदादिल्पस्वरूपं सच्चिदानन्दरूपेण सर्वत्र पूर्णमवशिष्यते ।  
धीरो विद्वान् स्वातिरिक्ताविद्यापदतत्कार्यंगोचररूपाणि नामानि च विचित्य  
मिथ्येति विचिन्त्य अपहवं कृत्वा ब्रह्मातिगित्तं न किञ्चिदस्तीति  
यदभिवदन्नास्ते तन्मात्रमवशिष्यते, “स यां ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मव  
भवति,” “य एवं निर्वाजं वेद निर्वाज एव स भवति,” इति वेदनसम-  
कालब्रह्मभावापत्तिश्रुतेः ॥ ८ ॥ तथा च धाता ब्रह्मा पुरस्तादेव अमुमर्थ-  
मुदाजहार, पूर्वाग्रेयादिचतस्रो दिशः प्रदिशश्च ब्रह्मवित्त्वेन विव्यातकीर्तिः  
प्रविद्वान् शक्रोऽपि “प्राणोऽस्मि प्रज्ञाऽऽत्मा तं मामायुभृतमित्युपास्त्व” इति,  
वेदनफलं तु “ विपापो विरजो ब्रह्मविद्वान् ब्रह्मवाभिप्रैति ” इति  
यमर्थमुदाजहार तं परमात्मानं निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति एवं विद्वान्  
वेदनसमकालं अमृतः परमात्मेह भवति, “ज्ञानसमकालमेव मुक्तः कैवल्यं  
याति ” इति श्रुतेः । स्वाज्ञानप्रभवोऽयं बन्धः स्वज्ञानान्मोक्षः । अयमेवाव्याहतः  
पन्थाः । अयनाय मोक्षाय ब्रह्मज्ञानाद्वते अन्यः पन्था न विद्यते ॥ ९ ॥  
एवं देवाः इन्द्रादयोऽपि ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमवशिष्यते ब्रह्मातिरिक्तं  
न किञ्चिदस्तीति ज्ञानयज्ञेन यज्ञं विश्ववार्ष्यं ब्रह्मायजन्त, ब्रह्माहमस्तीति  
भावयन्ते जीवन्मुक्ता मर्हायन्ते । तेषां जीवन्मुक्तपदाखणां देवानां  
तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ते जीवन्मुक्तधर्माः अमानित्वादयः मैत्र्यादयश्च  
प्रथमाः प्रधाना आसन् बभूवुः । य एवं महिमानो देवा यत्र पूर्वे साध्या  
देवविशेषा जीवन्मुक्ताः सन्ति तत्राकं सूच(क)न्ते तं स्वर्गं प्राप्य  
प्रकाशन्ते ॥ १० ॥

प्रणवहंसज्योतिर्ध्यनम्

सोऽहं<sup>१</sup>मर्कः परं ज्योतिर्कर्ज्योतिरहं शिवः ।

आत्मज्योतिरहं शुक्रः सर्वज्योतिरसावहोम् ॥ ११ ॥

<sup>१</sup> मेरकः—अ.

तत्र देवाः किं कुर्वन्तो वर्तन्ते इत्यत्र प्रत्यक्षपरचितोरैक्यानुसन्धानं  
कुर्वन्तो वर्तन्ते इत्याह—सोऽहमिति । यः परंज्योतिः सोऽहं चिर्दकः  
योऽर्कज्योतिरहं शिखः योऽहं शिवार्कञ्ज्योतिः अहं शुक्रः प्रत्यगभिन्नपरमात्मा  
सर्वज्योतिरसावहोम् । एवं व्यतिहरेण प्रत्यक्षप्रकाशाभिन्नपरप्रकाशोऽहमो  
ओङ्कारार्थप्रत्यक्षपरविभागैक्यासहतुरीयतुरीयं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमित्येवं  
ध्यायन्तोऽद्यापि महीयन्त इत्यर्थः ॥ ११ ॥

## हंसज्योतिर्विद्याफलम्

एतदर्थविशिरोऽधीते । प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति ।  
सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति । तत्सायं प्रातः प्रयुज्ञानः  
पापोऽपापो भवति । माध्यन्दिनमादित्याभिमुखोऽधीयानः पञ्चमहा-  
पातकोपपातकात्प्रमुच्यते । सर्ववेदपारायणपुण्यं लभते । श्रीमहा-  
विष्णुसायुज्यमवाप्नोतीत्युपनिषत् ॥ १२ ॥

विद्याफलमाह—एतदिति । किं बहुना—श्रीमहाविष्णुसायुज्यमवाप्नोति ।  
इत्युपनिषच्छब्दः महावाक्योपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥ १२ ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।  
महावाक्योपनिषदो व्याख्यानं लिखितं लघु ।  
महावाक्यविवृतिस्तु द्विषष्टः ग्रन्थतो भवेत् ॥

इति श्रीमदीशायष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे द्विनवतिसद्व्यापूरकं  
महावाक्योपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

# योगकुण्डल्युपनिषत्

सह नाववतु—इति शान्तिः

## प्रथमोऽध्यायः

वायुजयोपायत्रयम्

हेतुद्वयं हि चित्तस्य वासना च समीरणः ।  
तयोर्विनष्ट एकस्मिं<sup>१</sup>स्तद्वावपि विनश्यतः ॥ १ ॥  
तयोरादौ समीरस्य जयं कुर्यात्वरः सदा ।  
मिताहारश्चासनं च शक्तिचालस्तृतीयकः ॥ २ ॥

योगकुण्डल्युपनिषद्योगसिद्धदासनम् ।  
निर्विशेषब्रह्मतत्त्वं स्वमात्रमिति चिन्तये ॥

इह खलु कृष्णयजुवेदप्रविभक्तेयं योगकुण्डल्युपनिषत् हठलम्बिकायोग-प्रकटनव्यग्रा निर्विशेषब्रह्ममात्रपर्यवसना विजयते । अस्याः संक्षेपतो विवरण-मारभ्यते । आदाववान्तरवाक्यरूपेण हठयोगमवतारयति—हेतुद्वयमित्यादिना । वासनाप्राणोधाभ्यां चित्तचलनाचलने भवतः । एतदन्यतररोधेऽपि द्रयमपि निरुद्धं भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥ तदुपायतया मिताहारः इत्यादि ॥ २ ॥

<sup>१</sup> स्तेद्वा—अ १.

मिताहारः

एतेषां लक्षणं वक्ष्ये शृणु गौतम सादरम् ।  
 सुस्तिग्रधमधुराहारश्चतुर्थो<sup>१</sup>शावशेषकः ॥ ३ ॥  
 मुञ्च्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ।  
 तत्र सुस्तिग्रधेति ॥ ३-४ ॥

पद्मासन

आसनं द्विविधं प्रोक्तं पद्मं वज्रासनं तथा ॥ ४ ॥  
 ऊर्वोरुपरि चेद्धत्ते उभे पादतले यथा ।  
 पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ५ ॥  
 वामाङ्गि<sup>२</sup>मूलं कन्दाधः अन्यं तदुपरि क्षिपेत् ।  
 समग्रीवशिरःकायो वज्रासनमितीरितम् ॥ ६ ॥  
 तत्र पद्मासनलक्षणं तु ऊर्वोरिति ॥ ९-६ ॥

शक्तिचालनं तत्साधनद्वयं च

कुण्डल्येव भवेच्छक्तिस्तां तु संचालयेद्धुधः ।  
 स्वस्थानादाश्रुवोर्मध्यं शक्तिचालनमुञ्च्यते ॥ ७ ॥  
 तत्साधने द्वयं मुख्यं सरस्वत्यास्तु चालनम् ।  
 प्राणरोधमथाभ्यासाद्यन्वी कुण्डलिनी भवेत् ॥ ८ ॥

<sup>१</sup> शविवर्जितः—क, अ १, अ २.

<sup>२</sup> मूल—अ १.

किं तच्छक्तिचालनमित्यत्र कुण्डल्येव ॥ ७ ॥ तत्साधनं किमित्यत्र  
तत्साधने इति ॥ ८-१४ ॥

## सरस्वतीचालनम्

तयोरादौ सरस्वत्याश्वालनं कथयामि ते ।  
अरुन्धत्यैव कथिता पुराविद्धिः सरस्वती ॥ ९ ॥  
यस्याः संचालने<sup>१</sup> नैव स्वयं चलति कुण्डली ।  
इडायां वहति प्राणे बद्धा पद्मासनं दृढम् ॥ १० ॥  
द्वादशाङ्कुलदैर्घ्यं च अम्बरं चतुरङ्कुलम् ।  
विस्तीर्य तेन तन्नाडीं वेष्टयित्वा ततः सुधीः ॥ ११ ॥  
अङ्कुष्ठतर्जनीभ्यां तु हस्ताभ्यां धारयेहृढम् ।  
स्वशक्तया चालयेद्वामे दक्षिणेन पुनःपुनः ॥ १२ ॥  
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयाचालयेत्सुधीः ।  
ऊर्ध्वमार्कर्षयेत्किञ्चित्सुषुम्नां कुण्डलीगता ॥ १३ ॥  
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं ब्रजेत् ।  
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां ब्रजति स्वतः ॥ १४ ॥  
तुन्दे तु ताणं कुर्याच्च कण्ठसंकोचने कृते ।  
सरस्वत्याश्वालनेन वक्षः स्यादूर्ध्वंगो मरुत् ॥ १५ ॥  
सूर्येण रेत्येद्वायुं सरस्वत्यास्तु चालने ।  
कण्ठसंकोचनं कृत्वा वक्षः स्यादूर्ध्वंगो मरुत् ॥ १६ ॥

<sup>१</sup> चैव—क.

तस्मात्संचालयेन्नित्यं शब्दगर्भं सरस्वतीम् ।  
यस्याः संचालनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ १७ ॥

गुल्मं जलोदरस्तीहो ये चान्ये तुन्दमध्यगाः ।  
सर्वे ते शक्तिचालेन रोगा नश्यन्ति निश्चयम् ॥ १८ ॥

मूलादिबन्धत्रयपूर्वकं सरस्वतीचालनत्? वक्षः वक्षसः ऊर्ध्वगो मरुन्  
स्यात् ॥ १९ ॥ उक्तार्थमेतत् ॥ १६ ॥ यस्मादेवं तस्मान् ॥ १७-२४ ॥

प्राणायामभेदाः

प्राणरोधमथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाप्ततः ।  
प्राणश्च देहगो वायुरायामः कुम्भकः स्मृतः ॥ १९ ॥  
स एव द्विविधः प्रोक्तः सहितः केवलस्तथा ।  
यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमध्यसेत् ॥ २० ॥  
सूर्योज्जायी शीतली च भवती चैव चतुर्थिका ।  
भेदैरैव समं कुम्भो यः स्यात्तसहितकुम्भकः ॥ २१ ॥

पवित्रे निर्जने देशो शर्करादिविवर्जिते ।  
धनुःप्रमाणपर्यन्तं शीताश्चिजलवर्जिते ॥ २२ ॥  
पवित्रे नात्युच्छनीचे हासने सुखदे सुखे ।  
बद्धपद्मासनं कृत्वा सरस्वत्यास्तु चालनम् ॥ २३ ॥

दक्षनाड्या समाकृष्य बहिष्ठं पवनं शैनैः ।  
 यथेष्टं पूरयेद्वायुं रेचयेदिड्या ततः ॥ २४ ॥  
 कपालशोधने वाऽपि रेचयेत्पवनं शैनैः ।  
 चतुष्कं वातदोषं तु कृमिदोषं निहन्ति च ॥ २५ ॥  
 पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदमुदाहृतम् ।  
 चतुष्कं चतुर्विधम् ॥ २५—४२ ॥

उज्जायीकुम्भकः

मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शैनैः ॥ २६ ॥  
 यथा लगति कण्ठात् हृदयावधि सख्वनम् ।  
 पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदिड्या ततः ॥ २७ ॥  
 शीर्षोदिता<sup>१</sup> नलहरं गलश्लेष्महरं परम् ।  
 सर्वरोगहरं पुण्यं देहानलविर्वर्धनम् ॥ २८ ॥  
 नाडीजलोदरं धातुगतदोषविनाशनम् ।  
 गच्छतस्तिष्ठतः कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम् ॥ २९ ॥

शीतलीकुम्भकः

जिह्या वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भकादनु ।  
 शैनैस्तु धाणरन्नाभ्यां रेचयेदनिलं सुधीः ॥ ३० ॥  
 गुल्मष्टीहादि<sup>२</sup>का दोषाः क्षयं पित्तं ज्वरं तृष्णाम् ।  
 विषाणि शीतली नाम कुम्भकोऽयं निहन्ति च ॥ ३१ ॥

<sup>१</sup> निल—क.

<sup>२</sup> कान् दोषान्—क, अ १, अ २.

## भस्त्रकुम्भकः

ततः पचासनं बद्धा संमग्रीबोदरः सुधीः ।  
 मुखं संयम्य यज्ञेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत् ॥ ३२ ॥

यथा लगति कण्ठात् कपाले सखनं ततः ।  
 वेगेन पूरयेत् किंचिद्भूत्पद्मावधि मारुतम् ॥ ३३ ॥

पुनविरेचयेत्तद्वत्पूरयेच पुनः पुनः ।  
 यथैव लोहकाराणां भस्त्रा वेगेन चाल्यते ॥ ३४ ॥

तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं शनैः ।  
 यथा श्रमो भवेद्देहे तथा सूर्येण <sup>१</sup>रेचयेत् ॥ ३५ ॥

यथोदरं भवेत्पूर्णं पवनेन तथा लघु ।  
 धारयन्नासिकामध्यं तर्जनीभ्यां विना दृढम् ॥ ३६ ॥

कुम्भकं पूर्ववत्कृत्वा रेचयेदिड्याऽनिलम् ।  
 कण्ठोत्थितानलहरं शरीराभिविर्धनम् ॥ ३७ ॥

कुण्डलीबोधकं पुण्यं पापञ्च शुभदं सुखम् ।  
 ब्रह्मनाडीमुखान्तस्थकफार्द्यग्लनाशनम् ॥ ३८ ॥

गुणत्रयसमुद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम् ।  
 विशेषैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ॥ ३९ ॥

## बन्धवयविधिः

चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते ।  
 बन्धवयमिदं कार्यं योगिभिर्वीतकल्मषैः ॥ ४० ॥

<sup>१</sup> पूर—क, अ १, अ २.

प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोऽुद्धीयणाभिषः ।  
जालन्धरस्तृतीयस्तु तेषां लक्षणमुच्यते ॥ ४१-॥

मूलबन्धः

अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वं कुरुते बलात् ।  
आकुञ्जनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यने ॥ ४२ ॥  
अपाने चोर्ध्वं याते संप्रासे वंहिमण्डले ।  
ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता ॥ ४३ ॥  
ततो यातौ वहयपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।  
तेनात्यन्तप्रदीपेन ज्वलनो देहजस्तथा ॥ ४४ ॥  
तेन कुण्डलिनी सुसा संतसा संप्रबुद्ध्यते ।  
दण्डाहतमुजङ्गीव निश्चस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥ ४५ ॥  
बिलप्रवेशतो यत्र ब्रह्मनाभ्यन्तरं व्रजेत् ।  
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥ ४६ ॥

हता चलिता ॥ ४३-६२ ॥

उद्दियाणबन्धः

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूडुयाणकः ।  
बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूडुयते यतः ॥ ४७ ॥  
तस्मादुडुयणास्व्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।  
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्वृद्धम् ॥ ४८ ॥

गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ।  
 पश्चिमं ताणमुदरे धारयेद्वृदये गले ॥ ४९ ॥  
 शनैः शनैर्यदा प्राणस्तुन्दसन्विं निगच्छति ।  
 तुन्ददोषं विनिर्धूय कर्तव्यं सततं शनैः ॥ ५० ॥

## जालन्धरबन्धः

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ।  
 कण्ठसंकोचरूपोऽसौ वायुमार्गनिरोधकः ॥ ५१ ॥  
 अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचनं कृते ।  
 मध्ये पश्चिमताणेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥ ५२ ॥  
 पूर्वोक्तेन क्रमेणैव सम्यगासनमास्थितः ।  
 चालनं तु सरस्वत्याः कृत्वा <sup>१</sup>प्राणं निरोधयेत् ॥ ५३ ॥

## अभ्यासकुम्भकरंब्यानियमः

प्रथमे दिवसे कार्यं कुम्भकानां चतुष्टयम् ।  
 प्रत्येकं दशसंब्याकं द्वितीये पञ्चभिस्तथा ॥ ५४ ॥  
 विंशत्यलं तृतीयेऽहि पञ्चवृद्धचा दिने दिने ।  
 कर्तव्यः कुम्भको नित्यं बन्धत्रयसमन्वितः ॥ ५५ ॥

## योगाभ्यासविघ्नाः, तस्यागच्छ

दिवा <sup>२</sup>सुसिर्निशायां तु जागरादतिमैथुनात् ।  
 बहुसंक्रमणं नित्यं रोधान्मूत्रपुरीषयोः ॥ ५६ ॥

<sup>१</sup> प्राणान्—उ १.<sup>२</sup> सिनि—अ १.

विषमासनदोषाश्च प्रयासप्राणचिन्तनात् ।  
 शीघ्रमुत्पद्यते रोगः स्तम्भयेद्यदि संयमी ॥ ९७-॥  
 योगाभ्यासेन मे रोग उत्पन्न इति कथ्यते ।  
 ततोऽभ्यासं त्यजेदेवं प्रथमं विघ्नमुच्यते ॥ ९८ ॥  
 द्वितीयं संशयार्थ्यं च तृतीयं च प्रमत्तता ।  
 आलस्यार्थ्यं चतुर्थं च निद्रारूपं तु पञ्चमम् ॥ ९९ ॥  
 षष्ठं तु विरतिर्भान्निः सप्तमं परिकीर्तिम् ।  
 विषयं चाष्टमं चैव अनार्थ्यं नवमं स्मृतम् ॥ १० ॥  
 अलब्धिर्योगतत्त्वस्य दशमं प्रोच्यते बुधैः ।  
 इत्येतद्विघ्नदशकं विचारणं त्यजेद्बुधः ॥ ११ ॥

योगाभ्यासंन कुण्डलिनीबोधः

प्राणाभ्यासमतः कार्यो नित्यं सत्त्वाभ्यया धिया ।  
 सुषुप्ता लीयते चित्तं न च वायुः प्रधावति ॥ १२ ॥  
 शुष्के मले 'तु योगी 'च स्याद्विश्वालिता ततः ।  
 अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वं कुरुते बलात् ॥ १३ ॥  
 आकुञ्जनेन तं प्राहुर्मूर्लब्नधोऽयमुच्यते ।  
 अपानश्चोर्ध्वगो भूत्वा वहिना सह गच्छति ॥ १४ ॥  
 प्राणस्थानं ततो वह्निः प्राणापानौ च सत्वरम् ।  
 मिलित्वा कुण्डलीं याति प्रसुप्ता कुण्डलाकृतिः ॥ १५ ॥

<sup>१</sup> चा—अ १.

<sup>२</sup> स्याद्विश्वालिति—क.

तेनाभिना च संतप्ता पवनेनैव चालिता ।

प्रसार्य स्वशरीरं तु सुषुम्नावदनान्तरे ॥ ६६ ॥

एवं सत्वास्थ्या प्राणायामं कुर्वतः चित्तादिकं न चलति । न च कदाऽपि वायुः प्रधावति । केवलकुम्भकतो नाडीगतमले शुष्के सल्यथ सुषुम्नायां प्राणगतिः चालिता स्तम्भिता यदि तदा ततोऽयं योगी स्यादित्यर्थः ॥ ६३-६४ ॥ याति यातः ॥ ६५ ॥ चालिता कुण्डलिनी ॥ ६६-६७ ॥

ग्रन्थित्रयभेदेन कुण्डलिन्याः सहस्रारगमनम्

ब्रह्मग्रन्थं ततो भित्त्वा रजोगुणसमुद्भवम् ।

सुषुम्नावदने शीघ्रं विद्युलेखेव संस्कुरेत् ॥ ६७ ॥

विष्णुग्रन्थं प्रयात्युच्चैः सत्वरं हृदि संस्थिता ।

ऊर्ध्वं गच्छति यच्चास्ते रुद्रग्रन्थं तदुद्धृवम् ॥ ६८ ॥

भ्रुवोर्मध्यं तु संभिद्य याति शीतांशुमण्डलम् ।

अनाहतास्थं यच्चक्रं दृलैः षोडशभिर्युतम् ॥ ६९ ॥

तत्र शीतांशुसंजातं द्रवं शोषयति स्वयम् ।

चलिते प्राणवेगेन रक्तं पित्तं <sup>२</sup>रविर्ग्हात् ॥ ७० ॥

यातेन्दुचक्रं यत्रास्ते शुद्धस्तेष्मद्रवात्मकम् ।

(तत्र सित्कं ग्रसत्युष्णं कथं शीतस्वभावकम्) ॥ ७१ ॥

तथैव रभसा शुक्रं चन्द्ररूपं हि तप्यते ।

ऊर्ध्वं प्रवहति <sup>३</sup>क्षुब्धा तदैवं <sup>४</sup>स्ववतेतराम् ॥ ७२ ॥

<sup>१</sup> वाम्—उ १.

<sup>२</sup> रविग्र—क, अ १, अ २.

<sup>३</sup> क्षुब्ध—क, अ २. क्षुब्ध—अ १.

<sup>४</sup> ब्रमते—क, अ १, अ २.

तस्यास्वादवशाच्चित्तं बहिष्ठं विषमेषु यन् ।

• तदेव परमं भुक्त्वा स्वस्थस्यात्मरतो युवा ॥ ७२ ॥

तदुद्भवं आज्ञाचक्रमूलाद्वयं रुद्रग्रन्थम् ॥ ६८ ॥ दक्षेः षोडशभिर्युतम्—  
प्रधानदल्लान्याद्यौ, तथा उपदल्लानि, आहन्य पांडश ॥ ६९ ॥ यदा प्राणो  
हृदये शीतांशुजं द्रवं शोषयति तदा तत्रयगक्तादौ प्राणवेगेन चलिते सति  
रविः रक्तपित्तादिकं प्रहान् प्रसंत् शोषयेदिन्यर्थः ॥ ७० ॥ ततः प्राणे  
यातेन्दुचक्रमिति ॥ ७१ ॥ स्ववतेतत्गं अमृतवरेत्यर्थः ॥ ७२ ॥ अस्या  
अमृतधारायाः आस्वादवशान् यच्चित्तं विषमेषु विषयेषु उदासीनतया  
बहिष्ठं बहिर्भूतं भवति तदानात्मरतो मुनिः तदेव परमं अमृताख्यं  
हविर्भुक्त्वा स्वस्थः स्यान् । स्वस्थस्यात्मरत इत्यत्र <sup>१</sup>विसर्गतकाराकाराणां  
लोपः ॥ ७३ ॥ •

प्राणादिविलयः, विलीनानां बहिःप्रसरथ

प्रकृत्यष्टकरूपं च स्थानं गच्छति कुण्डली ।

क्रोडीकृत्य शिवं याति क्रोडीकृत्य विलीयते ॥ ७४ ॥

इत्यधोर्घरजः “शुक्ले शिवं तदनु मारुतः ।

प्राणापानौ समौ याति <sup>३</sup>सह जातौ तथैव च ॥ ७५ ॥

भूतेऽल्पे <sup>४</sup>च मनोल्पे वा वाचके त्वतिवर्धते ।

<sup>५</sup>धावयत्यखिला वाता अग्निमूषाहिरण्यवत् ॥ ७६ ॥

<sup>१</sup> तकारलोपः—उ १.

<sup>३</sup> शुक्रं—क, अ १, अ २.

<sup>३</sup> सदा जातौ—सर्वकोशेषु. “सहजातौ” इति पाठस्तु व्याख्यानुसारी.

<sup>४</sup> चमनल्पेत्वे वा च—क, अ १, अ २. चमनल्पेत्व—उ १. चाप्य-  
नल्पेवा वा च—मु.

<sup>5</sup> धावयन्त्य—उ.

ततः किमित्यत आह—प्रकृतीति ।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

इति स्मृत्यनुरोधेन हित्वा स्वात्तप्रकृत्यष्टकरूपम् । सहस्रारस्थानम् । दृच्छनः-प्राणादिकं क्रोडीकृत्य ॥ ७४ ॥ यदा कुण्डलिनी सर्वं क्रोडीकृत्य सहास्तरे विलीयते <sup>१</sup>इत्यथोर्ध्वरजःशुक्रे शिवे इत्यत्र कुण्डलिनीविलयादथोर्ध्वक्षणं सौरं प्राकृतं जीवतत्त्वं रजश्च चान्द्रं ऐश्वरं शुक्रं च रजःशुक्रे सहस्रारालङ्कारे स्वातिरिक्ताशिवप्रासे शिवे परमात्मनि विलीयेते तदनु तदुत्तरक्षणं मारुनोऽपि विलीयते । सहजप्राणादेः कथं विलय इत्यत्र यथा अहोरात्रे सहजे सन्ध्ययोः समे भवतः तथैव सहजातौ सहजौ तुर्यस्वरूपावस्थानलक्षणनिर्विकल्पकावस्थायां प्राणापानौ समौ ऊर्ध्वाधोगतिविरल्लौ निर्व्यापारतां याति यातः । अयमेव प्राणादिविलय इत्यर्थः ॥ ७५ ॥ एवं विलीनप्राणमनोवागादिः कथमन्तर्बाह्ये प्रसरतीत्यत्र बाह्ये स्वातिरेकेण घटायत्यल्पं भवतीति भूतमल्पं तस्मिन् भूते अल्पे च स्मृते प्राणः प्रसरति । स्वातिरेकेण अल्पं वा किञ्चिदस्तीति यन्मनुते तन्मनल्पं मनोल्पं तस्मिन् मनोल्पे सङ्कलिपते सङ्कल्पविकल्पात्मकं मनः प्रसरति । स्वातिरेकेण वाचके तु स्मृते तदा वाग्वृत्तिः प्रसरति । एवं प्राणमनोवागादिरूपनः सन् वर्धते । एवं प्राणादिनिष्पत्तौ सत्यां मूषानिषिक्तद्रुतसुवर्णवदापादमस्तकमखिलाः प्राणादिवाता धावयति धावन्ति आपादमस्तकं व्याप्य वर्तन्ते इत्यर्थः ॥ ७६ ॥

समाधौ सर्वस्य चिन्मात्रत्वानुभवः

आधिभौतिकदेहं तु आधिदैविकविग्रहे ।

देहोऽतिविमलं याति चातिवाहिकतामियात् ॥ ७७ ॥

<sup>१</sup> इत्यत्र यत्थो—उ.

जाड्यभावविनिर्मुक्तममलं चिन्मयात्मकम् ।

० तस्यातिवाहिकं मुख्यं सर्वेषां तु मदात्मकम् ॥ ७८ ॥

जायाभवविनिर्मुक्तिः कालरूपस्य विभ्रमः ।

इति<sup>१</sup> तं स्वस्वरूपा हि मती रञ्जुमुजञ्जन्त् ॥ ७९ ॥

मृषैवोदेति सकलं मृषैव प्रविलीयते ।

रौप्यबुद्धिः शुक्तिकायां स्त्रीपुंमोर्ध्रमतो यथा ॥ ८० ॥

पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं लिङ्गमूत्रात्मनोरपि ।

स्वापाव्याकृतयोरैक्यं स्वप्रकाशचिद्रात्मनोः ॥ ८१ ॥

पुनः समाहितावस्थायां एतत् सर्वं चिन्मात्रपर्यवसन्नं भवतीत्याह—  
आधिभौतिकेति । स्वाज्ञविकलिपतभौतिकदेहमधिकृत्य भवतीत्याधिभौतिकदेहः  
तं तु आधिभौतिकदेहं आत्मानं प्रत्यञ्चं देवमधिकृत्य भवतीत्याधिदैविकविग्रहः  
तस्मिन् आधिदैविकविग्रहे प्रयगभिन्नपरमात्मनि तन्मात्रतया प्रविलापयेत् ।  
ततः पूर्वाधिष्ठितदेहः मलवद्वेषादिभावं विहाय विमलब्रह्मभावमेव याति  
स्वाज्ञविकलिपतप्रपञ्चाधारतया समन्ताद्वृत्तीत्यातिवाहिकतां ब्रह्मतामियादित्यर्थः  
॥ ७७ ॥ यत् स्वातिरिक्तजडशीरादिकमनुभूतं तत् सर्वं जाड्यभाव-  
विनिर्मुक्तममलं चिन्मयात्मकम् । यत् सर्वेषां देहादीनां अधिष्ठेयानां  
आरोपापवादाधिष्ठानं मदात्मकं अस्मत्प्रत्ययालम्बनभूतप्रत्यगभिन्नं ब्रह्म  
तस्यातिवाहिकत्वमेव मुख्यं वास्तवमित्यर्थः ॥ ७८ ॥ यदि ते पराक्षापेक्ष-  
प्रयगभिन्ने ब्रह्मणि सविशेषधीः जायते तदा जनित्वा भवतीति तज्जायाभावः  
सविशेषत्वस्त्रक्तिः । तदपहवसिद्धिः तद्विनिर्मुक्तिः । एवं सविशेषपहवोक्तिरपि  
कालरूपस्य ब्रह्मणो ज्ञानविभ्रमः सर्वापहवसिद्धब्रह्मात्रस्य निष्प्रतियोगिकत्वेन  
स्वातिरिक्तमस्ति नास्तीति विभ्रमपहवोक्तिरप्यपहवतां अर्हतीति भावः ।

<sup>१</sup> दुस्त्र . . . . मति—उ १.

इत्येवं योऽवशिष्यते तं स्वावशेषधिया विदित्वा वेदनसमकालं या  
हि स्वस्वरूपावस्थितिः तन्मतिरेव मुक्तिः ॥ ७९ ॥ तदतिरेकेण स्वाज्ञादशायां  
यददनुभूतं रज्जुभुजङ्गवत्, श्रुतिकायां यथा अनुभूतं इदं रजतमिति  
विपरीतम्रमतः स्त्रीपुंसोः गौप्यबुद्धिवच्च, मृष्टैवोदेति सकलं मृष्टैव  
प्रविलीयते । वस्तुतः स्वाज्ञादित्यष्टिमोहे सत्यसति ब्रह्ममात्रं निष्प्रतियोगि-  
कमवशिष्यत इति फलितोऽर्थः ॥ ८० ॥ कथं पुनः ब्रह्ममात्रमवशिष्यत  
इत्युक्तम् ? व्यष्टिसमष्टिविभागसिद्धिविश्वादिजीवत्रयविराङ्गादीश्वरत्रयभेदसत्त्वादि-  
त्याशङ्क्य, यदि मर्वत्र भेदं मन्यसे तदा व्यष्टिसमष्टिप्रपञ्चतदारोपापवादाधार-  
विश्वादितुरीयान्तस्य विगडादितुर्यान्तेनैक्यं विचिन्तयेदित्याह—पिण्डेति ।  
ऐक्यं विश्वविराङ्गेत्र्योपलक्षणार्थम् । भेदसापेक्षतदैक्यगतसविशेषताऽपाये ब्रह्म  
निष्प्रतियोगिकम्यमात्रमवशिष्यते इत्यर्थः ॥ ८१ ॥

## समाधियोगः

शक्तिः कुण्डलिनी नाम त्रिमतन्तुनिभा शुभा ।

मूलकन्दं फणाग्रेण दष्टा कमलकन्दवत् ॥ ८२ ॥

मुखेन पुच्छं संगृह्य ब्रह्मरन्धसमन्विता ।

पद्मासनगतः स्वस्थो गुदमाकुञ्ज्य साधकः ॥ ८३ ॥

वायुमूर्खगतं कुर्वन् कुम्भकाविष्टमानसः ।

वाय्वाघातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन् ॥ ८४ ॥

ज्वलनाघातपवना<sup>१</sup> घातोरुचिद्वितोऽहिराट् ।

ब्रह्मग्रन्थं ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थं भिनत्यतः ॥ ८५ ॥

<sup>१</sup> घातोरु—बहुकोशेषु.

रुद्रग्रन्थं च भित्तैव कमलानि भिनति षट् ।

• सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते ॥ ८६ ॥

सैवावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृतिकारणा ॥ ८७ ॥

इति ॥

इत्थंभूतज्ञानोपायतथा समाधियोगमाच्छेदे—शक्तिरिति ॥ ८९-८४ ॥

घातेनेल्यत्र घातोरिति छान्दसः ॥ ८९ ॥ पट्टनकालङ्गग्रन्थित्रयभेदनानन्तरं  
इयं कुण्डलिनीशक्तिः शिवेन सह सहस्रारो मोदते ॥ ८६ ॥ स्वविकलिपत-  
भेदग्रपञ्चं ग्रसित्वा निर्विशेषब्रह्मविद्यारूपमासाद्य स्वयमपि निश्च्रियोगिकब्रह्ममात्र-  
पर्यवसन्नेति याऽवस्थोक्ता सैवावस्था पगा विदेहमुक्तिरिति ज्ञेया ।  
सैव निर्वृतिकारणा, तस्याः परमानन्दाविभावहेतुत्वात् । इतिशब्दो  
हठयोगसमाप्त्यर्थोऽध्यायपरिसमाप्त्यर्थक्ष ॥ ८७ ॥

इति प्रथमोऽध्यायः

## द्वितीयोऽध्यायः

खेचरीविद्या

अथाह संप्रवक्ष्यामि विद्यां खेचरिसंज्ञिकाम् ।

यथा <sup>१</sup>विज्ञातवानस्य लोकेऽस्मिन्नजरामरः ॥ १ ॥

मृत्युव्याधिजराप्रस्तो दृष्ट्वा विद्यामिमां मुने ।

बुद्धिं दृढतरां कृत्वा खेचरीं तु समन्यसेत् ॥ २ ॥

<sup>1</sup> विज्ञान—अ २.

जरामृत्यु<sup>१</sup>गदघो यः खेचरीं वेति भूतले ।  
 ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव तदभ्यासप्रयोगतः ॥ ३ ॥  
 तं मुने सर्वभावेन गुरुं मत्वा समाश्रयेत् ।  
 दुर्लभा खेचरी विद्या तदभ्यासोऽपि दुर्लभः ॥ ४ ॥  
 अभ्यासं मेलनं चैव युगपन्नैव सिद्ध्यति ।  
 अभ्यासमात्रनिरता न विन्दन्ते ह मेलनम् ॥ ५ ॥  
 अभ्यासं लभते ब्रह्मन् जन्मजन्मान्तरे क्वचित् ।  
 मेलनं जन्मनां ततु शतान्तेऽपि न लभ्यते ॥ ६ ॥  
 अभ्यासं बहुजन्मान्ते कृत्वा तद्वावसाधितम् ।  
 मेलनं लभते कश्चिद्योगी जन्मान्तरे क्वचित् ॥ ७ ॥  
 यदा तु मेलनं योगी लभते गुरुवक्षतः ।  
 तदा तत्सिद्धिमाप्नोति <sup>२</sup>यदुक्ता शाक्षसंततौ ॥ ८ ॥  
 ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव मेलनं लभते यदा ।  
 तदा शिवत्वमाप्नोति निर्मुक्तः सर्वसंस्तुतेः ॥ ९ ॥  
 शाक्षं विनाऽपि संबोहुं गुरवोऽपि न शक्युः ।  
 तस्मात्सुदुर्लभतरं <sup>३</sup>लभ्यं शाक्षमिदं मुने ॥ १० ॥  
 यावत्त लभ्यते शाक्षं तावद्वां पर्यटेद्यतिः ।  
 यदा संलभ्यते शाक्षं तदा सिद्धिः करे स्थिता ॥ ११ ॥

<sup>१</sup> गदा—उ, उ १.<sup>२</sup> यदुक्तं—उ, उ १.<sup>३</sup> लभ्य—उ, उ १.

न शास्त्रेण विना सिद्धिर्दृष्टा चैव जगत्स्ये ।

१ तस्मान्मेलनदातारं शास्त्रदातारमच्युतम् ॥ १२ ॥

तदभ्यासप्रदातारं शिवं मत्वा समाश्रयेत् ।

लब्ध्वा शास्त्रमिदं <sup>१</sup>महमन्येषां न प्रकाशयेत् ॥ १३ ॥

तस्मात्सर्वप्रथमेन गोपनीयं विजानता ।

यत्रास्ते च गुरुर्ब्रह्मन्दिव्ययोगप्रदायकः ॥ १४ ॥

तत्र गत्वा च <sup>२</sup>तेनोक्तविद्यां संगृह्य खेचरीम् ।

<sup>३</sup>तेनोक्तः सम्यगभ्यासं कुर्यादादावतन्द्रितः ॥ १५ ॥

अनया विद्यया योगी खेचरीसिद्धिभागभवेत् ।

खेचर्या खेचरीं युज्ञन् खेचरीबीजपूरया ॥ १६ ॥

खेचराधिपतिर्भूत्वा खेचरेषु सदा वसेत् ।

ज्ञानसहितहठ्योगसर्वस्वं प्रतिपाद्य सप्रपञ्चं लम्बिकायोगमाच्छेऽ  
अथेति । यथा यथावत् ॥ १-१२ ॥ मह्यं मत्तः ॥ १३-१५ ॥  
हीमित्यादिखेचरीबीजपूरया

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी सदा वर्तते

दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ।

मुद्रेयं खलु खेचरी भवति सा लक्ष्यैकताना दिवा

शून्याशून्यविवर्जितं स्फुरति सा तत्त्वं पदं वैष्णवि ॥

इति श्रुतिसिद्धखेचरीमुद्रया खेचरीयोगं युज्ञन् यः कालं नयति ॥ १६ ॥ स  
योगी देहान्ते खेचराधिपतिः सूर्यो भूत्वा खेचरेषु खेचरणीयलोकेषु  
सदा वसेत् ॥

<sup>१</sup> युज्ञ—क

<sup>२</sup> तेनोक्तं—क, अ १, अ २, उ १.

<sup>३</sup> तेनोक्त—अ १.

खेचरीमन्त्रराजोद्धारः

खेचरावसं वह्निमन्त्रुमण्डलभूषितम् ॥ १७ ॥

आरूप्यातं खेचरीबीजं तेन योगः प्रसिद्ध्यति ।

सोमांशनवकं वर्णं प्रतिलोमेन चोद्धरेत् ॥ १८ ॥

तस्मात् त्र्यं<sup>१</sup>शक्मारूप्यातमक्षरं चन्द्रस्त्रपकम् ।

तस्मादप्यष्टमं वर्णं विलोमेनापरं मुने ॥ १९ ॥

<sup>२</sup>तथा तत्परमं विद्धि तदादिरपि पञ्चमा ।

इन्दोश्च बहुभिन्नं च कूटोऽयं परिकीर्तिः ॥ २० ॥

मेळनमन्त्रराजमुद्धरति—खेचरेति । खवाचकतया चरतीति खेचरः हकारः आवस्थमिति धारणाशक्तिरीकारः रेति वह्निः अम्बुमण्डलमिति बिन्दुः । एतत् सर्वं मिळित्वा भूषितं हीमिति ॥ १७ ॥ खेचरीबीजं आरूप्यातम् । तेनैव लम्बिकायोगः प्रसिद्ध्यति । शिष्ठबीजषट्कमप्यम्बुमण्डल-भूषितमिति इत्येत् । सोमांशः सकारः चन्द्रबीजं तत्प्रतिलोमेन तन्नवकं वर्णमुद्धरेत् भमिति ॥ १८ ॥ तस्मान् भक्तागदनुलोमेन त्रित्र्यंशकं चन्द्रबीज-मारूप्यातं समिति । तस्मान् सकागत् विलोमेन अपरमष्टमं वर्णमुद्धरेत्<sup>३</sup>भमिति ॥ १९ ॥ तथा मकागत् विलोमेन अपरं पञ्चमवर्णं<sup>४</sup>भमिति विद्धि । पुनरिन्दोश्च बीजं समित्युद्धरेत् । बहुभिः ककारप्रकारबिन्दुभिः युक्तोऽयं कूटः क्षमिति । आहत्य बीजानि सप्त—हाँ, भं, सं, मं, पं, सं, क्षं, इति ॥ २०-२१ ॥

मन्त्रजपात् खेचरीसिद्धिः

गुरुपदेशलभ्यं च सर्वयोगप्रसिद्धिदम् ।

यत्तस्य देहजा माया निरद्धकरणाश्रया ॥ २१ ॥

<sup>१</sup> वक—क. <sup>२</sup> तदा—क, अ १, अ २, उ १. <sup>३</sup> ष—उ १. <sup>४</sup> ष—उ १.

स्वप्रेऽपि न लभेत्स्य नित्यं द्वादशानप्यतः ।

• य इमां पञ्च लक्षणाणि जपेदपि सुयन्त्रितः ॥ २२ ॥

तस्य श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते ।

नश्यन्ति सर्वविज्ञानि प्रसीदन्ति च देवताः ॥ २३ ॥

वलीपलितनाशश्च भविष्यति न संशयः ।

एवं लब्ध्वा महाविद्यामन्याम् कारयेत्ततः ॥ २४ ॥

अन्यथा क्षित्यते<sup>१</sup> ब्रह्मन् सिद्धिः खेचरीपथे ।

यदन्यासविधौ विद्यां न लभेद्यः सुधामयीम् ॥ २५ ॥

ततः संमेलकादौ च लब्ध्वा विद्यां सदा जपेत् ।

नान्यथा रहितो ब्रह्मन् किंचित्सिद्धिभागभवेत् ॥ २६ ॥

<sup>२</sup>यदिदं लभ्यते शास्त्रं तदा विद्यां समाश्रयेत् ।

ततस्तदोदितां सिद्धिमाशु तां लभते मुनिः ॥ २७ ॥

नित्यं द्वादशवारं यो जपति स मायातीतो भवतीत्यर्थः ॥ २२-२७ ॥

#### खचयन्यासकमः

तालुमूलं समुत्कृष्य सप्तवासरमात्मवित् ।

स्वगुरुकृपकारेण मलं सर्वं विशोधयेत् ॥ २८ ॥

स्तुहिपत्रनिभं शास्त्रं सुतीक्ष्णं स्त्रिगधनिर्मलम् ।

सपादाय ततस्तेन लोममात्रं समुच्छनेत् ॥ २९ ॥

<sup>१</sup> ब्रह्म न—क.

<sup>२</sup> यदि तं—अ १.

हित्वा सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रकर्षयेत् ।  
 पुनः सप्तदिने प्रासे रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३० ॥  
 एवं क्रमेण षाण्मासं नित्योद्युक्तः समाचरेत् ।  
 षाण्मासाद्रसनामूलं सिराबन्धं प्रणश्यति ॥ ३१ ॥  
 अथ वागीश्वरीधाम शिरो वस्त्रेण वेष्टयेत् ।  
 शैनैरुत्कर्षयेद्योगी कालवेलाविधानवित् ॥ ३२ ॥  
 पुनः षाण्मासमात्रेण नित्यं संघर्षणान्पुने ।  
 भ्रूमध्यावधि चाप्येति तिर्यक्कर्णबिलावधि ॥ ३३ ॥  
 अधश्च चुबुकं मूलं प्रयाति क्रम<sup>१</sup>चारिता ।  
 पुनः संवत्सराणां तु तृतीयादेव लीलया ॥ ३४ ॥  
 केशान्तमूर्च्चं क्रमति तिर्यकशाखाऽवधिमुने ।  
 अधस्तात्कण्ठकूपान्तं पुनर्वर्षत्रयेण तु ॥ ३५ ॥  
 ब्रह्मरन्धं समावृत्य तिष्ठेदेव न संशयः ।  
 तिर्यक् चूलितलं याति अधः कण्ठबिलावधिः ॥ ३६ ॥  
 शैनः शैनैर्मस्तकाच्च महावज्रकवाटभित् ।  
 पूर्वं बीजयुता विद्या ह्याख्याता याति दुर्लभाम् ॥ ३७ ॥  
 तस्याः षड्ङ्घं कुर्वीत तया षट्स्वरभिन्नया ।  
 कुर्यादेवं करन्यासं सर्वसिद्धचादिहेतवे ॥ ३८ ॥  
 शैनैरेवं प्रकर्तव्यमन्यासं युगपन्न हि ।  
 युगपद्वर्तते यस्य शरीरं विलयं ब्रजेत् ॥ ३९ ॥

<sup>१</sup> चारितां—क. चारितः—अ १, अ २.

तस्माच्छैः शैः कार्यमन्यासं मुनिपुङ्गव ।

• यदा च बाह्यमार्गेण जिह्वा ब्रह्मविलं ब्रजेत् ॥ ४० ॥

तदा ब्रह्मार्गलं ब्रह्मन्दुर्भेदं त्रिदर्शैरपि ।

अमूल्यग्रेण संघृष्य जिह्वामात्रं निवेशयेत् ॥ ४१ ॥

एवं वर्षत्रयं कृत्वा ब्रह्मद्वारं <sup>१</sup>प्रविश्यति ।

ब्रह्मद्वारे प्रविष्टे तु सम्यङ्गमथनमाचरेत् ॥ ४२ ॥

मथनेन विना केचित्साधयन्ति विपश्चितः ।

खेचरीमन्त्वसिद्धस्य सिद्ध्यते मथनं विना ॥ ४३ ॥

जपं च मथनं चैव कृत्वा शीघ्रं फलं लभेत् ।

स्वर्णजां रौप्यजां वाऽपि लोहजां वा शलाकिकाम् ॥ ४४ ॥

नियोन्यं नासिकारन्धं दुग्धसिक्तेन तन्तुना ।

<sup>२</sup>प्राणान्तिरुद्ध्य हृदये सुखमासनमात्मनः ॥ ४५ ॥

शैः सुमथनं कुर्याङ्गूमध्ये न्यस्तचक्षुषि ।

<sup>३</sup>षाण्मासान्मथनावस्थाभावेनैव प्रजायते ॥ ४६ ॥

यथा सुषुप्तिर्बालानां यथा भावस्तथा भवेत् ।

न सदा मथनं शस्तं मासे मासे समाचरेत् ॥ ४७ ॥

सदा रसनया योगी मार्गं न परिसंक्रमेत् ।

एवं द्वादशवर्षान्ते संसिद्धिर्भवति <sup>४</sup>ध्रवा ॥ ४८ ॥

<sup>१</sup> प्रप—क.

<sup>३</sup> षाण्मासं म—क, अ २.

<sup>२</sup> प्राणं नि—क, अ १, अ २.

<sup>४</sup> ध्रुवं—अ २.

शरीरे सकलं विश्वं पश्यत्यात्माविभेदतः ।  
ब्रह्माण्डोऽयं महामार्गो राजदन्तोर्ध्वकुण्डली ॥ ४९ ॥

इति ॥

अभ्यासक्रमपाह—तालिवति ॥ २८—२९ ॥ कार्यान्तरं हित्वेति । हरीतकी पथ्याशब्दार्थः ॥ ३०—३१ ॥ वागीश्वरीधामशिरः जिह्वाप्रम् ॥ ३२—३४ ॥ तिर्यकच्छाखावधिः शिखामूलमित्यर्थः ॥ ३५—३६ ॥ दुर्लभां दुर्लभताम् ॥ ३७ ॥ षट्स्वरभिन्नया हां हीं इत्यादिनेत्यर्थः ॥ ३८—४० ॥ ब्रह्मार्गाङ्गं अन्तजिह्वासुषिरम् ॥ ४१—४७ ॥ एवं गुरुमुखात् लम्बिकाविद्यां अभ्यस्य द्वादशवर्षानुष्ठानात् लम्बिकायोगसिद्धिः भवति ॥ ४८ ॥ शरीरे सकलं विश्वं पश्यतीत्यनेन विराटसूत्रबीजतुर्यरूपं क्रमेण प्रतिपद्यते । यत्र सहस्रारे राजदन्तोर्ध्वकुण्डली जिह्वा प्रसरति सोऽयं मार्गः ब्रह्माण्डनिमो भवति, सुपथत्वात् । इतिशब्दः लम्बिकायोगसमाप्त्यर्थः, द्वितीयाध्यायसमाप्त्यर्थश्च भवति ॥ ४९ ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः

## तृतीयोऽध्यायः

मेळनमन्तः

हीं <sup>१</sup>भं सं <sup>२</sup>मं <sup>३</sup>पं सं क्षम् ।

मेळनमनुं कण्ठतः पठति—हीमिति ।

<sup>१</sup> हं—अ २.

<sup>२</sup> षं—उ १.

<sup>३</sup> फं—उ १. वं—अ १. यं—अ २.

अमावास्याप्रतिपत्त्यूर्णिमाभंदन दृष्टिभेदः

पृथग् उवाच—

अमावास्या च प्रतिपत्पौर्णिमासी च शंकर ।

अस्याः का वर्ण्यं संज्ञा एतदाख्याहि तत्त्वतः ॥ १ ॥

प्रतिपदिनतोऽकाले अमा<sup>१</sup>वास्या तथैव च ।

पौर्णिमास्यां स्थिरीकुर्यात्स च पन्था हि नान्यथा ॥ २ ॥

दृष्टित्रयतहल्क्षयाथार्थ्यबुभुत्सया शिवं प्रति ब्रह्मा पृच्छतीत्याह—पद्मज  
इति ॥ १ ॥ प्रश्नोत्तरं भगवानाह—प्रतिपदिति । वायमव्यान्तर्लक्ष्यदर्शनकरणं  
मनस्सहकृतदृष्टिः । अमादिभेदेन सेयं त्रिधा भिद्यते । तत्र गाढनिमीलनदृष्टिरमा,  
अधोन्मीलनदृष्टिः प्रतिपत्, सर्वोन्मीलनदृष्टिः पूर्णिमा भवति । लक्ष्यदर्शने  
पूर्णिमादृष्टिः प्रशस्यते । अभ्यासकाले यदि नेत्रश्रमो भवति तदा प्रति-  
पदिनतोऽकाले प्रतिपद्मृष्याऽवलोकयेत् अमादृष्या वा । यदा जितश्रमो भवति  
तदा पूर्णिमादृष्टिमेव स्थिरीकुर्यात्,

कदाचित् पूर्णिमादृष्या कदाचित् प्रतिपद्मृशा ।

अमादृष्या कदाचिच्च निर्विमेनावलोकयेत् ॥

इति ब्रह्मप्रणवोक्तेः । प्राणापाना[णायामा]द्यपेक्ष्या अयमेव पन्थाः  
वरीयानित्यर्थः ॥ २ ॥

पूर्णिमादृष्टिविधिः

कामेन विषयाकाङ्क्षी विषयात्काममोहितः ।

द्वावेव संत्यजेन्नित्यं निरञ्जनमुपाश्रयेत् ॥ ३ ॥

<sup>१</sup> वास्यां—अ १.

अपरं संत्यजेत्सर्वं यदिच्छेदात्मनो हितम् ।  
 शक्तिमध्ये मनः कृत्वा मनः शक्तेश्च मध्यगम् ॥ ४ ॥  
 मनसा मन आलोक्य तत्यजेत्परमं पदम् ।  
 मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्तिस्थितिकारणम् ॥ ५ ॥  
 मनसोत्पद्यते बिन्दुर्यथा क्षीरं धृतात्मकम् ।  
 न च बन्धनमध्यस्थं तद्वै <sup>१</sup>कारणमा<sup>२</sup>नसम् ॥ ६ ॥  
 चन्द्रार्कमध्यमा शक्तिर्यत्रस्था तत्र बन्धनम् ।  
 ज्ञात्वा सुषुम्ना तद्देहं कृत्वा वायुं च मध्यगम् ॥ ७ ॥  
<sup>३</sup>स्थित्वाऽसौ बैन्दवस्थाने ग्राणरन्धे निरोधयेत् ।  
 वायुं बिन्दुं समाख्यातं सत्वं प्रकृतिमेव च ॥ ८ ॥  
 षट् चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत्सुखमण्डलम् ।  
 मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरं तृतीयकम् ॥ ९ ॥  
 अनाहतं विशुद्धिं च आज्ञाचक्रं च षष्ठकम् ।  
 आधारं गुदमित्युक्तं स्वाधिष्ठानं तु लैङ्घ्यकम् ॥ १० ॥  
 मणिपूरं नाभिदेशं हृदयस्थमनाहतम् ।  
 विशुद्धिः कण्ठमूले च आज्ञाचक्रं च मस्तकम् ॥ ११ ॥

विषयविषयिकलनात्यागपूर्वकं पूर्णिमादृष्ट्या ब्रह्माहमिति लक्षयेत्  
 इत्याह—कामेनेति ॥ ३ ॥ किंच—शक्तिमध्ये । कुण्डलिनीशक्तिमध्ये  
 पूर्णिमादृष्टिकलितं मनः कृत्वा पुनः शक्तेश्च मध्यगं मनोऽपि कृत्वा

<sup>१</sup> करण—क, अ १, अ २.

<sup>२</sup> सनं—क.

<sup>३</sup> स्थित्वा तु—उ, उ १.

ब्रह्माकारपरिणतमनसा मनस्तत्कार्यापवादाधिकरणं ब्रह्मास्मीत्यालोक्य एव-  
मालोकनवृत्तिमपि सन्त्यजेदिति यत् तदेव हि परमं पदं—केवल्यमित्यर्थः  
॥ ४ ॥ किं तन्मनः “इत्यत आह—मन इति । मनसः व्यष्टिपञ्चो-  
त्पत्त्यादिकारणत्वात् तदेव विन्दुरीश्वरः,” “विन्दुरीश्वरसंज्ञः” इति  
श्रुतेः ॥ ५ ॥ यद्वा—मनसोत्पद्यते विन्दुः विन्दादिकल्पनाया मनोहेतुकत्वात्  
मनःकार्यत्वं, “सेशं मया कलिपतं” इति भगवत्पादाचार्योऽते: । यथा  
क्षीरं घृतात्मकं तथा विन्दुः मनआत्मकमित्यर्थः । मनोबद्धमीश्वरतत्त्वं  
इत्यत्राह—नचेति । स्वसङ्कल्पतो बन्धनमेतीति बन्धनं मनः नच  
विन्दुतत्त्वं बन्धनमध्यस्थं मनसो मृषात्वात् । नापि तद्वै तदेव  
स्वकारणमानसवत् भवति, मानसापाये विन्दोः ईश्वरस्य निर्विशेष-  
ब्रह्ममात्रत्वात् ॥ ६ ॥ ईश्वरादतिरिक्तमेव बन्धनमित्याह—चन्द्रेति । ब्रह्मरन्ध्र-  
मूलाधारासनचन्द्रार्कमध्यमा शक्तिः कुण्डलिनी यत्र तिष्ठति तत्र बन्धनं  
मनोऽस्तीति ज्ञात्वा । स्वातिरिक्तकुण्डलीकार्यं मनोबन्धनमिति ज्ञात्वा  
तदुन्मूलनाय यत् सुषुप्तायां ग्रन्थित्रयं विद्यते तद्वेदं कृत्वा प्राणादिकमपि  
तत्सुषुप्ता मध्यगं कृत्वा ॥ ७ ॥ बैन्दवस्थाने भूमध्यादौ विन्दाख्ये-  
श्वरोऽस्मीति स्थित्वा वायुं स्थिरीकृत्य प्राणरन्धे निरोधयेत् केवलकुन्भकमेव  
कुर्यात् इत्यर्थः । प्राणादीन् ज्ञात्वा योगानन्दं विशेदित्याह—वायुमिति ॥ ८ ॥  
कानि षट्चक्राणीत्यत आह—मूलेति ॥ ९-१२ ॥

प्राणाभ्यासात् विराङूपापत्तिः

षट् चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत्सुखमण्डले ।

प्रविशेद्वायुमाकृत्य <sup>१</sup>तयैवोर्ध्वं नियोजयेत् ॥ १२ ॥

एवं समभ्यसेद्वायुं स ब्रह्माण्डमयो भवेत् ।

वायुं विन्दुं तथा चक्रं चित्तं चैव समभ्यसेत् ॥ १३ ॥

<sup>१</sup> तये—अ.

एवं प्राणाभ्यासात् विगड्हो भवतीत्यर्थः । वायु . . . समभ्यसेत्  
चित्तप्राणावेकीकृत्य षट्चक्रेषु बिन्दुध्यांनपूर्वकं योगमभ्यसेदित्यर्थः ॥ १३ ॥

अभ्यासयोगेन विना न स्वात्मप्रकाशः

समाधिमेकेन समममृतं यान्ति योगिनः ।

यथाऽग्निर्दीरुमध्यस्थो नोत्तिष्ठेन्मथनं विना ॥ १४ ॥

विना चाभ्यासयोगेन ज्ञानदीपस्तथा न हि ।

घटमध्यगतो दीपो बाह्ये नैव प्रकाशते ॥ १९ ॥

भिन्ने तस्मिन्नेटे चैव दीपज्वाला च भासते ।

स्वकायं घटमित्युक्तं यथा दीपो हि तत्पदम् ॥ १६ ॥

एकेन निर्विकल्पयोगेन समं सर्वसाम्यं समाधिं ब्रह्म अमृतं योगिनो  
यान्ति । एवमभ्यासयोगं विना स्वात्मा न प्रकाशते इति सदृष्टान्तमाह—  
यथेति ॥ १४—१९ ॥ स्वकायो घटस्थानीय इत्युक्तः ॥ १६ ॥

गुरुपदशात् ब्रह्मज्ञानम्

गुरुवाक्यसमा भिन्ने ब्रह्मज्ञानं स्फुटीभवेत् ।

कर्णधारं गुरुं प्राप्य कृत्वा सूक्ष्मं तरन्ति च ॥ १७ ॥

अभ्यासवासनाशक्त्या तरन्ति भवसागरम् ।

गुरुवाक्यसमं स्वाज्ञानावरणे भिन्ने अथ ब्रह्मज्ञानम् । गुरुं प्राप्य  
तदुपदिष्टार्थं नौकां कृत्वा ॥ १७ ॥

वाग्वृत्याधिष्ठानं ब्रह्म

परायामंकुरी<sup>१</sup>भूय पश्यन्त्यां द्विदलीकृता ॥ १८ ॥  
 मध्यमायां मुकुलितो वैखर्यां विकल्पीकृता ।  
 पूर्वं यथोदिता या वाग्विलोमेनास्तगा भवेत् ॥ १९ ॥  
 तस्या वाचः परो देवः कूटस्थो वाकप्रबोधकः ।  
 सोऽहमस्मीति निश्चित्य यः सदा वर्तते पुमान् ॥ २० ॥  
 शब्दैरुच्चावचैर्नाचैर्भाषि<sup>२</sup>तोऽपि न लिप्यते ।

व्यावहारिकप्रपञ्चदृष्टीनां भवसागरतारणं कथमियाशङ्क्य व्यावहारिक-  
 प्रपञ्चनिर्वाहकवाग्वृत्तिसम्भूतिस्थितिप्रलयाधिष्ठानब्रह्मज्ञानतो निर्लिप्तो भूत्वा  
 लीलया भवसागरपारब्रह्मपदं यान्तीयाह—परायामिति । वाग्वृत्तिः

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि  
 तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।  
 गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति  
 तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

इति श्रुत्यनुरोधेन मूलाधारस्थपरायां अङ्गकुरीभूय । अनाहतस्थपश्यन्त्याम्  
 ॥ १८ ॥ विशुद्धिचक्रस्थमध्यमायां, आस्यस्यवैखर्याम् ॥ १९-२० ॥

विश्वादिप्रपञ्चाधिष्ठानं ब्रह्म

विश्वश्च तैजसश्चैव प्राज्ञश्चेति च ते त्रयः ॥ २१ ॥  
 विराहिरण्यगर्भश्च ईधरश्चेति ते त्रयः ।  
 ब्रह्माण्डं चैव पिण्डाण्डं लोका भूरादयः क्रमात् ॥ २२ ॥

<sup>१</sup> अथ—॥

<sup>२</sup> तैष—अ.

स्वस्वोपाधिलयादेव लीयन्ते प्रत्यगात्मनि ।

अण्डं ज्ञानाग्निना तसं लीयते कारणैः सहृ ॥ २३ ॥ १

परमात्मनि लीनं तत्परं ब्रह्मैव जायते ।

व्यष्टिसमष्टिप्रपञ्चसापेक्षविश्वविराङ्गादिभेदे सति कथं विद्वान् भवसागरपार-  
ब्रह्मतया अवशिष्यते इत्याशङ्कय यदि ते स्वातिरेकेण साधारव्यावहारिक-  
प्रपञ्चोऽस्तीति भ्रान्तिस्तदा स्वज्ञानतः स्वज्ञानप्रपञ्चो विलीयते, तद्विलयाधिकरणं  
स्वातिरिक्तासम्भवब्रह्ममात्रज्ञानेन निरधिकरणं सत् निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमव-  
शिष्यते इत्याह—विश्वश्वेति ॥ २१-२३ ॥ स्वाज्ञदृष्टिविकल्पितस्वातिरिक्तं  
स्वज्ञदृष्टया विलीनं सत् परमार्थदृष्टया ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ॥

निष्प्रतियोगिकं ब्रह्म

ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ॥ २४ ॥

अनाख्यमनभिव्यक्तं सर्त्किंचिद्विशिष्यते ।

परमार्थदृष्टया कथं तद्वाल भवतीत्यत्राह—तत इति । यतः  
स्वाज्ञादिदृष्टया स्वातिरिक्तप्रपञ्चः तदपवादोऽपि भवति ततो वस्तुयाथार्थ्य-  
दर्शनात् निर्गुणनिरवयवव्योमवत् स्तिमितगम्भीरं भूतभौतिकतेजस्तमः-  
परिच्छेदासम्भवात् न तेजो न तमस्ततम् ॥ २४ ॥ तथा नामरूपासम्भवात्  
अनाख्यमनभिव्यक्तं स्वाज्ञादिदृष्टिमोहे सत्यसति सत् किञ्चिद्विशिष्यते,  
“ब्रह्ममात्रमसन्न हि” इति श्रुतेः ॥

ब्रह्मसिद्धयुपायभूतं ध्यानम्

ध्यात्वा मध्यस्थमात्मानं कलशान्तरदीपवत् ॥ २५ ॥

अङ्गुष्ठमात्रमात्मानमधूमज्योतिरूपकम् ।

प्रकाशयन्तमन्तस्थं ध्यायेत्कूटस्थमव्ययम् ॥ २६ ॥

विज्ञानात्मा तथा देहे जाग्रत्स्वभसुषुप्तिः ।

० मायया मोहितः पश्चाद्द्वजन्मान्तरे पुनः ॥ २७ ॥

सत्कर्मपरिपाकात् स्वविकारं चिकीर्षति ।

कोऽहं कथमयं दोषः संसारात्य उपागतः ॥ २८ ॥

जाग्रत्स्वमे व्यवहरन्त्सुषुप्तौ क गतिर्मम ।

इति चिन्तापरो भूत्वा स्वधासा च विशेषतः ॥ २९ ॥

अज्ञानात् चिदाभासो बहिस्तापेन तापिनः ।

दग्धं भवत्येव तदा तूलपिण्डमिवाग्निना ॥ ३० ॥

दहरस्थः प्रत्यगात्मा नष्टे ज्ञाने ततः परम् ।

विततो व्याप्य विज्ञानं दहत्येव क्षणेन तु ॥ ३१ ॥

मनोमयज्ञानमयान् सम्यग्दग्धवा क्रमेण तु ।

घटस्थदीपवच्छधदन्तरेव प्रकाशते ॥ ३२ ॥

एवं निष्प्रतियोगिकब्रह्मात्रसिद्धुपायमाह—ध्यात्वेति ॥ ३५-३६ ॥  
स्वेन रूपेण विज्ञानात्मा परमात्माऽपि स्वातिरिक्तात्मात्मीयाभिमानतः संसरति,  
अनेककोटिजन्मसुकृतपरिपाकवशात् प्रत्यगभिमुखो भवति, ततः स्वाङ्ग-  
विकल्पितप्रपञ्चकलनाविरल्पविदेहमुक्तात्मरूपतया अवशिष्यते इत्याह—  
विज्ञानात्मेति ॥ २७-३३ ॥

जीवन्मुक्तिविदेहसुकृ

ध्यायन्वास्ते मुनिश्वैवमा सुसेरा मृतेस्तु यः ।

जीवन्मुक्तः स विजेयः स धन्यः कृतकृत्यवान् ॥ ३३ ॥

जीवन्मुक्तेदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।

विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥ ३४ ॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं तदेव शिष्यत्यमलं निरीमयम् ॥ ३५ ॥

इत्युपनिषद् ॥

स्वदेहे रूद्धमूर्द्धेहाभिमाने कालसात्कृते विरूपविलयं गते सत्यथ  
देहादावात्मात्मीयाभिमानासम्भवप्रवोधसमकालमस्पन्दपवनाकाशावद्विदे हमुक्तत्वं  
विशति विदेहमुक्तः स्वमात्रमवशिष्यते इत्यर्थः ॥ ३४ ॥ शब्दादिप्रपञ्चे  
सूति विदेहमुक्तस्य स्वात्ममात्रता कथमियत आह —अशब्दभिति । सर्वापहवसिद्ध-  
विदेहमुक्तस्वरूपं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिन्यत्र न विवादः । यदि  
स्वाज्ञदृष्ट्या शब्दादिविकारः स्यात् तदा स्वाज्ञदृष्ट्या शब्दादिविलयाधिकरणम-  
शब्दादिविशेषणविशिष्टं भवति, तदेव परमार्थदृष्ट्या निष्प्रतियोगिकस्वमात्रं  
अवशिष्यते इत्यर्थः ॥ ३५ ॥ इत्युपनिषच्छङ्कः योगकुण्डल्युपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥

इति तृतीयोऽध्यायः

श्रीवासुदेवेन्द्रशिर्योपनिषद्व्याघोगिना ।

योगकुण्डल्युपनिषद्व्याख्यात्यानं लिखितं स्फुटम् ।

कुण्डल्युपनिषद्व्याख्याग्रन्थस्तु द्विशतं स्मृतः ॥

इति श्रीमदीशाद्यश्वेतशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे षडशीतिसंख्यापूरकं

योगकुण्डल्युपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

# योगचूडामण्युपनिषत्

आप्यायन्तु इति शान्तिः

यागाङ्गधर्मम्

योगचूडामणिं वक्ष्ये योगिनां हितकाम्यया ।

कैवल्यसिद्धिं गूढं सेवितं योगवित्तमैः ॥ १ ॥

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।

ध्यानं समाधिरेतानि योगज्ञानि भवन्ति षट् ॥ २ ॥

एकं सिद्धासनं प्रांकं द्वितीयं कमलासनम् ।

मूलाधारादिष्टचक्रसहस्रारोपरिस्थितम् ।

<sup>१</sup>योगज्ञानमुख्यफलं रामचन्द्रपदं भजे ॥

इह खलु सामवेदप्रविभक्तेयं योगचूडामण्युपनिषत् षडंगयोगापाय-  
प्रदर्शनपूर्वकं निष्प्रतियोगिकब्रह्मात्रपर्यवसन्ना विजयते । अस्याः स्वल्पप्रन्थतो  
विवरणमागम्यते । स्वाज्ञलोकमुहिष्य श्रुतिरेवमाह—योगैति । योगचूडामणिं  
योगश्रेष्ठमित्यर्थः । कथमस्य चूडामणित्वं? इत्यत्राह—कैवल्येति । अस्य  
कैवल्यफलतया योगवित्तमसेवितत्वात् चूडामणित्वं युज्यते इत्यर्थः ॥ ३ ॥

<sup>१</sup> योगज्ञानैकफलकं—इति च पाठः—योगज्ञानं शु—क.

गीरणपूर्वामण्युपनिषद्

यमनियमसाधनस्त्वपन्नानां षडंगयोगः उच्यते—आसनमिति ॥ २ ॥  
आदावासनमुद्दिशति—एकमिति । प्रोक्तं सिद्धप्रभासनलक्षणस्य त्रिदिशिक-  
ब्राह्मणोपनिषदि प्रकाशितस्वात् ॥

योगसिद्धये आवश्यकं दहतस्त्वज्ञानम्

पृथृचक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ॥ ३ ॥

खदेहे यो न जानाति तस्य सिद्धिः कथं भवेत् ।

देहतस्त्वज्ञानं विना देहे सिद्धिः कथं स्यादिल्याक्षिपति—षट्चक्रमिति ।  
मूलाधारादिशद्वक्रम् । मूलाधारत्रिकोणमाभ्य षोडशान्तावधि षोडशाधारं  
विद्यते । तदाजयोगसारे प्रसिद्धम् । ब्राह्मण्यान्तर्भेदेन त्रिलक्ष्यम् । आकाशादि-  
परमाकाशान्तं व्योमपञ्चकम् ॥ ३ ॥ शिष्टं स्पष्टम् ॥

मूलाधारादिचक्रकाणि

चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षड्दलम् ॥ ४ ॥

नाभे दशदलं पद्मं हृदयं द्वादशारकम् ।

षोडशारं विशुद्धारब्यं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा ॥ ५ ॥

सहस्रदलसंख्यातं ब्रह्मरन्धे महापथि ।

यत् त्वया पृष्ठं तत् मूलाधारादिसहस्रागान्तेष्वन्तर्भवतीत्याह—  
चतुर्दलमिति ॥ ४-५ ॥

योनिस्थानं परमज्योतिर्दर्शनम्

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ॥ ६ ॥

योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते ।

कामारब्यं तु गुदस्थाने पङ्कजं तु चतुर्दलम् ॥ ७ ॥

<sup>१</sup> मध्यं विदलं—उ.

तन्मध्ये प्रोक्ष्यते योनिः कामाख्या सिद्धेवन्दिता ।

० तस्य मध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखं स्थितम् ॥ ८ ॥

नामौ तु मणिवद्विम्बं यो जानाति स योगवित् ।

तस्त्रामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ॥ ९ ॥

त्रिकोणं तत्पुरं वहेरधोमेद्वाप्रतिष्ठितम् ।

समाधौ परमं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ १० ॥

तस्मिन्वृष्टे महायोगे यातायातो न विद्यते ।

प्रथमद्वितीयचक्रतया नामोद्दिश्य क्रमेण विवृणोति—आधारमिति ॥ ६ ॥

योनिस्थानं किमित्यत्र—योनिस्थानमिति । द्वयोः मूलाधारस्वाधिष्ठानयोः ।

योगसिद्धेः तत्पीडनपूर्वकत्वात् तदेव विशदयति—कामाख्यमिति ।

योगसिद्धिकामाख्यम् ॥ ७ ॥ योनिः कुण्डलिनीशक्तिः । अस्या जगत्प्रसूतिहेतु-

त्वात् योनित्वमुपपद्यते । अत एव कामाख्या । तस्य सुषुम्नामश्यविलसित-

कुण्डलिनीभोगस्य मध्ये वायव्यं पश्चिमाभिमुखं महालिङ्गं केवलवुम्भके

योगिप्रत्यक्षतया स्थितं भवति ॥ ८ ॥ एवंज्ञानवदभ्यासफलमाह—नाभाविति ।

मेद्रादधोविद्यमानवहिमण्डलस्वरूपमाह—तप्तेति ॥ ९ ॥ यस्य एवं योगकाले

पावकी ज्वाला दृश्यते तस्य पुनरिडादिमार्गेण यातायातो न विद्यते इत्याह—

समाधाविति ॥ १० ॥

८वा। धष्टानादिवकलक्षणम्

स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं <sup>१</sup>तदाश्रयम् ॥ ११ ॥

स्वाधिष्ठानश्रयादस्मान्मेद्रमेवाभिवीयते ।

तन्तुना मणिवत्प्रोतो योऽत्र कन्दः सुषुम्नया ॥ १२ ॥

तदाश्रयः—क, अ १, अ २.

तन्नाभिमण्डले चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ।

द्वादशारे महाचक्रे पुण्यपापविवर्जिते ॥ १३ ॥

तावज्जीवो भ्रमत्येवं यावत्तत्त्वं न विन्दति ।

स्वाधिष्ठानलक्षणमाह—स्वेति ॥ ११ ॥ मेदस्य प्राणनाडित्वात्  
स्वाधिष्ठानाश्रयत्वं युज्यते । मणिपूरकलक्षणं किमियत्र तन्तुनेति ॥ १२ ॥  
स्वाज्ञानावधि जीवो हृदासनः सन् संसागमण्डले परिभ्रमतीत्याह—द्वादशार  
इति । पुण्यपापविवर्जिते—तत्र प्रत्यगद्वेषः पुण्यपापमम्बन्धाभावात् ॥ १३ ॥

### नाडीमहाचक्रम्

ऊर्ध्वं मेदादधोनाभेः <sup>१</sup>कन्द्योनिः खगाण्डवन् ॥ १४ ॥

तत्र नाड्यः समृत्पन्नाः <sup>२</sup>महस्त्राणि द्विसप्तिः ।

तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्तिरुद्धाहृता ॥ १५ ॥

प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दश स्मृताः ।

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयगा ॥ १६ ॥

गान्धारी हस्तिजिहा च पूषा चैव यशस्विनी ।

अलम्बुसा कुहूश्चैव शङ्किनी दशमी स्मृता ॥ १७ ॥

एतनाडीमहाचक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा ।

नाडीकन्दं तदतनाडीभेदं चाह—ऊर्ध्वमिति ॥ १४—१९ ॥  
दशनाडीनां स्थानानि निर्दिग्नाति—इडेति ॥ १६—१७ ॥

<sup>१</sup> कन्दं यो—क, अ २.

<sup>२</sup> सहस्राणां—क, अ १.

<sup>३</sup> ताः—क, अ १, अ २.

नाडीस्थानानि

इडा वामे स्थिता भागे दक्षिणे पिङ्गला स्थिता ॥ १८ ॥  
 सुषुम्ना मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि ।  
 दक्षिणे हस्तिजिहा च पूषा कर्णे <sup>१</sup>तु दक्षिणे ॥ १९ ॥  
 यशस्विनी वामकर्णे चानने चाप्यलम्बुसा ।  
 कुहूश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने तु शङ्खिनी ॥ २० ॥  
 एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्तं नाड्यः क्रमात् ।

मध्यस्थसुषुम्नायाः इडा वामे स्थिता ॥ १८-२० ॥

नाडीसञ्चारिवायवः तद्वथापाराथ

इडापिङ्गलसौषुम्नाः प्राणमार्गे च संस्थिताः ॥ २१ ॥  
 सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याश्चिदेवताः ।  
 प्राणापानसमानारब्या व्यानोदानौ च वायवः ॥ २२ ॥  
 नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनंजयः ।  
 हृदि प्राणः स्थितो नित्यमपानो गुदमण्डले ॥ २३ ॥  
 समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः ।  
 व्यानः सर्वशरीरे तु प्रधानाः पञ्च वायवः ॥ २४ ॥  
 उद्धारे नाग आरब्यातः कूर्म उन्मीलने तथा ।  
 कृकरः क्षुत्करो झेयो देवदत्तो विजृम्भणे ॥ २५ ॥

न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनंजयः ।

एते नाडीषु सर्वासु भ्रमन्ते जीवजन्तवः ॥ २६ ॥ ८

तत्र अयोगियोगिभेदेन इडेति ॥ २१ ॥ नाडीगतप्राणादिखरूपं  
तद्वापारं चाह—प्राणेति ॥ २२—२९ ॥ जीवजन्तवः—जीवरूपिण इत्यर्थः,  
तेषां जीवाधारत्वात् ॥ २६ ॥

प्राणचलनाचलनाभ्यां जीवचलनाचलने

आक्षिसो मुजदण्डेन <sup>१</sup>यथोच्चलति कल्पुकः ।

प्राणापानसमाक्षिसस्तथा जीवो न तिष्ठति ॥ २७ ॥

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च <sup>२</sup>धावति ।

वामदक्षिणमार्गाभ्यां चञ्चलत्वात् दृश्यते ॥ २८ ॥

रज्जुबद्धो यथा इयेनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः ।

गुणवद्वस्तथा जीवः प्राणापानेन कर्षति ॥ २९ ॥

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च गच्छति ।

अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानेन कर्षति ॥ ३० ॥

ऊर्ध्वाधिःसंस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित् ।

प्राणचलनाचलनसापेक्षां जीवचलनाचलनमित्याह—आक्षिम इति ॥ २७ ॥  
तदेव विशदयति—प्राणेति ॥ २८—३० ॥

<sup>१</sup> यथा च—क, अ १, अ २.

<sup>२</sup> गच्छति—ष.

अजपागायत्र्या अनुसन्धानम्

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेषत्पुनः ॥ ३१ ॥

हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।

षट्शतानि दिवा<sup>१</sup>रात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः ॥ ३२ ॥

एतत्परं व्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा ॥ ३३ ॥

अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ॥ ३४ ॥

अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ।

कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी ॥ ३५ ॥

प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति म वेदविन् ।

प्राणापानोच्छासादिव्यापृतिरेव हंसमनुः अजपागायत्रा जीवनिर्वत्या भवतीति अजपेयतां तज्ज्ञानफलं चाह—हकारेणेति ॥ ३१—३३ ॥ उच्छ्वासनिःश्वासयोः हंसः सोऽहमित्यजपाऽनुसन्धानेन जीवः सर्वपापैः प्रमुच्यते । अजपां स्तौति—अनयेति ॥ ३४ ॥ अजपा कुण्डलिनीजन्येति ज्ञानफलमाह—कुण्डलिन्यामिति ॥ ३५ ॥

कुण्डलिन्या मोक्षद्वारमेदनम्

कन्दोऽर्चे कुण्डलीशक्तिरष्टधां कुण्डलाङ्कृतिः ॥ ३६ ॥

ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाय तिष्ठति ।

येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम् ॥ ३७ ॥

<sup>१</sup> रात्रं—क, अ २.

<sup>२</sup> द्वारं मनो—अ २.

मुखेनाच्छाद्य तद्वारं प्रसुपा परमेश्वरी ।  
 प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सहं ॥ ३८ ॥  
 सूचीवद्वात्रमादाय ब्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ।  
 उद्धाटयेत्कवाटं तु <sup>१</sup>यथा कुञ्जिकल्या गृहम् ।  
 कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥ ३९ ॥  
 कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं <sup>२</sup>बद्धाऽथ पद्मासनं  
     गाढं वक्षसि संनिधाय चुकुकं ध्यानं च तच्छेष्टितम् ।  
 वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चार्येत्पूरितं  
     मुञ्चन्प्राणमुपैति वोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥ ४० ॥  
 अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रमसंजातवारिणा ।  
 कट्टम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ॥ ४१ ॥  
 ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः ।  
 अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥ ४२ ॥  
 सुखिष्यमधुरा हारश्चतुर्थं शावशेषितः ।  
 मुञ्जते शिवसंप्रीत्या मिता हारी स उच्यते ॥ ४३ ॥  
 कन्दोर्ध्वं कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ।  
 बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदा सदा ॥ ४४ ॥

<sup>१</sup> यदा—क, अ १.

<sup>२</sup> बद्धा तु—क, अ १, अ २.

<sup>३</sup> रितं—क. रथन्—अ २.

<sup>४</sup> हारं च—अ १.

<sup>५</sup> शविवर्जितः—क, अ २. शावशेषितं—अ १.

<sup>६</sup> हारः—क, अ २.

सर्वप्राण्याधारकुण्डलिनीस्वरूपं तद्वापृतिं चाह—कन्देति ॥ ३६ ॥  
 सुषुम्नाल्यं ब्रह्मद्वारमुखम् ॥ ३७ ॥ अयोगिनां मूलाधारप्रदेशे-प्रसुप्ता । योगिनां  
 योगकाले<sup>१</sup> प्रबुद्धा ॥ ३८ ॥ यतः इयं मोक्षद्वारभेदनपटुः अतः कुञ्चिकया  
 देवालयकवाटमिव योगी तथा मोक्षद्वारां विभेदयेदित्याह—उद्घाटयेदिति  
 ॥ ३९ ॥ तद्वेदनोपायं तत्फलं चाह—कृत्स्वेति । नरो योगी स्वद्वयसमं  
 स्वकरौ सम्पुटितौ कृत्वा पश्चासनं बद्धा गाढं वक्षसि सञ्चिधाय चुबुकं  
 कण्ठसङ्कोचलक्षणजालन्धरबन्धमारोप्य मूलबन्धेन वारंवारं अपानं ऊर्ध्वं  
 अनिलपूरितं प्रोष्ठारयेत् ऊर्ध्वं प्राणेनैकं नयेत् । ऐक्यानन्तरं केवल-  
 कुम्भकमास्थाय कुण्डलिनीशक्तिप्रभावान् तत्कुण्डलिनीचेष्टिं प्राणादिव्यापारं  
 मुञ्चन् शरीरत्रयकलनाविरलं ब्रह्मास्मीति मननं ध्यानं च कृत्वा सम्यक्  
 प्रबोधमेत्य तत्समकालं प्राणं परमात्मानं उपैति ॥ ४० ॥ एवं साधनानुष्ठानवान्  
 योगी अविरात् सिद्धो भवतीत्याह—अङ्गनामिति । यद्यम्यासकाले स्वेदो  
 जायते तदा अङ्गानां . . . वारिणा दृढकायो भवेदित्यर्थः । योगानुकूलाहार-  
 नियममाह—कट्टिति ॥ ४१—४३ ॥ अयोगियोगिनां इयं शक्तिः<sup>२</sup> बन्धमोक्षहेतुः  
 स्यादित्याह—कन्देति । कन्दाधोभागे यदि स्थिता तदा बन्धनाय । यदि  
 सुषुम्नामार्गेण कन्दोर्ध्वमार्गं गता तदा योगिनां मोक्षदा ॥ ४४ ॥

बन्धवयम्

महामुद्रा नभोमुद्रा<sup>१</sup> ओऽद्याणं च जलन्धरम् ।

मूलबन्धं च यो वेति स योगी मुक्तिभाजनम् ॥ ४९ ॥

पार्षिणघातेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेदृदम् ।

अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥ ४६ ॥

<sup>१</sup> योग्या—क, अ १, अ २.

<sup>२</sup> विधीयते—क, अ १, अ २.

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयान्मूलपुरीषयोः ।

युवा भवति <sup>१</sup>वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ ४७ ॥

ओङ्काराणं कुरुते यस्मादिवश्रान्तं महाखण्डः ।

ओङ्काराणं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्केसरी ॥ ४८ ॥

उदरात्पश्चिमं ताणमधोनाभेर्निगद्यते ।

ओङ्काराणमुदरे बन्धस्तत्र बन्धो विधीयतं ॥ ४९ ॥

बन्धाति हि शिरोजातमधोगामि नभोजलम् ।

ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥ ५० ॥

जालन्धरे कृतं बन्धे कण्ठँदुःखौघनाशने ।

न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ॥ ५१ ॥

वक्ष्यमाणमहामुद्राऽऽदिज्ञानतां मुक्तिभाक् भवतीत्याह—महामुद्रेति  
॥ ४९ ॥ मूलबन्धादिलक्षणमाह—पाणीति ॥ ४६ ॥ तत्कलमेतत्—  
अपानेति ॥ ४७—५२ ॥

### खेचरीमुद्रा

कपालकुहरे जिहा प्रविष्टा विपरीतगा ।

भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिमुद्रा भवति खेचरी ॥ ५२ ॥

न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृष्णा ।

न च मूर्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेति खेचरीम् ॥ ५३ ॥

<sup>१</sup> वृद्धो वा—उ, उ १.

<sup>२</sup> संकोचलक्षणे—क, अ १, अ २.

पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न स कर्मभिः ।

● १ बध्यते न च केनापि यो मुद्रां वंति खेचरीम् ॥ ९४ ॥

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे यतः ।

तेनेयं खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धनमस्कृता ॥ ९५ ॥

बिन्दुमूलशरीराणि सिराऽयत्र प्रतिष्ठितः ।

भावयन्ति शरीराणि आपादतलमस्तकम् ॥ ९६ ॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्चतः ।

न तस्य क्षीयते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च ॥ ९७ ॥

यावद्द्विन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः ।

यावद्द्विन्दु नभोमुद्रा तावद्विन्दुर्न गच्छति ॥ ९८ ॥

तत्फलमेतत् न रोग इति ॥ ९३-९९ ॥ खेचरीमुद्राखद्वाः योगिनः  
शरीरं सर्वं पश्यन्तीत्याह—बिन्दिति । सिगशब्देन नाड्यः उच्यन्ते ।  
तदुपलक्षितचतुर्दशभुवनानि यत्र प्रतिष्ठितानि तद्विन्दुः ईध्याः पव मूलं येषां  
अनन्तकोटिब्रह्मण्डानां तानि बिन्दुमूलानि तानि च शरीराणि अनन्तकोटि-  
ब्रह्मण्डानि खेचरीमुद्राखद्वयोगिनः स्वाधिष्ठितापादतलमस्तकं स्वशरीरं भावयन्ति  
महाविराङ्गभावं नयन्तीत्यर्थः ॥ ९६ ॥ किंच—खेचर्येति ॥ ९७ ॥ नभोमुद्रा  
खेचरीत्यर्थः ॥ ९८ ॥

वज्रोळ्यादियोगिलक्षणम्

ज्वलितोऽपि यथा बिन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम् ।

त्रजत्यूर्ध्वं गतः शक्तया निरुद्धो योनिमुद्रया ॥ ९९ ॥

<sup>1</sup> बध्यते—क, अ १, अ २.

<sup>2</sup> स्त्रब—अ १.

स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पाण्डरो लोहितस्तथा ।  
 पाण्डरं शुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यं महारजः ॥ ६० ॥  
 सिन्दूरत्रातसंकाशं रविस्थानस्थितं रजः ।  
 शशिस्थानस्थितं शुक्रं तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ॥ ६१ ॥  
 बिन्दुर्ब्रह्मा रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दु रजो रविः ।  
 उभयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥ ६२ ॥  
 वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं च यथा रजः ।  
 याति बिन्दुः सदैकत्वं भवेद्विव्यवपुस्तदा ॥ ६३ ॥  
 शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजः ।<sup>१</sup>सूर्यसमन्वितम् ।  
 तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ॥ ६४ ॥

वञ्चोक्त्यादियोगिलक्षणमाह—ज्वलितोऽपीति । यथा लोहद्रावकबिन्दुः  
 लोहसानिध्यात् ज्वलति तथाऽयं बिन्दुः योषित्सानिध्यात् ज्वलितोऽपि  
 पुरुषेण हुतं रेतः अशनातीति हुताशनं योषियोनिमण्डलं संप्राप्तोऽपि  
 लिंगाकुञ्जनलक्षणया योनिमुद्रया शक्त्या यथाबलं निरुद्धः सन् ऊर्ध्वमेव  
 ब्रजति नाधः पततीत्यर्थः । अस्यामरोळियोगसिद्धत्वात् तद्विन्दुः कदाऽपि न  
 क्षरतीति भावः ॥ ५९—६० ॥ भ्रूमण्डलोर्ध्ववामदक्षिणभागयोः रविशशिस्थाने  
 भवतः । रजःशुक्ररूपयोः सूर्यचन्द्रसोः ऐक्यं योगिनो विना यस्य कस्यापि  
 दुर्लभमित्यर्थः ॥ ६१ ॥ किञ्च—बिन्दुरिति ॥ ६२ ॥ केन रवीन्द्रोरैक्यं, तेन किं  
 जायते इत्यत आह—वायुनेति । यथा स्वशक्तिचालेन प्रचण्डवायुना प्रेरितं  
 सद्रजो रविनैकत्वमायाति तथा वायुना सह कुण्डलिनीशक्तिचालेन प्रेरितं  
 शशिमण्डलस्थं रजः, बिन्दुरिति तृतीयार्थे प्रथमा, बिन्दुना रविणा सदा एकत्वं

<sup>१</sup> सूर्येण संगतं—क, अ १, अ २.

याति । यदा सूर्याचन्द्रमसोरैक्यं भवति तदा अयं योगी दिव्यवपुः  
भवेत् ॥ ६३-६४ ॥

महामुद्रा

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः ।  
रसानां शोषणं चैव महामुद्राऽभिधीयते ॥ ६५ ॥  
वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामाङ्गिणा  
हस्ताभ्यामनुधारयन्प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् ।  
आपूर्य ध्वसनेन कुक्षियुगलं बद्धा शैनै रेचये-  
देतद्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां प्रोच्यते ॥ ६६ ॥  
चन्द्रांशेन समभ्यस्य सूर्योशेनाभ्यसेत्पुनः ।  
या तुल्या तु भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ ६७ ॥  
नहि पथ्यमप्थ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।  
अतिमुक्तं विषं ओरं पीयूषमिव जीर्यते ॥ ६८ ॥  
क्षयकुष्ठगुदावर्तगुलमाजीर्णपुरोगमाः ।  
तस्य रोगाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥ ६९ ॥  
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम् ।  
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ ७० ॥

महामुद्रास्वरूपं तत्कलं चाह—शोधनमिति । यन्नाढीशुद्धिकरं चन्द्र-  
सूर्ययोरपि चालकं शरीरस्थदुष्टवातपित्तादिरसानां शोषणकरं भवति तदेव  
महामुद्रेत्यभिधीयते ॥ ६९ ॥ तदभ्यासप्रकारस्तु—आदौ जालन्धरबन्ध-

मारोप्य वामपादतलेन योनि निर्णाड्य बहिः प्रसागितदक्षिणचरणं हस्ताभ्यां  
धारयन् चन्द्रनाडीसमुद्भवश्वसनेन वामदक्षिणकुक्षियुगळमापूर्य निशच्छासं  
बद्धा कुम्भकान्ते पिंगल्या शनैरेव रेचयेदिति यदेतत् सैषा नृणा सर्वव्या-  
धिविनाशिनी महामुद्रा भवति ॥ ६६ ॥ एवं चन्द्रांशेनेति ॥ ६७-७० ॥

प्रणवजप:

पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः ।

नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोऽकारमव्ययम् ॥ ७१ ॥

एवं महामुद्रामभ्यस्य ततो यथोक्तविधिना प्रणवार्थानुसन्धानपूर्वकं प्रणवं  
सदा जपेदित्याह—पद्मेति ॥ ७१ ॥

प्रणवार्थरूपं ब्रह्म

ॐ नित्यं शुद्धं बुद्धं निर्विकल्पं निरञ्जनं निराख्यातमनादि-  
निधनमेकं तुरीयं यद्भूतं भवद्भविष्यत् परिवर्तमानं सर्वदाऽनवच्छिन्नं  
परं ब्रह्म । तस्माज्जाता परा शक्तिः स्वयं ज्योतिरात्मिका । आत्मन  
आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः ।  
अद्भूतः पृथिवी । तेषां पञ्चभूतानां पतयः पञ्च सदाशिवेश्वररुद्र-  
विष्णुब्रह्माणश्चेति । तेषां ब्रह्मविष्णुरुद्राश्चोत्पत्तिस्थितिलयकर्तारः ।  
राजसो ब्रह्मा सात्त्विको विष्णुस्तामसो रुद्र इति । एते त्रयो  
गुणयुक्ताः । ब्रह्मा देवानां प्रथमः संभूत् । धाता च सृष्टौ विष्णुश्च  
स्थितौ रुद्रश्च नाशे भोगाय चेन्द्रः प्रथमजा बभूवः । एतेषां  
ब्रह्मणो लोका देवतिर्यङ्गनरस्थावराश्च जायन्ते । तेषां मनुष्यादीनां

पञ्चभूतसमवायः शरीरम् । ज्ञानकर्मन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादि-  
पञ्चवायुमनोबुद्धिनित्ताहंकारैः स्थूलकल्पितैः मोऽपि स्थूलप्रकृतिरि-  
त्युच्यते । ज्ञानकर्मन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्रणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिभिश्च  
सूक्ष्मस्थोऽपि लिङ्गमेवत्युच्यते । गुणत्रययुक्तं कारणम् । मर्वेषां<sup>१</sup>मेवं  
त्रीणि शरीराणि वर्तन्ते । जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरीयाश्चेत्यवस्थाश्चतत्वः ।  
तासामवस्थानामधिपतयश्चत्वारः पुरुषा विश्वैजमप्राज्ञात्मानश्चेति ॥

विश्वो हि स्थूलभुङ्गनित्यं तैजमः प्रविविक्तभुक् ।

आनन्दमुक्तथा प्राज्ञः मर्वमाक्षीत्यतः परः ॥ ७२ ॥

प्रणवः मर्वदा तिष्ठेत्सर्वजीवेषु भोगतः ।

अभिरामस्तु सर्वासु ह्यवस्थासु ह्यधोमुखः ॥ ७३ ॥

ओङ्कारार्थचैतन्यं किमित्र ब्रह्मेत्याह—ओमिति । नित्यशुद्धादिपदानां  
नृसिंहतापिन्यां पदशो व्याख्यातत्वात् । भूतमिति भूतादिकालत्रयेऽपि स्वयं  
एकरूपेणावस्थितं, उन्पत्तिप्रलयवर्गल्यादनादिनिधनं, अनवच्छिन्नं परिच्छेदर-  
हितं यत् तदेव प्रणवार्थचैतन्यं ब्रह्मोर्यर्थः । ब्रह्मणो निष्प्रतियोगिकत्वमात्रत्वे  
अव्यक्तादिस्थावरान्तसृष्टिः कुतः? इत्याशङ्क्य तदज्ञानादेतत् सर्वं तस्मात्  
जातवत् भातीत्याह—तस्मादिति । स्वाज्ञदृष्ट्या यन्निर्विशेषं ब्रह्म निष्प्रतियोगिक-  
त्वमात्रं तस्मान्निर्विशेषब्रह्मणः सकाशात् चित्सामान्यात्मिका परा शक्तिः  
म्वागेपापवादाधिकरणसान्निध्यात् स्वयंज्योतिगत्विमका जातेव जाता न वस्तुत  
इत्यर्थः । एवं स्वाज्ञदृष्टिविकल्पिताव्यक्तमहत्तत्वोपाधिकात् आत्मनः । एवं आत्मनः  
सकाशात् क्रमेण पञ्चभूतानि जातानि, तेषां इत्यादि । सृष्ट्यादिकर्तृत्वं  
गुणत्रययोगनिमित्तं तत् कथं? राजस इति । सृष्ट्यादिकर्तारो ब्रह्मादयः

<sup>१</sup> मेव—अ १, अ २.

प्रथमजपदं गता इत्याह—ब्रह्मेति । . “सदेव सोम्येदमग्र आसीत्”, “हिरण्यगर्भः समवर्तताप्रे,” इति श्रुतेः । तत्र धातेत्यादि । यदेकमेवाग्रे सच्चैतन्यं समवर्तत तदेव सृष्टादिकार्यभेदानुरोधेन ब्रह्मविष्णुरुदेन्द्रतां प्राप्तवृत् भातीति तेषां प्रथमजप्त्वं उक्तमित्यर्थः । एतेषां मुख्ये ब्रह्मण इत्यादि । ब्रह्मणः सकाशात् भूरादिच्युर्दशलोकाः तत्त्वासिनो देवतिर्थक्लनगः तद्वोज्यतया स्थावराश्च स्थावराणि च जायन्ते । तेषां शरीरं भौतिकमित्याह—तैषामिति । शरीरं भवति । जाग्रदाद्यवस्थारूढजीवपेक्षया तत्तदवस्थाऽनुरोधेन शरीरत्रयं प्रदर्शयति —ज्ञानेति । विषयैः सह स्थूलकलिपतैः पञ्चीकृतभूतकार्यैः यो विशिष्टः सोऽपि जीवः । जाग्रदवस्थाभिमानिस्थूलशरीरोपाधिको विश्व इत्यर्थः । तेजसभोग्यलिंगशरीरमाह—ज्ञानेति । अपञ्चीकृतभूतकार्यैः ज्ञान... विषयैः सह प्राणादि... बुद्धिभिश्च युक्तस्तैजसः स्वप्रावस्थायां सूक्ष्मस्थोऽपि सूक्ष्मशरीरस्थोऽपि तदभेदेन अयं लिङ्गमेवेत्युच्यते । स्वापभिमानिप्राज्ञनिर्वर्त्य यत् तत् गुणत्रययुक्तं कारणं कागणशरीरं भवति । विश्वादित्रियस्य स्थूलादिभुक्त्वं तुरीयस्य तद्वाहित्यं चाह—विश्व इति ॥ ७२ ॥ तुरीयप्रणवस्य सर्वव्यापकत्वमाह—प्रणव इति । प्रणवः तुरीयोङ्कारस्तुतीयः साक्षी स्थूलप्रविभक्तिभोगाभिमानतः विश्वादिभावं गतेषु सर्वजीवेषु सर्वदा प्रत्यग्रृपेण तिष्ठेत् । अभितः परितो राजते महीयते इत्यभिरामः । तुरीयस्तु सर्वासु जाग्रदाद्यवस्थासु मिथ्यात्वदृष्ट्या अघोमुखः पगड्सुखः उदासीनो भवति, विश्वादिवत् जाग्रदादिसम्मुखो न कदाऽपि भवतील्यर्थः ॥ ७३ ॥

प्रणवावयवानां प्रत्येकमर्थः

अकार उकारो मकारश्चेति त्रयो वर्णश्चयो वेदाख्ययो  
लोकाख्ययो गुणाख्ययोऽक्षराणि एवं प्रणवः प्रकाशते ।  
अकारो <sup>१</sup>जाग्रति नेत्रे वर्तते सर्वजन्मृषु ।  
उकारः कण्ठतः स्वप्ने मकारो हृदि सुसितः ॥ ७४ ॥

<sup>१</sup> जग्रती—क, अ २.

विराङ्गिश्चः स्थूलश्चाकारः ।<sup>१</sup> हिरण्यगर्भस्तैजसः सूक्ष्मश्च  
उकारः । कारणाव्याकृतप्राज्ञश्च मकारः ।

अकारो राजसो रक्तो ब्रह्मा चेतन उच्यते ।

उकारः सात्त्विकः शुक्रो विष्णुरित्यभिधीयते ॥ ७९ ॥

मकारस्तामसः कृष्णो रुद्रश्चेति तथोच्यते ।

प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा प्रणवात्प्रभवो हरिः ॥ ७६ ॥

प्रणवात्प्रभवो रुद्रः प्रणवो हि परो भवेत् ।

अकारे लीयते ब्रह्मा <sup>१</sup>उकारे लीयते हरिः ॥ ७७ ॥

मकारे लीयते रुद्रः प्रणवो हि प्रकाशते ।

स्वातिरिक्तप्रपञ्जितं प्रणवावयवसम्भूतमित्याह—अकार इति । ऋयः त्रीणि  
अक्षरगणि । एवं वस्तुतः सदा प्रणवः प्रकाशते कथमकारादीनां सर्वव्यापकत्व-  
मित्यत्र—अकार इति ॥ ७४-७५ ॥ ब्रह्माद्यारोपापवादाधारस्तुरीयोङ्कार  
एवेत्याह—प्रणवादिति ॥ ७६ ॥ रुद्रः, ततः प्रणवः ॥ ७७ ॥

त्रीयोङ्काराप्रविद्योतब्रह्म

ज्ञानिनामूर्ध्वगो भूयादज्ञानीनामधोमुखः ॥ ७८ ॥

एवं वै प्रणवस्तिष्ठेद्यस्तं वेद स वेदवित् ।

अनाहतस्वरूपेण ज्ञानिनामूर्ध्वगो भवेत् ॥ ७९ ॥

तैलधारामिवाच्छिकं दीर्घघण्टानिनादवत् ।

प्रणवस्य ध्वनिस्तद्रूतदग्नं ब्रह्म चोच्यते ॥ ८० ॥

<sup>१</sup> शुकारे—क, अ १.

<sup>२</sup> ने स्यादधो—मु.

ज्योतिर्थं तदग्रं स्यादवाच्यं बुद्धिसूच्यतः ।  
दद्वशुर्ये महात्मानो यस्तं वेद स वेदवित् ॥ ८१ ॥

स्वज्ञस्वाङ्गदृष्ट्या ऊर्ध्वाधोमुखतया प्रणव एव प्रकाशत इति यो वेद स वेदवित् भवतीत्याह—ज्ञानिनामिति । ज्ञानिदृष्ट्या अनाहतविलसत्प्रत्यगभिन्न-ब्रह्मरूपेण तुरीयोङ्काराप्रविद्योतब्रह्ममात्रतया सर्वोर्ध्वं प्रणवो विभाति, अज्ञानामयो-मुखाकारादितया विभातीत्यर्थः ॥ ७८-७९ ॥ किञ्च—तैलेति ॥ ८०-८१ ॥

प्रणवार्थतुरीयहंसः:

जाग्रनेत्रद्वयोर्मध्ये हंस एव प्रकाशते ।  
सकारः खेचरी प्रोक्तस्त्वंपदं चेति निश्चितम् ॥ ८२ ॥  
हकारः परमेशः स्यात्तत्पदं चेति निश्चितम् ।  
सकारो ध्यायते जन्तुर्हकारो हि भवेद् ध्रवम् ॥ ८३ ॥  
इन्द्रियैर्बध्यते जीव आत्मा चैव न बध्यते ।  
ममत्वेन भवेजीवो निर्ममत्वेन केवलः ॥ ८४ ॥

प्रणवार्थतुरीयहंसः क आसनमासाद्य प्रकाशते इत्यत आह—जाग्रदिति । “नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्” इति श्रुतिः नेत्रजागरणयोः आधाराधेयता श्रूयते । एवं आधाराधेयात्मकजाग्रनेत्रद्वययोः मध्ये तदारोपापवादाधिकरणतया हंसः प्रत्यगभिन्नपरमात्मैव प्रकाशते । हंसस्य प्रत्यक्त्वं परत्वं तयोः ऐक्यसिद्धत्वं वा कुत इत्यत आह—सकार इति । सर्वप्राणिहृदये विद्यमाने खे अव्याकृताकाङ्गे तत्रत्यपरापूर्णपलिंगज्ञारीप्रातिलोम्येन चरतीति खेचरी सकार इति प्रोक्तः सकारस्य खेचरीबीजत्वात्, “सत्त्वंपदार्थः” इति प्रभोक्तेः । अतः सकारबीजं स्वंपदार्थप्रत्यक्चैतन्यमिति निश्चितम् ॥ ८२ ॥ हकारार्थः परमेशः परमात्मा स्यात् । अतः हकारबीजार्थंभूतं तत्पदलक्ष्यपरमात्मचैतन्यमिति

निविलम् । एवं सकारदायो जन्मुः जीवः स्वगतजीवत्वमपास्य  
सोऽहंशब्दलक्ष्यप्रत्यगभिन्नपरमात्माऽस्मीति यथात्मानं ध्यायते जानाति तदा  
इकागार्थः<sup>१</sup> परमात्मैव भवेदिति यत् तत् ध्रुवं सत्यं इत्यर्थः, “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव  
भवति” इति श्रुतेः ॥ ८३ ॥ देहेन्द्रियादौ अहंमाभिमानभावाभावौ जीवपर  
भेदाभेदहेतू भवत इत्याह—इन्द्रियैविति ॥ ८४ ॥

केवलात्मप्रकाशकप्रणवजप्तः

भूर्मुवः स्वरिमे लोकाः सोमसूर्याभिवेताः ।

यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८५ ॥

इच्छा क्रिया तथा ज्ञानं ब्राह्मी च वैष्णवी ।

त्रिधा मात्रा<sup>१</sup>स्थितिर्यन्त्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८६ ॥

वचसा तज्जपेन्नित्यं वपुषा तत्समन्यसेत् ।

मनसा तज्जपेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८७ ॥

शुचिर्वाऽप्यशुचिर्वाऽपि यो जपेत्प्रणवं सदा ।

न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ ८८ ॥

केवलात्मप्रकाशकप्रणवस्वरूपं निर्दिशति—भूरिति ॥ ८९-८६ ॥  
सन्तो यदनुसन्धानतः कृतकृत्या भवन्ति तदेव प्रणवार्थपरं ज्योतिरित्याह—  
वचसेति ॥ ८७ ॥ प्रणवजपत्य शुच्यादिनियमाभावप्रकटनपूर्वकं तत्पल्याह—  
शुचिरिति ॥ ८८ ॥

प्रणवानुष्ठायिनोऽपि प्राक्षम्य आवश्यकः

वले वाते चले विन्दुर्निश्चले निश्चले भवेत् ।

योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरुचयेत् ॥ ८९ ॥

<sup>१</sup> स्थितार्थ—अ १, अ २.

यावद्यायुः स्तिमो देहे तामजीयो न मृष्टि ।

मरणं तत्त्वं निष्काम्बित्तन्तो 'वायुं निरुचयेत् ॥ ०६ ॥

यामदद्वो यस्त् देहे तामजीयो न मृष्टि ।

वायुद्विर्भुवोर्यज्ञे तामप्राप्तयां कुरुः ॥ ९१ ॥

वायुद्विर्भुवोर्यज्ञा प्राणायामपरो भवेत् ।

दीप्तिमो शुद्धिमैत्र ततः प्राणाज्ञिर्यज्ञेत् ॥ ९२ ॥

प्रणवानुष्ठानेन पुरुषार्थसिद्धेः किं प्राणजयेनेत्याशक्त्य विन्दुप्राणयां  
अन्योन्याश्रमतः जीवनहेतुविन्दुजयार्थं प्राणजयः कर्तव्य इत्याह—चल इति  
॥ ८९-९१ ॥ अत एव ब्रह्मादयोऽपि प्राणायामपरा भवन्तीत्याह—  
अस्येति । यतः प्राणायामपरा भवन्ति ततः तस्मात् ॥ ९२ ॥

नाडीशुद्धितः प्राणायामसिद्धिः

षट्डिशदङ्गुलीर्हसः प्रयाणं कुरुते बहिः ।

वायुदक्षिणमार्गेण प्राणायामो विधीयते ॥ ९३ ॥

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् ।

तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणक्षमः ॥ ९४ ॥

प्राणगतिनिरोधनमेव प्राणायाम इत्याह— षट्डिशदिति । इडापिंगळ-  
मार्गमाश्रित्य बहिः षट्डिशत्यंगुलपर्यन्तं प्राणः प्रसरति, तद्रतिकुण्ठनाय  
प्राणायामो विधीयते इत्यर्थः ॥ ९३ ॥ नाडीशुद्धयनन्तरं केवलकुम्भकशक्तिः  
भवतीत्याह—शुद्धिमिति ॥ ९४ ॥

<sup>1</sup> वायुर्निं—उ.

<sup>2</sup> हसः—क, अ १, अ २, उ १,

प्राणायामलक्षणम्

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ।  
धारयेद्वा यथाशत्त्वा भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥ ९५ ॥  
असृतोदधिसंकाशं गोक्षीरधवलोपमम् ।  
ध्यात्वा चन्द्र॑मसं विम्बं प्राणायामे सुखी भवेत् ॥ ९६ ॥  
स्फुरत्प्रज्वलसञ्ज्वालापूज्यमादित्यमण्डलम् ।  
ध्यात्वा हृदि स्थितं योगी प्राणायामे सुखी भवेत् ॥ ९७ ॥  
प्राणायामलक्षणं तत्र ध्येयविम्बद्वयं चाह—बद्धेति ॥ ९५—९७ ॥

नाडीशोधनम्

प्राणं चेदिडया पिबेक्षियमितं भूयोऽन्यथा रेचयेत्  
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमयो ऽब्द्वा त्यजेद्वामया ।  
सूर्यचन्द्रमसोरनेन विधिना त्रिन्दुद्वयं ध्यायतः  
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनो मासद्वयादूर्ध्वतः ॥ ९८ ॥  
यथेष्टृधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।  
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥ ९९ ॥  
नाडीशुद्धयुपायमाह—प्राणमिति ॥ ९८ ॥ तत्फलं—यथेष्टेति ॥ ९९ ॥

मात्रानियमपूर्वकः प्राणायामः

प्राणो देहस्थितो यावदपानं तु निरुचयेत् ।  
एकधासमयी मात्रा उर्ध्वाधो गगने स्थितिः ॥ १०० ॥

<sup>१</sup> समं—उ १.

<sup>२</sup> धारणाद्वा—अ १.

<sup>३</sup> पीत्वा जपेद्वा—अ १.

<sup>४</sup> ऊर्ध्वाधोर्गगने गतिः—अ १.

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणायात्मकः ।

प्राणायामो भवेदेवं मात्राद्वादशसंयुतः ॥ १०१ ॥ ८

मात्राद्वादशसंयुक्तौ निशाकरदिवाकरौ ।

दोषाजालमबन्धन्तौ ज्ञातव्यौ योगिभिः सदा ॥ १०२ ॥

पूरकं द्वादशं कुर्यात्कुम्भकं षोडशं भवेत् ।

रेचकं दशं चौकारः प्राणायामः स उच्यते ॥ १०३ ॥

अधमे द्वादशा मात्रा मध्यमे द्विगुणा मता ।

उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः ॥ १०४ ॥

अधमे स्वेदजननं कल्प्यते भवति मध्यमे ।

उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निस्त्वयेत् ॥ १०५ ॥

बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम् ।

नासाग्रहाष्टिरेकाकी प्राणायामं समन्ब्यसेत् ॥ १०६ ॥

द्वाराणां नवं संनिरुद्ध्य मरुतं <sup>१</sup>बद्धा दृढां धारणां

नीत्वा कालमपानवह्निसहितं शक्त्या समं चालितम् ।

आत्मध्यानयुतस्त्वनेन विधिना विन्यस्य मूर्खिं स्थिरं

यावत्तिष्ठति तावदेव महतां सङ्को न संस्तूयते ॥ १०७ ॥

प्राणायामो भवेदेवं पातकेन्धनपावकः ।

भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा ॥ १०८ ॥

मूलबन्धावधिं, मात्रालक्षणं, भंगन्तरेण प्राणायामलक्षणं चाह—  
प्राण इति । सहजोच्छासनिःश्वासकाले मात्राकाल इत्यर्थः ॥ १००—१०१ ॥

<sup>१</sup> लक्ष्मा—उ, मु.

योगिना द्वादशमात्राऽलङ्कारचन्द्रसूर्यै ध्येयावित्याह—मात्रेति । अहोरात्रं  
द्वादशधा विभज्य पञ्चधटिकाकालो मात्राकालः । तत्संयुक्तौ निशाकरदिवाकरौ  
चन्द्रसूर्यनाडीभ्यां गमनागमनं कुर्वन्तौ । दोषाप्रहणमहश्चाप्यप्लक्षणार्थम् ।  
दोषाजालमध्यन्तौ अहोरात्रमविश्रान्तौ योगिभिः आदौ ज्ञातव्यौ ।  
चन्द्रसूर्यनाडीगतिं ज्ञात्वा यदा या नाडी प्रवहति तदा तथा पूरकं निरुद्धया  
अन्यथा रेचकं कुर्यात् । एवं कृते वायोः नाडीद्वयेऽपि प्राणस्य समगतिः  
स्यात् । ततः प्राणायामो निरायासेन भवेदिति भावः ॥ १०२ ॥ ततः  
पूरकं द्वादशं द्वादशमात्राकालं कुर्यात् । दश चोङ्कार इति दशमात्राकालः  
इत्यर्थः ॥ १०३ ॥ किञ्च—अधमे ॥ १०४—१०५ ॥ पञ्चाद्यासनस्यो  
योगी आत्मध्यानयुतः सन् नवद्वारं सञ्चिरुद्ध्य अपानवह्निसहितं  
कुण्डलिनीशक्त्या समं चालितं मारुतं बद्धा मूलाधारादिषट्टचक्रेषु क्रमात्  
नीत्वा अनेन विधिना कालं तुर्यात्मानं मूर्धि सहस्रारचक्रे विन्यस्य स्थिरं  
सम्भाव्य यावन्मूर्धि स्थिरं तिष्ठति तावदेव महतां सङ्को न संस्तूयते  
मूर्धि साक्षात्कृततुर्यतत्त्वस्य कृतकृत्यत्वेन नहि संगकांशा अस्ति ।  
यावत्सहस्रारे तुर्यात्मानं न पश्यति तावन्महतां संगः स्तूयत इत्यर्थः  
॥ १०६—१०७ ॥ प्राणायामं स्तौति—प्राणेति । महासेतुः इति  
प्रोक्ष्यते ॥ १०८ ॥

योगज्ञानां प्रत्येकं फलं तत्तात्मव्यं च

आसनेन रूजं हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।

विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुञ्चति ॥ १०९ ॥

धारणाभिर्मनोघैर्य याति चैतन्यमद्भुतम् ।

समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम् ॥ ११० ॥

प्राणायामद्विषट्टकेन प्रत्याहारः प्रकीर्तिः ।

प्रत्याहारद्विषट्टकेन जप्यते धारणा शुभा ॥ १११ ॥

धारणा द्वादश प्रोक्तं ध्यानं योगविशारदैः ।

ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥ ११२ ॥

<sup>१</sup>समाधौ परमं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।

तस्मिन्द्वष्टे क्रियाकर्म यातायातो न विद्यते ॥ ११३ ॥

प्रातिस्थिकेन षडंगयोगफलमाह—आसनेनेति ॥ १०९ ॥ ध्यानेन याति ॥ ११० ॥ आसनजयापेक्षया प्राणायामादेः द्वादशगुणाधिक्यं दर्शयति—प्राणेति ॥ १११—११२ ॥ समाधिसिद्ध्यनन्तरं कृतकृत्यता स्यादित्याह—समाधाविति । विश्वतोमुखं ब्रह्म विजयते अयमहमस्मीति ॥ ११३ ॥

षण्मुखीमुद्राऽभ्यासेन नादाभिव्यक्तिः

संबद्धाऽसनमेद्रमङ्गियुगलं कर्णाशिनासापुट-

द्वारानकुलिभिर्नियम्य पवनं वक्त्रेण वा पूरितम् ।

बद्धा वक्षसि बहुपानसहितं मूर्धि स्थितं धारये-

देवं याति विशेषतत्त्वसमतां योगीश्वरस्तन्मनाः ॥ ११४ ॥

गगनं पवने प्राप्ते ध्वनिरूप्यद्यते महान् ।

षटाऽदीनां प्रवाद्यानां नादसिद्धिरुदीरिता ॥ ११९ ॥

एवं समाधिः केन सिद्ध्यतीत्यत्राह—संबद्धेति । योगी सम्यक् सिद्धासनं बद्धा मध्ये मेद्रं तदधोर्ध्वं अंगियुगलं च बद्धेत्यर्थः । षण्मुखीमुद्रया वक्त्रेण वायुमार्प्य बन्धत्रयपूर्वकं मूर्धि सहस्रारे तुर्ये तुर्यातीते वा मनो धारयेत् । एवं धारणया योगीश्वरो विशेषतत्त्वसमतां अवशिष्टतत्त्वतुर्यातीतभावं यातीत्यर्थः ॥ ११४ ॥ षण्मुखीमुद्राऽभ्याससिद्धिः नादाभिव्यक्तिरित्याह—गगनमिति । हृदयावच्छन्नाव्याकृतगगनम् ॥ ११९ ॥

<sup>१</sup> यत्समाधौ परं ज्योतिः—क, अ १, अ २.

प्राणाभ्यासः सर्वरोगनिरासकः

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ।

प्राणायामवियुक्तेभ्यः सर्वरोगसमुद्भवः ॥ ११६ ॥

हिका कासस्तथा श्वासः शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ।

भवन्ति विविधा रोगाः पवनव्यत्ययक्रमात् ॥ ११७ ॥

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वशयः शनैः शनैः ।

तथैव सेवितो वायुरन्त्यथा हन्ति साधकम् ॥ ११८ ॥

युक्तंयुक्तं त्यजेद्वायुं युक्तंयुक्तं प्रपूरयेत् ।

युक्तंयुक्तं प्रबन्धीयादेवं सिद्धिमवाप्नयात् ॥ ११९ ॥

विधिवत् प्राणाभ्यासः सर्वरोगनिरासकः विपरीते विपरीतफलदो भवतीयाह

—प्राणायामेनेति ॥ ११६—११७ ॥ यतः एवं अतः यथाशास्त्रं गुरुत्तप्तकारेण

प्राणाभ्यासो विदिष्टफलदः इत्याह—यथेति । वायुः सिद्धकरो भवति ॥ ११८ ॥

अत एव युक्तमिति ॥ ११९ ॥

प्राणाभ्यासे इन्द्रियप्रत्याहार आवश्यकः

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् ।

तत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥ १२० ॥

यथा तृतीयकाले तु रविः प्रत्याहरेत्प्रभाम् ।

तृतीयाङ्गस्थितो योगी विकारं मानसं हरेत् ॥ १२१ ॥

इत्युपनिषत् ॥

इन्द्रियाणामिन्द्रियार्थपरवशतया स्थितत्वात् कथं अभ्याससिद्धित्यव्रतं तत्प्रत्याहरणादभ्यासः सफलो भवेदित्याह—चरतामिति ॥ १२० ॥ कथं प्रत्याहरणं

कर्तव्यं इत्यत्र सदृष्टान्तं तदाह—यथेति । यथा गविः तृतीयकाले सायाहे स्वप्रभां प्रत्याहरेत् तथा बाल्ययौवनकौमारभेदेन स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरभेदेन तमोरजः-सत्त्वभेदेन ब्रतिकाभिवनिभेदेन वा तत्राप्यसंगतया तृतीयाङ्गस्थितो योगी सर्वापह्वसिद्धं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वभावात्रमिति बोधेन मानसं तद्विकारं सङ्कल्पादिं च हरेत् विलापयेत् अपहवं कुर्यादिन्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दः योगचूडामण्युपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥ १२१ ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्वस्त्रयोगिना ।

लिखितं स्याद्विवरणं योगचूडामणेः स्फुटम् ॥

चूडामणिविवरणमशील्यधिशतद्वयम् ॥

इति श्रीमदीशाश्रेन्नरशातोपनिषच्छास्त्रविवरणे षट्कृत्वारिंशतसंख्यापूरकं योगचूडामण्युपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

# योगतत्त्वोपनिषत्

मह नाववतु --इति शान्तिः

अष्टाङ्गयोगजिज्ञासा

योगतत्त्वं प्रवक्ष्यामि योगिनां हितकाम्यया ।  
यच्छ्रूत्वा च पठित्वा च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १ ॥  
विष्णुर्नाम महायोगी महाभूतो महातपाः ।  
तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः ॥ २ ॥  
तमाराध्य जगन्नाथं प्रणिपत्य पितामहः ।  
पप्रच्छ योगतत्त्वं मे ब्रूहि चाष्टाङ्गसंयुतम् ॥ ३ ॥  
योगैश्वर्यं च कैवल्यं जायते यत्प्रसाददतः ।  
तद्वैष्णवं योगतत्त्वं गमचन्द्रपदं भजे ॥

इह खलु कृष्णयजुर्वेदप्रविभक्तेयं योगतत्त्वोपनिषत् मन्त्रलघ्यराजयोगविशिष्टारम्भघटपरिचयनिष्पत्तिचैत्यावस्थोपेतयमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणा-ध्यानसमाधितत्साधनबन्धत्रयमहामुदाबन्धवेदख्येचरीप्रकांठनपूर्वकं ब्रह्मात्रपर्यवसन्ना विराजते । अस्याः उपनिषदः संक्षेपतो विवरणमारभ्यते । सुष्ठिरितिकर्तुब्रह्मविष्णवाल्यायिका तु विद्यास्तुत्यर्था । आदौ तावृत्

वक्ष्यमाणयोगतत्त्वोपनिषच्छ्रवणपठनफलं प्रकटयति—योगतस्यभिति । प्रत्यक्ष-  
र्योः योगः तत्त्वं प्रत्यक्षपरविभागैक्यासहं निष्प्रतियोगिकब्रह्मात्रं यस्यां उपनिषदि-  
प्रतिपादते सेयं योगतत्त्वोपनिषद् । केवलं तच्छ्रवणपठनतः सर्वपौपनिषद्वितीय-  
र्भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥ एतद्विद्याऽऽचार्यस्वरूपं विशद्यति—विष्णुरिति । तस्य-  
ज्ञानयोगमार्गं योगिभिः यथा दीपः तथा पुरुषोत्तमो विष्णुः दृश्यते  
साक्षात्क्रियत इत्यर्थः ॥ २ ॥ तं ब्रह्मा पृच्छतीत्याह—तमिति ॥ ३ ॥

## योगतस्य दुर्लभत्वम्

तमुवाच हृषीकेशो वक्ष्यामि शृणु तत्त्वतः ।  
सर्वे जीवाः सुखैर्दैर्यैर्मायाजालेन वेष्टिताः ॥ ४ ॥  
तेषां मुक्तिकरं मार्गं मायाजालनिकृत्तनम् ।  
जन्ममृत्युजराव्याधिनाशनं मुक्तिराकम् ॥ ५ ॥  
नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदम् ।  
पतिताः शाश्वजालेषु प्रज्ञया तेन मोहिताः ॥ ६ ॥  
अनिर्बच्यपदं वक्तुं न शक्यं तैः सुरैरपि ।  
स्वात्मप्रकाशरूपं तर्तिकं शाश्वेण प्रकाशयते ॥ ७ ॥

एवं पृष्ठे भगवान् प्रश्नोत्तरमाह—तमिति । स्ववक्तव्यहस्यार्थस्य  
नानामार्गालङ्कारनानाशास्त्रतत्प्रवर्तकैरपि दुष्प्रापतामाह—सर्वं इति । मायाजालेन  
वेष्टिताः मायातत्कार्यपटैः आश्रूताः इत्यर्थः ॥ ४-५ ॥ कैवल्यमार्गस्य  
ज्ञानेतरसाधनेन दुष्प्रापत्वे “नान्यः पन्था अयनाय विद्यते” इति  
श्रुतेः । शाश्वजालमोहितैः यन्मयोच्यमानं तद्वक्तुं न शक्यमित्याह—पतिता  
इति । तेन स्वाज्ञानेन च मोहिताः ॥ ६ ॥ सूर्यादिघटान्ताः येन प्रकाशयन्ते

येन वेदशास्त्राण्यर्थवन्मि तत् कदाऽपि शास्त्रप्रकाशं न भवति, ब्रह्मः  
स्वप्रकाशमात्रत्वेन व्याविद्धपदवाक्यार्थत्वात् ॥ ७ ॥

परस्त्वैव जीवत्वम्

निष्कलं निर्मलं शान्तं सर्वातीतं निरामयम् ।  
तदेव जीवरूपेण पुण्यपापफलैर्वृतम् ॥ ८ ॥  
परमात्मपदं नित्यं तत्कथं जीवतां गतम् ।  
सर्व<sup>१</sup>भावपदातीतं ज्ञानरूपं निरञ्जनम् ॥ ९ ॥  
वारिवत्स्फुरितं तस्मिस्तत्राहंकृतिरूपिता ।  
पञ्चात्मकम्भूत्पिण्डं धातुबद्धं गुणात्मकम् ॥ १० ॥  
सुखदुःखैः समायुक्तं जीवभावनया कुरु ।  
तेन जीवाभिधा प्रोक्ता विशुद्धे परमात्मनि ॥ ११ ॥

जीवः परस्मात् भिद्यत इत्याशङ्क्य यन्निर्विशेषं तदेव जीवतां गच्छतीव  
भातीत्याह—निष्कलमिति ॥ ८ ॥ तत् कथं जीवतामहति इत्याक्षिपति—  
परमात्मेति । प्रभोत्तरभाह—सर्वेति । वस्तुतो ब्रह्म सर्वभावपदातीतम् ।  
स्वातिरिक्तभावः शाश्विषाणवत् नास्त्येव । यदि स्वाज्ञदृष्ट्या स्यात्तदा  
स्वज्ञदृष्ट्या सर्वभावपदातीतं ज्ञानरूपं इतिमात्रत्वात्, निरञ्जनं सर्वत्रासंग-  
मित्यर्थः ॥ ९ ॥ यत् स्वमात्रं अवशिष्टं तत्र स्वाज्ञः स्वातिरिक्तं अध्यस्यतीत्याह—  
वारिवदिति । यत् सर्वभावपदातीतं तत्र तस्मिन् आदौ मन्दवातेरितवारिवत्  
स्फुरितं तत्र गुणसाम्यात्मिका मूलप्रकृतिवाच्यां अहङ्कृतिरूपिता । ततः  
पञ्चतन्मात्राणि, ततः पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि, ततः सप्तधातुबद्धं त्रिगुणात्मकं  
पञ्चात्मकं पिण्डमभूत् ॥ १० ॥ तत्र सुखदुःखसमायुक्तं यद्वैतन्यं तत्

<sup>१</sup> ताप—अ १.

जीवभावनया कुरु । सर्वभावातीतविशुद्धे परमात्मनि तेन प्राकृतगुणयोगेन  
निविशेषब्रह्मण एव जीवाभिधा प्रोक्तः ॥ ११ ॥

प्राकृतगुणविशुद्धस्य जीवस्य परमात्मत्वम्

कामक्रोधभयं चापि मोहलोभमदो रजः ।  
जन्मं मृत्युश्च कार्पण्यं शोकस्तन्द्रा क्षुधा तृष्णा ॥ १२ ॥  
तृष्णा लज्जा भयं दुःखं विषादो हर्ष एव च ।  
एभिदीर्घैर्विनिर्मुक्तः स जीवः केवलो मतः ॥ १३ ॥

यदा प्राकृतगुणविशुद्धो भवति तदा जीव एव केवलपरमात्मा  
भवतीत्याह—कामेति । अत्र वचनलिंगव्यल्ययः छान्दसः ॥ १२-१३ ॥

ज्ञानयोगयोः युगपदभ्यासः

तस्माद्विविनाशार्थमुपायं कथयामि ते ।  
योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम् ॥ १४ ॥  
योगोऽपि ज्ञानहीनमन्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ।  
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्द्विद्वयसेत् ॥ १५ ॥

यस्मादेवं तस्मात् । केवलनिर्विशेषज्ञानस्य मोक्षदत्त्वेऽपि सविशेषज्ञानस्य  
तदभावात् योगाकांक्षा भवेदिति ज्ञानयोगौ युगपदभ्यसेदित्याह—योगहीनमिति  
॥ १४ ॥ यस्मादेवं तस्मान् ॥ १५ ॥

ज्ञानस्वरूपम्

अज्ञानादेव संसारो ज्ञानादेव विमुच्यते ।  
ज्ञानस्वरूपमेवादौ ज्ञानं इयैकसाधनम् ॥ १६ ॥

ज्ञातं येन निजं रूपं कैवल्यं परमं पदम् ।

निष्कलं निर्मलं साक्षात्सच्चिदानन्दरूपकम् ॥ १७ ॥

उत्पत्तिस्थितिसंहारस्मृतिज्ञानविवर्जितम् ।

एतज्ञानभिति प्रोक्तमथ योगं ब्रवीमि ते ॥ १८ ॥

बन्धमोश्छहेत् स्वाज्ञानस्वज्ञाने इत्याह—अज्ञानादितिं । तत्र ज्ञानं  
कीदृशं इत्याह—ज्ञानेति ॥ १६—१७ ॥ स्वातिरेकेण इदमुत्पन्नं स्थितं  
उपसंहृतं इति या स्फूर्तिः तज्ज्ञानविवर्जितं तदेव निर्विशेषज्ञानभिति  
प्रोक्तम् । नहि तत् स्वफलासौ योगादिसाधनमपेक्षते । यथपरब्रह्मगोचरं  
सविशेषज्ञानं स्वगतविशेषताज्ञान्तये तदेव योगमपेक्षते । यत् सविशेषज्ञानेन  
समुच्चिच्छिति तत् ब्रवीमीत्याह—अथेति । अथ सविशेषज्ञानान्तपत्यनन्तरं  
तनिर्विशेषताहेतुयोगं शृणिवत्यर्थः ॥ १८ ॥

मन्त्रयोगादिः चतुर्विधो योगः

योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः ।

मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः ॥ १९ ॥

सोऽयं योगः कीदृश इत्याकांक्षायां पारमार्थिकयोग एकोऽपि साधनवैचिन्यात् बहुधा भिद्यते इत्याह—योगो हीति । तत् कथमित्र मन्त्रेति । इति  
प्रधानयोगाः चत्वारः ॥ १९ ॥

आरम्भादयो योगावस्थाः

आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयः स्मृतः ।

निष्पत्तिश्चेत्यवस्था च सर्वत्र परिकीर्तिता ॥ २० ॥

अङ्गयोगास्तु—आरम्भश्चेति ॥ २० ॥

वोयतास्योपनिषद्

मन्त्रयोगलक्षणम्

एतेषां लक्षणं ब्रह्मन् वस्त्वे शृणु समाप्ततः ।  
 मातृकादिशुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत् ॥ २१ ॥  
 क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम् ।  
 अल्पं बुद्धिरितं योगं सेवते साधकाधमः ॥ २२ ॥

इति सूत्रवाक्यानि, एतेषाम् । तत्रादौ मन्दानुकम्पया मन्त्रयोगमाह-  
 मातृकेति ॥ २१-२२ ॥

लययोगलक्षणम्

लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तिः ।  
 गच्छस्तिष्ठन्त्वपन्मुखन्द्यायेक्षिष्कलमीधरम् ॥ २३ ॥  
 स एव लययोगः स्याद्भयोगमतः शृणु ।  
 लययोगप्रकारमाह—लयेति । तत्रायं सागतगे गच्छशिति ॥ २३ ॥

हठयोगाङ्गानि

यमश्च नियमश्चैव ह्यासनं प्राणसंयमः ॥ २४ ॥  
 प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं भ्रूपध्यमे हरिम् ।  
 समाधिः समताऽक्षस्था साषाङ्गो योग उच्यते ॥ २५ ॥  
 महामुद्रा महावन्द्यो महावेदश्च सेचरी ।  
 लं<sup>स्तु</sup> द्वियाणश्च मूलबन्धस्तथैव च ॥ २६ ॥

द्रीर्घप्रणवसंधानं सिद्धान्तश्रक्षणं <sup>१</sup>तथा ।

वज्रोली चामरोली च सहजोली त्रिवा मता ॥ २७ ॥

अष्टांगविशिष्ठहृष्योगमाह—हठेति ॥ २४—२५ ॥ पुनः द्वादशांगयोग-  
माचष्टे—महासुदेति ॥ २६—२७ ॥

यमनियमासनेषु प्रधानाङ्गानि

एतेषां लक्षणं ब्रह्मन् प्रत्येकं शृणु तत्त्वतः ।

लघ्वाहारो यमेष्वेको मुख्यो भवति नेतरः ॥ १ ॥

अहिंसा नियमेष्वेका मुख्या वै चतुरानन ।

सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ॥ २ ॥

आहस्य अयं योगो विशाल्यांगविशिष्ठः । एतेषामांगान लक्षणमाह—  
एतेषामिति । दशयमेषु प्रधानसाधनमाह—लघ्वति ॥ २८ । तथा दशनियमेषु  
मुख्यसाधनमाह—अहिंसेति । आसनानि अनन्तानि । रे अशील्यासनानि  
मुख्यानि । तेष्वपि सिद्धावासनचतुष्टयं मुख्यं इत्याह—सिद्धि है ॥ २९ ॥

योगाभ्यासविप्रत्यागः

प्रथमाभ्यासकाले तु विज्ञाः स्युश्चतुरानन ।

आलस्यं कत्थनं धूर्तगोष्ठी मन्त्रादिसाधनम् । १० ॥

धातुखीलौल्यकादीनि मृगतृष्णामयानि वै ।

ज्ञात्वा सुधीस्यजेत्सर्वान् विज्ञान् पुण्यप्रभाव ॥ ११ ॥

योगाभ्यासकालप्रादुर्भूतविज्ञजालं त्यजेदित्याह—प्रश्न ॥ १०—११ ॥

<sup>१</sup> परं—क, अ १, अ २.

प्राणायामोचितमठासनयोः स्वरूपम्

प्राणायामं ततः कुर्यात्पद्मासनगतः स्थयम् ।

सुशोभनं मठं कुर्यात्सूक्ष्मद्वारं तु निर्विणम् ॥ ३२ ॥

सुष्टुलिंगं गोमयेन सुधया वा प्रयत्नतः ।

मत्कुर्णीर्मशकैलूकैर्वर्जितं च प्रयत्नतः ॥ ३३ ॥

दिने दिने च संमृष्टं संमार्जन्या विशेषतः ।

वा न च सुगन्धेन धूपितं गुगुलादिभिः ॥ ३४ ॥

न युच्छ्रुतं नातिनीचं चेलाजिनकुशोत्तरम् ।

त पविश्य मेधावी पद्मासनसमन्वितः ॥ ३५ ॥

ततः कि यत आह—प्राणायामभिति । प्राणायामोचितमठलक्षणमाह—  
सुशोभनभिति ॥ ३२—३४ ॥ योगिनो लक्षणमाह—तत्रेति ॥ ३५ ॥

### प्राणायामारम्भप्रकारः

ऋ कायः प्राञ्जलिश्च प्रणमेदिष्टदेवताम् ।

त दक्षिणहस्तास्य अङ्गुष्ठेनैव पिङ्गलाम् ॥ ३६ ॥

न य पूर्येद्वायुमिड्या तु शनैः शनैः ।

य त्वयिविरोधेन ततः कुर्याच्च कुम्भकम् ॥ ३७ ॥

पु लेतिपङ्गलया शनैरेव न वेगतः ।

पुण पिङ्गलयाऽपूर्य <sup>१</sup>पूर्येदुदरं शनैः ॥ ३८ ॥

<sup>१</sup> धार—ज

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदिह्या शनैः ।

यथा त्यजेत्तथाऽपूर्य धारयेदविरोधतः ॥ ३९ ॥

योगारम्भसमये प्रणमेत् । ततः किमित्यत्र प्राणायामानुष्ठानक्रममाह—  
तत इति ॥ ३६-३९ ॥

मात्रानियमपूर्वकः प्राणायामः

जानु प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम् ।

अङ्गुलिस्फोटनं कुर्यात्सा मात्रा परिगीयते ॥ ३० ॥

इह्या वायुमा<sup>१</sup>पूर्य शनैः षोडशमात्रया ।

कुम्भयेत्पूरितं पश्चाच्छतुःषष्ठ्या तु मात्रया ॥ ३१ ॥

रेचयेत्पिङ्गलानाख्या द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः ।

पुनः पिङ्गलयाऽपूर्य पूर्ववत्सुसमाहितः ॥ ३२ ॥

प्रातर्माध्यंदिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान् ।

शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वर्णं समम्ब्यसेत् ॥ ३३ ॥

सामान्यप्राणायामलक्षणमुक्त्वा अथ मात्राकालप्र  
प्राणायामलक्षणमाह—जान्विति ॥ ४०-४२ ॥ प्रत्यहं प्राणा-  
माह—प्रातरिति ॥ ४३ ॥

नपूर्वकं विशेष-  
कालसंख्येयत्ता-

आन्तराक्षिकफलं नाडीशुद्धिः तथिहानि च

एवं मासत्रयान्यासानाडीशुद्धिस्ततो भवेत्

यदा तु नाडीशुद्धिः स्थातदा चिह्नानि वाह

॥ ४४ ॥

<sup>१</sup> रोप्य—क, अ १.

जायन्ते योगिनो देहे तानि कस्यान्यशेषतः ।

शरीरलघुता दीक्षिर्जाठराग्निविवर्धनम् ॥ ४९ ॥

कृशत्वं च शरीरस्य तदा जायेत <sup>१</sup>निश्चितम् ।

एवमन्यासान्तरालिकफलमाह—एवमिति । नाडीशुद्धिचिह्नानि कानीलक्षा  
आह—यदेति ॥ ४४-४८ ॥

योगान्यासकाले आहारादिनियमः

ये नविश्वकराहारं वर्जयेद्योगवित्तमः ॥ ४६ ॥

ल णं सर्षपं चाम्लमुष्णं रुखं च तीक्ष्णकम् ।

इ रुजातं रामठादि वहिखीपथिसेवनम् ॥ ४७ ॥

प्र. स्नानोपवासादिकायक्लेशांश्च वर्जयेत् ।

अ यासकाले प्रथमं शस्तं क्षीराञ्यभोजनम् ॥ ४८ ॥

गे [ममुद्दशाल्यञ्चं योगवृद्धिकरं विदुः ।

केवलकुम्भकसिद्धिः

त परं यथेष्टु तु शक्तः स्याद्वायुधारणे ॥ ४९ ॥

य धारणाद्वायोः सिद्ध्येत्केवलकुम्भकः ।

के १ कुम्भके सिद्धे रेचपूरविवर्जिते ॥ ५० ॥

न च दुर्लभं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ।

ततः । अत आह—तत इति ॥ ४९ ॥ तेन किं स्यादित्यत  
आह—यथेष्टु ॥ ५० ॥

<sup>१</sup> निश्चयं—१, ३ १.

प्रस्त्रेदासिसिद्धः

● प्रस्त्रेदो जायते पूर्वं मर्दनं तेन कारयेत् ॥ ९१ ॥  
 ततोऽपि धारणाद्वायोः क्लेषैव शनैः शनैः ।  
 कम्पो भवति देहस्य आसनस्थस्य देहिनः ॥ ९२ ॥  
 ततोऽधिकतराभ्यासात् <sup>१</sup>दर्दरी स्वेन जायते ।  
 यदा च <sup>२</sup>दर्दरो भाव उत्पुत्योत्पुत्य गच्छति ॥ ९३ ॥  
 पद्मासनस्थितो योगी तथा गच्छति भूतले ।  
 ततोऽधिकतराभ्यासाद्भूमित्यागश्च जायते ॥ ९४ ॥  
 पद्मासनस्थ एवासौ भूमिमुत्सृज्य <sup>३</sup>गच्छति ।  
 अतिमानुषचेष्टादि तथा सामर्थ्यमुद्भवेत् ॥ ९५ ॥  
 न दर्शयेच्च सामर्थ्यं दर्शनं वीर्यवत्तरम् ।  
 स्वल्पं वा बहुधा दुःखं योगी न व्ययते तदा ॥ ९६ ॥  
 अल्पमूत्रपुरीषश्च स्वल्पनिद्रश्च जायते ।  
 कीलको दूषिका लाला स्वेददुर्गन्धताऽनन्ते ॥ ९७ ॥  
 एतानि सर्वथा तस्य न जायन्ते ततः परम् ।  
 ततोऽधिकतराभ्यासाद्वालमुत्पद्यते वहु ॥ ९८ ॥  
 येन भूचरसिद्धिः स्याद्भूचराणां जये क्षमः ।  
 व्याघ्रो वा शरभो वाऽपि गजो गवय एव च ॥ ९९ ॥

<sup>१</sup> दर्दरी—क. दर्दुरी—अ १.

<sup>२</sup> वर्तते—क, अ १, अ २.

<sup>३</sup> दृ—उ, अ ३.

सिंहो वा योगिना तेन स्त्रियन्ते हस्ततादिताः ।  
 कन्दर्पस्य यथा रूपं तथा <sup>१</sup>स्यादपि योगिनः ॥ ६० ॥  
 तद्रूपवशगा नार्यः काङ्क्षन्ते तस्य सङ्कमम् ।  
 यदि सङ्कं करोत्येष तस्य बिन्दुक्षयो भवेत् ॥ ६१ ॥  
 वर्जयित्वा लियां संगं कुर्यादभ्यासमादरात् ।  
 योगिनोऽङ्गे सुगन्धश्च जायते बिन्दुधारणात् ॥ ६२ ॥

पादार्थी पादपूर्णाभ्यासतः प्रस्वेदाद्यतिमानुषचेष्टाऽन्तसिद्धिरुदेति । ततिस-  
 द्विजालं सदा<sup>१</sup> गोपयेदित्याह—प्रस्वेद इति । पादप्राणायामतः प्रस्वेदः  
 ॥ ९१-९९ ॥ दुःखं प्राप्यापि ॥ ९६ ॥ एकमभ्यासं कुर्वतो योगिनो  
 मानुषविकाररा, गूर्वकं महाबलं सौन्दर्यं स्त्र्यादिपराङ्मुखत्वं स्वांगदिव्यसुगन्धश्च  
 जायत इत्याह—अल्पेति । स्वदेहजकीलं सन्धिवन्धमुद्भवन्तीति कीलबो  
 वायुबन्धाः । शरीरं दूषयति कार्श्यभावं करोतीति दूषिका क्षयादिः, नेत्रमलं  
 वा । शिष्ठं : षष्ठम् ॥ ९७ ॥ किंच—तत इति ॥ ९८ ॥ तत् कथं?  
 व्याघ्र इति ॥ ९-६२ ॥

योगप्रतिबन्धनाशाय प्रणवजपः आरम्भावस्था

तः रहस्युपाविष्टः प्रणवं प्रुतमात्रया ।  
 जः पूर्वार्जितानां तु पापानां नाशहेतवे ॥ ६३ ॥  
 सः घर्हरो मन्त्रः प्रणवः सर्वदोषहा ।  
 एः न्यासयोगेन सिद्धिरारम्भसंभवा ॥ ६४ ॥

<sup>१</sup> स्या—।, अ २, उ १.

यदि प्रतिबन्धकवशात् योगो न सिद्ध्यति तदा तस्मान्तर्य प्रणवजपः  
कार्यः इत्याह—तत इति ॥ ६३ ॥ प्रस्वेदादिसुगन्धश्च जायते इत्यन्तसिद्धे-  
रारब्धत्वीदयमारम्भः इत्याह—एवमिति ॥ ६४ ॥

घटावस्था

ततो भवेद्दृष्टावस्था पवनाभ्यासतत्परा ।

प्राणोऽपानो मनो बुद्धिर्जीवात्मपरमात्मनोः ॥ ६९ ॥

अन्योन्यस्याविरोधेन १एकतां घटते यदा ।

षटावस्थेति सा प्रोक्ता तच्छिह्नानि ब्रवीम्यहम् १५२ ॥

पूर्वं यः कथितोऽभ्यासश्चतुर्थीशं परिग्रहेत् ।

दिवा वा यदि वा "सायमेककालं समन्व्यसेत् ॥ ७ ॥

एकवारं प्रतिदिनं कुर्यात्केवलकुम्भकम् ।

घटयोगमाह—तत इति ॥ ६९-६७ ॥

प्रत्याहारलक्षणम्

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो यत्प्रत्याहरणं स्फुटम् ६८ ॥

योगी कुम्भकमास्थाय प्रत्याहारः स उच्यते

प्रत्याहारस्वरूपमाह—इन्द्रियाणीति ॥ ६८ ॥

धारणास्वरूपम्

यथत्पश्यति चक्षुभ्यो तत्तदात्मेति भावयेत् १ ॥

यद्यच्छुणोति कर्णभ्यां तत्तदात्मेति भावयेत्.

लभते नासया यद्यत्तज्जदात्मेति भावयेत् ॥

१ एकता—मु.

<sup>३</sup> सायं वाममात्रं- श्ल १, अ २.

जिह्या यद्दसं ह्यत्ति तत्तदात्मेति भावयेत् ।

त्वचा यद्यत्स्पृशेद्योगी तत्तदात्मेति भावयेत् ॥ ७१ ॥

एवं ज्ञानेन्द्रियाणां तु तत्तदात्मनि धारयेत् ।

धारणालक्षणमाह—यद्यदिति ॥ ६९—७१ ॥ चक्षुरादीन्द्रियेन्द्रियार्थजातं  
स्वाङ्गदशायामब्रह्मतथा विकल्पितं स्वाङ्गदशायां तत् ब्रह्मेति प्रतीचि  
धारयेदित्यर्थः ॥

धारणासिद्धयः तद्वोपनविधिश्च

य नमात्रं प्रतिदिनं योगी यत्रादतन्द्रितः ॥ ७२ ॥

य वा २चित्तसामर्थ्यं जायते योगिनो ध्रुवम् ।

दृ॒॑उतिर्दूरदृष्टिः क्षणाद्वारागमस्तथा ॥ ७३ ॥

व ग्रसिद्धिः कामरूपत्वमदृश्यकरणी तथा ।

म भूत्रप्रलेपेन लोहादेः स्वर्णता भवेत् ॥ ७४ ॥

त्वे तिस्त्वस्य जायेत संताम्यासयोगतः ।

स बुद्धिमता भाव्यं योगिना योगसिद्धये ॥ ७५ ॥

ए विद्मा महासिद्धेन रमेत्तेषु बुद्धिमान् ।

न ईयेत्स्वसामर्थ्यं यस्य कस्यापि योगिराट् ॥ ७६ ॥

य शूढो यथा मूर्खो यथा बधिर एव वा ।

त नर्तेत लोकस्य स्वसामर्थ्यस्य गुप्तये ॥ ७७ ॥

अं तु अवयेत्—क, अ १, अ २.      २ चित्र—अ १, अ २, क.

शिष्याश्वं स्वस्वकार्येणु प्रार्थयन्ति न संशयः ।  
 तत्तत्कर्मकरव्यग्रः स्वाभ्यासे विस्मृतो भवेत् ॥ ७८ ॥  
 सर्वव्यापारमुत्सुज्य योगनिष्ठो भवेद्यतिः ।  
 अविस्मृत्य गुरोर्वाक्यमध्यसेत्तदहर्निशम् ॥ ७९ ॥  
 एवं भवेद्द्वावस्था संतताभ्यासयोगतः ।  
 अनभ्यासवत्स्वैव वृथागोष्ट्या न सिध्यति ॥ ८० ॥  
 तस्मात्सर्वप्रयत्नेन योगमेव सदाऽभ्यसेत् ।

ततः किं जायते इत्यत आह—याममात्रमिति ॥ ८२ ॥ किं तत् ?  
 दूरशुतिरिति ॥ ७३-७५ ॥ यतः स्वात्तसिद्धिप्रकटनायोगस्तरायो भवति  
 तस्मात् सिद्धिजालोपेक्षापूर्वकं स्वसामर्थ्यं गोपयन् योगमेवाग्नेत् इत्याह—  
 एत इति ॥ ७६-७७ ॥ तत्तत्कर्मकरव्यग्रः तत्तत्कर्मणि व्यप्रचिच्छो  
 भवति । ततः स्वाभ्यासे ॥ ७८-७९ ॥ अभ्यासतः इयं घटावस्था  
 सिध्यति नान्यथेत्याह—एवमिति ॥ ८० ॥

परिचयावस्था

ततः परिचयावस्था जायतेऽभ्यासयोगतः ॥ ८ ॥  
 वायुः परिचितो यद्वादग्निना सह <sup>१</sup>कुण्डलीम् ।  
 भावयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदनिरोधतः ॥ ९ ॥  
 वायुना सह चित्तं च प्रविशेषं महापथम् ।  
 यस्य चित्तं <sup>२</sup>स्वप्नवनः सुषुम्नां प्रविशेदिह ॥ १० ॥

परिचयस्वरूपमाह—तत इति ॥ ८१ ॥ तत् कथं ? मुरिति ॥ ८२ ॥  
 महापथं सुषुम्नाद्वारमित्यर्थः । तदा सेयं परिचयावस्थेत्युच्यते ॥ ८३ ॥

<sup>१</sup> कुण्डली—क, अ १, अ २.

<sup>२</sup> स्वप्नवनं [सप्नवनः]—अ १.

पश्चभूतमण्डलेषु पश्चव्याधारणानि

भूमिरापोऽनलो वायुराकाशश्वेति १पञ्चकः ।

येषु पञ्चसु देवानां धारणा पञ्चधोच्यते ॥ ८४ ॥

पादादिजानुपर्यन्तं पृथिवीस्थानमुच्यते ।

पृथिवी चतुरश्रं च पीतवर्णं लवर्णकम् ॥ ८५ ॥

पार्थिवे वायुमारोप्य लकारेण समन्वितम् ।

ध्यायंश्चतुर्मुजाकारं चतुर्वक्त्रं हिरण्मयम् ॥ ८६ ॥

ध॒ येत्पञ्च घटिकाः पृथिवीजयमाभ्युत् ।

पृथिवीयोगतो मृत्युर्न भवेदस्य योगिनः ॥ ८७ ॥

तः नानोः पायुपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्तितम् ।

अ॑ ५३४८चन्द्रं शुक्रं च ४वंबीजं परिकीर्तितम् ॥ ८८ ॥

५४ इणे वायुमारोप्य वकारेण समन्वितम् ।

स॒ त्रिलोकायणं देवं चतुर्बाहुं किरीटिनम् ॥ ८९ ॥

त॒ स्फटिकसंकाशं पीतवाससमन्युतम् ।

ध॒ येत्पञ्च घटिकाः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ९० ॥

तः जलाद्यं नास्ति जले मृत्युर्न विद्यते ।

अ॑ ५४९०हृदयान्तं च वह्निस्थानं प्रकीर्तितम् ॥ ९१ ॥

५५ लकोणं रक्तं च रेफाक्षरसमुद्दवम् ।

त॒ वानिलमारोप्यं रेफाक्षरसमुज्ज्वलम् ॥ ९२ ॥

-क, अ २.

यं—अ १.

<sup>५</sup> वाक्यो—अ १.

त्रियक्षं वरदं रुद्रं तरुणादित्यसंनिभम् ।

भस्मोद्धुलितसर्वाङ्गं सुप्रसन्नमनुस्मरन् ॥ ९३ ॥

धारयेत्पञ्च घटिका वह्निऽसौ न <sup>१</sup>दशते ।

न दशते शरीरं च प्रविष्टस्याभिकुण्डके ॥ ९४ ॥

आहूदयाद्धुवोर्मध्यं वायुस्थानं प्रकीर्तिम् ।

वायुः पट्टकोणकं कृष्णं यकाराक्षरभासुरम् ॥ ९५ ॥

मास्तं मस्तां स्थानं यकाराक्षरभासुरम् ।

धारयेत्तत्र सर्वज्ञमीश्वरं विश्वांसुखम् ॥ ९६ ॥

धारयेत्पञ्च घटिका वायुवद्योमगो भवेत् ।

मरणं न तु वायोस्तु भयं भवति योगिनः ॥ ९७ ॥

आध्रूमध्यात्तु मूर्खान्तमाकाशस्थानमुच्यते ।

व्योम वृत्तं च धूम्रं च हकाराक्षरभासुरम् ॥ ९८ ॥

आकाशे वायुमारोप्य हकारोपरि शंकरम् ।

विन्दुरूपं महादेवं व्योमाकारं सदाशिवम् ॥ ९९ ॥

शुद्धस्फटिकसंकाशं धृतबालेन्दुमौलिनम् ।

पञ्चवक्त्रयुतं सौम्यं दशबाहुं त्रिलोचनम् ॥ १०० ॥

सर्वायुधैर्धृताकारं सर्वभूषणभूषितम् ।

उमार्धदेहं वरदं सर्वकारणकारणम् ॥ १०१ ॥

आकाशधारणात्तस्य खेचरत्वं भवेद्धुवम् ।

यत्र कुत्र स्थितो वाऽपि सुखमत्यन्तमभते ।.

<sup>1</sup> दा—क, अ १, अ २.

एवं च धारणा: पञ्च कुर्याद्योगी विश्वक्षणः ।  
 ततो हृष्णशरीरः स्यान्मृत्युस्तस्य न विद्यते ॥ १०३ ॥  
 ब्रह्मणः प्रलयेनापि न सीदति महामतिः ।

ततः स्वावयवप्रविभक्तपञ्चभूतमण्डले पञ्चब्रह्मधारणमाह—भूमिरिति ।  
 देवानां ब्रह्मादिसदाशिवान्तानाम् ॥ ८४ ॥ तत्रादौ पादादीति । पृथिवीशब्देन  
 पार्थिवमण्डलमुच्यते ॥ ८५ ॥ ततः पर्थिवे ॥ ८६-८७ ॥ अमण्डले  
 विष्णुध्यानं तत्फलं चाह—आजानोरिति ॥ ८८-९० ॥ वहिमण्डले  
 रुद्रध्यानं तत्पञ्चं चाह—आपायोरिति ॥ ९१-९४ ॥ वायुमण्डले ईश्वरध्यानं  
 तत्फलं चाह—आहृदयादिति ॥ ९५-९७ ॥ आकाशमण्डले सदाशिवध्यानं  
 तत्फलं चाह—आभ्रूमध्यादिति ॥ ९८-१०३ ॥

## सगुणध्यानम्

प्यसेत्तथा ध्यानं ऋटिकाषष्टिमेव च ॥ १०४ ॥  
 विनिरुद्ध्य चाकाशे देवतामिष्टदामिति ।  
 समाध्यानमेतत्स्यादणिमादिगुणप्रदम् ।  
 सगुणनिर्गमेदेन द्विप्रकारं ध्यानमाह—समभ्यसेदिति ॥ १०४ ॥

## निर्गुणध्यानतः समाधिसिद्धिः

निर्गुणध्यानयुक्तस्य समाधिश्च ततो भवेत् ॥ १०५ ॥  
 विनिरुद्धकेनैव समाधिं समवाप्नुयात् ।  
 निरुद्ध्य मेवावी जीवन्मुक्तो भवत्ययम् ॥ १०६ ॥  
 : समताऽवस्था जीवात्परमात्मनोः ।

ब्रह्मातिरिक्तं न किञ्चिदस्तीति तत्स्वरूपेणावस्थानं समाधिरित्यर्थः ॥ १०५ ॥ तथाविवं दिनद्वादशकेनैव ॥ १०६ ॥ समाधिशब्दं व्युत्पादयति—  
समाधिरिति । जीवात्मपरमात्मनोः वाच्यार्थवैषम्यत्यागापूर्वकं सयोः  
लक्ष्यरूपेण समताऽवस्थैव समाधिरित्यर्थः ॥

सिद्धयोगस्य स्वेच्छया देहत्यागात्मागौ

यदि स्वदेहमुत्त्वाषुमिच्छा चेदुत्सृजेत्स्वयम् ॥ १०७ ॥

परब्रह्मणि लीयेत न तस्योत्कान्तिरिष्यते ।

अथ नो चेत्समुत्त्वाणुं स्वशरीरं प्रियं यदि ॥ १०८ ॥

सर्वलोकेषु विहरन्नणिमादिगुणान्वितः ।

कदाचित्स्वेच्छया देवो भूत्वा स्वर्गे महीयते ॥ १०९ ॥

मनुष्यो वाऽपि यक्षो वा स्वेच्छयाऽपि क्षणात् ।

सिंहो व्याघ्रो गजो वाऽध्यः स्वेच्छया बहुतामि त् ॥ ११० ॥

यथेष्टमेव वर्तेत योगी यद्वा महेधरः ।

अभ्यासमेदतो भेदः फलं तु सममेव हि ॥ १ ॥

यः स्वातिरेकेणाभासतोऽपि शरीरत्रयमस्तीति म नि सोऽयं योगी  
तस्यक्त्वा परब्रह्मणि लीयते । यदेवं नहि लक्षुमिच्छति नि त्रशक्ति प्रकटयन्  
आभूतसंश्लवं अस्मिन् लोके विहरेदित्याह—यदीति ॥ १०७—११० ॥  
अभ्यासतत्पलमेदेन भिद्यते । तत्रान्तराळिकफलनिरपेक्ष मरुत्यफलं कैवल्यं  
सममेवत्यर्थः ॥ १११ ॥

## महाबन्धलक्षणम्

पार्थिण वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।  
 प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेदृढम् ॥ ११२ ॥  
 चुबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेद्वायुना पुनः ।  
 कुम्भकेन यथाशक्त्या धारयित्वा तु रेचयेत् ॥ ११३ ॥  
 वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेन <sup>१</sup>समभ्यसेत् ।  
 प्रसरितस्तु यः पादस्तमूरूपरि मानयेत् ॥ ११४ ॥  
 अवधेव महाबन्ध उभयत्रैवमध्यसेत्

महामुद्रा<sup>२</sup> क्षणं अन्यत्रास्त्रायते-

वक्षोऽस्ताहनुर्निर्णीड्य सुषिरं योनेश्च वामांधिणा  
 हनुभ्यामनुधारयन् प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् ।  
 आपूर्य धसनेन कुक्षियुगलं मूर्खं स्थितं धारये-  
 देवं पातकनाशनी ननु महामुद्रा नृणां प्रोच्यते ॥

इति । महाबृलक्षणमाह—पार्थिणमिति ॥ ११२—११३ ॥ मानयेत्  
 समर्पयेत् आरोप्य देत्यर्थः ॥ ११४ ॥ अभ्यसेत् वामांगवत् दक्षाङ्गेऽपीत्यर्थः

## महावेधलक्षणम्

महा भस्त्रितो योगी कृत्वा पूरकमेकघीः ॥ ११९ ॥  
 वाम <sup>३</sup> गतिमाँवृत्य निष्ठतं कण्ठमुद्रया ।  
 अमाक्ष्य वायुः स्फुरति सत्वरम् ॥ १२० ॥  
 अया महावेधः सिद्धैरभ्यस्त्रतेऽनिशम् ।

<sup>१</sup> ततोभ्य—क, <sup>२</sup> वायुना—क, अ १, अ २. <sup>३</sup> हस्त—अ १.

वेघस्वरूपमाह—महाबन्धेति ॥ ११५ ॥ उच्छ्वासनिश्चासरेचक-  
शुरुकवायूनां गर्ति आवृत्य आच्छाद्य कण्ठसुद्रया जालन्धरबन्धेन निरुद्ध्य  
ततः प्रगवायुः इडापिंगलापुटद्वयं सम्यगाक्रम्य अतिक्रम्य सत्त्वरं सुषुप्तायां  
स्फुरतीति यत् अयमेव ॥ ११६ ॥

खेचरीस्वरूपम्

अन्तः कपालकुहरे जिह्वां व्यावृत्य धारेत् ॥ ११७ ॥  
भ्रूमध्यहृष्टिरप्येषा मुद्रा भवति खेचरी

खेचरीस्वरूपमाह—अन्तारिति ॥ ११७ ॥

बन्धप्रयस्वरूपं तत्फलं च

कण्ठमाकुञ्ज्य हृदये स्थापयेहृदया विर ॥ १८ ॥  
बन्धो जालंधराख्योऽयं मृत्युमातङ्गकेर ।  
बन्धो येन सुषुप्तायां प्राणस्त्वूङ्गीयते यः ॥ १९ ॥  
उद्याणाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभिः मुद्राः ।  
पार्णिभागेन संपीडय योनिमाकुञ्ज्येहृद ॥ २० ॥  
अपानमूर्ध्वमृत्याप्य योनिबन्धोऽयमुच्य ।  
प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकता ॥ २१ ॥  
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र ।  
बन्धप्रयस्वरूपं तत्फलं चाह—कण्ठभिति ॥ १२१ ॥

विपरीतकरणीलक्षणं तत्फलं च

करणी विपरीतास्या <sup>१</sup>सर्वाधिव्याधिनाशिनी ॥ १२२ ॥

नित्यमन्यासथुक्तस्य जाठराग्निविवर्धनी ।

आहारा बहवस्तस्य <sup>३</sup>संपाद्यः साधकस्य च ॥ १२३ ॥

अल्पाहारा यदि भवेदग्निर्देहं हरेत्क्षणात् ।

अधःशिरश्चर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ १२४ ॥

<sup>४</sup>क्षणात् ग्रीष्मिदिने चिदधिकमन्यसे<sup>५</sup>तु दिनेदिने ।

वल्लं च पहातं चैव षण्मासार्धान्न दृश्यते ॥ १२५ ॥

यामात्रं प्रभ्य यो नित्यमन्यसेत्स तु कालजित् ।

एवं गुर्नित्फलं चाह—करणीति ॥ १२२—१२३ ॥

स्वस्थितिविपरीता क्रिम्नु इति विपरीतकरणी । तदेव प्रपञ्चयति—  
अध इति ॥ १२४—१२५ ॥

कर-

वज्रोलीस्वरूपम्

म

ग्रीष्मं सेद्यस्तु स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ १२६ ॥

या तस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता ।

ग्रीष्मं तं वेत्ति खेचरी च भवेहूवम् ॥ १२७ ॥

तत्फलं तत्फलं चाह—वज्रोलीमिति । किं नाम वज्रोली ?

कांस्यपत्रे गोव्य <sup>६</sup>क्षिप्य वज्रोलीतुल्यलिङ्गाक्लेन प्रसित्वा पुनर्विरेच्य  
प्राप्तः ॥

अ १, अ २. <sup>३</sup> रो बहुल—अ १, अ ३. रो बहुश—क.

हृ१, अ २. <sup>४</sup> क्षणात्—क, अ १, अ ३.

<sup>५</sup> च—ग १।

ुनप्रेसनादिकमभ्यस्याथ खीयोनिमण्डले रेतो विसृज्य तच्छोणितेन साकं प्रसेदिति यत् सैव वज्रोलीत्युच्यते । यस्तामभ्यस्यति स तु सिद्धो मवतीत्याह—लभ्यत इति । सोऽयं योगी अतीतनागतं वेत्ति । तस्यैव लेचरी ॥ १२६—१२७ ॥

अमरोलीस्वरूपम्

अमरीं यः पिवेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिनं दिने ।

वज्रोलीमभ्यसेन्नित्यममरोलीति कथ्यते ॥ १२८ ॥

अमरोलीस्वरूपमाह—अमरीमिति । अमरीश न भूत्रमुच्यते । तत्र प्रथमान्यधारे विहाय मध्यधारां हस्ते पात्रे वा गृहीत्वा योऽयं योगी तत्त्वमागं दिनेदिने पिबन् नासापुट्योः नस्यं कुर्वन् ति यं व वज्रोलीमभ्यसेत् इति यत् सैव अमरोलीति कथ्यते । तथा च हठयोगतन् अभिः नम्—

पित्तोल्बणत्वात् प्रथमां च धारां

विहाय निस्सारतयाऽन्यधागम ।

निषेद्यते शीतलमध्यधारा

वज्रोलिसिद्धंगमगोलिसिद्धं ॥

इति । एवमगोलीसिद्धस्यामगीपाननस्यं विना ; रि द्वारदेति सैव प्रहजोलीत्युच्यते ॥ १२८ ॥

राजयोगनिष्पत्तिः

ततो भवेद्राजयोगे नान्तरा भवति ध्रुवम्

यदा तु राजयोगेन निष्पत्ता योगिभिः ५ याः । १२९ ॥

तदा विवेकत्वैराग्यं जायते योगिनो ध्रुवम्

विष्णुर्नाम महायोगी महाभूतो महातपाः । ६० ॥

तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुंरुषोत्तमः ।

<sup>1</sup> क्रिया—क, अ १, अ २.

राजयोगस्वरूपमाह—तत इति । न हि विशल्यवयवहठाभ्यासमन्तरा  
राजयोगो भवतीत्यर्थः ॥ १२९ ॥ हठयोगसिद्धोऽयं राजयोगः योगराजत्वात् ।  
तत्रैव हि भगवान् दृश्टे इत्याह—विष्णुगिति । क्षराक्षरकलनाविरल्पुरुषोत्त-  
मतत्त्वस्य सोऽहमस्मीति जयोगेनैव लक्षितत्वात् ॥ १३० ॥

### दैराग्यहेतुनिरूपणम्

यः स्तनः शूर्वपीतमन्तं निष्पीडच मुदमश्चुते ॥ १३१ ॥  
य माज्जा । भगात्पूर्वं तस्मिन्नेव भगे रमन् ।  
य माता ग पुनर्भार्या या भार्या मातरेव हि ॥ १३२ ॥  
इ पिता । पुनः पुत्रो यः पुत्रः स पुनः पिता ।  
एव संसा क्रेण कूपचक्रे घटा इव ॥ १३३ ॥  
ब्रा न्तो निजन्मानि श्रुत्वा लोकान् समश्चुते ।

पुरुषोत्त चाति द्विगदिबाहौरैराग्यहेतवे इदमान्नायते—यः स्तन इति ।  
तं तादृशमित्यर्थः ॥ १३ ॥ तस्मिन्नेव तथाविधे भगे रमन् रमणो मुदमश्चुते ।  
अस्मिन् जन्मा या गता सा पुनः भवान्तरे भार्या भवति, या भार्या  
सा भवान्तरे म व अ गीत्याह—या मातेति । मातरेव मातैवेत्यर्थः ॥ १३२ ॥  
एवं पुरुषोत्तमर शादि तं किञ्चिदप्यस्तीति पश्यन्तः कूपचक्रे घटा इव—  
संसारचक्रेणेति तृतीया सप्तम्यर्था—संसारचक्रे ॥ १३३ ॥ परिब्रमन्तो  
नानायोनिषु जन्म त रजन्ते । यतः पवं अतः “ब्रह्मव सर्वे” “ब्रह्मातिरिक्तं  
न किञ्चिदस्ति” ते मुल्याचार्यमुखतः श्रुत्वा मुमुक्षुरुत्तमलोकान् ब्रह्माद्यावास-  
भूतान् समश्चुते । यावद्ग्रोपाधि तावदुषित्वा तेन साकं कैवल्यं  
लभन्ते ॥

हन्त्ये प्रणवोपासनम्

३ त्रयो लोकाख्यो वेदास्तित्वः संध्याक्रयः स्वरा: ॥ १३४ ॥

त्रयोऽप्यश्च त्रिगुणः स्थिताः सर्वे<sup>१</sup> त्रः

त्रयाणामक्षराणां च योऽधीतेऽप्यर्धमक्षर ॥ १३५ ॥

तेन सर्वमिदं प्रोतं तत्सत्यं तत्परं पदम्

पृष्ठमध्ये यथा गन्धः पयोमध्ये यथा षट् ॥ १३६ ॥

तिलमध्ये यथा तैलं पाषाणं चिव काञ्छनः

हृदि स्थाने स्थितं पदं तस्य वक्रमधोमुर ॥ १३७ ॥

ऊर्ध्वनालमधोत्रिन्दुस्तस्य मध्ये स्थितं नः ।

अकारे रेत्रितं पदमुकारेणैव भिद्यते ॥ १३८ ॥

मकारे लभते नादमर्धमात्रा तु निश्चला ।

शुद्धस्फटिकमंकाशं निष्कलं पापनाशनम् ॥ १३९ ॥

लभते योगयुक्तात्मा पुरुषस्तत्परं पदम्

तदुपायत्वेन परापरब्रह्मगोचराकारादिमात्राचतुर्यविशिष्टप्रणवोपासनानाचष्टे—त्रय इति । प्रणवावयवाकारादित्यक्षेरे क्रमेण गाराद्यः त्रयो लोकाः, स्त्रगादयः त्रयो वेदाः, प्रातःसन्ध्यादिसन्ध्याः तिस्रः, मकारोक्तारमकारभेदेन तस्यः स्वरा: ॥ १३४ ॥ गार्हण्यादिभेदेन अप्रयः उत्तरः, सत्यादित्रिगुणात्मकं सर्वे स्थिताः प्रतिष्ठिता इत्यर्थः । अकारादित्रयाणामभ्यां तदारोपाधिकरणवेश्विराडोत्रादिप्राङ्मीजानुङ्गकरसान्तानां सविशेषत्वेऽलंकत्रयादित्रिगुणात्माश्रयाकारादिमात्रात्रयतदध्यक्षापवादाधिकरणाधर्ममात्रासंग धर्मश्चरं तुर्यचैतत्त्वं विहासमीति योऽधीते श्रुत्याचार्यमुखतो जानाति ॥ १३५ ॥ तेन

<sup>१</sup> वियक्षरे—उ.

<sup>२</sup> तस्य— अ १. अ २.

तुर्यभावमापनेन योगिना सर्वमिदं प्रपञ्चजातं प्रोत्सं अहमेवेदं सर्वमिति व्याप्तम् । यद्वाप्यसापेक्षव्यापकतापहवसिद्धं तत् सत्यम् । यत् सत्ताभावं तदेव परं निरतिशयं स्वावशेषतया पद्यते इति पदं ब्रह्मात्रमवशिष्यते इतीर्थः । कथं पुनः तुर्यस्य सर्वप्रोतत्वं नेत्यत्र दृष्टान्तचतुष्टयमाच्छेष्ट—पुच्छेति ॥ १३६ ॥ यथा हेमनिमिळः [बिड] इति यां निर्विशेषतया काङ्गनं तत् सर्वं व्याप्य वर्तने तथा इतीर्थः । यदेवं वा पक्षैतन्यं तदुपलब्धिस्थाननिर्देशपूर्वकं तन्त्वम् परं तज्जानफलं च विद्यते—हृदिस्थानं इति । हृदिस्थाने उग्रोभागे कदलीपुर्ण्यवदूर्ध्वनालङ्घं यथोवक्त्रं हृत्पद्मं स्थितं भवति ॥ १३७ ॥ तदधोभागे विन्दुव्याहृत्याशं विद्यते । नस्य मध्ये मनउपलक्षितं लिंगशरांगं वर्तते । तत्र तद्वित्तिस्त्रभावाभावप्रकाशकतया प्रव्यचैतन्यं स्थितं भवति । तदूर्ध्वनयनार्थं विकर्षार्थं तद्वत्चैतन्यसाक्षात्कारार्थं चोपायमाह—अकार इति । अकारं विगडांतुचैतन्ये साक्षात्कृते सति हृत्पद्ममूर्खतया रेचितं उत्थितं भवति । उकारतदव्यक्षतंजससूत्रानुज्ञातुचैतन्यसाक्षात्कारेण तत् पदं भिद्यते विकासाक्षात्कृते सति ना भिगतत्त्वं तदात्मकप्रणवनादां विजृम्भते । अकारादिमात्रां तु द्वितीयविकल्पाधिष्ठिता निश्चला भवति । तत्र तृतीयापापजालं नश्यति तत् शुद्धस्फटिकसङ्काशं पापनाशनं वस्तुतो नि भतियोगिकनिष्कलं यत् स्वमात्रमवशिष्यते ॥ १३९ ॥ यथोक्तयोगयुक्तात्मा । इषः तत् परं पदं लभते क्रुतकृत्यो भवतीत्यर्थः ॥

करणव्यापारोपर्वतिः आन्मावगन्युपायः

कूर्मः स्व णिपादादिदिशरश्चान्मनि धारयेत् ॥ १४० ॥

एवं द्वारं सर्वेषु वायुपूरितेरेचितः ।

निषिद्धे नवद्वारे ऊर्ध्वं प्राण॑निःश्वासस्तथा ॥ १४१ ॥

घटमध्ये यथा दीपो निवातं कुम्भकं विदुः ।

● निषिद्धैर्नवभिर्द्वारैर्निर्जने निरुपद्रवं ॥ १४२ ॥  
निश्चितं त्वात्ममात्रेणावशिष्टं योगसेवर ॥

इत्युपनिषत् ॥

तद्वगत्युपायस्तु सर्वकरणान्यापृत्युपरतिगव्य  
कूर्मः स्वाङ्गान्युपसंहृय शिलावत् वर्तने ॥ १४ ॥ एवं योगी नवद्वारेषु  
सर्वेषु नार्डीद्वारेषु च वायुपूरितरेचिनः पूर्व तकावस्थायां वायुना  
पूरितरेचिनार्डासुपिरावच्छन्ननिव्यापागदेहविशिष्टो भवते । चक्रायुगकादिव्यापारं  
विना मुषुम्नामार्गेण ऊर्जनिःधासां भवेदित्याह—निषेद्ध इति । नवद्वारे  
निषिद्धे निरुद्धे मन्यथ मुषुम्नायाः प्राक पृथग्द्वारं मृगम्यं भित्वा अथोर्ध्वं  
निःश्वासः निर्गतश्वासव्यापागे भवेत्, केवलकुम्भकं अंगित्यर्थः ॥ १४१ ॥  
कुम्भकलक्षणमाह—घटमध्य इति । एवं केवलकुम्भय गेन आत्मतत्त्वमवगम्य  
कृतार्थो भवेदित्युपसंहगति—निषिद्धैरिति । स्व आपृतिनिषिद्धः निरुद्धः  
नवद्वारैः विशिष्टदेहो योगी निर्जने निरुपद्रवं ॥ १४२ ॥ निर्विकल्पकयोगसेवया कवल्यनार्डी द्वितीया सनमास्थाय  
शिष्टमिति तत्त्वज्ञानेन निश्चितं विकल्पेवर्गकवल्यं भवते तत्र आत्ममात्रेणाव-  
धारणार्थः । इत्युपनिषच्छब्दौ योगतत्त्वोपनिषत्समाप्तिः ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्वालयोगिना ।

लिखितं स्याद्विवरणं योगतत्त्वस्य सुस्फुटम्

योगतत्त्वविवरणं पष्ठुत्तरशतद्वयम् ॥

इति श्रीमदीशाश्रोतरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे एकच ॥ रिशत्संख्यापूरकं  
योगतत्त्वोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम् ॥

# योगशिखोपनिषत्

नह नाववतु इति शान्तिः

## प्रथमोऽध्यायः

मुक्तिमार्गजिज्ञासा

सर्वे जीवा ग्रुवैदुःखैर्माया जालेन वैष्टितः ।  
तेषां मुक्ति क्रियं देव कृपया वद शंकर ॥ १ ॥  
सर्वसिद्धिक मार्गं मायाजालनिकृन्तनम् ।  
जन्ममृत्युज व्याधिनाशनं सुखदं वद ॥ २ ॥

इति ॥

योगज्ञाने यत् शस्त्रिसाधनत्वेन विश्रुते ।  
तत्त्वपदं ब्रह्मत्वं स्वमात्रमवशिष्यते ॥

इह खलु कृप्य सर्वस्वप्रकटनव्यग्रा ब्रिविवरणमारभ्यते । शिखा का तु विद्यास्तुत्यर्था किं तदित्यत्र—सर्वेति जुवेदप्रविभक्तेयं योगशिखोपनिषत् ससाधनज्ञानयोग-गात्रविश्रान्ता विजयते । अस्याः स्वल्पग्रन्थतो चार्यभावं गतचतुराणनमहेश्वरप्रभप्रतिवचनरूपाख्यायिः आदौ आख्यायिकाभवतारयति—सर्वे इति ॥ १ ॥ २ ॥

## मुक्तिमार्गस्य दुर्लभत्वम्

हिरण्यगर्भः पप्रच्छ स होवाच महेश्वरः  
 नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदं ॥ ३ ॥  
 सिद्धिमार्गेण लभते नान्यथा पद्मसंभव

लोकोपकारार्थं महेश्वरं प्रति हिरण्यगर्भः पच्छ । तत्प्रश्नमंगीकृत्य  
 स होवाच । किं तदुवाचेन्यत्र वक्ष्यमाणार्थं प्रकाः पन् स्तौते—नानेति ।  
 निर्विशेषज्ञानंकगम्यत्वात् ॥ ३ ॥ “नान्यः पन्थाः अयनाय विद्यते” इति  
 श्रुतिसिद्धिमार्गेण । कैवल्यसिद्धिप्रदाऽऽयं मार्गो वशषब्रह्मप्रात्रज्ञानरूपः  
 तेनव कैवल्यं लभते नान्यथेत्यर्थः ॥

## ब्रह्म कैवल्यास्त्वागम्यम्

पतिताः शाश्वतालेषु प्रज्ञया तेन मोहि  
 स्वात्मप्रकाशरूपं तत् किं शाश्वेण प्रका  
 निष्कलं निर्मलं शान्तं सर्वातीतं निराम  
 तदेव जीवरूपेण पुण्यपापफलैर्वृत्तम् ।  
 परमात्मपदं नित्यं तत्कथं जीवतां गतम् ॥ ६ ॥  
 तत्त्वातीतं महादेव प्रसादात्कथयेश्वर ।

उन्मार्गगमिन आभासज्ञानिनो विडम्बयति— तेता इति । ब्रह्मचर्य-  
 गुरुकुलवाससाधनचतुष्यादिकं विस्मृत्य “तन्त्रतः मयाऽधीतं नाधीतं  
 तुर्यतन्त्रकं” इत्यादिस्वरूपदर्शनसिद्धाङ्गोत्तरीत्या पाँ : ॥ ४ ॥ शाश्वेण  
 ब्रह्म प्रकाशयते इत्यत्र स्वात्मेति ब्रह्मणो व्याविदं द्वाक्यार्थत्वेन स्वयं-  
 प्रकाशरूपत्वात्, “येनार्थवन्ति तं किं तु वित्तारं प्रकाशयेत्” ।

स्वात्मप्रकाशरूपं ब्रह्म कीदृशं इत्यत्र—निष्कळमिति । प्राणादिनामान्तषोडश-  
कलाऽपहवसिद्धं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकनिष्कलं ब्रह्मात्रमित्यर्थः ॥ ७ ॥ निष्कळत्य  
ब्रह्मात्रत्वे जीवजातं द्वेष्टमित्यत आह—तदेवेति । यत् स्वज्ञदर्शका स्वमात्रं  
अवशिष्टं स्वाज्ञदर्शया च । कथं पुनः ब्रह्म जीवत्वं भजतीयाक्षिपति—  
परमात्मेति ॥ ८ ॥ ततः कीदृशं? तत्वातीतम् ॥

ब्रह्मणो जीवभावः

१ मर्वभावप॑ तीतं ज्ञानरूपं निरञ्जनम् ॥ ७ ॥  
वायुवत्सु रतं स्वमिमस्तत्राहंकृतिस्तिथिता ।  
पञ्चात्मकं गूरुं पिण्डं धातुबद्धं गुणात्मकम् ॥ ८ ॥  
सुखदुःखै रमायुक्तं जीवभावनया कुरु ।  
तेन जीवा प्रोक्ता विशुद्धे परमात्मनि ॥ ९ ॥

प्रश्नोत्तं भगव- ह—सर्वेति ॥ ७ ॥ तदेव स्वाज्ञदर्शया व्योग्नि  
वायुवन इति । तत्स गात् पञ्चात्मकमभून् पिण्डम् । यत्निष्प्रतियोगिक-  
स्वज्ञादिदर्शया किञ्चित् स्फुरितं सत् साक्षिभावं भजति ।  
त्रिपाद्वृत्तिरेव नियम्भूतिवा चकान्ति । नियम्भूतिरेव पूर्णाहम्भावमेल्य लीलाभूतिः  
भवति । लीलाभूतिपे परिच्छिन्नपिण्डाभिमानात् मोहभूतिः । साऽपि  
पिण्डादिरूपेण जडभूति भवतीत्यर्थः ॥ ८-९ ॥

१ गामादिदोषविमुक्तजीवस्य शिवन्वम्  
कामक्रा यं चापि मोहलोभमथो रजः ।  
जन्म मृत्युश्च कार्पण्यं शोकस्तन्द्रा क्षुधा तृषा ॥ १० ॥  
१ महेश्वरः इत्यर्थः—अ.

तृष्णा लज्जा भयं दुःखं विषादो हर्षं<sup>१</sup> एव च ।

एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः स जीवः शिव उच्यते ॥ ११ ॥

त्रिपादेव परिच्छिङ्गपिण्डाभिमानात् मोहभूतिलभजतीत्युक्तं पुनर्मोहभूतेः  
लीलादिभूतित्वं कथमित्यत्र त्रिपादस्मीति प्रवोधतः इण्डाद्यभिमतिमूलकामादि-  
वृत्तिल्यागसमकालं त्रिपाद्वृत्तिरेव भवतीत्याह—कामो ॥ १० ॥ कामादिवृत्ति-  
परिप्रह एव दोषः, त्रिपाद्वृत्तेः मोहभूतिप्रापकल्यान् ॥ ११ ॥

ज्ञानयोगाभ्यां दोषविनाशः

तस्माद्वोषविनाशार्थमुपायं कथयामि ते  
ज्ञानं केचिद्वद्वन्न्यत्र केवलं तत्र सिद्धये १२ ॥

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भो  
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षक  
तस्माज्ञानं च योगं च मुक्षुर्दद्मभ्य ॥ १३ ॥

यस्मादेवं कामादिवृत्तिसंगादनथों जातः तस्मा  
प्रापकोपायः कः इत्यत्र “पश्यतेहापि सन्मात्रमसदन्य  
किञ्चिदस्ति,” “ब्रह्मात्रमसन्नहि,” इत्यादिश्रुतिसिद्धर-  
ज्ञानप्रादुर्भूतनिष्प्रतियोगिकब्रह्मात्रज्ञानसमकालं त्रैपदब्र-  
ल्लेबकैवल्यं स्यादित्यत्र न विवादः, स्वज्ञानप्रभव-  
धिकत्वात् तज्ज्ञानस्य चरमजन्माश्रयत्वात् । तद्विना सवि-  
॥ १२-१३ ॥ यथोक्तसाधनविकल्पद्वचित्ताश्रिताभास-  
साधनानीशत्वात् विविधफल्लुसिद्धिप्रापकाभासयोगस्यां  
नीशत्वात् यस्मादेतावाभासज्ञानयोगौ प्रातिस्विकेन स्त-

मोहभूतेत्विपाद्वृत्तित्व-  
” “ब्रह्मवित्तिरिक्तं न  
तिरिक्तासत्प्रपञ्चापहव-  
त्रावस्थानलक्षणविक-  
ीवत्वादेः स्वज्ञानाव-  
भासज्ञानं केचिदिति  
विशेषज्ञानस्य स्वफल-  
मुख्ययोगफलप्रापणा-  
लसाधनानीशौ भवतः

<sup>१</sup> मेष—अ, अ १, क, उ १.

तस्मात् ज्ञानयोगौ समुच्चित्य मुमुक्षुः हठमभ्यसेत् । तेनाभासज्ञानयोगौ स्वगताभासतां विहाय निष्ठ्रातियोगिकनिर्विशेषब्रह्मात्रज्ञानपर्यवसन्नो भवतः । तथा च श्रुतिः “शास्ति हात्ममत्तेण मलेन क्षात्व्यते मलम्” इत्यादि । तत्र योगाभासस्तु आभासज्ञानं ताभासत्त्वं निर्मूल्य निर्विशेषज्ञानपर्यवसन्नो भवति ॥

## ज्ञानस्वरूपं तत्कलं च

|                  |  |
|------------------|--|
| ज्ञानस्वरूपं     | वादौ ज्ञेयं ज्ञानैकमाध्यनम् ॥ १४ ॥     |
| अज्ञानं कं       | शं चेति प्रविचार्य मुमुक्षुणा ।        |
| ज्ञातं येन       | ैनं रूपं कैवल्यं परमं पदम् ॥ १५ ॥      |
| असौ दोर्ग        | निर्मुक्तः कामक्रोधभयादिभिः ।          |
| सर्वदोषैर्वृत्त  | जीवः कथं ज्ञानेन मुच्यते ॥ १६ ॥        |
| स्वात्मरूपं      | था ज्ञानं पूर्णं तद्यापकं तथा ।        |
| कामक्रोधं        | दोषाणां स्वरूपान्नास्ति भिन्नता ॥ १७ ॥ |
| पश्चात्तत्त्व्यं | भिः किं नु निषेषोऽपि कथं भवेत् ।       |
| विवेकी म         | मुक्तः संसारब्रह्मवर्जितः ॥ १८ ॥       |
| परिपूर्णस्त्वं   | यं तत्सत्यं कमलसंभव ।                  |
| सकलं नि          | त्तलं चैव पूर्णत्वाच्च तदेव हि ॥ १९ ॥  |

यत् एवमतो निर्विशेषज्ञानं स्वफलसाधनसमर्थं स्यादेवेति मनसि निधाय मुमुक्षुभिः ज्ञानाज्ञाने ज्ञातत्त्वेत्याह—ज्ञानेति ॥ १४ ॥ तत्र निर्विशेषज्ञान-स्वरूपमाह—ज्ञातभिः ॥ । तदेव यथोक्तज्ञानमित्यर्थः ॥ १९ ॥ य एवं

<sup>1</sup> ज्ञातं—अ, अ

<sup>2</sup> स्वरूपं ना—क, अ १, उ १.

<sup>3</sup> किं तु—क, अ

ज्ञानीं सोऽयं असौ । कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः । पुनराभासज्ञानाभिप्रायेणाक्षिपति ।  
किमिति? कामकोधादिसर्वदोषैर्गिति । कामकोधादयो दोषाः स्वाज्ञानवि-  
जृम्भिताः ॥ १६ ॥ सर्वदोषप्रासस्वज्ञाने वा तदेकान्द्रे स्वात्मनि दोषासम्भवं  
प्रकटयन् परिहरति—स्वात्मेति । यथा स्वात्मह सर्वपरिपूर्णं व्याप्यसत्त्वे  
व्यापकमपि भवति तथा तदोचरज्ञानस्य तन्मात्रप वसन्त्वात् तत् भिद्यते ।  
स्वात्मातिरेकेण ज्ञानाभावेऽपि कामादिदोषाः तद्विक भवेयुग्लित आह—  
कामेति । न हि निग्रतियोगिकब्रह्ममात्रे कामादिदोषशः स्यात् वेति स्मृतिर्वा  
कथं सेदुं पायति ब्रह्मात्रगतनिग्रतियोगिक याः स्वातिगित्तमस्ति  
नास्तीति गन्धासहत्वात् ॥ १७ ॥ एवं ज्ञानीं तकृत्यो भवतीत्याह—  
विवेकीति ॥ १८ ॥ तस्यव ब्रह्मत्वमाह—परिपूर्णेति । सांसारिकब्रह्मविगळ-  
ब्रह्मविदो ब्रह्मत्वात् यत् सत्यमिति व्यातं तदेव स दिदृष्ट्या सकलादिभावं  
भजतीत्याह—सकलमिति ॥ १९ ॥

आभासज्ञान्यज्ञानिनोरविशेषः

|   |                         |
|---|-------------------------|
| १ कलिना स्मूर्तिरूपेण संसारब्रह्मतां गतम<br>निष्कलं निर्षेलं साक्षात्सकलं गगनोपमम<br>उत्पत्तिस्थितिसंहारस्मूर्तिज्ञानविवर्जितम्<br>एतद्वूपं समायातः स कथं मोहमागरे ॥ १ ॥<br>निमज्जति महाबाहो त्यक्त्वा विद्यां पुनः ॥ २ ॥<br>सुखदुःखादिमोहेषु यथा संसारिणां स्थिरं ॥ २२ ॥<br>तथा ज्ञानी यदा तिष्ठेद्वासनावासितस्तदा ।<br>तयोर्नास्ति विशेषोऽत्र समा संसारभावना ॥ २३ ॥<br>ज्ञानं चेदीदृशं ज्ञातमज्ञानं कीदृशं पुनः | २० ॥<br>॥ २ ॥<br>॥ २३ ॥ |
|---|-------------------------|

<sup>1</sup> कलना—अ, अ १.

अप्रकाशकल्यन्तःकरणयोगात् संसारित्वं भजतीवेत्याह—कलिनेति  
वस्तुतस्तु निष्कलम् ॥ २० ॥ यन्निकलमित्यादिविशेषणविशिष्टमेतद्वा  
चित्तशुद्धिसाधनचतुष्यसमात्यभावेऽपि येन केनोपायेन समार्थीतो यहि  
ज्ञानी तदा कृतकृत्यो भवेत्, स कथं स्वात्मज्ञानं विहाय स्वाज्ञवन्मोहसागरे  
निमज्जतीति प्रश्नोत्तरं अवानाह—सुखेति ॥ २१-२२ ॥ तथा अयमाभास-  
ज्ञानी । स्वाज्ञानेनास्यापि गमा ॥ २३ ॥ आभासज्ञानिनः ज्ञानम् । आभासज्ञाना-  
ज्ञानयोरविरोधादेकार्थपर्यं सायित्वं युज्यत इत्यर्थः ।

अप्रसज्ञानिनो योगेन विना न मोक्षसिद्धिः

ज्ञाननिष्ठोऽप्रक्रोडपि धर्मज्ञोऽविजितेन्द्रियः ॥ २४ ॥

विना देहे त योगेन न मोक्षं लभते विधे ।

अपक्वा: पक्वाश्च देहिनो द्विविधाः स्मृताः ॥ २५ ॥

अपक्वा य त्रिनास्तु पक्वा योगेन देहिनः ।

मर्वा योग ना देहो द्व्यजडः शोकवर्जितः ॥ २६ ॥

जडस्तु प वो ज्ञेयो ह्यपको दुःखदो भवेत् ।

तस्य योगं विना अविजित्विकरतामाह—ज्ञानेति । स्वारोपितज्ञाननिष्ठः ।  
ज्ञानतो धर्मज्ञः । स अविजितेन्द्रियः ॥ २४ ॥ अयमाभासज्ञानी योगेन  
विना स्वात्मज्ञानगताम भलं संक्षात्य शुद्धं ज्ञानं प्राप्य तत्समकालं न कदापि  
मोक्षं लभते, योगोद्य चित्तमलशोधकत्वात् । नव्यशुद्धनिज्ञासादितज्ञानं  
कार्यकारि भवतीत्यर्थः आभासपारमार्थिकभेदेन ज्ञानिनौ द्विविधावित्याह—  
अपक इति ॥ २५ ॥ केवलाभासज्ञानिनः अपक्वा: अशुद्धान्तरत्वात् ।  
योगेन पक्वा: पारमाक्वज्ञानिनः इत्यर्थः । शुद्धाशुद्धज्ञानिनोरधिष्ठितदेहादेः  
जडाजडतामाह—सर्वतः । ज्ञानाग्निदग्धकल्पषत्वात् ज्ञानिदेहादेरजडत्वं युज्यते  
इत्यत्र “यथैव मृणमयः अम्भः तद्देहोऽपि चिन्मयः” इति श्रतेः ॥ २६ ॥

आभासज्जानिनां दुःखानिवृत्तिः

ध्यानस्थोऽसौं तथाऽन्येवमिन्द्रियविवरां भवेत् ॥ २७ ॥

तानि गाढं नियम्यापि तथाऽप्यन्यैः प्र-

शीतोष्णसुखदुःखाद्यैर्व्याधिभिर्मानसैस्तथ ॥ २८ ॥

अन्यैर्नानाविघैर्जीवैः शक्ताश्चिजलमालैः

शरीरं पीड्यते तैस्तैश्चित्तं संक्षुप्यते तनः ॥ २९ ॥

तथा प्राणविषपत्तौ तु क्षोभमायाति मारुनः

ततो दुःखशैर्व्यासं चित्तं क्षुब्धं भवनृण ॥ ३० ॥

देहावसानसमये चित्ते यद्यद्विभावयेत्

तत्तदेव भवेजीव इत्येवं जन्मकारणम् ॥ १ ॥

देहान्ते किं भवेज्जन्म तत्र जानन्ति मा: ।

तस्माज्ज्ञानं च वैराग्यं जीवस्य केवलं ॥ ३२ ॥

पिपीलिका यथा[दा :]लम्भा देहे ध्यानार्थं च्यते ।

असौ किं कृश्चिकैर्दृष्टो देहान्ते वा कर्यं : जी ॥ ३३ ॥

तस्मान्मूढा न जानन्ति मिथ्यातकेण वर्ता: ।

यद्याभासज्जानी शुद्धज्ञानिवत् ध्यानस्थः । विंगो भवेत् ब्रह्मातिरेकेण  
इन्द्रियादिकं नास्तीत्यसमाहितकरणप्रामत्वात् ॥ २ ॥ यथाकलं तानि  
॥ २८-२९ ॥ नराणां निर्विशेषब्रह्मज्ञानीतराणाम् ॥ ३ ॥ -३१ ॥ यस्मादाभास-  
ज्ञानिनः एवं न विदुः तस्मात् आभासज्जानम् ॥ ४ ॥ विशेषज्ञानिनोऽप्येवं न  
विदुरिति चेत्, सत्यं ब्रह्मातिरेकेण देहः तदवसानमयो वा अस्ति चेत्  
जानन्ति, निर्विशेषब्रह्मात्रावगतेः देहाद्युपलक्षितार्था ग्रापदत्कार्यजातमस्ति

नास्तीति विभ्रमापहवपूर्वकत्वात् । तस्मादाभासज्जाना अत्र विषयं भवतीति मन्तव्यम् । ज्ञानियोगिशब्देन मुख्यज्ञानियोगिनौ गृहीतौ चेत् मूलशुल्यनुरूप भवेदिति चेत् ; मूलशुल्यतेरप्याभासज्जान्यादिविषयतात्पर्यत्वात् , चतुर्थाध्याये शुद्धज्ञानिसमाचारस्य सुकृतत्वाच्च । न हि कदाऽपि श्रुतिर्विरुद्धार्थं वदति । तस्मादाभासपारमार्थिकज्ञानौ मिथोविकृतं श्रुतिरनुवदतीति वक्तुं युक्तमित्यर्थः ॥ ३२ ॥ आभासज्ञानौ अस्मिन् प्रकरणे विशेषितव्यः इति स एव विशेष्यते—पिपीलिकं ॥ ३३ ॥ यस्मादेवं ब्रह्मातिरेकेण स्वदेहध्यानतद्विरोधादिकमस्तीति भ्रान्तिः स्मान् ॥

### अहंभाव एव सर्वानर्थमूलम्

अहंकृतिर्थः यस्य नष्टा भवति तस्य वै ॥ ३४ ॥

देहस्त्वपि वंशष्टो व्याधयश्चास्य किं पुनः ।

जलाभिश्च चातादिबाधा कस्य भविष्यति ॥ ३५ ॥

यदा यदा रक्षीणा पुष्टा चाहंकृतिर्भवेत् ।

<sup>१</sup> तमनेनास् नश्यन्ति प्रवर्तनं रूगादयः ॥ ३६ ॥

कारणं न कार्यं न कदाचन विद्यते ।

अहंकारं न तद्वदेहे दुःखं कथं भवेत् ॥ ३७ ॥

स्वाज्ञविकल्पते तदौ अहंकृतिः ॥ ३४ ॥ ज्ञानिनो विदेहत्वात् यद्यपि स्वाज्ञदृष्ट्या देहोऽस्तु शब्दवातादिः तस्यवास्तु ज्ञानिनो न काचित् क्षतिरस्तीत्यर्थः ॥ ३५ ॥ यदि पुनरस्य देहादावहम्भावः उदेति तदा स्वाज्ञवत् सर्वानश्चो भवतीत्याह—देति । अनेन देहाभिमानदोषेण अस्य ब्रह्मास्पीत्यादिवृत्तयो नश्यन्ति तिरोऽन्ति । किं तं देहाभिमानिनं प्रति रूगादयः प्रवर्तन्ते ॥ ३६ ॥ अहम्भाव एव सर्वानर्थमूलमित्याह—कारणेनेति ॥ ३७ ॥

<sup>१</sup> तदा तदा-

योगमिदस्य ईश्वरत्वं जीवन्मुक्तत्वं च

● शरीरेण जिताः सर्वे शरीरं योगिभिर्जितम् ।  
 तत्कथं कुरुते तेषां सुखदुःखादिकं फलं ॥ ३८ ॥  
 इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः कामक्रोधादिकं जितम् ।  
 तेनैव विजितं सर्वं नासौ केनापि चाध्यते ॥ ३९ ॥  
 महाभूतानि तत्त्वानि संहनानि ऋणेण च  
 ममधातुभयो देहो दग्धो योगाभिना शनै ॥ ४० ॥  
 देवैरपि न लक्ष्येत् <sup>१</sup>योगिदेहो महाबलः  
 भेदबन्धविनिर्मुक्तो नानाशक्तिधरः परः ॥ ४१ ॥  
 यथाऽकाशस्तथा देह आकाशादपि निम्नं ।  
 सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरो दृश्यः <sup>२</sup>स्थूलास्थूलो <sup>३</sup> इजडः ॥ ४२ ॥  
 इच्छारूपो हि योगीन्द्रः स्वतन्त्रस्त्वजरः ॥ ४३ ॥  
 क्रीडते त्रिषु लोकेषु लीलया यत्रकुत्रचि ॥ ४४ ॥  
 अचिन्त्यशक्तिमान् योगी नानारूपाणि रथेत् ।  
 संहरेच पुनस्तानि स्वेच्छया विजितेन्द्रिः ॥ ४५ ॥  
 नासौ मरणमाप्नोति पुनर्योगबलेन तु ।  
 हठेन मृत एवासौ मृतस्य मरणं कुतः ॥ ४६ ॥  
 मरणं यत्र सर्वेषां तत्रासौ परिजीवति ।  
 यत्र जीवन्ति मूढास्तु तत्रासौ मृत एव ॥ ४७ ॥

योग—अ, अ १, अ २, क.

स्थूलातस्थृ—उ.

<sup>१</sup> जडाजरः—अ, अ २, उ.

कर्तव्यं नैव तस्यास्ति कृतेनासौ न लिप्यते ।

जीवन्मुक्तः सदा स्वच्छः सर्वदोषविवर्जितः ॥ ४७ ॥

सर्वे स्वाज्ञाः ब्रह्मातिरिक्तं न किञ्चिदस्ति” इति ज्ञानखड्डेन इन्द्रियाणि ॥ ३८ ॥ “ब्रह्मातिरिक्तं न इश्वरभावापत्या सत्यसङ्कल्पत्वाद्यदि सम्यज्ञानयोगी अयं देहः सर्वाद्वश्यो भावु इश्वरादिसामर्थ्यमीहते तदा देवैरपीति ॥ ४१-४४ ॥ नासौ मरणमाप्नोति रणादेः देहनिष्ठत्वेन शोगिनो देहातीतत्वात्, “न जायते म्रियते वा” “गच्छत्” इति श्रुतेः । ब्रह्मातिरिक्तं देहादिकं नास्तीति बोध एव हठः, हठेऽसम्यज्ञानेन मृत एवासौ देहः ॥ ४९ ॥ “या निशा सर्वभूतानां” इत्यादिस्तुष्टात् ॥ ४६-४७ ॥

आभासज्ञानिनां विडम्बनम्

विरक्ता नेनश्चान्ये देहेन विजिताः सदा ।

ते कथं गम्भिस्तुल्या मांसपिण्डाः कुरेहिनः ॥ ४८ ॥

देहान्ते नेभिः पुण्यान्पापाच्च फल<sup>१</sup>माप्यते ।

ईदरां तु तत्ततद्वुक्त्वा ज्ञानी पुर्खवेत् ॥ ४९ ॥

योगव्याविद्धचित्तं न लनिर्विशेषज्ञानिनमीश्वरत्वेन जीवन्मुक्तत्वेन च स्तुत्वा तदपेक्षया आभासज्ञानेनो विडम्बयति—विरक्ता इति । स्वातिरिक्तविषये विशेषेण रक्ताः विनाशाः ॥ ४८ ॥ प्रारब्धादिकर्मफलं भुक्त्वा ज्ञानी पुनर्भवेत् । न हि प्रमार्थिकज्ञानिनः पुण्यपापतत्कलोच्चावचजन्मादिकमस्ति, आभासज्ञानिनि तु न प्रमुपपद्यत इति श्रुतेराशयः । अन्यथा “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति,” “य एवं निर्बीजं वेद निर्बीजं एवं स भवति,” “तमेवं विद्वानमृत

<sup>१</sup> मशुते—क, व.

इह भवति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते,” इत्यादयो बेदनसमकालमेव  
ब्रह्मात्रावस्थानलक्षणविदेहैकैवल्यानुवादिश्रुतयो बाध्येन् । तस्माद्व शानिनः  
पापपुण्यमुरोधेन पुनर्भवोक्तिराभासशानिनिष्ठेति ॥ ४६ ॥

तेषां सिद्धसङ्गत्या कृतकृत्यत्वं

पश्चात्पुण्येन लभते सिद्धेन सह <sup>१</sup>सम् ॥५ ॥

ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा ॥ ९० ॥

ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाष्टुम् ।

तादशाभासशानिनः सुकृतविशेषात् जीवः मुक्तसंगत्या कृतकृत्यता  
स्यादिल्याह—पश्चादिति ॥ ९० ॥

तं

ज्ञानयोगयोः मिथ्यः कार्यकारणत्वात् ॥

योगेन रहितं ज्ञानं न मोक्षाय भवेद्विष्वेदः ॥ ९१ ॥

ज्ञानेनैव विना योगो न सिद्ध्यति कदाच ॥ ॥

आभासशानयोगसमुच्चयाभिप्रायेण प्रातिस्विकेन तयोः<sup>१</sup> निन्दोच्यते—  
योगेनेति ॥ ९१ ॥

योग एव परमो मोक्षमार्गः

जन्मान्तरैश्च बहुभिर्योगो ज्ञानेन लभ्यते ॥ ९२ ॥

ज्ञानं तु जन्मनैकेन योगादेव प्रजायते ।

तस्माद्योगात्परतरो नास्ति मार्गस्तु मोक्षदः ॥ ९३ ॥

<sup>१</sup> संशातिः—अ, अ १, अ २, क.

प्रविचार्य चिरं ज्ञानं मुक्तोऽहमिति मन्यते ।  
 किमसौ मननादेव मुक्तो भवति तत्क्षणात् ॥ ९४ ॥  
 पश्चाजन्मान् शतैर्योगादेव विमुच्यते ।  
 न तथा भवते<sup>१</sup> योगाजन्ममृत्युं पुनःपुनः ॥ ९५ ॥  
 प्राणापानस<sup>२</sup> योगश्चन्द्रसूर्यैकता भवेत् ।  
 सप्तधातुमयं देहमभिना रजयेद्गृवम् ॥ ९६ ॥  
 व्याघ्रयस्तत्त्वं नश्यन्ति छेदखातादि काँक्या ।  
 तदसौ परमं काशरूपो देहवतिष्ठति ॥ ९७ ॥  
 किं पुर्ववृहत्तेन मरणं नास्ति तस्य वै ।  
 देहिवदृशं लोके दग्धकर्पूरवत्स्वयम् ॥ ९८ ॥

तयोः मिथः गर्यकागणतामाह—जन्मेति ॥ ९२ ॥ यस्मादेवं  
 तस्मान् । नास्ति, अ<sup>३</sup> ग्रासज्ञानगताभासतां ग्रसित्वा शुद्धज्ञानजनकत्वात् ।  
 अत एव योगमार्गस्तु ग्रानद्वाग्मोश्वदः ॥ ९३ ॥ योगाभावे ज्ञानाभासेनापि  
 प्रविचार्य । क्षदाचित्तमननादेव ॥ ९४ ॥ योगादेव विमुच्यते इति  
 योगं स्तौति । यथा आभासज्ञानिनां जन्ममृत्युं भवतः न तथा ॥ ९५ ॥  
 सप्तधातुमयं देहं—शुक्लादयः सप्तधातवः देहस्य तन्मयत्वात् तम् ॥ ९६—९८ ॥

योगसंस्कृतमनस्येव आत्मज्ञानोत्पन्नः

चित्तं प्राणेन संबद्धं सर्वजीवेषु संस्थितम् ।  
 रज्ज्वा यद्वत्सुसंबद्धः पक्षी तद्वदिदं मनः ॥ ९९ ॥

<sup>१</sup> योगाद्वा—अ २.

<sup>२</sup> देहीव द—क, श १.

<sup>३</sup> स्तथा—अ.

नानाविधैर्विचारैस्तु न <sup>१</sup>बाध्यं जायते मनः ।

● तस्मात्स्य नयोपायः प्राण एव हि नृन्यथा ॥ ६० ॥

तर्केऽर्जलैः शास्त्रजालैर्युक्तिभिर्मन्त्रभेषजैः

न वशो जायते प्राणः सिद्धोपायं विनः विधे ॥ ६१ ॥

उपायं तमविज्ञाय योगमार्गे प्रवर्तते ।

गण्डज्ञानेन सहमा जायते क्लेशवत्तरः ॥ ६२ ॥

योऽजित्वा पवनं मोहाद्योगमिच्छति योगिनाम् ।

सोऽपकं कुम्भमारुद्ध सागरं तर्तुमिच्छति ॥ ६३ ॥

यस्य प्राणो विलीनोऽन्तः साधके जीवितं सति ।

पिण्डो न पतितमन्यं <sup>२</sup>चित्तं द्रोषैः प्रबाधते ॥ ६४ ॥

संस्थितं स्वात्मानं विषयाकरोतीन्यर्थः । तद्विदिं मनः, “प्राणबन्धं हि सोम्य मनः” इति श्रुतेः ॥ ९९ ॥ यस्मादेवं तस्मात् ॥ ६०-६९ ॥

योगाभ्यास एव प्रथमकृत्यम्

शुद्धे चेतसि तस्यैव स्वात्मज्ञानं प्रकाशते ।

तस्माज्ञानं भवेद्योगाज्ञनैकेन पद्मज ॥ ६९ ॥

तस्माद्योगं तमेवादौ साधको नित्यमन्यसेत् ।

मुमुक्षुभिः प्राणजयः कर्तव्यो मोक्षहेतवे ॥ ६६ ॥

<sup>१</sup> साध्यं—अ, अ १.

<sup>२</sup> वज्रः—अ २. वाज्रः—क.

<sup>३</sup> चित्तसो—अ, अ १, अ २.

योगात्परतरं पुण्यं योगात्परतरं शिवम् ।  
 योगात्परतरं<sup>१</sup> सूक्ष्मं योगात्परतरं न हि ॥ ६७ ॥  
 योऽपानप्राणं रैरैक्यं<sup>२</sup> रजसो<sup>३</sup> रेतस्स्तथा ।  
 न्द्रम् योगो जीवात्परमात्मनोः ॥ ६८ ॥  
 एवं हि द्वन् जालस्थं संयोगो योग उच्यते ।  
 यस्माद्योग एवं<sup>४</sup> गववान् तस्मान् ॥ ६६-६८ ॥

## योगशिल्पोपदेशः

अथ योगशिल्वां वक्ष्ये सर्वज्ञानेषु चोत्तमाम् ॥ ६९ ॥  
 यदाऽनुव्यायते मन्त्रं गात्रकम्पोऽथ जायते ।  
 आसनं पद्मकं बद्धा यच्चान्यदपि रोचते ॥ ७० ॥  
 नासाग्रे हष्टिमारोप्य हस्तपादौ च<sup>५</sup> संयतौ ।  
 मनः सर्वत्र संगृह्ण उँकारं तत्र चिन्तयेत् ॥ ७१ ॥  
 ध्यायते सततं प्राज्ञो हृत्कृत्वा परमे<sup>६</sup> ध्वरम् ।  
 एकस्तम्भे नवद्वारे त्रिस्थूणे पञ्चदैवते ॥ ७२ ॥  
 ईदृशे तु शरीरे वा मतिमानोपलक्षयेत् ।  
 आदित्यमण्डलाकारं रशिमञ्चालासमाकुलम् ॥ ७३ ॥  
 तस्य मध्यगतं वह्नि प्रञ्चलेहीपर्वतिवत् ।  
 दीपशिला तु या मात्रा सा मात्रा परमेश्वरे ॥ ७४ ॥

<sup>१</sup> स्वरज्ञो—अ, अ १, अ २, क, मु.<sup>२</sup> संयतौ—उ १.<sup>३</sup> रेतसो—अ, मु.<sup>४</sup> छिन्न—उ. उ १.

इत्यं योगं सुत्वा अथ अनन्तरं योगसागभूतां शिखां प्रपञ्चयति—  
अथेति । योगमस्तकविलसितत्वात् योगशिखा । आभासादिङ्गानापेक्षया  
इयमुत्तमा, अशुद्धचित्ताश्रयङ्गानगताभासप्रासत्वात् । तां तुभ्यं वक्ष्ये इत्यर्थः  
॥ ६९ ॥ किं तत् इत्यत्र तदियत्तां तदभ्यासकर्त्ता चाह—यदेति । मन्तरां  
अनुसन्धातारं त्रायते इति मन्त्रः नादः । मन्त्रं, मन्त्रो यदा अनुष्ठायते  
अनुसन्धीयते तदा अथ अनन्तरं योगिनो गात्रकर्त्ता जायते । तदुपशमनार्थं  
आसनमिति । यज्ञान्यदपि गेचते सिद्धासनादि ॥ ७० ॥ एवं आसने स्थित्वा  
नासाप्ने इति ॥ ७१ ॥ तदानीं देहदृष्टिः न कार्यत्याह—एकेति ।  
वीणादण्डस्य शरीरमण्टपाधारत्वात् । स्थूलाशब्देन आभास्यादिकर्मत्रयमुच्यते ।  
पञ्चदैवतशब्देन ब्रह्मादिसदाशिवान्तपञ्चब्रह्माण उच्यन्ते ॥ ७२ ॥ एतत्संघाते  
शरीर स्वात्मात्मीयदृष्टिं न कुर्यादित्यर्थः । ततः किं कर्तव्यमित्यत्र स्वदृद्ये  
आदित्येति ॥ ७३ ॥ प्राणायामानुकूलत्यानेन मूलाधारगताङ्गिज्वालावलीयुतं  
भावयेदित्यर्थः । तत्र दीपशिखारूपेण परमेश्वरो भावनीयः इत्याह—दीपशिखेति ।  
मूलाधारस्थदीपशिखा तु या मात्रा नीवारशूकादपि तन्वी सा मात्रा  
तदाकारेण परमेश्वरे भाविते सति ॥ ७४ ॥

योगाभ्यासात् परमपदसाक्षात्कारः

मिन्दन्ति योगिनः सूर्यं योगाभ्यासेन वै पुनः ।  
द्वितीयं सुषुम्नाद्वारं परिशुद्धं समर्पितम् ॥ ७५ ॥  
कपालसंपुटं पीत्वा ततः पश्यति तत्पदम् ।

अथ तत्प्रसादतो योगिनः योगाभ्यासब्लेन सूर्यमण्डलं भित्वा तत्पदं  
यान्तीत्यत्र “सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति” इति श्रुतेः ॥

संन्यस्तं पुरुषं दृष्ट्वा स्थानावलति भास्करः ।  
एष मे मण्डलं भित्वा परं ब्रह्म प्रयास्यति ॥

इति स्मृत्यनुरोधेन सन्ध्यासयोगिनः सूर्यमण्डलं भित्वा तत्पदं यान्तीत्युक्तम् ।  
केवलयोगिनस्तु द्वितीयं सुषुभ्राह्मारं कुण्डलिन्या विभित्य ॥ ७५ ॥ तन्मार्णीण  
क्षणालसम्पुदं सहस्रारच्च । प्रविश्य तत्र रवीन्द्रप्रिजमसृतं पीत्वा द्वितः तस्पदं  
तत्रस्तुरीयं तुरीयातीतं तथा सोऽहमिति पश्यति पश्यन्ति । ततः तदास-  
ज्ञानानुरोधेन सविशेषं निर्विशेषं वा ब्रह्म प्रयान्तीत्यर्थः ॥

ध्यानाशक्तस्य पुण्यलोकप्राप्तिः

अथ तद् ध्यायते जन्तुरालम्याच्च प्रमादतः ॥ ७६ ॥

यदि त्रिकालमागच्छेत् <sup>१</sup> स गच्छेत्पुण्यसंपदम् ।

पुण्यमेतत्समाप्ताच्च मंक्षिप्य कथितं मया ॥ ७७ ॥

एवं ध्यातुमशक्तानां पुण्यलोकाप्तिमाह— अथेति । यदि यो जन्तुः  
यथावत् ध्यानकलनायामालस्यान् प्रमादतश्च भेदधिया तत् ब्रह्म ध्यायते  
ध्यायति ॥ ७६ ॥ एवं अहरहः त्रिकालं ध्यानमागच्छेन् ध्यानं करोति सोऽयं  
मुनिः स्वभावनाऽनुरोधेन पुण्यसम्पदं ब्रह्मन्द्राद्यश्वर्यं गच्छेन् प्राप्नुयात् ।  
एतत्पुण्यानुरोधेन संक्षेपेण मयोक्तमित्यर्थः ॥ ७७ ॥

लब्धयोगस्य स्वात्मबोधः

लब्धयोगोऽथ बुध्येत प्रसन्नं परमेश्वरम् ।

जन्मान्तरसहवेषु यदा क्षीणं तु किल्बिषम् ॥ ७८ ॥

तदा पश्यति योगेन संसारोच्छेदनं महत् ।

वक्ष्यमाणरीत्या लब्धयोगः स्वात्मानं बुध्यते इत्याह—लब्धेति ।  
सोऽहमिति बुध्येत । किल्बिषवतां स्वातिरित्कलनोच्छेदनेश्वरसाक्षात्कारः कुत  
इत्यत आह—जन्मान्तरेति । नियादिकर्मफलसमर्पणसन्तुष्टेश्वरप्रसादतः  
यदा ॥ ७८ ॥

<sup>१</sup> संग—अ १.

योगाभ्यासार्थं जितप्राणगुरुप्रसादनम्

अभुना संप्रवक्ष्यापि योगाभ्यासस्य लक्षणम् ॥ ७९ ॥  
 मरुज्जयो यस्य सिद्धः सेवयेत्तं गुरुं सदा ।  
 गुरुवक्त्रप्रसादेन कुर्यात्प्राणजयं दुधः ॥ ८० ॥

तदा पश्यति योगेनेत्युक्तं, सोऽयं योगः कीदृशः । इत्याकांक्षायां तदियतां  
 ससाधनां सफलामाचष्टे—अधुनेति ॥ ७९ ॥ तत गुरुमुखेनैव ह्रेयमित्याह—  
 महदिति ॥ ८० ॥

सरस्वतीचालनम्

वितस्तिप्रमितं दैर्घ्यं चतुरकुलविम्नृतम् ।  
 मृदुलं ध्वलं प्रोक्तं वेष्टनाम्बरलक्षणम् ॥ ८१ ॥

आदौ सरस्वतीनाडीचालनपुरस्सरं कुण्डलिनीस्थितिं तच्चालनोपायं  
 चाह—वितस्तीति । सरस्वतीनाडीमस्तकमुक्तलक्षणलक्षितवक्षेणावेष्ट्य ब्राह्मे  
 मुहूर्तं उत्थाय मुहूर्तपर्यन्तं निर्भयाच्चालयेत् ॥ ८१ ॥

कुण्डलीचालनेन ग्रन्थिव्रयभेदः

निरुद्ध्य मारुतं गाढं शक्तिचालनयुक्तिः ।  
 अष्टधा कुण्डलीभूतामृज्वर्णं कुर्यात्तु कुण्डलीम् ॥ ८२ ॥  
 पायोराकुम्भनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्तदा ।  
 मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ८३ ॥  
 एतदेव परं गुणं कथितं तु मया तव ।  
 वज्ञासनगतो नित्यमूर्ध्वाकुम्भनमभ्यसेत् ॥ ८४ ॥

वायुना ज्ञातिरो वहि<sup>१</sup> कुण्डलीमनिरा खहेत् । . .

संतसा साऽप्रिना जीवा शक्तिसैलोक्यमोहिनी ॥ ८५ ॥

प्रविशेषन्द्रुष्टे तु सुषुज्ञापदनान्तरे ।

वायुना वंशिना सार्वे ब्रह्मग्रन्थि भिनत्ति सा ॥ ८६ ॥

विष्णुग्रन्थि ततो मित्वा रुद्रग्रन्थौ च तिष्ठति ।

ततस्तु कुम्भकैर्गांडं पूर्यित्वा पुनःपुनः ॥ ८७ ॥

सरखतीनाडीचालनानन्तरं निरुद्ध्य ॥ ८२ ॥ तदा पायोः ।  
 कुण्डलिनीचालनतोऽस्य विष्टुत्युत्पमाह—मृत्युबेति ॥ ८३ ॥ कुण्डलीं  
 चालयेदिति यदुक्तं सोपायं तदाह—बज्रेति ॥ ८४ ॥ आकुञ्जनोत्पवायुना ।  
 तेन दाहेन सन्तसा ॥ ८५ ॥ ततः सा किं करोतीत्यत्र प्रविशेत् । सुषुज्ञायाः  
 चन्द्रवत् शीतल्लत्वात् कुण्डलीतापशान्तिकरत्वं योग्यनुभवसिद्धमित्यर्थः ।  
 दृक्प्राणवायुना । मूलाधारप्रवेशमार्गकवाटाभं ब्रह्मग्रन्थिम् ॥ ८६ ॥ अनाहतकवाटं  
 विष्णुग्रन्थिम् । आज्ञाकवाटे रुद्रग्रन्थौ । रुद्रग्रन्थभेदनोपायमाह—तत  
 इति ॥ ८७ ॥

### कुम्भकचतुष्याभ्यासविधिः

अथाभ्यसेत्पूर्यभेदमुज्जारीं चापि शीतलीम् ।

भज्ञां च सुहितो नाम स्याच्चतुष्यकुम्भकः ॥ ८८ ॥

बन्धत्रयेण संयुक्तः केवलप्राप्तिकारकः ।

कुम्भकभेदमाह—अथेति ॥ ८८-८९ ॥

<sup>१</sup> जीव—अ, शु.      <sup>२</sup> कुण्डे—क, लण्डे—अ.      <sup>३</sup> तुण्डेन—अ २.

संस्कृतलक्षणम्

भवात्युद्धर्णं सन्यज्ञपामि समाप्तम् ॥ ८९ ॥

एकाकिना समुपगम्य विविक्षेत्रं

प्राणादिरूपममृतं परमार्थदर्शम् ।

लघ्वाशिना धृतिमता परिभावितव्यं

संसाररोगहरमौषधमद्वितीयम् ॥ ९० ॥

सूर्यनाड्या समाकृत्य वायुमन्यासयोगिना ।

विघ्वित्कुम्भकं कृत्वा रेचयेच्छीतरशिमना ॥ ९१ ॥

उदरे बहुरोगम्भं किमिदोषं निहन्ति च ।

मुहुर्मुहुरिदं कार्यं सूर्यमेदमुदाहृतम् ॥ ९२ ॥

आदौ समुदायलक्षणमुच्यते—एकाकिनेति ॥ ९० ॥ ततः सूर्यमेदलक्षणं  
तत्फलं चाह—सूर्योति ॥ ९१—९२ ॥

उजायीकुम्भकलक्षणम्

नाडीम्बां वायुमाकृत्य कुण्डल्याः पार्श्वयोः स्तिषेत् ।

धारयेदुदरे पश्चाद्वेचयेदिड्या सुधीः ॥ ९३ ॥

कण्ठे कफादिदोषम्भं शरीराग्निविवर्धनम् ।

नाडीजलापहं धातुगतदोषविनाशनम् ॥ ९४ ॥

गच्छतन्तिष्ठतः कार्यमुज्जात्यात्म्यं तु कुम्भकम् ।

उजायीकुम्भकलक्षणमाह—नाडीम्बाग्निसि ॥ ९३—९४ ॥

मुखेन वागुं संघृष्य आपरन्द्रेण रेष्येत् ॥ ९६ ॥

शीतलीकरणं चेदं हन्ति पितं क्षुधां तृष्म् ।

शीतलीलक्षणमाह—मुखेनेति ॥ ९७ ॥

### भस्त्रिकाकुम्भकलक्षणम्

स्तनयोरथ भस्त्रेव लोहकारस्य वेगतः ॥ ९८ ॥

रेचयेत्पूरयेद्वायुमाश्रमं देहगं विद्या ।

यथा श्रमो भवेद्देहे तथा सूर्येण पूरयेत् ॥ ९९ ॥

कण्ठसंकोचनं कृत्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ।

वातपित्तश्लेष्महरं शरीराभिविवर्धनम् ॥ १०० ॥

कुण्डलीबोधकं वक्रदोषज्ञं शुभदं सुखम् ।

ब्रह्मनाडीमुखान्तःस्थकफाईर्गलनाशनम् ॥ १०१ ॥

सम्यग्बन्धसमुद्भूतं ग्रन्थित्रयविभेदकम् ।

विशेषेणैव कर्तव्यं भक्षारत्यं कुम्भकं त्विदम् ॥ १०२ ॥

भस्त्रिकाकुम्भकलक्षणमाह—स्तनयोगिति । भस्त्रिकाचालकस्तनयोः समं अथ ॥ १०३—१०४ ॥ भस्त्रिकाकुम्भकात् रुद्रप्रन्थिगपि भिद्यते इत्यर्थः ॥ १०० ॥

### बन्धत्रयविधिः

बन्धत्रयमयेदानीं प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम् ।

नित्यं कृतेन तेनासौ वायोर्जयमवामुयात् ॥ १०१ ॥

करुणामयि भेदाना कुम्भके समुपस्थिते ।

बन्धत्रयमिदं कार्यं वस्त्रमाणं मया हि तत् ॥ १०२ ॥

प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोदुष्यणाभिषः ।

जालबन्धरस्त्रृतीयस्तु लक्षणं कृथ्यास्यहम् ॥ १०३ ॥

कुम्भकचतुष्टयांगतया बन्धत्रयलक्षणमाह—बन्धेति ॥ १०१—१०४ ॥

मूलबन्धः

गुदं पाण्यर्थं तु संपीड्य<sup>१</sup> वायुमाकुञ्जयद्वलात् ।

वारंवारं यथा चोर्ध्वं समायानि समीरणः ॥ १०४ ॥

प्राणापानौ नादबिन्दु मूलबन्धेन चैकताम् ।

गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छ्रुतो नात्र मंशयः ॥ १०५ ॥

नादबिन्दुशब्देन बुद्धिमनसी उच्येते ॥ १०६—१०७ ॥

उद्धियाणबन्धः

कुम्भकान्तं रेचकादौ कर्तव्यस्त्रृद्वियाणकः ।

बन्धो येन सुषुप्तायां प्राणस्त्रृद्वियते यतः ॥ १०६ ॥

तस्मादुद्वियणाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।

उद्वियाणं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ॥ १०७ ॥

अभ्यसेत्तदतन्द्रस्तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत् ।

नाभेरुद्धर्वमधध्यापि ताणं कुर्यात्प्रयत्नतः ॥ १०८ ॥

षाणमासमध्यसेम्मृत्युं जयत्येव न संशयः ।

<sup>१</sup> पायु—क, अ २.

ताणं आकुञ्जनम् ॥ १०८-१११ ॥

आलन्धरबन्धः

६.

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिषः ॥ १०९ ॥

\* कण्ठसंकोचरूपोऽसौ वायुमार्गनिरोधकः ।

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेदृढमिच्छया ॥ ११० ॥

बन्धो जालन्धरास्व्योऽयममृता<sup>१</sup>प्यायकारकः ।

अधस्तात्कुञ्जनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते ॥ १११ ॥

मध्ये पश्यिमताणेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ।

कुण्डल्या ग्रन्थित्रयविभेदनेन निर्विकल्पकप्राप्तिः

वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वा तु कुण्डलीम् ॥ ११२ ॥

कुर्यादनन्तरं भर्तीं कुण्डलीमाशु बोधयेत् ।

भिद्यन्ते ग्रन्थयो वंशे तस्मोहशलाकया ॥ ११३ ॥

तथैव पृष्ठवंशे स्याद्विन्दिमेदस्तु वायुना ।

पिपीलिकायां लग्नायां कण्डूस्तत्र प्रवर्तते ॥ ११४ ॥

सुषुम्नायां तथाऽन्यासात्सततं वायुना भवेत् ।

रुद्रग्रन्थि ततो भित्त्वा ततो याति शिवात्मकम् ॥ ११५ ॥

चन्द्रसूर्यों समौ कृत्वा तथोर्योगः प्रवर्तते ।

गुणत्रयमतीतं स्याद्विन्दित्रयविभेदनात् ॥ ११६ ॥

शिवशक्तिसमायोगे जायते परमा अस्थितिः ।

<sup>१</sup> प्याय—अ १, अ ३, क.

<sup>२</sup> स्थितिः—अ, अ १.

वन्धुक्षमगुतो योगी वज्रासनेति ॥ ११२—११६ ॥ ग्रहरन्द्रगतहुरीय  
एव शिवः, शक्तिस्तु कुण्डलिनी, तयोर्योगादेव परमा स्थितिः सहजनीर्विकर्त्त्वं  
कावस्था ज्ञायते इत्यर्थः ॥

सुषुम्नायाः मोक्षमार्गस्त्वं कालमोक्षस्त्वं च

यथा करी करेणैव पानीयं प्रपिबेत्सदा ॥ ११७ ॥

सुषुम्नावज्ञनालेन पवमानं ग्रसेत्तथा ।

कम्बवण्डसमुद्भूता मण्यश्वैकर्विशतिः ॥ ११८ ॥

सुषुम्नायां स्थिताः सर्वे सूत्रे मणिगणा इव ।

मोक्षमार्गे प्रतिष्ठाना सुषुम्ना विश्वरूपिणी ॥ ११९ ॥

यथैव निश्चितः कालक्षन्द्रसूर्यनिबन्धनात् ।

आपूर्य कुम्भितो वायुर्बहिर्नो याति साधके ॥ १२० ॥

पुनःपुनस्तद्वदेव पश्चिमद्वारलक्षणम् ।

पूरितम्भु स तद्वारैरीषत्कुम्भकां गतः ॥ १२१ ॥

प्रविशेत्सर्वगात्रेषु<sup>१</sup> वायुः पश्चिममार्गतः ।

रेचितः क्षीणां याति <sup>२</sup>पूरितः पोषयेत्ततः ॥ १२२ ॥

सुषुम्नया प्राणोदकं पिबेदित्यत्र दृष्टान्तमाह—यवेति ॥ ११७ ॥  
वज्रदण्डो नाम सुषुम्नाश्रयो वीणादण्डः तत्र भवा एकविश्वसिमणयश्चण-  
कवन्मांसपिण्डाः सुषुम्नामार्गतव्यान्तप्रासत्वात् दीपवत् प्रकाशस्त्वपेण  
मूलाधारमारभ्य ब्रह्मरन्ध्रान्तं सुषुम्नावेणुपर्वत् विद्यन्ते योगिप्रथक्षा-  
भवन्तीत्यर्थः ॥ ११८ ॥ तथाविधसुषुम्नाया मोक्षमार्गस्त्वं कालमोक्षस्त्वं चाह—

<sup>१</sup> वायु—अ, अ १.

<sup>२</sup> पूरितं—अ

मोक्षेति । विश्वरूपिणी विश्वाधारब्रह्माश्रयत्वात् ॥ ११९ ॥ निमिषादिकल्पान्तकालः यत्र विलीयते सेयं सुषुम्ना कालभोक्त्रीत्यर्थः । साधके योगिनि या सुषुम्ना वर्तते तथा आपूर्य कुम्भितो वायुः । उच्छ्वासनिर्धासस्तपेण निमिषादिकल्पान्तकालकलनानिर्वाहकः प्राणवायुः सहसा बहिः नो याति । अतः कालभोक्तृत्वं सुषुम्नायाः सिद्धमित्यर्थः ॥ १२० ॥ यदि प्रमादतः सुषुम्नाया बहिः निर्गच्छति तदा पुनःपुनः तद्वत् पूर्ववदेव । सुषुम्नया प्राणमापूर्य कुम्भयेदिति यत्तत् पश्चिमद्वारलक्षणं भवति । सोऽयं प्राणः तद्वारैः तद्वारेण पूरितः सञ्चादावीष्टकुम्भभक्तां भजति ॥ १२१ ॥ ततः प्राणवायुः पश्चिममार्गातः सर्वग्रात्रेषु प्रविशेन् । यदि कालकर्मसंयोगतः सुषुम्नया रेचितो वायुः क्षीणतां याति ततः तदा पूरितः शरीरं पोषयेत् पुष्टिं कुर्यादित्यर्थः ॥ १२२ ॥

सुषुम्नायोगं न ब्रह्मशानसिद्धिः

यत्रैव जातं सकलेवरं मन-

स्तत्रैव लीनं कुरुते स योगात् ।

स एव मुक्तो निरहंकृतिः सुखी

मूढा न जानन्ति हि पिण्डपातिनः ॥ १२३ ॥

चित्तं विनष्टं यदि भासितं स्या-

त्तत्र प्रतीतो मरुतोऽपि नाशः ।

न चेद्यदि स्यान्न तु तप्य शालं

नात्मप्रतीतिर्न गुरुर्न मोक्षः ॥ १२४ ॥

जम्बुको रुधिरं यद्वद्वलादाकृष्यति स्वयम् ।

ब्रह्मनाडी तथा धातून्संतान्यासयोगतः ॥ १२५ ॥

अनेनाम्यासयोगेन नित्यमासनवन्धतः ।

चितं विलीनतामेति बिन्दुर्नो यात्यधस्तया ॥ १२६ ॥

स्वातिरिक्तमनस्तत्कार्यजातारोपापवादाविष्णुनात्मज्ञानं यस्यास्ति स एव मुक्त इत्याह—यत्रेति । स्वातिरिक्तभ्रमतो मुखः । एवं अधिष्ठानयाथात्मज्ञानं ये न जानन्ति ते मूढाः तेषां आवृतित्रयावृतदृष्टिवात् भूद्रत्वं सिद्धमित्यर्थः ॥ १२३ ॥ यस्य एवमधिष्ठानज्ञानं नोदेति तदृष्ट्या श्रुत्याचार्यतत्प्रभवज्ञानतत्कल्पोक्षादिकं नास्तीत्याह—चित्तमिति । तजन्म व्यर्थमित्यर्थः ॥ १२४ ॥ यतः अयं अधिष्ठानज्ञानाभावोऽनर्थहेतुः अतः तत्प्रबोधार्थं उत्तरो प्रन्थ आरभ्यते । ब्रह्मातिरिक्तधातुषु सत्सु ब्रह्मज्ञानं कथं भवतीन्यत्र जम्बूको रुधिरमिव धातून् सुशुम्भा ग्रसति ततो ब्रह्मज्ञानं जायते इत्याह—जम्बुक इति । ब्रह्मनाडी तथा धातून् बहिः पदार्थतत्प्रबोधान् ग्रसत्येव । ततो ब्रह्मज्ञानमुदेति तत्समकालं स्वातिरिक्तभ्रममुक्तिश्च भवति । एवं सिद्धावुपायस्तु—सन्ततेति । योगसः उक्तार्थसिद्धिः स्यादित्यर्थः ॥ १२५ ॥ अम्यासतः कि स्यादित्यत्र अनेनेति ॥ १२६ ॥

योगाभ्यासेन स्वरूपावस्थितिसिद्धिकमः

रेचकं पूरकं मुक्त्वा वायुना स्थीयते स्थिरम् ।

नानानादाः प्रवर्तन्ते संस्त्रवेच्छन्दमण्डलम् ॥ १२७ ॥

नश्यन्ति क्षुत्पिपासाद्याः सर्वदोषास्ततस्तदा ।

स्वरूपे मञ्चिदानन्दे स्थितिमाप्नोति केवलम् ॥ १२८ ॥

कथितं तु तव प्रीत्या हेतदभ्यासलक्षणम् ।

ततः कि स्यादित्यत्र रेचकमिति । यदा वायुः स्थिरो भवति तदा नानानादाः ॥ १२७ ॥ एवं अमृतास्वादनतः, “ब्रह्मातिरिक्तं न किञ्चिदस्ति” इति प्रबोधाङ्गं नश्यन्ति इत्यादि ॥ १२८ ॥

<sup>1</sup> स्त्रशा—क, अ २.

मन्त्रार्थान्वयनः

मन्त्रार्थान्वयनः—मन्त्रार्थान्वयनः

मन्त्रो ल्यो हठो राज्योगान्ता भूमिकाऽभ्यास् ॥ १२८ ॥  
एक एव चर्तुर्धार्ड्यं महायोगोऽभिधीयते ।

पुनस्ते महायोगं कथयामीत्याह—मन्त्र इति ॥ १२९ ॥

मन्त्रयोगः

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेष्युनः ॥ १३० ॥

हंसहं सेति मन्त्रोऽयं सर्वैर्जीवैश्च जप्यते ।

गुरुवाक्यात्सुषुम्नायां विपरीतो भवेज्जपः ॥ १३१ ॥

सोऽहं सोऽहमिति यः स्यान्मन्त्रयोगः स उच्यते ।

आदौ मन्त्रयोगलक्षणमाह—हकारेणेति ॥ १३० ॥ मन्त्रोऽयं  
सदाऽवशादुच्छासनिश्चासरूपेण सर्वैः जप्यते । अयोगिनामेव भवतीत्यर्थः ।  
योगिनां तु गुरुवाक्यान् इति ॥ १३१ ॥

हठयोगः

प्रतीतिमन्त्रयोगाच्च जायते पश्चिमे पर्य ॥ १३२ ॥

हकारेण तु सूर्यः स्यात्सकारेणन्दुरुच्यते ।

सूर्याच्चन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते ॥ १३३ ॥

सूत्रवाक्यपठित्ययोगं पश्चाद्विवक्षन् हठयोगलक्षणमाह—प्रतीतीति ॥ १३२ ॥ चन्द्रसूर्यैक्यं जायते इत्याह—हकारेणेति ॥ १३३ ॥

<sup>1</sup> योगान्तर्भू—अ, अ १, अ २, क.

<sup>2</sup> यस्य म—अ, अ १, अ २, क.

रुद्रन शुभ्रो लक्ष्मय समाप्तसंगुद्यम् ।  
 क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरैवयं यदा भैरव ॥ १३४ ॥  
 तदैकत्र साधिते ब्रह्मकिंतं यस्ति विलीबताम् ।  
 पवनैः स्वैर्यमाण्यादि लययोर्गोदये सति ॥ १३५ ॥  
 लयात्संप्राप्यते सौरव्यं स्वात्मानन्दं परं पदम् ।  
 लययोगलक्षणमाह—द्वैठनेति ॥ १३४—१३५ ॥

### राजयोगः

योक्तिमध्ये महाक्षेत्रे जपावन्धूकसंनिभम् ॥ १३६ ॥  
 रजो इसति जन्तुनां देवीतस्वं समैवृतम् ।  
 रजसो रेत्स्तो योगदानयोगः इति स्मृतः ॥ १३७ ॥  
 अणिमादिपदं प्राप्य राजते राजयोगतः ।  
 राजयोगलक्षणमाह—योनीति ॥ १३६ ॥ शशि[शिश ?]स्थले रेतो  
 वर्तते तद्वि शिवतक्तव्य । रजसो रेतसो योगात् शक्तिशिवयोगात्  
 राजयोगः ॥ १३७ ॥  
 योगसामान्यस्वरूपम्, योगेन मुक्तिप्राप्तिर्थ  
 प्राणापान्तसमायोगो ज्ञेयं योगचक्रुष्टयम् ॥ १३८ ॥  
 संक्षेपान्त्यथितं ब्रह्मान्यथा शिवभाषितम् ।  
 क्लेषेण प्राप्यते प्राप्यमध्यैसादेव नात्यथ ॥ १३९ ॥

<sup>1</sup> प्रस्त्वा—अ, अ०१, क०

एकेनैव शरीरेण योगाभ्यासाच्छ्नैः शनैः ।

चिरात्संप्राप्यते मुक्तिर्मक्टकम् एव सः ॥ १४० ॥ ६

मन्त्रादियोगचतुष्यस्यापि एकार्थर्पयवसायित्वमाह—प्राणेति । योगचतुष्य-  
येऽपि प्राणापानयोगः समानः इत्यर्थः ॥ १३८ ॥ एवं सहेषत् । स्वोक्तयोग-  
फलमाह—क्रमेणेति । निर्विशेषब्रह्मज्ञानसमकालप्राप्यकैवल्यवद्योगफलस्य  
न ह्यचिरात् प्राप्तिरिष्यते इत्यर्थः ॥ १३९—१४० ॥

असिद्धयोगस्य मृतस्य उत्तरजन्मनि सिद्धिप्रकारः

योगसिद्धिं विना देहः प्रमद्यादिं नश्यति ।

पूर्ववासनया युक्तः शरीरं चान्यदामुयात् ॥ १४१ ॥

ततः पुण्यवशात्सिद्धौ शुरुणा सह संगतः ।

पश्चिमद्वारमार्गेण जायते त्वरितं फलम् ॥ १४२ ॥

पूर्वजन्मकृताभ्यासात्सत्वरं फलमश्रुते ।

योगाभ्यासिनो योगफलसेः पुगा यदि देहो नश्यति तदा  
तत्कृतश्चमो निष्फलो भवतीत्यत आह—योगेति । तदाऽयं योगी पूर्व  
वासनया ॥ १४१—१४२ ॥

अभ्यासयोगादेव मुक्तिः

एतदेव हि विज्ञेयं तत्काकमतमुच्यते ॥ १४३ ॥

नास्ति काकमतादन्यदभ्यासरूप्यमतः परम् ।

तेनैव प्राप्यते मुक्तिर्नाभ्यथा दिवभाषितम् ॥ १४४ ॥

तदेव स्तौति—एतदिति । वस्तुतः अस्याः स्थितिः केत्याक्षेपार्थं न  
किञ्चब्देन मायोच्यते । सा यस्य वशे वर्तते सोऽयं काको मार्या महेश्वरः ।  
“मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्” इति श्रुतिसिद्धकाकस्य  
महेश्वरस्याभ्यासयोगाख्यमिदमेव मतम् ॥ १४३ ॥ अज्ञानिनामाभासज्ञानिनामपि  
तद्वित्तमालिन्यसंक्षाळनद्वारा निर्विशेषब्रह्मज्ञानहेतुत्वात् कलौ तेनैव प्रायश्चे  
मुक्तिः प्राप्यते नान्यथेत्यर्थः ॥ १४४ ॥

योगिनः सर्वेश्वर्यजीवन्मुक्त्यादिसिद्धिलाभः

हठयोगक्रमात्काष्ठा सह जीवलयादिकम् ।  
नाकृतं मोक्ष<sup>१</sup>मार्गं स्यात्प्रसिद्धं पश्चिमं विना ॥ १४५ ॥  
आदौ रोगाः प्रणश्यन्ति पश्चाज्ञाडचं शरीरजम् ।  
ततः समरसो भूत्वा चन्द्रो वर्षत्यनारेतम् ॥ १४६ ॥  
धातूंश्च संग्रहेद्वह्निः पवनेन संमं ततः ।  
नानानादाः प्रवर्तन्ते मार्दवं स्यात्कलेबरम् ॥ १४७ ॥  
जित्वा वृष्ट्यादिकं जाडचं खेचरः स भवेन्नरः ।  
सर्वज्ञोऽसौ भवेत्कामरूपः पवनवेगवान् ॥ १४८ ॥  
क्रीडते त्रिषु लोकेषु जायन्ते सिद्धयोऽखिलाः ।  
कर्पूरे लीयमाने किं काठिन्यं तत्र विद्यते ॥ १४९ ॥  
अहंकारक्षये तद्वदेहे कठिनता कृतः ।  
सर्वकर्ता च योगीन्द्रः स्वतन्त्रोऽनन्तरूपवान् ॥ १५० ॥  
जीवन्मुक्तो महायोगी जायते नात्र संशयः ।

<sup>१</sup> मार्गः—अ, अ १, क.

<sup>२</sup> रतः—उ.

हठयोगं स्तौति—हठेति । अकृतमकृत्रिमं “तयोर्ध्वमायन्मृतस्वमेति,”  
 “सुषुमा तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी” इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं यत्रार्थजातं  
 तत्तज्ज्ञानेन सह जीवतो योगिनो लयादिकमश्चनुते तदिदं हठयोगक्रमदिनुष्ठानात्  
 सिद्धं पश्चिमं मोक्षमार्गं महापथं विना योगिनां काऽपि काष्ठा न विद्यते  
 इत्यर्थः ॥ १४५ ॥ इत्थंभूतयोगप्रशंसापूर्वकं नानाविधसिद्धिभूषणं योगिनं  
 जीवन्मुक्तवेन ईश्वरत्वेन च स्तौति—आदाविति । आदौ अभ्यासदशायामेव  
 सर्वे रोगाः । शरीरजं आलस्यादि । प्राणाग्निसूर्यचन्द्रशक्तिशिवयोगत-  
 श्वन्द्रोऽनारतमनवरतं अमृतधारां वर्षति ॥ १४६ ॥ ततो मूलाधारगतोऽग्निः  
 पवनेन समं स्थित्वा धातूश्च संप्रहेत् बलवृद्धिं वीर्यस्तम्भनं च कुर्यादित्यर्थः ।  
 मार्दवं बालवत् कोमलं भवतीत्यर्थः ॥ १४७ ॥ जित्वा “अब्रं भूत्वा मेघो  
 भवति” इत्यादिजडतां विहाय तेजसा खेच्चरः स भवेन्नरः । एवमभ्यासयोगी  
 सोऽयं सूर्यो भवतीत्यर्थः । किंच—सर्वज्ञः ॥ १४८ ॥ स्वेच्छामात्रेण जायन्ते ।  
 कथं पुनरस्य कलेबरं काठिन्यं विहाय मार्दवं भजतीत्यत्र सदृष्टान्तमुत्तरमाह—  
 कर्पूरं इति । दीपकणिकायोगतः कर्पूरे ॥ १४९ ॥ योगाग्निना अहङ्कारक्षये ।  
 मार्दवदेहः आकाशदेहो वा भवेदयमित्यर्थः । किंच—सर्वकर्ता ॥ १५० ॥

कृत्रिमाकृत्रिमसिद्धीनां गोपनविधिः

द्विविधाः सिद्धयो लोके कल्पिताकल्पितास्तथा ॥ १९१ ॥

रसौषधिक्रियाजालमन्वाभ्यासादिसाधनात् ।

सिद्ध्यन्ति सिद्धयो यास्तु कल्पितास्ताः प्रकीर्तिः ॥ १९२ ॥

अनित्या अल्पवीर्यास्ताः सिद्धयः साधनोद्धवाः ।

साधनेन विनाऽप्येवं जायन्ते स्वत एव हि ॥ १९३ ॥

स्वात्मयोगैकनिष्ठेषु स्वातन्त्र्यादीश्वरप्रियाः ।

प्रभूताः सिद्धयो यास्ताः कल्पनारहिताः स्मृताः ॥ १९४ ॥

सिद्धा नित्या महावीर्या इच्छारूपाः स्वयोगजाः ।  
 चिरकालात्प्रजायन्ते वासनारहितेषु च ॥ १९९ ॥  
 तास्तु गोप्या महायोगात्परमात्मपदेऽव्यये ।  
 विना कार्यं सदा <sup>१</sup>गुप्तं योगसिद्धस्य लक्षणम् ॥ २०० ॥

योगजाः सिद्धयः कतिविधाः इत्यत्र कृत्रिमाकृत्रिमभेदेन द्विविधाः इत्याह  
 —द्विविधा इति ॥ १९१—१९२ ॥ अकल्पितास्तु साधनेन ॥ १९३—१९४ ॥  
 स्वेनैव सिद्धाः ॥ १९५ ॥ तासां गोपनीयतामाह—तास्त्विति । महायोगात्  
 परमात्मपदे स्थितेन योगिना कार्यं विना ताः सिद्धयो गोपनीयाः । सदा  
 सिद्धिजालं गुप्तं गोप्यं भवितव्यमिति यत् तद्योगसिद्धस्य लक्षणं  
 सहजमित्यर्थः ॥ १९६ ॥

योगसिद्धजीवन्मुक्तयोः सूचकम्  
 यथाऽकाशं [काशीं ?] समुद्दिश्य गच्छद्विः पथिकैः पथि ।  
 नानातीर्थानि दृश्यन्ते नानामार्गास्तु सिद्धयः ॥ १९७ ॥  
 स्वयमेव प्रजायन्ते लाभालाभविवर्जिते ।  
 योगमार्गं तथैवेदं सिद्धिजालं प्रवर्तते ॥ १९८ ॥  
 परीक्षकैः स्वर्णकरैर्हेम संप्रोच्यते यथा ।  
 सिद्धिभिर्लक्षयेत्सिद्धं <sup>२</sup>जीवन्मुक्तं तथैव च ॥ १९९ ॥  
 अलौकिकगुणस्तस्य कदाचिदृश्यते ध्रुवम् ।  
 सिद्धिभिः परिहीनं तु नरं बद्धं तु लक्षयेत् ॥ २०० ॥

<sup>१</sup> दीपं—अ, अ १.

<sup>२</sup> जीवन्मुक्तिस्त—अ, अ १. जीवन्मुक्तिं त—अ २.

सिद्धयो योगिनामेव स्युः इति सङ्कलिप्ता भवेयुरित्यत आह—यथेति ।  
 कार्यं समुद्दिश्य । तथा यदच्छ्रव्या योगिनो नानामार्गाः सिद्धयो दृश्यन्ते  
 ॥ १९७ ॥ योगिनि स्वयमेव । यथा आकाशमार्गे तीर्थानि दृश्यन्ते योगमार्गे  
 ॥ १९८ ॥ स्वर्णं स्वर्णपरीक्षकवत् सिद्धं सिद्धिभिः परीक्ष्य तन्निकटे सिद्धयो यदि  
 स्युः तदा तं सिद्धं मुक्तं विद्यात् । यदि ताः न स्युः तदा तं बद्धं विद्यादित्याह—  
 परीक्षकैरिति । यद्यथं ज्ञानी तदा तं जीवन्मुक्तम् ॥ १९९ ॥ तस्मिन् यद्यस्ति  
 तदा चिरपरिचयात् अलौकिकेति । तस्य तस्मिन् ॥ २०० ॥

देहं सल्यपि ज्ञानिनो विद्वमुक्तिलाभः

अजरामरपिण्डो यो जीवन्मुक्तः स एव हि ।  
 पशुकुकुटकीटाद्या मृत्ति संप्राप्नुवन्ति वै ॥ २०१ ॥  
 तेषां किं पिण्डपातेन मुक्तिर्भवति पद्मज ।  
 न बहिःप्राण आयाति पिण्डस्य पतनं कुतः ॥ २०२ ॥  
 पिण्डपातेन या मुक्तिः सा मुक्तिर्न तु हन्यते ।  
 देहे ब्रह्मत्वमायाते जलानां सैन्धवं यथा ॥ २०३ ॥  
 अनन्यतां यदा याति तदा मुक्तः स उच्यते ।  
 विमतानि शरीराणि इन्द्रियाणि तथैव च ॥ २०४ ॥  
 ब्रह्म देहत्वमापन्नं <sup>१</sup>वारि बुद्धुतामिव ।

यद्यथं योगसहितज्ञानी तदा अजरेति । अजरामरपिण्डत्वं ज्ञानयोगिनः  
 कथं? पिण्डस्याजरामरत्वे अस्य पिण्डपातलक्षणाविदेहमुक्तिस्वभोऽपि दुर्लभः  
 इत्यत आह—पश्चिति ॥ २०१ ॥ न बहिःप्राण आयाति योगी ॥ २०२ ॥  
 पिण्डपातेनोत्था मुक्तिः हन्यते नेति काक्वर्थः । किंतु हन्यत एवेत्यर्थः ।

<sup>१</sup> यथावासं पुनस्तथा—अ, अ १.

विदेहमुक्तिः कथमित्यत्र देह इति । अलानां कार्यं सैन्धवपूर्वम् ॥३६३॥  
परदृष्टिसमर्पितदेहाभासादावात्मात्मीयाभिमतिवैरल्यपूर्वकं निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्र-  
ज्ञानं यस्य यदा उदेति स तदा विदेहमुक्तो भवतीत्यर्थः । विदेहमुक्तेः  
स्वातिरेकेण किञ्चिदस्ति नास्तीति विश्रमापहवपूर्वकत्वात् , स्वमात्रातिरेकेण

देहासुभानं शिवजीवभानं  
जगद्विभानं परभात्मभानम् ।  
नानाविभानं न हि भाति यस्मिन् ।  
स रामचन्द्रोऽस्मि विदेहमुक्तः ॥

इति विदेहमुक्तिमहावाक्यप्रभोक्तेः, आत्मन्तिकदेहाद्यभिमानासम्भवज्ञान्येव  
परदृष्ट्या देहे सत्यपि विदेहमुक्तो भवतीत्यर्थः । अन्यथा इदानीं मे देहादिः  
आत्मात्मीयाभिमानतया सत्यवत् भाति तेन जीवो ब्रह्मः स्यां, इदानीं देहादिः  
व्यावहारिकप्रातिभासिकदृष्टिभ्यां मिथ्यात्वेन दृश्यते जीवन्मुक्तो वा स्यां, इतो  
वर्तमानदेहपातानन्तरं विदेहमुक्तो भविष्यामीति स्वातिरिक्तलनावतां विदेहमुक्तिः  
भवितव्या स्यात् । न हि तेषां स्वप्रेऽपि सा भवितुमर्हति तेषां स्वातिरिक्तदेहा-  
भासानुवर्तनादित्यत्र

तस्मिन् काले विदेहातिदेहेस्मरणवर्जितः ।  
ईषन्मात्रं स्मृतश्चेद्यस्तदा सर्वसमन्वितः ॥  
इति ॥

अणुमात्रेऽपि वैधर्म्ये जायमाने विपश्चितः ।  
असंगताऽपि नास्त्येव किमुतावरणच्युतिः ॥

इति श्रुतेः, गौडपादाचार्योक्तेश्च । येषां स्वातिरेकेण देहादिकमस्तीति भान्तिः  
तदृष्ट्या देहापायसिद्धेयं विदेहमुक्तिः स्यादेव । येषां पुनः स्वातिरिक्तदेहा-  
द्युपलक्षितस्वाविद्यापदतत्कार्यजातमस्ति नास्तीति विश्रमोक्तिरप्यपहवतां भजति  
तदपहवसिद्धनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रज्ञानसम्भकालमेव ते परदृष्ट्या देहवन्त इव भाता  
अपि विदेहमुक्ता एव भवन्तीत्यत्र न विवाद इति सिद्धम् । तथा च स्मृतिः—

स्वकल्पितशरीरादावात्मीयाभिमानतः ।  
जीवत्वमेत्य चिन्मात्रं बद्धवत् संसरलयहो ॥  
यदि स्वज्ञानतो देहः प्रातिभासिकताभियात् ।  
तदा जीवन्मुक्तवत्तचिन्मात्रं प्रतिभाति हि ॥  
स्वमात्रव्यतिरेकेण यदा देहादि न स्फुरेत् ।  
तदा विदेहकैवल्यं चिन्मात्रं प्राप्तवत् भवेत् ॥  
स्वकल्पितशरीरादिः भात्वा भातु सदा स्वयम् ।  
चिन्मात्रमेव चिन्मात्रमचिन्मात्रं भवेत् कथम् ॥

इति ॥

प्रकृते तु परदृष्ट्या विमतानि । सन्तु न सन्तु वा ॥ १६४ ॥  
सर्वप्रकारेणापि ब्रह्म । यथा वार्यतिरितं बुद्बुदादिकं नास्ति तथा ब्रह्मातिरेकेण  
देहादिकं नास्तीत्यर्थः ॥

### पिण्डाण्डस्य शिवालयत्ववर्णनम्

दशद्वारपुरं देहं दशनादीमहापथम् ॥ १६५ ॥  
दशभिर्व्युभिव्यासं दशेन्द्रियपरिच्छदम् ।  
षड्गाधारापवरकं षडन्वयमहावनम् ॥ १६६ ॥  
चतुःपीठसमाकीर्णं चतुराम्नायदीपकम् ।  
बिन्दुनादमहालिङ्गं शिवशक्तिनिकेतनम् ॥ १६७ ॥  
देहं शिवालयं प्रोक्तं सिद्धिदं सर्वदैहिनाम् ।

उत्तमाधिकारिणां ब्रह्मयाथात्म्यं प्रकटयित्वा मध्यमाधिकारिणां पिण्डाण्डे-  
यत्तां प्रकटयंति—दशद्वाररेति ॥ १६९—१६६ ॥ चतुराम्नायदीपकं  
चतुर्वेदप्रकाशकमित्यर्थः । बिन्दुनादमहालिङ्गं बिन्दुः मनः, नादो बुद्धिः,

तदृक्तिसहस्रभावभावप्रकाशकमहालिंगं प्रत्यक्चैतन्यं यत्र तत्थोक्तम् । शिव-  
शक्तिनिकेतनं, जीवकुण्डल्याधारत्वात् देहस्येत्यर्थः ॥ १६७ ॥ देहं शिवाल्यं  
प्रोक्तं, ●

देहो देवाल्यः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः ।  
त्यजेदद्वाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत् ॥

इति श्रुत्यन्तरात् ॥

आधारषट्कपीठचतुष्टययोः विवरणम्

गुदमेद्रान्तराल्लस्य मूलाधारं त्रिकोणकम् ॥ १६८ ॥  
शिवस्य जीवरूपस्य स्थानं <sup>१</sup>तद्वि प्रचक्षते ।  
यत्र कुण्डलिनी नाम परा शक्तिः प्रतिष्ठिता ॥ १६९ ॥  
यस्मादुत्पद्यते वायुर्यस्माद्वह्निः प्रवर्तते ।  
यस्मादुत्पद्यते विन्दुर्यस्मान्नादः प्रवर्तते ॥ १७० ॥  
यस्मादुत्पद्यते हंसो यस्मादुत्पद्यते मनः ।  
तदेतत्कामरूपाल्यं पीठं कामफलप्रदम् ॥ १७१ ॥  
स्वाधिष्ठानाहृत्यं चक्रं लिङ्गमूले षडश्रके ।  
नाभिदेशो स्थितं चक्रं दशारं मणिपूरकम् ॥ १७२ ॥  
द्वादशारं महाचक्रं हृदये चाप्यनाहतम् ।  
तदेतत्पूर्णगिर्याल्यं पीठं कमलसंभव ॥ १७३ ॥  
कण्ठकूपे विशुद्धचाल्यं यज्ञक्रं षोडशाश्रकम् ।  
पीठं जालन्धरं नाम तिष्ठत्यत्र सुरेधर ॥ १७४ ॥

<sup>१</sup> तद्वि—अ.

आज्ञा नाम भ्रुवोर्मध्ये द्विदलं चक्रमुत्तमम् ।

उद्ध्याणारब्धं महापीठमुपरिष्टात्प्रतिष्ठितम् ॥ १७९ ॥

चतुरश्रं धरण्यादौ ब्रह्मा तत्राधिदेवता ।

अर्धचन्द्राकृतिजलं विष्णुस्तस्याधिदेवता ॥ १७६ ॥

त्रिकोणमण्डलं वही रुद्रस्तस्याधिदेवता ।

वायोर्बिंबं तु पट्टकोणमीश्वरोऽस्याधिदेवता ॥ १७७ ॥

आकाशमण्डलं वृत्तं देवताऽस्य सदाशिवः ।

नादरूपं भ्रुवोर्मध्ये मनसो मण्डलं विदुः ॥ १७८ ॥

षडाधारापवरकामित्यंशं विवृणोति—गुदेति ॥ १६८—१७० ॥

चतुष्पीठसमाकीर्णमित्यंशं च विवृणोति—तदेतदिति ॥ १७१—१७७ ॥ मनः-  
प्रकाशकं ज्योतिर्लिङं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मास्मीति विदुः; “ज्योतिर्लिङं भ्रुवोर्मध्ये  
नित्यं ध्यायेत् सदा यतिः” इति श्रुतेः । एवं पिण्डाण्डयाथात्म्यं प्रत्यञ्चमात्मानं  
यो जानाति सोऽयं मुनिः ब्रह्माण्डयाथात्म्यं ब्रह्म जानाति व्यष्टिसमष्टि-  
प्रपञ्चापवादाधिकरणप्रत्यक्षपरगचितोरेकत्वात् । कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः ॥ १७८ ॥

इति प्रथमोऽध्यायः

## द्वितीयोऽध्यायः

यागशानाधिकारी

पुनर्योगस्य माहात्म्यं श्रोतुमिच्छामि शंकर ।

येन <sup>१</sup>विज्ञानमात्रेण खेचरीसमतां ब्रजेत् ॥ १ ॥

<sup>१</sup> विज्ञान—क.

शृणु ब्रह्मन्प्रवक्ष्यामि गोपनीयं प्रयत्नतः ।  
 द्वादशा<sup>१</sup>ब्दं तु शुश्रूषां यः कुर्यादप्रमादतः ॥ २ ॥  
 तस्मै वक्ता यथातर्थं दान्ताय ब्रह्मचारिणे ।  
 पाणिडत्यादर्थं<sup>२</sup>लोभाद्वा प्रमादा<sup>३</sup>यः प्रयच्छति ॥ ३ ॥  
 तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम् ।  
 मूलमन्त्रं विजानाति यो विद्वान्युरुदर्शितम् ॥ ४ ॥

एवं ईश्वरमुखात् ज्ञानयोगं श्रुत्वाऽप्यतृप्त इव चतुराननः पुनर्योगज्ञान-  
 माहात्म्यं पृच्छतीत्याह—पुनरिति । खेचरसूर्यवदतितेजस्वी भवेत् ॥ १ ॥  
 प्रश्नोत्तरं भगवानाह— शृणिवति ॥ २ ॥ मया वक्ष्यमाणविद्यां तस्मै ॥ ३ ॥  
 अनधिकारिविद्यादानदोषेण तत् सर्वं हीयते इत्यर्थः । यद्यधिकारी गुरुमुखतो  
 यथावत् विजानाति स कुतकुत्यो भवतीत्याह—मूलेति ॥ ४ ॥

प्रणवारुद्धमूलमन्त्रमहिमा

“शिवशक्तिमयं मन्त्रं मूलाधारात्समुच्चितम् ।  
 तस्य मन्त्रस्य वै ब्रह्मञ्चोता वक्ता च दुर्लभः ॥ ५ ॥  
 एतत्पीठमिति प्रोक्तं नादलिङ्गं मदात्मकम् ।  
 तस्य विज्ञानमात्रेण जीवन्मुक्तो भवेज्जनः ॥ ६ ॥  
 अणिमादिकमैधर्यमचिरादेव जायते ।

तन्मन्त्रं स्तौति—शिवेति । स मन्त्रः प्रणवो नादो वा भवितुर्महति ।  
 तदियतां बुद्धा वक्ता श्रोता परमेश्वरोऽहमेव । न हि मङ्ग्लातिरिक्तः कोऽपि

<sup>१</sup> ब्दस्तु—उ, उ १.

<sup>२</sup> लाभा—अ, अ १, क.

<sup>३</sup> द्वा. प्र—अ, अ १, अ २, क.

<sup>४</sup> मूलश—अ.

तदित्यताज्ञो वक्ता श्रोता अस्ति ॥ ९ ॥ तन्मन्तवरूपामाचष्टे—एतदिति ।  
एतन्मन्तवरूपं पीठभिति प्रोक्तं, मन्त्रार्थब्रह्मणः सवीधिकरणत्वात् पीठत्वम् ।  
यद्भजतां स्वातिरिक्तलिङ्गज्ञानं न ददाति तत्रादलिङ्गम् । तत् किं त्वतोऽन्यदित्यत्र  
अहमेवात्मा स्वरूपं यस्य तत् मदात्मकमेव अभिधानाभिधेययोरेकत्वात् ।  
तज्ज्ञानफलमाह—तस्येति ॥ ६ ॥

### मूलमन्तवर्त्तनम्

मननात्प्राणनाचैव मदूपस्यावबोधनात् ॥ ७ ॥

मन्त्रमित्युच्यते ब्रह्मन् मदधिष्ठानतोऽपि वा ।

मूलत्वात्सर्वमन्त्वाणां मूला<sup>१</sup>धारात् समुद्भवात् ॥ ८ ॥

मूलस्वरूपलिङ्गत्वान्मूलमन्त्र इति स्मृतः ।

तस्य मूलमन्तवर्त्तनं कुत इत्यत आह—मननादिति ॥ ७ ॥ मन्त्रमिति  
विभक्तिव्यत्ययः । “तदथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि सन्तुण्णानि एवमेवोङ्कारेण  
सर्वा वाक् सन्तुण्णा” “ओङ्कार एवेदं सर्वं” इति श्रुत्यनुरोधेन  
मूलत्वात् ॥ ८ ॥

### नादलिङ्गत्वनिर्वचनम्

सूक्ष्मत्वात् <sup>२</sup>कारणत्वाच्च लयनादूमनादिपि ॥ ९ ॥

लक्षणात्परमेशस्य लिङ्गमित्यभिधीयते ।

पुनस्तस्य लिङ्गत्वं सूक्त्रत्वं चाह—सूक्ष्मत्वादिति ॥ ९-१० ॥

### सूक्त्रत्वनिर्वचनम्

संनिधानात्समस्तेषु जन्तुष्वपि च संततम् ॥ १० ॥

सूक्ष्मत्वाच्च रूपस्य सूक्ष्ममित्यभिधीयते ।

<sup>१</sup> भारस—क, अ ३.

<sup>२</sup> कर—उ.

प्रणवस्य बिन्दुपीठत्वम्

महामाया महालक्ष्मीर्महादेवी सरस्वती ॥ ११ ॥  
 आधारशक्तिरव्यक्ता यथा विश्वं प्रवर्तते ।  
 सूक्ष्माभा बिन्दुरूपेण पीठरूपेण वर्तते ॥ १२ ॥

प्रणवस्यैव मूलमन्त्रत्वेन लिंगत्वेन सूत्रत्वेन च प्रकृतत्वात् प्रकृतित्वं  
 “प्रणवत्वात् प्रकृतित्वं वदन्ति ब्रह्मवादिनः” इति श्रुतेः । सेयं प्रकृतिः  
 कीदृशीत्यत आह—महामायेति ॥ ११ ॥ यथा प्रणवप्रकृत्य अभिधानाभि-  
 धेयात्मकं विश्वं प्रवर्तते, या च दुर्गालक्ष्मीसरस्वतीत्वेन व्यवहित्यते  
 सेयमाधारशक्तिरव्यक्तरूपा भवति । केन रूपेण व्यक्ताव्यक्तत्वमित्यत्र बिन्दुः  
 मनस्तदूपेण सूक्ष्माभा । कामरूपादिचतुष्पीठरूपेण स्थूलत्वम् ॥ १२ ॥

निर्विशेषप्रणवब्रह्मावगत्युपायः

बिन्दुपीठं विनिर्भिद्य नादलिङ्गमुपस्थितम् ।  
 प्राणेनोच्चार्यते ब्रह्मन् षण्मुखीकरणेन च ॥ १३ ॥  
 गुरुपदेशमार्गेण सहस्रैव प्रकाशते ।

एवं स्थूलसूक्ष्माकारेण या वर्तते तद्रत्नेयांशापायसिद्धं ब्रह्म गुरुपदेशतो  
 प्रकाशते इयाह—बिन्दुति । हे ब्रह्मन् या प्राणापानव्यापारतः;  
 सोऽहमोमित्युच्चार्यते तद्रत्नेयांशं बिन्दुपीठं व्यक्ताव्यक्तात्मकं गुरुपदेशमार्गेण  
 षण्मुखीकरणेन, चशब्दतो निर्विशेषब्रह्मज्ञानासिना च, तिलशो विनिर्भिद्य  
 वर्तमानस्य योगिनः यदुपस्थितं नादलिंगं स्वातिरित्क्षिप्तबिन्दुपीठोपलक्षितजाग्र-  
 जाग्रदाद्यविकल्पानुज्ञैकरसान्तभेदलिंगावकाशं स्वाज्ञादिदृष्टिमोहे सत्यसति कालत्र-  
 येऽपि यन्न ददाति तुर्यतुरीयं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वपान्तया सहस्रैव प्रकाशते  
 इत्यर्थः ॥ १३ ॥

स्थूलसूक्ष्मबीजरूपेः त्रिविधं ब्रह्म

स्थूलं सूक्ष्मं परं चेति त्रिविधं ब्रह्मणो वपुः ॥ १४ ॥  
 पञ्चब्रह्मयं रूपं स्थूलं वैराजमुच्यते ।  
 हिरण्य<sup>१</sup>गर्भसूक्ष्मं तु नादं बीजत्रयात्मकम् ॥ १९ ॥

यत्तुर्युर्युर्लपेण अवशिष्टं तदेव स्वाज्ञादिदृष्टिरात्म्यानुरोधेन स्थूलसूक्ष्म-  
 परलपेण त्रिवा विभातीत्याह—स्थूलमिति ॥ १४ ॥ तत्र स्थूलं तु  
 पञ्चेति । अपरं तु हिरण्येति । तुशब्दात् बीजचेतन्यमपि गृह्णते । ततु  
 आकाशादिबीजत्रयात्मकम् ॥ १९ ॥

शुद्धतस्त्वय आत्ममन्त्वाभ्यासाक्षेपेत्यत्मम्

परं ब्रह्म परं सत्यं सच्चिदानन्दलक्षणम् ।  
 अप्रमेयमनिदेश्यमवाङ्मनसगोचरम् ॥ १६ ॥  
 शुद्धं सूक्ष्मं निराकारं निर्विकारं निरञ्जनम् ।  
 अनन्तमपरिच्छेद्यमनूपममनामयम् ॥ १७ ॥  
 आत्ममन्त्वसदाभ्यासात् परतत्त्वं प्रकाशते ।

सर्वस्मात् परं तु आत्ममन्त्वाभ्यासेन प्रकाशते न स्वेनेत्याह—  
 परमिति ॥ १९—१७ ॥ प्रकाशते, न स्वत इत्यर्थः । आत्ममन्त्वशब्देन  
 प्रणवमहावाक्यजातमुच्यते । “सुसेवत्थाय सुस्यन्तं ब्रह्मैकं प्रविचिन्त्यताम्”  
 इति श्रुत्यनुरोधेन श्रवणमननिदिव्यासनानुसन्धानं अभ्यासः ॥

परतस्वाभिव्यक्तिचिह्नानि

तदभिव्यक्तिचिह्नानि सिद्धिद्वाराणि मे शृणु ॥ १८ ॥

<sup>१</sup> गर्भ—अ, अ १.

दीपञ्चालेन्दुखयोतविद्युक्षत्रभास्त्रराः ।

दृश्यन्ते सूक्ष्मरूपेण सदा युक्तस्य योगिनः ॥ १९ ॥

अणिमादिकमैर्धर्यमचिरात्तस्य जायते ।

एवं परतत्त्वसाक्षात्काराभिव्यक्तिचिह्नानि कानील्यत आह—तदिति ॥ १८-१९ ॥ यदीच्छा जायते तदा अणिमादिकम् ।

नादानुसन्धानमादिमा

नास्ति नादात्परो मन्त्रो न देवः स्वात्मनः परः ॥ २० ॥

नालुसंधेः परा पूजा न हि तृष्णः परं सुखम् ।

गोपनीयं प्रथतेन सर्वदा सिद्धिमिच्छता ॥ २१ ॥

नादात्मानुसन्धानत्रितुल्यं नास्तील्याह—नास्तीति ॥ २० ॥ एवं-  
विशेषणविशिष्टस्वात्पमन्तस्यातिग्रहस्यार्थत्वेन गोपनीयतामाह—गोपनीयमिति ॥

गुरुभगवद्भक्तेऽप्येव परतत्त्वज्ञानसम्भवः

मद्भक्त एतद्विज्ञाय कृतकृत्यः सुखी भवेत् ।

यस्य देवे परा भक्तिर्थथा देवे तथा गुरौ ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ २२ ॥

एतज्ञानफलमाह—मद्भक्त इति ॥ २१ ॥ श्रुत्याचार्यभक्तस्यैव उक्तार्थः  
प्रकाशते इत्याह—यस्येति ॥ २२ ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः

## तृतीयोऽध्यायः

नादब्रह्मणः परापश्यन्त्यादिरूपचतुष्यम्

यन्म<sup>१</sup>मस्य चिदाख्यातं यत्सिद्धीनां च कारणम् ।  
 येन विज्ञानमात्रेण जन्मबन्धात्प्रभुच्यते ॥ १ ॥  
 अक्षरं परमो नादः शब्दब्रह्मेति कथ्यते ।  
 मूलाधारगता शक्तिः स्वाधारा बिन्दुरूपिणी ॥ २ ॥  
 तस्यामुत्पद्यते नादः सूक्ष्मबीजादिवांकुरः ।  
 तां पश्यन्तीं विदुर्विश्वं यया पश्यन्ति योगिनः ॥ ३ ॥  
 हृदये व्यञ्ज्यते शोषो गर्जत्पर्जन्यसंनिभः ।  
 तत्र स्थिता सुरेशान मध्यमेत्यभिधीयते ॥ ४ ॥  
 प्राणेन च स्वराख्येन प्रथिता वैखरी पुनः ।

“नास्ति नादात् परो मन्त्रः” इति यदुक्तं तदैखरीप्रपञ्चप्रपञ्चनाय  
 तृतीयाध्याय आरम्भते—यन्मस्येति । “नमस्त्वैक्यं प्रवदेत्” इति  
 श्रुत्यनुरोधेन यन्मस्य यदैक्यमनुभूय योगिभिः स्वशिष्येभ्यः चिदतिरिक्तं न  
 किंचिदस्ति इत्याख्यातमित्यत्र

चिदिहास्तीति चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च ।  
 चित्त्वं चिदहमेते च लोकाश्चिदिति भावयेत् ॥

इत्यादि श्रुतेः । यत्सर्वसिद्धिनिदानं पर्यवसानं चिन्मात्रसिद्धिसमकालं  
 सिद्धिजालस्यासिद्धिपदं गतत्वात् यद्विज्ञानमात्रतः स्वातिरिक्तभ्रमात् अज्ञोऽपि

<sup>1</sup> मस्यं—मु. कस्य—अ. अ १.

मुच्यते स्वाज्ञानविजृम्भितस्वातिरिक्तविभ्रमस्य स्वज्ञानतः प्रलयप्रमाणतः स्वयमेव अवशिष्यते इत्यत्र स्मृतिः

स्वाज्ञानोत्थे स्वातिरिक्ते स्वज्ञानात् प्रलयं गते ।  
प्रतियोगिविनिरुक्तं स्वमात्रमवशिष्यते ॥

इति ॥ १ ॥

यज्ञानात् मुच्यते इत्युक्तं तत् स्वाज्ञादिदृष्टिं आश्रित्य पगापररूपेण द्विघा भिद्यते इत्याह—अक्षरमिति । अत्र स्वज्ञदृष्ट्या अनुभूतं तु अक्षरं परमः परमाक्षरमित्यर्थः । स्वाज्ञदृष्ट्यनुभूतं तु नादः नादरूपं शब्दब्रह्मा परमाक्षरावगत्युपायभूतं, “शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माऽधिगच्छति” इति श्रुतेः । तदेतदपरं ब्रह्म क आविर्भवतीत्यत आह—मूलेति । मूलाधारगता परेति चित्सामान्यात्मिका बिन्द्वाख्याव्यत्करूपिणी नादाधारा काचन शक्तिरस्ति ॥ २ ॥ तस्यामेव सूक्ष्मबीजांकुरवश्नाद उत्पद्यते इत्यत्र

परायामंकुरीभूय पश्यन्त्यां द्विद्वीकृता ।  
मध्यमायां मुकुटिता वैखर्यां विकसीकृता ॥

इति श्रुतेः । या परात्वेनाभिमता तामेव पश्यन्तीं मध्यमां वैखरीं च विदुरिल्याह—तामिति ॥ ३ ॥ मूलाधारस्थपरायां योऽङ्गकुरतां गतः सोऽयं नादः अनाहताख्यपश्यन्त्यां हृदये ॥ ४ ॥ सैव प्राणेन ॥ ५—९ ॥

### वैखरीस्वरूपविवरणम्

शास्वापल्लवरूपेण ताल्वादिस्थानघट्टनात् ॥ ९ ॥

अकारादिक्षकारान्तान्यक्षराणि समीरयेत् ।

अक्षरेभ्यः पदानि स्युः पदेभ्यो वाक्यसंभवः ॥ ६ ॥

सर्वे वाक्यात्मका मन्त्रा वेदशास्त्राणि कृत्त्वशः ।

पुराणानि च काव्यानि भाषाश्च विविधा अपि ॥ ७ ॥

योगशिष्योषनिषेद्

सस्त्वरात्म गाथात्म सर्वे नादसमुद्भवाः ।  
एषा सरस्वती देवी सर्वभूतगुहाश्रया ॥ ८ ॥  
वायुना वह्निक्तेन प्रेर्यमाणा शनैः शनैः ।  
<sup>१</sup>द्वित्रिवर्णपौर्वक्यैरित्येवं वर्तते सदा ॥ ९ ॥

वैखरीसाक्षात्कारात् वाक्सिद्धिः

य इमां वैखरीं शर्कि योगी स्वात्मनि पश्यति ।  
स वाक्सिद्धिमवाप्नोति सरस्वत्याः प्रसादतः ॥ १० ॥  
वेदशास्त्रपुराणानां स्वयं कर्ता भविष्यति ।

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि  
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।  
गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति  
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

इति श्रुतिसिद्धवैखरीज्ञानफलमाह—य इति ॥ १० ॥

परमाक्षरस्त्वरूपम्

यत्र विन्दुश्च नादश्च सोमसूर्याश्चिवायवः ॥ ११ ॥  
इन्द्रियाणि च सर्वाणि लयं गच्छन्ति सुव्रत ।  
२वायो यत्र विलीयन्ते मनो यत्र विलीयते ॥ १२ ॥

<sup>१</sup> तद्विवर्ण—अ, अ १, अ २, क. तद्विवर्त—मु.    <sup>२</sup> वायवो यत्र ली—अ, क.

यं लक्ष्या चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।  
 यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ॥ १३ ॥  
 यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।  
 यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ १४ ॥  
 सुखमात्यन्तिकं यत्तद्गुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।  
 एतत्क्षराक्षरातीतमनक्षरभितीर्थते ॥ १५ ॥  
 क्षरः सर्वाणि भूतानि सूत्रात्माऽक्षर उच्यते ।  
 अक्षरं परमं ब्रह्म निर्विशेषं निरञ्जनम् ॥ १६ ॥  
 अलक्षणमलक्ष्यं तदप्रतकर्यमनूपमम् ।  
 अपारपारमच्छेद्यमचिन्त्यमतिनिर्यम् ॥ १७ ॥  
 आधारं सर्वभूतानामनाधारमनामयम् ।  
 अप्रमाणमनिर्देश्यमप्रमेयमतीन्द्रियम् ॥ १८ ॥  
 अस्थूलमनणुहस्यमदीर्घमजमव्ययम् ।  
 अशब्दस्पर्शरूपं तदक्षुःश्रोत्रनामकम् ॥ १९ ॥  
 सर्वज्ञं सर्वगं शान्तं सर्वेषां हृदये स्थितम् ।  
 सुसंवेदं गुरुमतात्सुदुर्बोधमचेतसाम् ॥ २० ॥  
 निष्कलं निर्गुणं शान्तं निर्विकारं निराश्रयम् ।  
 निलेपकं निरापायं कूटस्थमचलं धृत्वम् ॥ २१ ॥.

परमाक्षरं किमिल्याकांक्षायां यत्सर्वापवादाधिष्ठानं स्वाधिष्ठेयनिरूपिता-  
 धिष्ठानतापायसिद्धं तदेतदिल्याह—यत्रोति ॥ ११ ॥ वायो वायवः ॥ १२-१४ ॥  
 अनक्षरं परमाक्षरम् ॥ १९-१९ ॥ गुरुमतात् गुरुक्तार्थानुष्ठानात् ॥ २०-२९ ॥

शब्दब्रह्मभिभावनाम्यां परब्रह्माधिगमः

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमःपारे प्रतिष्ठितम् ।  
 भावाभावविनिर्मुक्तं भावनाभावगोचरम् ॥ २२ ॥  
 मक्तिगम्यं परं तत्त्वमन्तर्लीनेन चेतसा ।  
 भावनाभावगेवात्र कारणं पद्मसंभव ॥ २३ ॥  
 यथा देहान्तरप्राप्तिकारणं भावना नृणाम् ।  
 विषयं ध्यायतः पुंसो विषये रमते यनः ॥ २४ ॥  
 मामनुस्मरतश्चित्तं मध्येवात्र विलीयते ।  
 सर्वज्ञत्वं परेशत्वं सर्वसंपूर्णशक्तिता ॥ २५ ॥  
 अनन्तशक्तिमत्त्वं च ममानुस्मरणाद्वेत् ।

इति ॥

निष्कामधिया शब्दब्रह्मभिधानभादोपासकानां शब्दब्रह्मप्रसादतः सर्वापवादाधिकरणं “एतत्क्षराक्षरातीतमनक्षर”मित्यादिना य“निर्विशेष”मित्यादि-“परं तत्त्व”मित्यन्तविशेषणविशिष्टं निष्प्रतिपोगिकब्रह्मात्रं स्वयमेवेति प्रसीदति । यत एवं अतः शब्दब्रह्मपरब्रह्मणोरुपायोपेयत्वं सिद्धमित्यर्थः ।

यं यं वाऽपि स्मरन् भावं ल्यज्यन्ते कल्पेरम् ।  
 तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्वाकभावितः ॥

इति स्मृत्यनुरोधेन यथा देहान्तरप्राप्तिकारणं भावनैव तथा अस्मिन् लोके ये ये सविशेषेण निर्विशेषेण वा भावेन मां भजन्ति ते ते पुरुषाः सविशेषं निर्विशेषं वा ब्रह्म भवन्तीत्यत्र “तं यथा यथोपासते तथैव भवती”ति श्रुतेः । इतिशब्दः अध्यायपरिसमाप्तर्थः ॥

इति तृतीयोऽध्यायः

## चतुर्थोऽध्यायः

जीवत्वस्य असत्तत्वम्

चैतन्यस्यैकरूपत्वाद्देहो युक्तो न कर्हिचित् ।  
 जीवत्वं च तथा ज्ञेयं रज्ज्वां सर्पग्रहो यथा ॥ १ ॥  
 रज्ज्वज्ञानात्क्षणैनैव यद्वद्रज्जुर्हि सर्पिणी ।  
 भाति तद्वितिः साक्षाद्विधाकारेण केवला ॥ २ ॥.

स्वातिरिक्ताविद्यापदतत्कार्यजातं सर्वैरपि नानाविधभेदभिन्नं सत् सत्यत्वेन  
 अनुभूयते । तत् कथं भावनाशतेनाप्यभावपदं भजतीत्याकांक्षायां—  
 परमार्थदृष्ट्यमातत्वात् स्वातिरिक्तं नास्त्येव । न हि शशशृङ्गवदवस्तुनि भावना  
 प्रसरति । यत् परमार्थं वस्तु निष्प्रतियोगिकब्रह्मात्रमवशिष्यते तदेव स्वाङ्गष्टेः  
 स्वातिरिक्तवदवभासते । यदा पुनः स्वज्ञानेन स्वाज्ञानं नष्टं भवति तदा ब्रह्मातिरिक्तं  
 परमार्थदृष्टेः ब्रह्मात्रमवशिष्यते इत्येतदर्थप्रपञ्चार्थं चतुर्थाध्याय आरम्भते—  
 चैतन्यस्येति । घटशरावाद्यनुगतस्योमवत् चैतन्यस्य । जीवत्वं वास्तवं इत्यत्र  
 सदृष्टान्तमुत्तमाह—जीवत्वमिति ॥ १ ॥ ब्रह्मातिरेकेण जगतो दृश्यमानत्वात्  
 तत् सत्यमित्यत्र तत्सत्त्वस्य स्वज्ञानावधिकत्वात् स्वज्ञानोदये तज्जगविदेव  
 भवतीति सदृष्टान्तमाह—रज्ज्वज्ञानादिति ॥ २ ॥

सर्वप्रपञ्चस्य ब्रह्मत्वम्

उपादानं प्रपञ्चस्य ब्रह्मणोऽन्यन् विद्यते ।  
 तस्मात्सर्वप्रपञ्चोऽयं ब्रह्मैवास्ति न चेतरत् ॥ ३ ॥  
 व्याप्यव्याप्तकर्ता मिथ्या सर्वमात्मेति शासनात् ।  
 इति ज्ञाते परे तत्त्वे भेदस्यावसरः कुतः ॥ ४ ॥

ब्रह्मणः सर्वभूतानि जायन्ते परमात्मनः ।  
 तस्मादेतानि ब्रह्मैव भवन्तीति विचिन्तय ॥ ९ ॥  
 ब्रह्मैव सर्वनामानि रूपाणि विविधानि च ।  
 कर्माण्यपि समग्राणि <sup>१</sup>विभर्तीति विभावय ॥ ६ ॥  
 सुवर्णाज्ञायमानस्य सुवर्णत्वं च शाश्वतम् ।  
 ब्रह्मणो जायमानस्य ब्रह्मत्वं च तथा भवेत् ॥ ७ ॥

कार्यकारणव्याप्यव्यापककलनासत्वात् प्रपञ्चोऽस्तीति मन्यमानमालक्ष्याह  
 —उपादानमिति । यस्मादेवं तस्मात् ॥ ३—४ ॥ नामरूपकर्मवत् भूतजातस्य  
 ब्रह्माकार्यत्वहेतुना तद्ब्रह्मैवेति सदृष्टान्तमाह—ब्रह्मण इति । यस्मात् ब्रह्मणः ॥ ५ ॥  
 किंच—ब्रह्मैव ॥ ६ ॥ यथा सुवर्णात् ॥ ७ ॥

ब्रह्मातिरिक्तदर्शनात् अनर्थप्राप्तिः  
 स्वल्पमप्यन्तरं कृत्वा जीवात्मपरमात्मनोः ।  
 यस्तिष्ठति विमूढात्मा भयं तस्यापि भाषितम् ॥ ८ ॥  
 यदज्ञानाद्वैद्वैतमितरत्तप्रपश्यति ।  
 आत्मत्वेन तदा सर्वं नेतरत्तत्र चाण्वपि ॥ ९ ॥

ईषदपि ब्रह्मातिरिक्तमस्तीति पश्यतोऽनर्थमाह—स्वल्पमिति । “यदा  
 क्षेयैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति” इति श्रुत्यन्तरेणापि  
 भयं भाषितमित्यर्थः ॥ ८ ॥ स्वाज्ञानविजृमितं द्वैतं स्वज्ञानेनाद्वैतं विभातीत्याह—  
 यदिति ॥ ९ ॥

<sup>१</sup> विभर्तीति भा—अ २, उ १.

व्यावहारिकप्रपञ्चस्य मिथ्यात्मम्

अनुभूतोऽप्ययं लोको व्यवहारक्षमोऽपि सन् ।

असद्ग्रो यथा स्वम् उत्तरक्षणावितः ॥ १० ॥

स्वमे जागरितं नास्ति जागरे स्वमता नहि ।

द्रुयमेव लये नास्ति लयोऽपि हानयोर्न च ॥ ११ ॥

त्रयमेव भवेन्मिथ्या गुणत्रयविनिर्मितम् ।

अस्य द्रष्टा गुणातीतो नित्यो हेष चिदात्मकः ॥ १२ ॥

यद्वन्मृदि घटब्रान्तिः शुक्तौ हि रजतस्थितिः ।

तद्वद्वध्यणि जीवत्वं <sup>१</sup>वीक्षमाणे विनश्यति ॥ १३ ॥

यदा मृदि घटो नाम कनके कुण्डलाभिधा ।

शुक्तौ हि रजतस्यातिर्जीवंशब्दार्थता परे ॥ १४ ॥

यथैव व्योग्नि नीलत्वं यथा नीरं मरुस्थले ।

पुरुषत्वं यथा स्थाणौ तद्वद्वध्यं चिदात्मनि ॥ १५ ॥

यथैव शून्यो वेतालो गन्धर्वाणां पुरं यथा ।

यथाऽङ्काशे द्विचन्द्रत्वं तद्वत्सत्ये जगत्स्थितिः ॥ १६ ॥

यथा तरङ्गकल्लोर्जलमेव स्फुरत्यलम् ।

घटनाम्भा यथा पृथ्वी पटनाम्भा हि तन्तवः ॥ १७ ॥

जगन्माम्भा चिदाभाति सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ।

१—अ. वीक्षमाणो—क.

शब्दस्तथा—अ, अ १, अ २, क.

स्वातिरिक्तस्य व्यावहारिकसत्त्वं मन्यमानं प्रलीह—अनुभूत इति  
॥ १० ॥ जाग्रदाद्यवस्थानां मिथो व्यभिचारित्वं तत्कल्पनाधारस्य नित्यत्वं  
चाह—स्वप्र इति ॥ ११—१२ ॥ जीवत्वादिं स्वातिरिक्तयाथात्म्या<sup>१</sup> नावधि-  
कमिति सदृष्टान्तमाह—यद्विति ॥ १३—१७ ॥

स्वातिरिक्तप्रपञ्चस्य अत्यन्तासम्भवः

यथा वन्ध्यासुतो नास्ति यथा नास्ति मरौ जलम् ॥ १८ ॥

यथा नास्ति नभोवृक्षस्तथा नास्ति जगन्त्स्थितिः ।

गृह्यमाणे घटे यद्वन्मृत्तिका भाति वै बलात् ॥ १९ ॥

<sup>१</sup>वीक्ष्यमाणे प्रपञ्चे तु ब्रह्मैवाभाति भासुरम् ।

किं बहुना स्वातिरिक्तप्रपञ्चस्यात्यन्तासम्भवमाह—यथेति ॥ १८—१९ ॥

अज्ञानकृतः आत्मनि देहाद्यारोपः

सदैवात्मा विशुद्धोऽस्मि ह्यशुद्धो भाति वै सदा ॥ २० ॥

यैव द्विविधा रञ्जुर्ज्ञानिनोऽज्ञानिनोऽनिशम् ।

यैव मून्ययः कुम्भस्तद्वेहोऽपि चिन्मयः ॥ २१ ॥

आत्मानात्मविवेकोऽयं मुखैव क्रियते बुधैः ।

सर्पत्वेन यथा रञ्जू रजतत्वेन शुक्तिका ॥ २२ ॥

विनिर्णीता विमूढेन देहत्वेन तथाऽत्मता ।

घटत्वेन यथा पृथ्वी जलत्वेन मरीचिका ॥ २३ ॥

<sup>१</sup> वीक्षा—अ १, अ २, क.

<sup>२</sup> स्ति—क, अ २.

गृहत्वेन हि काष्ठानि सङ्गत्वेनैव लोहता ।

तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥ २४ ॥

इति ॥

यत् एवमतः सदैवेति ॥ २०-२१ ॥ तथा सति आत्मेत्यादि । अनात्मनो  
दुर्लभत्वात् सर्पत्वेन ॥ २२-२३ ॥ वस्तुतस्तु सर्वापहृवसिद्धं ब्रह्म  
निष्प्रतियोगिकमेवेति फलितोऽर्थः ॥ २४ ॥ इतिशब्दः अश्यायपरिसमाप्तर्थः ॥

इति चतुर्थोऽध्यायः

## पञ्चमोऽध्यायः

देहस्य विष्णवालयत्वम्

पुनर्योगं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्मस्वरूपकम् ।

समाहितमना भूत्वा शृणु ब्रह्मन् यथाक्रमम् ॥ १ ॥

दशद्वारपुरं देहं दशनाडीमहापथम् ।

दशभिर्वाण्युभिर्व्यासं दशोन्द्रियपरिच्छदम् ॥ २ ॥

षडाधारापवरक षडन्वयमहावनम् ।

चतुष्पीठसमाकीर्ण चतुराज्ञायदीपकम् ॥ ३ ॥

चिन्दुनादमहालिङ्गविष्णुलक्ष्मीनिकेतनम् ।

देहं विष्णवालयं प्रोक्तं सिद्धिदं सर्वदेहिनाम् ॥ ४ ॥

उत्तमाधिकारिणामेवं निर्विशेषं ब्रह्म प्रतिपाद्य मध्यमाधिकारिणां  
पुरोक्तोऽपि योगो भूयोऽपि सप्रकारं वक्तव्य इति पञ्चमाध्याय आरम्भते—  
पुनरिति ॥ १-२ ॥ योगाचार्यैः भुसुण्डप्रभृतिभिः मन्त्र-लघ्य-हठ-राज-भावना-

सहजयोगसम्प्रदायभेदेन षडन्वय एव महावनं यस्मिन्<sup>१</sup> तत्थोक्तं, एकैकस्य  
अन्वयस्य समुद्भवदपारत्वात् ॥ ३ ॥ पुरा शिवशक्तिनिकेतनं शिवालयमित्युक्तं,  
पुनः विष्णुलक्ष्मीनिकेतनं विष्णवालयमित्युक्तिः शिवविष्णवोः भेदभ्रमनि सनार्थेति  
मन्तव्या ॥ ४-१९ ॥

आधारषट्कपीठचतुष्ययोः विवरणम्

गुदमेद्रान्तरालस्यं मूलाधारं त्रिकोणकम् ।  
शिवस्य जीवरूपस्य स्थानं तद्विप्रचक्षते ॥ ५ ॥  
यत्र कुण्डलिनी नाम परा शक्तिः प्रतिष्ठिता ।  
यस्मादुत्पद्यते वायुर्यस्माद्वाहिः प्रवर्तते ॥ ६ ॥  
यस्मादुत्पद्यते बिन्दुर्यस्मान्नादः प्रवर्तते ।  
यस्मादुत्पद्यते हंसो यस्मादुत्पद्यते मनः ॥ ७ ॥  
तदेतत्कामरूपाख्यं पीठं कामफलप्रदम् ।  
स्वाधिष्ठानाह्यं चक्रं लिङ्गं<sup>२</sup> मूलं षडश्रकम् ॥ ८ ॥  
नाभिदेशो स्थितं चक्रं दशात्मं मणिपूरकम् ।  
द्वादशारं महाचक्रं हृदये चाप्यनाहतम् ॥ ९ ॥  
तदेतत्पूर्णगिर्याख्यं पीठं कमलसंभव ।  
कण्ठकूपे विशुद्धाख्यं यज्ञक्रं षोडशाश्रकम् ॥ १० ॥  
पीठं जालन्धरं नाम तिष्ठत्यत्र चतुर्मुख ।  
आज्ञा नाम भ्रुवोर्मध्ये द्विदलं चक्रमुत्तमम् ॥ ११ ॥

<sup>१</sup> मूले—ह, अ ३,

उद्ब्याणारब्धं महापीठमुपरिष्टात्प्रतिष्ठितम् ।  
 स्थानान्येतानि देहेऽस्मिन्चक्किरूपं प्रकाशते ॥ १३ ॥  
 चतुरश्चा धरण्यादौ ब्रह्मा तत्राधिदेवता ।  
 अर्धचन्द्राकृति जलं विष्णुस्तस्याधिदेवता ॥ १३ ॥  
 त्रिकोणमण्डलं वही रुद्रस्तस्याधिदेवता ।  
 'वायोर्बिंश्च तु षट्कोणं संकर्षोऽत्राधिदेवता ॥ १४ ॥  
 आकाशमण्डलं वृत्तं श्रीमन्नारायणोऽत्राधिदेवता ।  
 नादरूपं भ्रुवोर्मध्ये मनसो मण्डलं विदुः ॥ १९ ॥  
 शांभवस्थानमेतत्ते वर्णितं पद्मसंभव ।

एतत् प्रथमाध्यायान्ते प्रायशः उक्तं इत्याह—शास्त्रवेति ॥

नाडीचक्रस्थरूपम्

अतः परं प्रवक्ष्यामि नाडीचक्रस्य निर्णयम् ॥ १६ ॥  
 मूलाधारत्रिकोणस्था सुषुक्षा द्वादशाकुला ।  
 मूलार्धच्छिङ्गवंशाभा ब्रह्मनाडीति सा स्मृता ॥ १७ ॥  
 इडा च पिङ्गला चैव तस्याः पार्श्वद्वये गते ।  
 विलम्बिन्यामनुस्यूते नाडिकाऽन्तमुपागते ॥ १८ ॥  
 इडायां हेमरूपेण वायुर्वर्मिन गच्छति ।  
 पिङ्गलायां तु सूर्यात्मा याति दक्षिणपार्श्वतः ॥ १९ ॥  
 विलम्बिनीति या नाडी व्यक्ता नाभौ प्रतिष्ठिता ।  
 तत्र नाडयः समुत्पन्नास्तिर्थगूर्ध्वमधोमुखाः ॥ २० ॥

<sup>१</sup> वायौ वि—क.

<sup>२</sup> मेहे—उ १. हेमे—उ.

तजाभिचक्रमित्युक्तं कुकुटाण्डमिव स्थितम् ।  
 गान्धारी हस्तिजिहा च तस्मान्नेत्रद्वयं गते ॥ २१  
 पूषा चालम्बुसा चैव श्रोत्रद्वयमुपागते ।  
 शूरा नाम महानाडी तस्माद्भूमध्यमाश्रिता ॥ २२ ॥  
 विश्वोदरी तु या नाडी सा भुङ्गेऽन्नं चतुर्विधम् ।  
 सरस्वती तु या नाडी सा जिहाऽन्तं प्रसर्ते ॥ २३ ॥  
 राकाऽङ्ग्लया तु या नाडी पीत्वा च सलिलं क्षणात् ।  
 क्षुतमुत्पादयेद् ग्राणे क्लेष्माणं संचिनोति च ॥ २४ ॥  
 कण्ठकूपोद्भवा नाडी शङ्खिन्याख्या त्वधोमुखी ।  
 अन्नसारं समादाय मूर्ध्नि संचिनुते सदा ॥ २५ ॥  
 नाभेरधोगतास्तिक्तो नाडयः स्युरधोमुखाः ।  
 मलं त्यजेत्कुहूर्नाडी मूत्रं मुञ्चति वारुणी ॥ २६ ॥  
 नित्राख्या सीविनी नाडी शुक्ळमोचनकारिणी ।  
 नाडीचक्रमिति प्रोक्तं बिन्दुरूपमतः शृणु ॥ २७ ॥

ततो नाडीचक्रस्वरूपमाह—अत इति ॥ १६—२७ ॥

बिन्दुमिसोमात्मकं ब्रह्मशरीरत्रयम्  
 स्थूलं सूक्ष्मं परं चेति त्रिविधं ब्रह्मणो वपुः ।  
 स्थूलं शुक्लात्मकं <sup>१</sup>बिन्दुः सूक्ष्मं पञ्चामिरूपकम् ॥ २८ ॥  
 सोमात्मकः परः प्रोक्तः सदा साक्षी सदाऽच्युतः ।

<sup>१</sup> बिन्दुसू—क, अ १, अ २.

कालाद्यादि पञ्चामिरूपकम् ॥ २८ ॥

पञ्चामिभावना, तत्कलं च

पातालानामधोभागे कालाग्निर्यः प्रतिष्ठितः ॥ २९ ॥

स मूलाग्निः शरीरऽग्निर्यस्मान्नादः प्रजायतं ।

बड्बाग्निः शरीरस्थो ह्यस्थिमव्ये प्रवर्ततं ॥ ३० ॥

काष्ठपाषाणयोर्वह्निर्यमव्ये प्रवर्ततं ।

काष्ठपाषाणजो वह्निः पार्थिवो ग्रहणीगतः ॥ ३१ ॥

अन्तरिक्षगतो वह्निर्वैद्युतः स्वान्तरात्मकः ।

नमःस्थः सूर्यरूपोऽग्निर्यमिष्टलभाश्रितः ॥ ३२ ॥

विषं<sup>१</sup> वर्षति सूर्योऽसौ स्वत्यमृतमुखः ।

तालुमूले स्थितश्चन्द्रः सुधां वर्षत्यधोमुखः ॥ ३३ ॥

भ्रूमध्यनिलयो बिन्दुः शुद्धस्फटिकसंनिभः ।

महाविष्णोश्च देवस्थ तत्सूक्ष्मं रूपमुच्यते ॥ ३४ ॥

एतत्पञ्चामिरूपं यो भावयन् बुद्धिमान् विद्या ।

तेन मुक्तं च पीतं च ह्रुतमेव न संशयः ॥ ३५ ॥

क्रमात् पञ्चामिस्वरूपमाह—पातालानामिति । अतलादिपातालानां पातालान्तलोकानां पातालानाम् ॥ २९ ॥ कालाग्निरेव नादाधाराग्निर्भूत्वा शरीरे वर्तते ॥ ३० ॥ तथा काष्ठेति । ग्रहणीगतः—पार्थिवाग्निरेव योषात्वं प्राप्त इत्यर्थः ॥ ३१—३४ ॥ पञ्चामिभावनाफलमाह—एतदिति ॥ ३५ ॥

<sup>१</sup> पित्रिति—क.

<sup>२</sup> स्थ—क, अ २, उ १.

कुण्डलिनीप्रबोधनम्

सुखसंसेवितं स्वम् मुजीर्णभितभोजनम् ।  
 शरीरशुद्धि कृत्वाऽऽदौ सुखमासनमास्थितः ॥ ३६ ॥  
 प्राणस्य शोधयेन्मार्गं रेचपूरककुम्भकैः ।  
 गुदमाकुष्ठ्य यत्नेन मूलशक्तिं प्रपूजयेत् ॥ ३७ ॥

एवमाहारतः शरीरशुद्धिम् । स्वस्य येन सुखधारणा स्यात् तत्  
 सुखमासनम् ॥ ३६ ॥ मूलशक्तिं प्रपूजयेत् कुण्डलिनीशक्तिं  
 प्रबोधयेदित्यर्थः ॥ ३७-४२ ॥

खेचरीमुद्राभ्यासः तत्कलं च

नाभौ लिङ्गस्य मध्ये तु उडचाणास्यं च बन्धयेत् ।  
 उड्हीय याति तेनैव शक्तितोडचाणपीठकम् ॥ ३८ ॥  
 कण्ठं संकोचयेत्किञ्चिद्वृन्धो जालन्धरो हायम् ।  
 बन्धयेत्वेचरीमुद्रां दृढचित्तः समाहितः ॥ ३९ ॥  
 कपालविवरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।  
 भुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ४० ॥  
 स्वेच्छार्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।  
 न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ॥ ४१ ॥  
 न क्षुधा न तृष्णा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ।  
 न च मृत्युर्भवेत्स्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ४२ ॥

सहस्रारे नारायणभावनातः कैवल्यसिद्धिः

ततः पूर्वपरे व्योम्नि द्वादशान्तेऽच्युतात्मके ।

उड्चाणपीठे निर्झन्दे निरालम्बे निरञ्जने ॥ ४३ ॥

ततः पक्षजमध्यस्यं चन्द्रमण्डलमध्यगम् ।

नारायणमनुध्यायेत्ववन्तममृतं सदा ॥ ४४ ॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिद्विद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् द्वष्टे परावरे ॥ ४५ ॥

ततो योगी सहस्रागकाशे स्वदमृतं नागायणं स्वात्मतया ध्यायन्  
प्रन्थिसंशयकर्मासम्भवकैवल्यसिद्धिमेतीत्याह—तत इति । सहस्रारे आज्ञायां  
वा ॥ ४३—४५ ॥

यथोक्तभावनायुक्तस्य तत्तत्सिद्धेणुपायाः

अथ सिद्धि प्रवक्ष्यामि सुखोपायं सुरेश्वर ।

जितेन्द्रियाणां शान्तानां जितधासविचेतसाम् ॥ ४६ ॥

नादे मनोलयं ब्रह्मन् दूरश्वरणकारणम् ।

बिन्दौ मनोलयं कृत्वा दूरदर्शनमामुयात् ॥ ४७ ॥

कालात्मनि मनो लीनं त्रिकालज्ञानकारणम् ।

परकायमनोयोगः परकायप्रवेशकृत् ॥ ४८ ॥

अमृतं चिन्तयेन्मूर्धि क्षु<sup>१</sup>तृष्णाविषशान्तये ।

पृथिव्यां धारयेचित्तं पातालगमनं भवेत् ॥ ४९ ॥

<sup>१</sup> तृष्णा—अ, अ १.

सलिले धारयेच्छितं नाम्भसा परिभूयते ।  
 अग्नौ संधारयेच्छित्तमग्निना दृश्यते न सः ॥ ९० ॥  
 वायौ मनोलयं कुर्यादाकाशगमनं भवेत् ।  
 आकाशे धारयेच्छित्तमणिमादिकमामुयात् ॥ ९१ ॥  
 विराङ्<sup>१</sup>रूपे मनो युज्जन् महिमानमवामुयात् ।  
 चतुर्मुखे मनो युज्जन् जगत्सृष्टिकरो भवेत् ॥ ९२ ॥  
 इन्द्ररूपिणमात्मानं भावयन् मर्त्यभोगवान् ।  
 विष्णुरूपे<sup>२</sup> महायोगी पालयेदस्तिलं जगत् ॥ ९३ ॥  
 रुद्ररूपे महायोगी संहरत्येव तेजसा ।  
 नारायणे मनो युज्जन् नारायण<sup>३</sup>मयो भवेत् ।  
 वासुदेवे मनो युज्जन् सर्वसिद्धिमवामुयात् ॥ ९४ ॥  
 यथा संकल्पयेद्योगी योगयुक्तो नितेन्द्रियः ।  
 तथा तत्तद्वाप्नोति भाव एवात्र कारणम् ॥ ९५ ॥

एवं भावयतः ते नानाविधसिद्धयुपायं वदामीन्याह—अथेति ॥ ४६ ॥  
 विन्दौ चक्षुस्तारके ॥ ४७-६१ ॥

## गुरुपूजाविधिः

गुरुर्बह्वा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवः सदाऽऽच्युतः ।  
 न गुरोरघिकः कश्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ ९६ ॥

<sup>१</sup> रूपं—अ, अ १.<sup>२</sup> मनो—उ.<sup>३</sup> मयं—अ १, अ २, क.

दिव्यज्ञानोपदेष्टारं देशिकं परमेश्वरम् ।

पूजयेत्परया भक्त्या तस्य ज्ञानफलं <sup>१</sup>भवेत् ॥ ९७ ॥

यथा गुरुस्तथैवेशो यथैवेशस्तथा गुरुः ।

पूजनीयो महाभक्त्या न भेदो विद्यतेऽनयोः ॥ ९८ ॥

नाद्वैतवादं कुर्वीत गुरुणा मह कुत्रचित् ।

अद्वैतं भावयेद्भक्त्या गुरोर्देवस्य चात्मनः ॥ ९९ ॥

योगशिखामहिमा

योगशिखां महागुह्यं यो जानाति महामतिः ।

न तस्य किञ्चिद्ज्ञातं त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ ६० ॥

न पुण्यपापे <sup>२</sup>नास्वप्यो न दुःखं न पराजयः ।

न चास्ति पुनरावृत्तिरम्भिन् संसारमण्डले ॥ ६१ ॥

सिद्धिषु उपेक्षाविधिः

सिद्धौ चित्तं न कुर्वीत चञ्चलत्वेन चेतसः ।

तथाऽपि ज्ञाततत्त्वोऽसौ मुक्त एव न संशयः ॥ ६२ ॥

इत्युपनिषत् ॥

विज्ञातस्वात्मतत्त्वानां योगिनां सिद्धिगोपनागोपनतो न काचित् क्षतिः  
लाभो वा अस्तीत्यर्थः । इत्युपनिषच्छङ्कः पञ्चमाध्यायसमाप्त्यर्थः ॥ ६२ ॥

इति पञ्चमोऽध्यायः

<sup>१</sup> रुभेत्—अ, अ १, अ २, क.

<sup>२</sup> नस्व—अ, अ १, अ २, क.

## षष्ठोऽध्यायः

कुण्डलिनीशकेः उपासनाविधिः

उपासनाप्रकारं मे ब्रूहि त्वं परमेश्वर ।

येन विज्ञानमात्रेण मुक्तो भवति संसृतेः ॥ १ ॥

उपासनाप्रकारं ते रहस्यं श्रुतिसारकम् ।

हिरण्यगर्भं वक्ष्यामि श्रुत्वा सम्यगुपासय ॥ २ ॥

सुषुप्तायै कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्रमण्डलात् ।

मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्तयै चिदात्मने ॥ ३ ॥

स्वाङ्गलोको येन मुच्यते तदुपायोपासनाप्रकारं ब्रूहीति महेश्वरं प्रति  
चतुर्मुखः पृच्छतीत्याह—उपासनेति ॥ १ ॥ प्रश्नोत्तरं भगवानाह—उपासनेति  
॥ २ ॥ उपासनामन्ततत्प्रकारं तत्कलं चाह—सुषुप्ताया इति ॥ ३ ॥

सुषुप्तास्वरूपम्

शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-

स्तासां मूर्धानमधिनिःसृतैका ।

तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति

विष्वङ्गुन्या उत्कमणे भवन्ति ॥ ४ ॥

एकोत्तरं नाडिशतं तासां मध्ये परा स्मृता ।

सुषुप्ता तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी ॥ ५ ॥

इडा तिष्ठति वामेन पिङ्गला दक्षिणेन तु ।

तयोर्मध्ये परं स्थानं <sup>१</sup>यस्तद्वेद् स वेदवित् ॥ ६ ॥

<sup>१</sup> यस्तं वे—उ,

प्राणान् संधारयेत्स्मिन् नासाभ्यन्तरचारिणः ।  
 भूत्वा तत्रायतप्राणः शैरेव समभ्यसेत् ॥ ७ ॥  
 गुदस्य पृष्ठभागेऽस्मिन्वीणा<sup>१</sup> दण्डस्तु देहभृत् ।  
 दीर्घास्थिदेहर्यन्तं ब्रह्मनाडीति कथ्यते ॥ ८ ॥  
 तस्यान्ते सुषिरं सूक्ष्मं ब्रह्मनाडीति सूरिभिः ।  
 इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्ना सूर्यस्त्रिणी ॥ ९ ॥  
 सुषुम्नारूपं तन्मार्गगमनफलं चाह—शतमिति ॥ ४—१९ ॥

सुषुम्नायाः सर्वाधारत्वम्

सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मिन् सर्वगं सर्वतोमुखम् ।  
 तस्य मध्यगताः सूर्यसोमाग्निपरमेश्वराः ॥ १० ॥  
 भूतलोका दिशः क्षेत्राः समुद्राः पर्वताः शिलाः ।  
 द्वीपाश्च निम्नगा वेदाः शास्त्रविद्याकलाऽक्षराः ॥ ११ ॥  
 स्वरमन्त्वपुराणानि गुणाश्चैते च सर्वशः ।  
 बीजं बीजात्मकस्तेषां क्षेत्रज्ञाः प्राणवायवः ॥ १२ ॥  
 सुषुम्नाऽन्तर्गतं विश्वं तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ।  
 नानानाडीप्रसवं सर्वभूतान्तरात्मनि ॥ १३ ॥  
 ऊर्ध्वमूलमध्यःशास्त्रं वायुमार्गेण सर्वगम् ।  
 द्विसप्तिसहस्राणि नाड्यः स्युर्वायुगोचराः ॥ १४ ॥  
 सर्वमार्गेण सुषिरास्तिर्यज्ञः सुषिरात्मकाः ।  
 अधश्चोर्ध्वं च कुण्डल्याः सर्वद्वारनिरोधनात् ॥ १५ ॥

<sup>१</sup> दण्डस्य—क, अ, अ १, अ २. दण्डः स—सु.

योगशिखोपनिषत्

पराशक्ते: उद्घोषनम्

वायुना सह जीवोर्ध्वज्ञानान्मोक्षमवामृयात् ।

ज्ञात्वा सुषुम्ना तद्देवं कृत्वा पायुं च मध्यगम् ॥ १६ ॥

कृत्वा तु वैन्दवस्थाने धाणरन्धे निरोधयेत् ।

द्विसप्तिसहवाणि नाडीद्वाराणि पञ्चे ॥ १७ ॥

सुषुम्ना शान्मुखी शक्तिः शेषास्त्वन्ये निरर्थकाः ।

हृलेवे परमानन्दे तालु<sup>१</sup>मूलब्ध्यवस्थितं ॥ १८ ॥

अत ऊर्ध्वं निरोधे तु मध्यमं मध्यमध्यमम् ।

उच्चारयेत्परां शक्तिं ब्रह्मरन्धनिवासिनीम् ।

यदि भ्रमरसृष्टिः स्यात् संसारभ्रमणं ल्यजेत् ॥ १९ ॥

जीवशक्तिः कुण्डलिनीर्थः ॥ १६ ॥ वैन्दवस्थाने भ्रमये । पञ्चरे  
शरीरे ॥ १७ ॥ हृलेवे हींकाग्राच्ये परमानन्दे ईश्वरतत्त्वे तालुमूलब्ध्यवस्थिते  
नित्तादिकं निरोधयेत् ॥ १८ ॥ मध्यमं तुरीयं, मध्यमध्यमं तुर्यतुरीयं, तत्र  
लक्ष्यं कृत्वा उच्चारयेत्, पोदशमात्राकालं प्रणवप्रकृतिसुच्चारयेत् ।  
ब्रह्मरन्धनिवासिनी—घोडशसंब्याप्तग्रकमात्रायाः पराभूमित्वेन ब्रह्मरन्ध्रा-  
सनत्वात् । तत्र यदीति । स्वातिरिक्तं विकल्प्य परिभ्रमतीति भ्रमरः काम-  
सङ्कल्पादिमनोद्विष्पूणः, “कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिः  
अधृतिः हीः धीः भीः इत्येतत् सर्वं मन एव” इति श्रुतेः । तत्सृष्टिः कल्पना  
स्यात् । तत्र कदाऽपि कल्पनावकाशो नहस्ति ब्रह्मरन्ध्रस्य निर्बीजत्वात् ।  
यदि भ्रमध्यादधःप्रदेशमेव विद्वाद्विचक्रे कामसङ्कल्पादिसृष्टिः स्यात्  
तदाऽऽज्ञाचक्रमवष्टम्य स्वानर्थकारणं संसारभ्रमणं स्वातिरिक्तविषयपरिभ्रमणं  
“स्वातिरिक्तं न किञ्चिददिस्त” इति धैर्येण ल्यजेत् अपहवं कुर्यादित्यर्थः ॥ १९ ॥

<sup>1</sup> मूले—अ, अ १, अ २, क.

परमात्मव्यानम्

गमागमस्यं गमनादिशून्यं चिद्रूपदीपं तिभिरान्वकरम् ।  
 पश्यामि ते सर्वजनान्तरस्यं नमामि हंसं परमात्मरूपम् ॥२०॥  
 अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः ।  
 ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः ।  
 तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ २१ ॥

ततः किमित्यत आह—गमेति । स्वान्तःकरणवृत्तिकदस्वगमनागमनाव-  
 भासकप्रयगभिन्नब्रह्मरूपेण तिष्ठतीति गमागमस्थम् । वस्तुतः स्वातिरिक्तान्तः-  
 करणतत्कार्याभावात् गमनादिशून्यम् । ततः स्वातिरिक्तं तिभिरान्वकारं  
 चिद्रूपाग्निशिखया दीपयति भस्मावशेषं कर्गतीति चिद्रूपदीपम् । शिष्टं स्पष्टम्  
 ॥ २० ॥ अनाहतोपलक्षितमूलाधागदिवैर्वर्यन्तप्रादुर्भूतशब्दज्योतिः प्रपञ्च-  
 कलनाकलितसवृत्तिकमानसासम्भवप्रबोधसिद्धं विष्णुपदं अवशिष्यते इत्यर्थः ॥२१॥

आधारब्रह्मणि प्राणादिविलयान्मुक्तिः

केचिद्वदन्ति चाधारं सुषुम्ना च सरस्वती ।  
 आधाराज्ञायते विश्वं विश्वं त्रैव लीयते ॥ २२ ॥  
 तस्मात्सर्वप्रथलेन गुरुपादं समाश्रयेत् ।  
 आधारशक्तिनिद्रायां विश्वं भवति निद्रया ॥ २३ ॥  
 तस्यां शक्तिप्रबोधेन त्रैलोक्यं प्रतिबुद्ध्यते ।  
 आधारं यो विजानाति तमसः परमश्रुते ॥ २४ ॥  
 तस्य विज्ञानमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते ॥ २५ ॥

<sup>1</sup> न्वनाशम्—मु. पहारम्—अ.

आधारचक्रमहसा विद्युत्पुजासमप्रभा ।  
 तदा गुर्किर्न संदेहो यदि तुष्टः स्वयं गुरुः ॥ २६  
 आधारचक्रमहसा पुण्यपापे निकृन्तयेत् ।  
 आधारवातरोधेन लीयते गगनान्तरे ॥ २७ ॥  
 आधारवातरोधेन शरीरं कम्पते यथा ।  
 आधारवातरोधेन योगी नृत्यति सर्वदा ॥  
 आधारवातरोधेन विश्वं तत्रैव दृश्यते ॥ २८ ॥  
 सृष्टिराधारमाधारमाधारे सर्वदेवताः ।  
 आधारे सर्व<sup>१</sup>वेदाश्च तस्मादाधारमाश्रयेत् ॥ २९ ॥  
 आधारे पश्चिमे भागे त्रिवेणीसङ्गमो भवेत् ।  
 तत्र स्नात्वा च पीत्वा च नरः पापात् प्रमुच्यते ॥ ३० ॥  
 आधारे पश्चिमं लिङ्गं कवाटं तत्र विद्यते ।  
 तस्योद्घाटनमात्रेण मुच्यते भवबन्धनात् ॥ ३१ ॥  
 आधारपश्चिमे भागे चन्द्रसूर्यौ स्थिरौ यदि ।  
 तत्र तिष्ठति विश्वेशो ध्यात्वा ब्रह्मयो भवेत् ॥ ३२ ॥

केचिन्नादाधागप्राणादिविल्यात् स्वाधेयाभावतो निराधारब्रह्मस्वरूपाव-  
 स्थानलक्षणमुक्तिः स्यादिति वदन्ति । तदपि युक्तमेवेत्याह—केचिदिति ।  
 सुषुम्नासरस्वतीनाडयौ यत्र प्रतिष्ठिते तन्मूलाधारमित्यर्थः । तस्य ब्रह्मात्मना  
 विश्वारोपापवादाधिकरणतामप्याह—आधारादिति ॥ २२ ॥ यस्मादेवं तस्मात् ।  
 येन मूलाधारयाथात्म्यं दर्शितं स गुरुः परमात्मा स्वाज्ञानमोचकत्वात् ।

<sup>१</sup> देवा—अ, अ १.

तत्पादं तद्वावं समाश्रयेत् । किंच—आधारेति । आधारशक्तिः कुण्डलिनी तस्याः स्वाधारावस्थितिः निदा तस्यां सत्यां विश्वं स्वाज्ञाननिद्राविशिष्टं भवति ॥ २३ ॥ तत्प्रबोध— सुषुम्नाप्रवेशः । तेन त्रैलोक्ययाथात्म्यबोधो जायते । एवं ज्ञानफलाह—आधारमिति ॥ २४—२५ ॥ मुक्तेः गुरुप्रसादैकलभ्यत्वात्, “यमेवैष कृषुते तेन लभ्यः” इति श्रुतेः ॥ २६ ॥ किंच—आधारेति । विश्वं तत्रैव दृश्यते—स्वातिरिक्तं नेति प्रकाशते इत्यर्थः ॥ २७—२८ ॥ आधारत्वं कथमित्यत्र यतः स्वातिरिक्तसृष्टिः स्वाधारमवष्टभ्य प्रवृत्ता यतः तदभावे न सम्भवति, अतः सर्वाधारमधिष्ठानं ब्रह्मेति सिद्धम् । तत् कथमित्यत्र आधारे सति सर्वदेवताः ॥ २९ ॥ इडा पिंगला सुषुम्ना चेति त्रिवेणी ॥ ३० ॥ पश्चिमलिङ्गं प्रत्यक्चैतन्यं तत्कवाटमानागकं प्रन्थित्रयम् ॥ ३१ ॥ आधार-पश्चिमे भागे सुषुम्नायाम् ॥ ३२ ॥

चक्रेषु ब्रह्मादिमूर्तिध्यानेन ब्रह्मरन्प्रप्रवेशः

आधारपश्चिमे भागे मूर्तिस्तिष्ठति संज्ञया ।

षट् चक्राणि च निर्भिद्य ब्रह्म<sup>१</sup>रन्प्राद्विर्गतम् ॥ ३३ ॥

वामदक्षे निरुद्धन्ति प्रविशन्ति सुषुम्नया ।

ब्रह्मरन्ध्रं प्रविश्यन्ति ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ३४ ॥

ब्रह्मादीनां मूर्तिः । एवमुपासकाः तत्त्वकालद्वारमूर्तिध्यानपुरस्सरं षट्चक्राणीति । ब्रह्मरन्प्रात् सुषुम्नारन्प्रात् पुरा बहिर्गतं प्राणमादौ योगिनो वामदक्षे इडापिंगले निरुद्धन्ति निरोधं कुर्वन्ति । ततः तत्प्राणादयः सहसा सुषुम्नया क्रमात् प्रन्थित्रयालंकृतषट्चक्राणि च निर्भिद्य चन्द्रसूर्याद्यैक्यजग्म-मृतमास्वाद्य सहस्रारचक्रोज्ज्वलत्तुरीयं तुरीयातीतं वा प्रविशन्ति । ये एवं ब्रह्मरन्धम् ॥ ३३—३४ ॥

<sup>१</sup> रन्धे व—अ, अ १.

<sup>२</sup> निरुद्धन्ति—क, अ १, अ २.

ब्रह्मरन्धविलीकरणस्य मुक्तिः

सुषुम्नायां यदा हंसः अध ऊर्ध्वं प्रधावति ।

सुषुम्नायां यदा प्राणं <sup>१</sup> ब्रामयेद्यो निरन्तरम् ॥ ३५ ॥

सुषुम्नायां यदा प्राणः स्थिरो भवति धीमताम् ।

सुषुम्नायां प्रवेशेन चन्द्रसूर्यौ ल्यं गतौ ॥ ३६ ॥

तदा समरसं भावं यो जानाति म योगवित् ।

सुषुम्नायां यदा यस्य म्रियते मनमो रथः ॥ ३७ ॥

सुषुम्नायां यदा योगी क्षणैकमपि तिष्ठति ।

सुषुम्नायां यदा योगी क्षणार्धमधितिष्ठति ॥ ३८ ॥

सुषुम्नायां यदा योगी सुलभो लवणाम्बुद्धत् ।

सुषुम्नायां यदा योगी लीयते क्षीरनीरवत् ॥ ३९ ॥

भिद्यते <sup>२</sup> च तदा ग्रन्थिश्छिद्यन्तं सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते परमाकाशे ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ४० ॥

यत्करणपटलं सुषुम्नाद्वारेण ब्रह्मरन्धे विलीयते ते मुक्ता भवन्तीत्याह-  
सुषुम्नायामिति । हंसः प्राणः ॥ ३५-३० ॥ एवं सुषुम्नाविलयफलमाह-  
भिद्यत इति । जीवेऽमेद्ग्रन्थिः ॥ ४० ॥

मुषुम्नायोगमहिमा

गङ्गायां सागरे स्नात्वा नत्वा च मणिकर्णिकाम् ।

मध्यनाडीविचारस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ४१ ॥

<sup>१</sup> का—अ.

<sup>२</sup> हृदय—अ २. च तथा—क, अ १, उ.

प्रीत्येकदर्शनान्मुक्तिर्वाणस्यां सृष्टस्य च ।  
 नदारोदकपानेन मध्यनाडीप्रदर्शनात् ॥ ४२ ॥  
 अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च ।  
 सुषुम्नाध्यान<sup>१</sup>योगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ४३ ॥  
 सुषुम्नायां यदा गोष्ठीं यः कश्चित्कुरुते नरः ।  
 स मुक्तः सर्वपापेभ्यो निश्चेयसमवामृयात् ॥ ४४ ॥  
 सुषुम्नैव परं तीर्थं सुषुम्नैव परो जपः ।  
 सुषुम्नैव परं ध्यानं सुषुम्नैव परा गतिः ॥ ४९ ॥  
 अनेकयज्ञदानानि व्रतानि नियमानि च ।  
 सुषुम्नाध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ४६ ॥  
 सुषुम्नाविचारादिकं स्तौति—गङ्गायामिति ॥ ४१—४६ ॥

चिच्छक्तिर्वयोः स्थानविवेकः

ब्रह्मरन्धे महास्थाने वर्तते सततं शिवा ।  
 चिच्छक्तिः परमा देवी मध्यमे सुप्रतिष्ठिता ॥ ४७ ॥  
 मायाशक्तिर्ललाटाग्रभागे व्योमाम्बुजे तथा ।  
 नादरूपा परा शक्तिर्ललाटस्यापरांशके ।  
 भागे बिन्दुमयी शक्तिर्ललाटस्यापरांशके ।  
 बिन्दुमध्ये च जीवात्मा सूक्ष्मरूपेण वर्तते ॥ ४९ ॥  
 हृदये स्थूलरूपेण मध्यमे न तु मध्यमे ॥ ५० ॥

<sup>१</sup> स्तेषस्य—अ, अ १, क.

ब्रह्मरन्ध्रादिस्थानेतु चिच्छक्त्यादयो वर्तन्ते । विन्दादिमध्ये जीवोऽ  
वर्तते । सोऽयं प्राणापानवशतो विश्रान्तिमलब्ध्वा उच्छ्वासादिव्याप्तरच्छुले  
हंसमनुजपनिष्ठो भवतीत्याह—ब्रह्मरन्ध्र इति । मध्यमे भ्रूमध्ये  
इदयाकाशे च तथा वर्तते इत्यनुषन्यते ॥ ४८ ॥ विन्दुर्गर्थः ॥ ४८ ॥  
॥ ४९ ॥ मध्यमे इदये स्थूलस्त्रपेण जीवो वर्तते, न तु मध्यमे, भ्रूमध्ये  
सहस्रे वा न तु जीवः सरति । यदि भ्रूमध्यादौ गच्छति तदा क्षरः परमाक्षरो  
वा भवतीत्यर्थः ॥ ५० ॥

वायुवशस्य जीवस्य हंसमन्तजपप्रकारः

प्राणापानवशो जीवो द्वाधश्चोर्ध्वं प्रधावति ।

वामदक्षिणमागेण चञ्चलत्वात् दृश्यते ॥ ५१ ॥

आक्षिसो मुजदण्डेन यथोच्चलति कन्तुकः ।

प्राणापानसमाक्षिसस्तथा जीवो न विश्रमेत् ॥ ५२ ॥

अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति ।

हकरेण बहिर्याति सकरेण विशेत्पुनः ॥ ५३ ॥

हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।

तद्विद्वानक्षरं नित्यं यो जानाति स योगवित् ॥ ५४ ॥

सोऽयं प्राणापानेति । केन मार्गेण यावद्वृ[धावन्नद्वृ]श्यते इत्यत्र  
वामेति ॥ ५१ ॥ तच्चलनटश्चान्तमाह—आक्षिस इति ॥ ५२ ॥ तत् कथं?  
हकरेणेति ॥ ५३ ॥ इत्थंभूतोऽपि जीवः स्वगतजीवत्वं निरस्याक्षरोऽस्मीति  
ज्ञानात् तदेव भवतीत्याह—तदिति ॥ ५४ ॥

४३४

कुण्डल्यवस्थामेदतो बन्धमुक्तिवस्था  
नन्दोद्धर्वे कुण्डली शक्तिमुर्कि<sup>१</sup>रूपाऽय योगिनाम् ।  
नन्धनाय च मूढानां यस्तां वेति स योगवित् ॥ ९९ ॥

कुण्डली यदि खस्थानादूर्ध्वं गच्छति तदाऽयं मुक्तो भवति, यदि सा खस्थानं न मुच्छति तदाऽयं बद्धो भवतीत्याह—कन्देति ॥ ९९ ॥

प्रणवस्थ सर्वाधारत्वम्

भूमुवःस्वरिमें लोकाश्नन्दसूर्याभिदेवताः ।  
यासु मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ९६ ॥  
त्रयः कालाक्षयो देवाक्षयो लोकाक्षयः स्वराः ।  
त्रयो वेदाः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ९७ ॥  
भूरादिलोकाधारः प्रणवः इत्याह—भूरिति ॥ ९६-९७ ॥

चित्तचलनाचलनाभ्यां बन्धमुर्का

चित्ते चलति संसारो निश्चलं मोक्ष उच्यते ।  
तस्माच्चित्तं स्थिरीकुर्यात्प्रज्ञया परया विधे ॥ ९८ ॥  
चित्तं कारणमर्थानां तस्मिन् सति जगत्त्वयम् ।  
तस्मिन् क्षीणे जगत् क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः ॥ ९९ ॥

यतः चित्तचलनाचलने बन्धमोक्षहेतू अतः स्वातिरेकेण चित्तं नास्तीत्यनु-  
सन्धेयमित्याह—चित्त इति । यस्मादेवं तस्मात् ॥ ९८-९९ ॥

<sup>१</sup> रूपाय—क, उ. रूपा हि—मु.

<sup>२</sup> दाषु—अ १.

चित्तस्य स्वात्मानतिरिक्तत्वागुसन्धानेन ब्रह्मसाक्षात्कारः

मनोऽहं गगनाकारं मनोऽहं सर्वतोमुखम् ।

मनोऽहं सर्वमात्मा च न मनः केवलः परः ॥ ६० ॥<sup>१</sup>

मनः कर्माणि जायन्ते मनो लिप्यति पातकैः ।

मनश्चेदुन्मनीभूयात्र पुण्यं न च पातकम् ॥ ६१ ॥

मनसा मन आलोक्य वृत्तिशून्यं यदा भवेत् ।

नतः परं परब्रह्म दृश्यते च सुदुर्लभम् ॥ ६२ ॥

मनसा मन आलोक्य मुक्तो भवति योगविन् ।

मनसा मन आलोक्य उन्मन्यन्तं सदा स्मरेत् ॥ ६३ ॥

मनसा मन आलोक्य योगनिष्ठः सदा भवेत् ।

मनसा मन आलोक्य दक्षप्रत्ययदृश्यते ॥ ६४ ॥

यदा प्रत्यया दृश्यन्ते तदा योगीश्वरो भवेत् ॥ ६५ ॥

बिन्दुनादकलाञ्योतिरबिन्दुध्वतारकम् ।

शान्तं च तदतीतं च परब्रह्म तदुच्यते ॥ ६६ ॥

मनस्तु ब्रह्मावरणं तन्मनसः सत्त्वांशतः स्वावरणे नष्टे निरावरणं ब्रह्म प्रकाशत इयाह—मनइति । शुद्धसत्त्वेश्वरभावमापन्नमनस्तु मनोऽहं गगनाकारं, सङ्कल्पादिवृत्यभावात् । तथा चेत् सत्त्ववृत्तिमन्मनो ब्रह्मेत्यत आह— न मनः केवलः पर इति ॥ ६० ॥ रजस्तमोवृत्तिकं मनस्तु मनः कर्माणि जायन्ते । यस्य मनश्चेदुन्मनीभूयात् ॥ ६१ ॥ सात्त्विकभावापन्नेन मनसा तमभादिभावापन्नं मन आलोक्य मिथ्येति दृष्टा एवं दर्शनतो वृत्तिशून्यम्

<sup>१</sup> दक्षप्रत्ययो—क, अ २. दृश्यन्ते प्रत्यया दश—अ.

॥ ६२—६३ ॥ आलोक्य स्थितस्य योगिनः दशप्रत्ययदृश्यते—“दशमोऽसि” इति बोधितस्य “दशमोऽस्मि” इति प्रत्ययवत् “तत् त्वमासि” इति बोधितस्य “ब्रह्मास्मि” इति प्रत्ययो दृश्यते । ब्रह्मास्मीति ज्ञानमुदेतीति भावः ॥ ६४—६५ ॥ प्रत्ययगोचरं ब्रह्म कीदृशमित्यत्र बिन्दुनादेति । स्वाज्ञारिदृष्ट्या विराङ्गादिरूपेण बिन्दुनादकलाञ्चयोतिः । ओत्रादेविराङ्गादिविलक्षणत्वात् अविन्दुः ओता, ध्रुवतारकं अनुज्ञातचैतन्यं, स्वकार्यपेक्ष्या स्वयं ध्रुवं सत् स्तोपासकभवसागरसन्तारणात् । विराङ्गादयनुज्ञात्रन्तकलनाशान्तं अनुज्ञैकरसचैतन्यं, तदतीतं त्वविकल्पचैतन्यम् । यत् त्रिन्दादि तदर्तीतान्तं विभाति वस्तुतः तत् सर्वं परं ब्रह्मत्युच्यते । स्वातिरित्क्षिप्तिविन्दादिगतहेयांशापहृवसिद्धनिष्ठप्रतियोगिकस्वमात्रतया ब्रूहणात् ब्रह्मत्वं निःकुशमित्यर्थः ॥ ६६ ॥

प्राणचित्तयोरविनाभावः

हसत्युद्गुसति प्रीत्या क्रीडते मोदते तदा ।  
 तनोति जीवनं बुद्ध्या बिभेति मर्वते भयात् ॥ ६७ ॥  
 रोषते बुद्ध्यते शोके मुह्यते नवसंपदा ।  
 कम्पते शत्रुकार्येषु कामेन रमते हसन् ॥ ६८ ॥  
 स्मृत्या कामरतं चित्तं विजानीयात्कलेबरे ।  
 यत्र देशे वसेद्वायुश्चित्तं तद्व<sup>१</sup>सते ध्रुवम् ॥ ६९ ॥  
 मनश्चन्द्रो रविर्वायुर्दृष्टिरग्निरुदाहृतः ।  
 बिन्दुनादकला ब्रह्मन् विष्णुब्रह्मेशदेवताः ॥ ७० ॥

ब्रह्मातिरेकेण यच्चिन्तनीयं तच्चिन्तमित्याह—हसतीति ॥ ६७—६८ ॥  
 एवं हसनादिकामरमणान्तस्मृत्या । प्राणचित्तयोरविनाभावतामाह—यत्रोति

<sup>१</sup> सति—अ, मु.

॥ ६९ ॥ मनःप्राणद्वीनां चन्द्रकार्पितां बिन्दुनादकलानां ब्रह्मविश्वीज्ञतां  
चाह—मन इति ॥ ७० ॥

नादानुसन्धानं मनोलयहेतुः

सदा नादानुसन्धानात् संक्षीणा वासना भवेत् ।  
निरञ्जने <sup>१</sup>विलीयेते मरुन्मनसि पद्मज ॥ ७१ ॥  
यो वै नादः स वै बिन्दुस्तद्वै चित्तं प्रकीर्तितम् ।  
नादो बिन्दुश्च चित्तं च त्रिभिरैक्यं प्रसाधयेत् ॥ ७२ ॥  
मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्तिस्थितिकारणम् ।  
मनसोत्पद्यते बिन्दुर्यथा क्षीरं घृतात्मकम् ॥ ७३ ॥

वासनावन्मनोलयहेतुः किमित्यन्त सदेति । वासनाक्षयसमकालं निरञ्जने  
॥ ७१ ॥ नादबिन्दुचित्तानामेकत्वं भावनीयमित्याह—य इति ॥ ७२ ॥ कथं  
पुनः मनोबिन्द्वोरेकत्वमित्यत आह—मन इति ॥ ७३ ॥

मनोशुक्ळप्राणभ्यासविधिः

षट् चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत्सुखमण्डलम् ।  
प्रविशेद्वायुमाकृष्य तथैवोर्च्च नियोजयेत् ॥ ७४ ॥  
वायुं बिन्दुं तथा चक्रं चित्तं चैव समध्यसेत् ।  
<sup>२</sup>समाधिनैकेन सममृतं यान्ति योगिनः ॥ ७५ ॥

सर्वानीर्थेतुमनोविलयार्थं षट्चक्रपरिज्ञानपूर्वकं मनोशुक्लपवनाभ्यासः  
कर्तव्यं इत्याह—षडिति । सुशुम्भाऽन्तर्विलसितं सुखमण्डलम् ॥ ७४ ॥  
योगिनः समाधिसमकालं कृतकृत्या भवन्तीत्याह—समाधिनेति ॥ ७५ ॥

<sup>१</sup> विलीयेत—मु. लयं याति—अ.      <sup>२</sup> समाधिमे—अ, अ १, अ २, क.

गुरुपदेशपूर्वकं अभ्यासं विना न ज्ञानोदयः  
 यथाऽग्निर्दर्शमध्यस्थो नोत्तिष्ठेन्मयनं विना ।  
 विना चाभ्यासयोगेन ज्ञानदीपस्तथा न हि ॥ ७६ ॥  
 घटमध्ये यथा दीपो बाल्ये नैव प्रकाशते ।  
 भिन्ने तस्मिन् घटे चैव दीपञ्चालाऽवभासते ॥ ७७ ॥  
 स्वकायं घटमित्युक्तं यथा जीवो हि तत्पदम् ।  
 गुरुवाक्य<sup>१</sup>समं भिन्ने ब्रह्मज्ञानं प्रकाशते ॥ ७८ ॥  
 कर्णधारं गुरुं प्राप्य तद्वाक्यं प्लववद्वृदम् ।  
 अभ्यासवासनाशक्त्या तरन्ति भवसागरम् ॥ ७९ ॥  
 इत्युपनिषत् ॥

अभ्यासं विना ज्ञानं नोदेतीत्यत्र सदृष्टान्तमुत्तरमाह—यथेति ॥ ७६ ॥  
 किंच—घटमध्ये ॥ ७७ ॥ घटमित्युक्तम्, अत्र प्रथमार्थे द्वितीया । जीवो हि  
 तत्पदं जीवगतहेयांशापाये जीवस्य तत्पदत्वात् । तद्रत्स्वाज्ञाने गुरुवाक्यसमं  
 भिन्ने ॥ ७८ ॥ नौकाचालकस्थानीय आचार्यः, प्लवस्थानीयोऽयं तदुपदिष्टार्थः ।  
 सन्तस्तमाश्रिय भवसागरं तरन्तीत्याह—कर्णेति । शिष्याः श्रुत्याचार्यप्रसादज-  
 ज्ञानसमकालं निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रावस्थानलक्षणकैवल्यं यान्तीत्यर्थः ॥ ७९ ॥  
 इति शब्दः षष्ठाध्यायपरिसमाप्त्यर्थः । उपनिषत्च्छब्दस्तु शास्त्रपरिसमाप्त्यर्थः ॥

इति षष्ठोऽध्यायः

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।  
 योगशिखोपनिषदो व्याख्यानं लिखितं स्फुटम् ।  
 शिखोपनिषदो व्याख्याग्रन्थः सप्तशतं स्मृतः ॥  
 इति श्रीमदीशाध्यष्टोत्रशतोपनिषच्छाङ्कविवरणे विषश्रितसंस्थापूर्वकं  
 योगशिखोपनिषद्विवरणं सन्पूर्णम्

<sup>१</sup> समाग्म—क, अ १, अ २. समाभासे—अ.

# वराहोपनिषत्

सह नाववतु—इति शान्तिः

## प्रथमोऽध्यायः

तत्त्वसंख्याविकल्पाः

अथ क्रमुर्वै महामुनिदेवमानेन द्वादशसंवत्सरं तपश्चार ।  
तदवसाने वराहरूपी भगवान् प्रादुरभूत् । स होवाचोत्तिष्ठोत्तिष्ठ वरं  
वृणीज्वेति । सोदतिष्ठत् । तस्मै नमस्कृत्योवाच भगवन् कामि-  
भिर्यद्यत्कामितं तत्तत् त्वत्सकाशात्खमेऽपि न याचे । समस्तवेद-  
शास्त्रेतिहासपुराणानि समस्तविद्याजालानि ब्रह्मादयः सुराः सर्वे  
त्वद्रूपज्ञानान्मुक्तिमाहुः । अतस्त्वद्रूपंप्रतिपादिकां ब्रह्मविद्यां ब्रूहीति  
होवाच । तथेति स होवाच वराहरूपी भगवान् ।

चतुर्विंशतितत्त्वानि केचिदिच्छन्ति वादिनः ।

केचित् षट्त्रिंशतत्त्वानि केचित् षण्णवतीनि च ॥ १ ॥

तेषां <sup>१</sup>क्रमं प्रवक्ष्यामि सावधानमनाः शृणु ।

<sup>१</sup> क्रमात्—क, अ १.

श्रीमद्भगवानिषद्देवाखण्डमुखाकृति ।

त्रिपात्रारायणव्यातरामचन्द्रपदं भजे ॥

खलु कृष्णयजुर्वेदप्रविभक्तेयं वराहोपनिषत् षण्णवतितत्त्वप्रकाशन-  
ज्ञानयोगप्रकटनव्यग्रा निष्प्रतियोगिकब्रह्मप्रणवार्थं तुर्यपर्यवसना  
विजयते । अस्याः स्वल्पग्रन्थतो विवरणमागम्यते । तपोब्रह्मचर्यदेवताप्रसादादि-  
साधनसम्पत्तिनिष्पत्तेयमिति ब्रह्मविद्या महीक्रियते । ऋभुवगाहयोः निदाघऋभ्योऽथ  
प्रश्नप्रतिवचनरूपेयं आख्यायिका ब्रह्मविद्यास्तुत्यर्था । आदावाख्यायिकामवताग-  
यति—अथेति । तपश्चार एवमत्युग्रं तपः कृतवान् । प्रादुरभूत् स्वपुरतः  
आविर्भूतवान् । एवमाविर्भूय तत्कृततपःफलदित्सया स होवाच । इत्थं  
भगवद्वाक्यमाकर्ण्य सोदिष्टत् । उवाच, किमिति ? भगवन्निति । पुनरन्यत् किं  
वाञ्छन् तपश्चरसि इत्युक्ते समस्तेति । सर्वे त्वदूपज्ञानप्रभवं बन्धं त्वदूपज्ञानात्  
मुर्किं च आहुः । ऋभुकृतप्रश्नमंगीकृत्य तथेति । आदौ स्वातिरिक्ततत्त्वेयत्तापरि-  
ज्ञानाभावे न हि स्वप्रतत्त्वे शिष्यबुद्धिः प्रसरेदिति स्वातिरिक्ततत्त्वेयत्तामाचष्टे—  
चतुरिति ॥ १ ॥

### चतुर्विंशतितत्त्वानि

ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव श्रोत्रत्वग्लोचनादयः ॥ २ ॥

कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव वाक्पाण्यङ्ग्यादयः क्रमात् ।

प्राणादयस्तु पञ्चैव पञ्च शब्दादयस्तथा ॥ ३ ॥

मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं चेति चतुष्यम् ।

चतुर्विंशतितत्त्वानि तानि ब्रह्मविदो विदुः ॥ ४ ॥

किं तदित्यत्र—ज्ञानेति ॥ २-४ ॥

## षट्क्रिंशतत्त्वानि

एतैस्तत्त्वैः समं पञ्चीकृतभूतानि पञ्च च ।  
 पृथिव्याप्स्तथा तेजो वायुराकाश एव च ॥ ५ ॥  
 देहत्रयं स्थूलसूक्ष्मकारणानि विदुर्बुधाः ।  
 अवस्थात्रितयं चैव जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः ॥ ६ ॥  
 आहत्य तत्त्वंजातानां षट्क्रिंशन्मुनयो विदुः ।

षट्क्रिंशतत्त्वानि कानीत्यत्र — एतैरिति ॥ ५—६ ॥

## षणवतितत्त्वानि

पूर्वोक्तैस्तत्त्वजातैस्तु समं तत्त्वानि योजयेत् ॥ ७ ॥  
 षड्भावविकृतिश्चास्ति जायते वर्धतेऽपि च ।  
 परिणामं क्षयं नाशं षड्भावविकृतिं विदुः ॥ ८ ॥  
 अशाना च पिपासा च शोकमोहौ जरा मृतिः ।  
 एते षट्कूर्मयः प्रोक्ताः षट्कोशानथ<sup>१</sup>वच्चिम ते ॥ ९ ।  
 त्वक् रक्तं मांसमेदोमज्जास्थीनि निवोधत ।  
 कामक्रोधौ लोभमोहौ मदो मात्सर्यमेव च ॥ १० ॥  
 एतैरिषट्का विश्वश्च तैजसः प्राज्ञ एव च ।  
 जीवत्रयं सत्त्वरजस्तमांसि च गुणत्रयम् ॥ ११ ॥  
 प्रारब्धागाम्यर्जितानि कर्मत्रयमितीरितम् ।  
 वचनादानगमनविसर्गानन्दपञ्चकम् ॥ १२ ॥

<sup>१</sup> चोच्यते—क, अ १, अ २.

संकल्पोऽव्यवसायश्च अथिमानोऽवधारणा ।  
 मुदिता करुणा मैत्री उपेक्षा च चतुष्टयम् ॥ १३ ॥  
 दिग्वातार्कम्बचेतोऽश्विवहीन्द्रोपेन्द्रमृत्युकाः ।  
 तथा चन्द्रश्चतुर्वक्त्रो रुद्धः क्षेत्रज्ञ <sup>१</sup>ईश्वरः ॥ १४ ॥  
 आहत्य तत्त्वजातानां पण्णवत्यस्तु कीर्तिः ।  
 पण्णवतितत्त्वानि कानीन्यत्र—पूर्वोक्तेरिति ॥ ७—१४ ॥

तत्त्वातीतभगवद्भक्तेऽव भुक्तिः  
 पूर्वोक्ततत्त्वजातानां वैलक्षण्यमनामयम् ॥ १९ ॥  
 वराहरूपिणं मां ये भजन्ति मयि <sup>२</sup>तत्त्वतः ।  
 विमुक्ताज्ञानतत्कार्या जीवन्मुक्ता भवन्ति ते ॥ १६ ॥

उक्ततत्त्वेषु त्वं कीदृशः त्वज्ञानफलं किं इत्यत आह—  
 पूर्वोक्तेति ॥ १९—१६ ॥

तत्त्वज्ञानफलम्

ये पण्णवतितत्त्वज्ञा यत्र कुत्राश्रमे रताः ।  
 जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नात्र संशयः ॥ १७ ॥  
 इति ॥

विशिष्टतत्त्वज्ञानफलमाह—य इति । सांख्यपरिगृहीतपण्णवतितत्त्वानि  
 शैवपरिगृहीतष्ट्रिंशततत्त्वे अन्तर्भवन्ति । तानि च वेदान्त्येकदेशिपरिगृहीत-

<sup>१</sup> ईश्वराः—क, अ १, अ २.

<sup>२</sup> भक्तिः—क, अ, अ १, अ २.

चतुर्विंशतितत्त्वेषु अन्तर्भवन्ति । पुनर्स्तान्यपि स्वातिरिक्तमायैकतत्त्वे अन्तर्भवन्ति,  
सर्वस्य मायाकार्यत्वात् । स्वातिरिक्तमायातत्त्वस्य निष्प्रतियोगिकाभावरूपतया  
निष्प्रतियोगिकब्रह्मतत्त्वमात्रमवशिष्यत इति सर्ववेदान्तसिद्धान्तार्थः ॥ ५३ ॥  
इतिशब्दः अथ्यायसमाप्त्यर्थः ॥

इति प्रथमाऽध्यायः

## द्वितीयोऽध्यायः

साधनचतुष्टयसम्पत्तिः

ऋभुर्नाम महायोगी क्रोडरूपं रमापतिम् ।  
वरिष्ठां ब्रह्मविद्यां त्वमधीहि भगवन्मम ॥ १ ॥  
एवं स पृष्ठो भगवान् प्राह भक्तार्तिभञ्जनः ।  
स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा गुरुतोषणात् ॥ २ ॥  
साधनं प्रभवेत्पुंसां <sup>१</sup>वैराग्यादिचतुष्टयम् ।  
नित्यानित्यविवेकश्च इहामुत्र विरागता ॥ ३ ॥  
शमादिष्टकसंपत्तिर्मुक्षा तां समभ्यसेत् ।

एवं सामान्यतः ब्रह्मतत्त्वमवगम्य विस्पष्टं ससाधनं ब्रह्मतत्त्वं ज्ञातुमिच्छन्  
मुनिः भगवन्तं पृच्छतीत्याह—ऋभुरिति ॥ १ ॥ किं प्राहेल्यत्र आदौ  
साधनानुष्ठानं कर्तव्यमित्याह—स्ववर्णेति ॥ २ ॥ किं तदभ्यसनीयचतुष्टयसा-  
धनमित्यत्राह—नित्येति । ब्रह्मैव नित्यं ब्रह्मातिरिक्तं अनित्यं इति नित्यानित्य-

<sup>१</sup> विवेकादि—अ;

विवेकः इह स्वकर्चन्दनवनितादिषु अमुत्र स्वर्गादिभोगेषु च वान्ताशनमूत्र-  
पुरीषादिविव इच्छागाहित्यं इहामुत्रविरागता ॥ ३ ॥ शमः द्वः उपरतिः  
तिः । श्रद्धा समाधानं चेति शमादिष्टकसम्पत्तिः । अन्तःकरणनिप्रहः  
शमः । इहकरणनिप्रहो दमः, उपरतिः सर्वकर्मसंन्यासः, श्रीतोषादिद्वन्द्वसहनं  
तित्तमा, श्रुत्याचार्यवाक्यविश्वासः श्रद्धा, चित्तेकाप्रता समाधानम् ।  
स्वातिरिक्तभ्रमतो मोक्षमिच्छा सुमुक्षा । इत्यं साधनचतुष्टयाभ्यासतो जितेन्द्रियो  
भवतीत्यर्थः ॥

ब्रह्मात्मजान्येव कृतकृत्यः

एवं जितेन्द्रियो भूत्वा सर्वत्र ममतामतिम् ॥ ४ ॥

विहाय साक्षिचैतन्ये मयि कुर्यादहंमतिम् ।

दुर्लभं प्राप्य मानुष्यं तत्रापि नरविग्रहम् ॥ ९ ॥

ब्राह्मणं च महाविष्णोर्वेदान्तश्रवणादिना ।

अतिवर्णाश्रमं रूपं सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥ ६ ॥

यो न जानाति सोऽविद्वान् कदा मुक्तो भविष्यति ।

ब्रह्मातिरिक्तत्यागपूर्वकं ब्रह्मात्रमतिं कुर्यादित्याह—एवमिति ॥ ४ ॥

एवं ज्ञानसाधनब्राह्मणादिदेहमधित्य यः स्वात्मतत्त्वं न जानाति स कदा  
मुक्तो भवति? न कदेत्याह—दुर्लभमिति ॥ ९ ॥ वेदान्तश्रवणादिनिष्पत्नं  
महाविष्णोः व्यक्तलिङ्गं पारिव्राज्यं अव्यक्तलिङ्गं अनिवर्णाश्रममित्यर्थः ॥ ६ ॥

आत्मनः सुखरूपत्वम्

अहमेव सुखं नान्यदन्यच्छैव तत्सुखम् ॥ ७ ॥

अमदर्थं न हि प्रेयो मदर्थं [तु] [तत्] स्वतःप्रियम् ।

परप्रेमास्पदतया मा न भूवमहं सदा ॥ ८ ॥

भूयासमिति यो द्रष्टा सोऽहं विष्णुर्मुनीश्वर ।

स्वात्मन एव सर्वप्रेमास्पदत्वमाह—अहमिति । अहं प्रत्यग्व परानन्दन  
परमसुखं ब्रह्म भवामि नान्यत्, ब्रह्मातिरिक्तान्यस्य मृग्यत्वात् । वस्तुतो  
यथान्यत् तदा तद्वाल निष्प्रतियोगिकसुखं नैव भवति, “यो वै भूमा तत्  
सुखं” इति भूमब्रह्मणो निष्प्रतियोगिकसुखस्वरूपमात्रात्वादिश्रुतेः ॥ ७ ॥  
अत एव यत् मदर्थं तदेव सुखं, अमदर्थं तु न हि सुखं भवितुमर्हति ।  
मदर्थमपि न हि प्रियं भवतीति चेत्; तत् स्वत एव प्रियं भवतीत्यर्थः ।  
स्वात्मानं सुखरूपतया यो जानाति सोऽहं विष्णुरित्याह—परोति । अहं  
निर्विशेषसुखरूपतया मा भूवमिति न किं तु भूयासमेवेत्यर्थः ॥ ८ ॥

आत्मनः स्वयंप्रकाशत्वम्

न प्रकाशोऽहमित्युक्तिर्थत्प्रकाशैकबन्धना ॥ ९ ॥

स्वप्रकाशं तमात्मानमप्रकाशः कथं स्मृशेत् ।

स्वयं भातं निराधारं ये जानन्ति सुनिश्चितम् ॥ १० ॥

ते हि विज्ञानसंपन्ना इति मे निश्चिता मतिः ।

सत्त्वामात्रत्वात् यत् सन्मात्रं तदेव स्वयंप्रकाशं ब्रह्मेत्याह—नेति ।  
न प्रकाशोऽहमिति यत्प्रकाशतः पश्यति तत्स्वरूपं प्रकाशमात्रम् ॥ ९ ॥  
तस्याप्रकाशप्रासात्त्वात् अप्रकाशस्पशो न युज्यत इत्यर्थः । एवं स्वयं-  
प्रकाशमात्मानं ये भन्यन्ते ते कृतकृत्या इति मन्येऽहमित्याह—  
स्वयमिति ॥ १० ॥

आत्मनः मायातत्कार्यविलक्षणत्वम्

स्वपूर्णात्मातिरेकेण जगज्जीवेश्वरादद्यः ॥ ११ ॥

न सन्ति नास्ति माया च तेष्यश्चाहं विलक्षणः ।

अज्ञानान्धतमोरुपं कर्मधर्मादिलक्षणम् ॥ १२ ॥ -

स्वयंप्रकाशमात्मानं नैव मां<sup>१</sup>स्प्रष्टुमर्हति

परमार्थदृष्ट्या स्वातिरिक्तं न किञ्चिदस्ति । यदि स्वाज्ञदृष्ट्या स्यात् तदा  
स्वज्ञदृष्ट्या तद्विलक्षणोऽस्मीत्याह—स्वेति ॥ ११ ॥ स्वातिरिक्तविलक्षणमपि त्वां  
स्वातिरिक्तं स्पृशेदित्यत आह—अज्ञानेति ॥ १२ ॥

ब्रह्मात्मज्ञानिनः ब्रह्मभावः

सर्वसाक्षिणमात्मानं वर्णाश्रमविलक्षणम् ॥ १३ ॥

ब्रह्मरूपतया पश्यन् ब्रह्मैव भवति स्वयम् ।

भासमानमिदं सर्वं भानरूपं परं पदम् ॥ १४ ॥

पश्यन् वेदान्तमानेन सद्य एव विमुच्यते ।

देहात्मज्ञानवज्ञानं देहात्मज्ञानवाधकम् ॥ १५ ॥

आत्मन्येव भवेद्यस्य स नंच्छन्नपि मुच्यते ।

प्रत्यक्षप्रकाशमात्मानं ब्रह्मेति यो जानाति स प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मैव भवतीत्याह  
—सर्वेति ॥ १३ ॥ भानातिरेकेण भास्यं नेति ज्ञानी भास्यभावतो विमुच्यत  
इत्याह—भासमानमिति ॥ १४ ॥ एवं सम्यज्ञानी स्वयमेव मुच्यत  
इत्याह—देहेति ॥ १५ ॥

आत्मज्ञानिनः कर्मवन्धाभावः

सत्यज्ञानानन्दपूर्णलक्षणं तमसः परम् ॥ १६ ॥

<sup>१</sup> शृङ्ग—अ, अ १.

<sup>२</sup> वर्जितम्—क, अ, अ १, अ २.

ब्रह्मानन्दं सदा पश्यन् कथं बध्येत कर्मणा ।

त्रिधामसाक्षिणं सत्यज्ञानानन्दादिलक्षणम् ॥ १७ ॥

त्वमहंशब्दलक्ष्यार्थमसकं सर्वदोषतः ।

स्वात्मदर्शिनः कर्मबन्धासम्भवमाह—सत्येति ॥ १६ ॥ स्वात्मनः  
कर्मबन्धाभावे हेतुः असक्तत्वमित्याह—त्रिधामेति ॥ १७ ॥

अज्ञानिज्ञानिनोः दर्शनस्थितिवैलक्षण्यम्

सर्वगं सञ्चिदानन्दं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षतं ॥ १८ ॥

अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वन्तं भानुमन्धवत् ।

प्रज्ञानमेव तद्वाह्य सत्यप्रज्ञानलक्षणम् ॥ १९ ॥

एवं ब्रह्मपरिज्ञानादेव मर्त्योऽमृतो भवेत् ।

तद्वाहानन्दमद्वन्द्वं निर्गुणं सत्यचिद्धनम् ॥ २० ॥

विदित्वा स्वात्मनो रूपं न विभेति कुतश्चन ।

चिन्मात्रं सर्वगं नित्यं संपूर्णं सुखमव्ययम् ॥ २१ ॥

साक्षाद्वैत नान्योऽस्तीत्येवं ब्रह्मविदां स्थितिः ।

अज्ञस्य दुःखोग्रमयं ज्ञात्यानन्दमयं जगत् ॥ २२ ॥

अन्वं भुवनमन्धस्य प्रकाशं तु सुचक्षुषाम् ।

ज्ञानचक्षुः स्वात्मानं सर्वासकं पश्यति, स्वाज्ञानचक्षुस्तु दिवान्धवत्  
भास्वन्तमात्मानं न पश्यतीत्याह—सर्वगमिति ॥ १८ ॥ यादृब्रह्मज्ञानी  
तादृब्रह्मैव भवतीत्याह—प्रज्ञानमिति ॥ १९ ॥ ब्रह्मज्ञानी कुतश्चित् न  
विभेतीत्याह—तदिति ॥ २० ॥ निर्भयब्रह्मविदां स्थितिः केत्यत आह—चिन्मात्र-  
मिति ॥ २१ ॥ स्वज्ञगृहीतं स्वाज्ञा विपरीतं पश्यतीत्याह—अज्ञस्येति ॥ २२ ॥

<sup>1</sup> क्ष्यते—क, अ १, अ २.

<sup>2</sup> ज्ञानादि—क, अ २.

आत्मनि वस्तुतो बन्धमुक्त्यभावः

अनन्ते सच्चिदानन्दे मयि वाराहरूपिणि ॥ २३ ॥

स्थितेऽद्वितीयभावः स्यात् को बन्धः कश्च मुच्यते ।

स्वस्वरूपं तु निन्मात्रं सर्वदा सर्वदेहिनाम् ॥ २४ ॥

नैव देहादिसंघातो घटवृशिगोचरः ।

स्वात्मनोऽन्यतया भातं चराचरमिदं जगत् ॥ २५ ॥

स्वात्ममात्रतया बुद्धा तदस्मीति विभावय ।

स्वस्वरूपं स्वयं मुक्ते नास्ति भोज्यं पृथक् स्वतः ॥ २६ ॥

अस्ति चेदस्तितारूपं ब्रह्मैवास्तित्वलक्षणम् ।

ब्रह्मविज्ञानसंपन्नः प्रतीतमविलं जगत् ॥ २७ ॥

पश्यन्नपि सदा नैव पश्यति स्वात्मनः पृथक् ।

मत्स्वरूपपरिज्ञानात् कर्मभिर्न स बध्यते ॥ २८ ॥

यः शरीरेन्द्रियादिभ्यो विहीनं सर्वसाक्षिणम् ।

परमार्थेकविज्ञानं सुखात्मानं स्वयंप्रभम् ॥ २९ ॥

स्वस्वरूपतया सर्वं वेद स्वानुभवेन यः ।

स धीरः स तु विजेयः सोऽहं तत्त्वं क्रमो भव ॥ ३० ॥

अतः प्रपञ्चानुभवः सदा न हि

स्वरूपबोधानुभवः सदा खलु ।

इति प्रपश्यन् परिपूर्णवेदनो

न बन्धमुक्तो न च बद्ध एव तु ॥ ३१ ॥

वस्तुतो मम निष्प्रतियोगिकाद्वितीयत्वेन न कोऽपि बद्धे मुक्तो वा  
भवितुर्महतीत्याह—अनन्त इति ॥ २३ ॥ अद्वितीयमावेन कोऽप्यत्थः ।  
“चिन्मात्रमेव चिन्मात्रं” इति श्रुत्यनुरोधेन स्वस्वरूपमेव निर्णयते ॥ २५ ॥ न  
अन्यदित्याह—स्वस्वरूपमिति ॥ २४ ॥ स्वातिरिक्तदेहादिकं स्वज्ञानं ॥ २६ ॥  
चिन्तयेत्याह—स्वात्मन इति ॥ २९ ॥ स्वातिरिक्तं नास्त्येव । वद्यत्तते  
भान्तिस्तदा तदप्यस्तित्वं ब्रह्मेत्याह—स्वेति ॥ २६ ॥ स्वज्ञानी स्वातिरिक्तं  
स्वातिरिक्तत्वेन न पश्यति, किंतु स्वमात्रतया पश्यतीत्याह—प्रस्तेति ॥ २७ ॥  
कर्मबन्धे सति कथं एवं पश्यतीत्यत आह—मदिति ॥ २८ ॥ शरीरादौ  
सति कथं एवं न ब्रह्मते इत्याशङ्क्य तद्विलक्षणत्वेन आत्मानं यः पश्यति  
सोऽहमेव स्यामित्याह—य इति ॥ २९—३० ॥ एवं मद्भावापनस्य स्वात्मानुभूतिं  
विनाऽनात्मपञ्चानुभूतिः नास्ति । एवं स्वात्मानुभूतियोगिनो बन्धमोक्षविभ्रमो  
नास्तीत्याह—अत इति ॥ ३१ ॥

बन्धनिवृत्तये ब्रह्मात्मानुसन्धानम्

स्वस्वरूपानुसंधानानृत्यन्तं सर्वमाक्षिणम् ।  
मुहूर्तं चिन्तयेन्मां यः सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ॥ ३२ ॥  
सर्वभूतान्तरस्थाय नित्यमुक्तचिदात्मने ।  
प्रत्यक्ततन्यरूपाय मद्भावेव नमो नमः ॥ ३३ ॥  
त्वं वाऽहमस्मि भगवोऽहं वै त्वमस्मि देवते ।  
तुम्यं मद्भावनन्ताय मद्भावं तुम्यं चिदात्मने ॥ ३४ ॥  
नमो मद्भावे परेशाय नमस्तुम्यं शिवाय च ।  
किं करोमि क गच्छामि किं गृह्णामि त्यजामि किम् ॥ ३५ ॥

प्रन्मया पूरितं विश्वं महाकल्पाम्बुना यथा ।  
 अन्तःसङ्गं वहिः सङ्गमात्मसङ्गं च यस्त्यजेत् । -  
 सर्वसङ्गनिवृत्तात्मा स मामेति न संशयः ॥ ३६ ॥  
 अहिरिव जनयोगं सर्वदा वर्जयेद्यः  
 कुणपमिव सुनारीं त्यक्तकामो विरागी ।  
 विषमिव विषयादीन् मन्यमानो दुरन्तान्  
 जगति परमहंसो वासुदेवोऽहमेव ॥ ३७ ॥  
 इदं सत्यमिदं सत्यं सत्यमेतदिहोच्यते ।  
 अहं सत्यं परं ब्रह्म मत्तः किंचिन्न विद्यते ॥ ३८ ॥

बन्धनिवृत्तिहेतुः किमित्याशंक्य मच्चिन्तनमित्याह—स्वेति ॥ ३२ ॥  
 प्रत्यगभिन्नब्रह्मानुसन्धानप्रकारमाह—सर्वेति ॥ ३३—३४ ॥ स्वस्याविक्रियतां  
 परिपूर्णतामप्याह—किं करोमीति ॥ ३५ ॥ तत्र विभुत्वेन सर्वेऽपि त्वामेव  
 प्रतिपद्यन्ते इत्यत्र—मां नित्यं प्राप्ता अपि स्वातिरिक्तसंगिनो मां नामुवन्ति ।  
 तत्र यः कथित् स्वान्तर्बाह्यसंगविरलो भवति स एव मां एतीत्याह—  
 अन्तरिति ॥ ३६ ॥ स्वातिरिक्तसंगत्यागोपायं तज्ज्ञानफलं चाह—अहिरिति  
 ॥ ३७ ॥ अहमेव वासुदेवः सत्यं, मदतिरिक्तं असत्यं न विद्यते, मदतिरिक्तस्य  
 मृग्यत्वादित्याह—इदमिति ॥ ३८ ॥

ब्रह्मासिसाधनभूतस्योपवासस्य निर्वचनम्  
 उप समीपे यो वासो जीवात्मपरमात्मनोः ।  
 उपवासः स विज्ञेयो न तु कायस्य शोषणम् ॥ ३९ ॥  
 कायशोषणमात्रेण का तत्र हाविवेकिनाम् ।  
 वल्मीकिताडनादेव मृतः किं तु महोरगः ॥ ४० ॥

सत्यब्रह्मास्त्युपायः क इत्यत आह—उपेति ॥ ३९-४० ॥

जीवन्मुक्तिसाधनं अपरोक्षज्ञानम्

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत् ।

अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते ॥ ४१ ॥

यस्मिन् काले स्वमात्मानं योगी जानाति केवलम् ।

तस्मात् कालात् समारभ्य जीवन्मुक्तो भवेदसौ ॥ ४२ ॥

अहं ब्रह्मेति नियतं मोक्षहेतुर्महात्मनाम् ।

परोक्षापरोक्षज्ञानस्वरूपमाह—अस्तीति ॥ ४१ ॥ अपरोक्षज्ञानसमकालं  
जीवन्मुक्तो भवतीत्याह—यस्मिन्निति ॥ ४२ ॥ सदा अहं ब्रह्मेति ज्ञानं  
मोक्षहेतुरित्याह—अहमिति ॥

ब्राह्मान्तश्चिन्तात्प्रयागविर्भः

द्रे पदं बन्धमोक्षाय निर्मिति ममेति च ॥ ४३ ॥

ममेति ब्रह्मेते जन्तुर्निर्मिति विमुच्यते ।

ब्राह्मचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तिका ।

सर्वचिन्तां समुत्सृज्य स्वस्थो भव सदा ऋभो ॥ ४४ ॥

देहादावहंकारममकारभावाभावौ बन्धमोक्षहेतू भवतः इत्याह—द्वे इति  
॥ ४३ ॥ अहंभावाद्यनुदयहेतुः ब्राह्मान्तश्चिन्तात्प्रयाग एवेत्याह—ब्राह्मेति ॥ ४४ ॥

भगवचिन्तनमेव सर्वचिन्तात्प्रयागोपायः

संकल्पमात्रकल्पेन जगत्समग्रं

संकल्पमात्रकल्पे हि जगद्विलासः ।

सकल्पमात्रमिदमुत्सुज निर्विकल्प-

माश्रित्य मामकपदं हृदि भावयस्य ॥ ४५ ॥

मञ्चिन्तनं मत्कथनमन्योन्यं मत्प्रभाषणम्

मदेकपरमो भूत्वा कालं नय महामते ॥ ४६ ॥

चिदिहास्तीति चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च ।

चित्तं चिदहमेतं च लोकाश्रिदिति भावय ॥ ४७ ॥

रागं नीरागतां नीत्वा निलेपो भव सर्वदा ।

चिन्तामूलसङ्कल्पमुन्मूल्य निर्विकल्पं मां आश्रयेन्याह—सङ्कल्पेति  
॥ ४९ ॥ सङ्कल्पन्यागोपायमाह—मदिति ॥ ४६ ॥ त्वचिन्तनं कीदृशं इत्यत्र  
सर्वं चिन्मात्रमिति चिन्तनमिल्याह—चिदिति ॥ ४७ ॥ स्वातिरिक्तविषये  
रागम् ॥

सर्वकल्पनातीतं ब्रह्मैव चिन्तनीयम्

अज्ञानजन्यकर्त्रादिकारकोत्पन्नकर्मणा ॥ ४८ ॥

श्रुत्युत्पन्नात्मविज्ञानप्रदीपो बाध्यते कथम् ।

अनात्मतां परित्यज्य निर्विकारो जगत्स्थितौ ॥ ४९ ॥

एकनिष्ठतयाऽन्तस्थसंविन्मात्रपरो भव ।

घटाकाशमठाकाशौ महाकाशे प्रतिष्ठितौ ॥ ५० ॥

एवं मयि चिदाकाशे जीवेशौ परिकल्पितौ ।

या च प्रागात्मनो मे मा तथाऽन्ते च तिरस्कृता ॥ ५१ ॥

ब्रह्मवादिभिरुद्धीता सा मायेति विवेकतः ।  
 मायातत्कार्यविलये नेश्वरत्वं न जीवता ॥ ९२ ॥  
 ततः शुद्धश्चिदेवाहं व्योमवन्निरूपाधिकः ।  
 जीवेश्वरादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम् ॥ ९३ ॥  
 ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता ।  
 जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारे जीवकल्पितः ॥ ९४ ॥  
<sup>१</sup>त्रिणाच्चिकादियोगान्ता ईश्वरभ्रान्तिमाश्रिताः ।  
 लोकायतादिसांख्यान्ता जीवविभ्रान्तिमाश्रिताः ॥ ९५ ॥  
 तस्मान्मुक्षुभिर्नैव मतिर्जीविशावादयोः ।  
 कार्या किं तु ब्रह्मतत्त्वं निश्चलेन विचार्यताम् ॥ ९६ ॥  
 अद्वितीयब्रह्मतत्त्वं न जानन्ति यथा यथा ।  
 भ्रान्ता एवाखिलास्तंषां क मुक्तिः कंह वा सुखम् ॥ ९७ ॥

कर्मलेपस्यानिवार्यत्वात् निलेपत्वं कुतो मे स्यादिल्यत आह—अज्ञानेति  
 ॥ ४८ ॥ अनात्मनि सति स्वात्ममात्रज्ञानं कथं उदेतील्यत आह—  
 अनात्मताभिति ॥ ४९ ॥ जीवेशभेदे सति संविन्मात्रपरता कुतो मे स्यादिल्यत  
 आह—घटेति ॥ ५० ॥ जीवेशादिकल्पनामूलमायायाः सत्त्वात् निर्मायभावः  
 कथं मे स्यात् इत्यत्र मायामूलविचारतो निर्मायं ब्रह्म प्रसीदतीत्याह—या  
 चेति ॥ ५१—५२ ॥ उत्तरक्षणलक्षितजीवेशादिनानाकल्पनां हित्वा  
 निर्विकल्पाद्वृत्तब्रह्मैव सदा चिन्त्यमिल्याह—जीवेति । “जीवेश्वरादिरूपेण”इत्यादि  
 “निश्चलेन विचार्यतां”इत्यन्तं महोपनिषदि व्याख्यातम् ॥ ५३—५६ ॥  
 एवं अखण्डैकरसब्रह्माज्ञानिनो भ्रान्ता एवेत्याह—अद्वितीयेति ॥ ५७ ॥

<sup>१</sup> त्रिणा च—क, अ. त्रिणार्च—अ १.

<sup>२</sup> यदा तदा—अ, अ १.

प्रत्यगभिन्नता सर्वावस्थाऽर्तीतम्

उत्तमाधमभावश्चेत्तेषां स्यादस्ति तेन किम् ।  
 स्वप्नस्थाराज्यभिक्षाभ्यां प्रबुद्धः <sup>१</sup>स्मृश्यते खलु ॥ ९८ ॥  
 अज्ञाने बुद्धिविलये निद्रा सा भण्यते बुधैः ।  
 विलीनाज्ञानतत्कार्ये मयि निद्रा कथं भवेत् ॥ ९९ ॥  
 बुद्धेः पूर्णविकासोऽयं जागरः परिकीर्त्यते ।  
 विकारादिविहीनत्वाज्ञागरो मे न विद्यते ॥ १०० ॥  
 सूक्ष्मनाडिषु संचारो बुद्धेः स्वप्नः प्रजायते ।  
 संचारधर्मरहिते मयि <sup>२</sup>स्वप्नो न विद्यते ॥ १०१ ॥

शिवजीवाद्युत्तमाधमभेदे सति कथं अद्वितीयब्रह्मज्ञानं उदेतीयत्र सदृष्टान्तं  
 तन्निगकरोति —उत्तमेति ॥ ९८ ॥ अवस्थात्रयावृत्तस्य तुर्यानन्दानुभवः कुत  
 इत्यत आह—अज्ञान इति । निद्रा मुश्चस्तः ॥ १०१—१०२ ॥

निर्विशेषब्रह्मज्ञानेन ब्रह्मभावः

सुषुप्तिकाले सकले विलीने तप्तमाऽऽवृते ।  
 स्वरूपं महदानन्दं भुज्ञे <sup>३</sup>दृश्यविवर्जितः ॥ १०२ ॥  
 अविशेषेण सर्वं तु यः पश्यति चिन्दन्वयात् ।  
 स एव साक्षाद्विज्ञानी स शिवः स हरिर्विधिः ॥ १०३ ॥

एवं स्वातिरिक्तप्रपञ्चसुषुप्तिकाले ॥ १०२ ॥ चितः सर्वावस्थानुस्थूतज्ञानी  
 चिदेव भवतीत्याह—अविशेषेणेति ॥ १०३ ॥

<sup>१</sup> स्मृश्यते—अ, अ १.

<sup>२</sup> स्वप्नो—अ, अ १.

<sup>३</sup> विश्व—अ, अ १.

कराहोपनिषद्

जगद्विलापनपुरस्सरं ब्रह्मकर्तवचिन्तनम्  
 दीर्घस्वप्नमिदं यत्तदीर्घं वा चित्तविभ्रमम् ।  
 दीर्घं वाऽपि मनोराज्यं संसारं दुःखसागरम्  
 सुसेव्यत्थाय सुस्थन्तं ब्रह्मैकं प्रविचिन्त्यताम् ॥ ६४ ॥  
 आरोपितस्य जगतः प्रविलापनेन  
 चित्तं मदात्मकतया परिकल्पितं नः ।  
 शत्रूनिहत्य गुरुषट्कगणान्निपातात्  
 गन्धद्विपो भवति केवलमद्वितीयः ॥ ६५ ॥

अवस्थात्रयसंसृतेः चित्तविकल्पतामाह—दीर्घेति । दुःखसागरं  
 विद्वीर्यर्थः । यत एवं अतः तच्छान्तये सुसेव्यत्थाय ॥ ६४ ॥ केनोपायेन  
 ब्रह्मैकमिति चिन्त्यमित्यत आह—आरोपितस्येति । स्वाङ्गदष्टथा आरोपितस्य  
 प्रविलापनेन विलापनाधिष्ठानमवशिष्यते । तत्राखण्डाकारवृत्तिमत् चित्तं  
 मत्स्वरूपमेव भवतील्यर्थः । शत्रून् सञ्चिदानन्दावरणान् कामाद्यरिष्टद्वागान् वा  
 गुरुषट्कगणान् गणेन शामादिषड्गुणासिना निहत्य निर्मल्य इत्यं शत्रुनिपातात्  
 निपातेन आत्मा गन्धद्विपो मत्तगज इव केवलं अद्वितीयः स्वात्मा अवशिष्यत  
 इत्यर्थः ॥ ६५ ॥

प्रत्यगभिनवद्वाविषयको विद्वदनुभवः

अद्यास्तमेतु वपुराशाशितारभास्तां  
 कस्तावताऽपि मम चिद्वपुषो विशेषः ।  
 कुम्भे विनश्यति चिरं समवस्थिते वा  
 कुम्भाम्बरस्य न हि कोऽपि विशेषलेशः ॥ ६६ ॥

अहिनिर्वयिनी सर्पनिर्मोक्षो जीववर्जितः ।  
 वल्मीके पतिस्तिष्ठेत्तं सर्पो नाभिमन्यते ॥ ६७ ॥  
 एवं स्थूलं च सूक्ष्मं च शरीरं नाभिमन्यते ।  
 प्रत्यञ्जानशिखिष्वस्ते मिथ्याज्ञाने सहेतुके ।  
 नेति नेतीति <sup>१</sup>खपत्वादशरीरो भवत्ययम् ॥ ६८ ॥  
 शाक्षेण नश्येत् परमार्थदृष्टिः  
 कार्यक्षमं नश्यति चापरोक्ष्यात् ।  
 प्रारब्धनाशात् प्रतिभाननाश

एवं त्रिधा नश्यति चात्ममाया ॥ ६९ ॥  
 ब्रह्मत्वे योजिते स्वस्मिन् जीवभावो न गच्छति ।  
 अद्वैते बोधिते तत्त्वे वासना विनिर्वर्तते ॥ ७० ॥  
 आरब्धान्ते देहहानिर्मायेत्यं क्षीयतेऽस्तिला ।  
 अस्तीत्युक्ते जगत्सर्वं सद्रसं ब्रह्म तद्वेत् ॥ ७१ ॥  
 भातीत्युक्ते जगत्सर्वं भानं ब्रह्मैव केवलम् ।  
 मरुभूमौ जलं सर्वं मरुभूमात्रमेव तत् ।  
 जगत्त्वयमिदं सर्वं चिन्मात्रां स्वविचारतः ॥ ७२ ॥  
 अज्ञानमेव न कुतो जगतः प्रसङ्गो  
 जोवेशदेशिकविकल्पकथाऽतिदूरे ।  
 एकान्तकेवलचिदेकरसस्त्वं भावे  
 हं परिपूर्णमस्मि ॥ ७३ ॥

<sup>१</sup> दूर—क.  
६१

<sup>२</sup> द्रूप—क, अ २.

<sup>३</sup> भावो—अ २०.

बोधचन्द्रमसि पूर्णविग्रहे  
 मोहराहुमुषितात्पतेजसि ।  
 स्वानदानयजनादिकाः क्रिया  
 मोचनावधि वृथैव तिष्ठते ॥ ७४ ॥

मद्भावापन्नविद्वदनुभव एवं भवतीत्याह—अस्येति । तत्र दृष्टान्तस्तु कुम्भे विनश्यति ॥ ६६ ॥ विदुमोऽपि शरीरदर्शनात् अशरीरत्वं कुत इत्याशंक्य “अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः” इति श्रुत्यनुरोधेन स्वाज्ञाविकल्पितशरीरत्रये स्वात्मात्मीयाभिमतिवैकल्प्यमेव अशरीरत्वमिति सदृष्टान्तमाह—अहिनिर्लव्ययिनीति ॥ ६७ ॥ विद्वान् एवम् ॥ ६८ ॥ शरीरत्रयहेतुमायायां सत्यां कथं अशरीरत्वं इत्याशंक्य शास्त्रजन्यज्ञानविज्ञानसम्यक्तत्त्वज्ञानतो ब्रह्मातिरेकेण माया नास्तीति माया निर्मायं पदं भजति, तत्समकालं मायाकार्यागाम्यादिकर्मत्रयमपि सवासनं क्षीयते, ततो विद्वान् अशरीरब्रह्मात्रतया अवदिष्यत इत्याह—शास्त्रेणेति । ब्रह्मैव सत्यं ब्रह्मातिरिक्तं न विच्छिदस्ति इति शास्त्रजन्यज्ञानात् मायायाः परमार्थदृष्टिः नश्यति । तेन तद्वीजांशाप्रभवभान्तिजतादात्म्यास्पदागामिकर्मणोऽक्षेषो भवति । तदा स्वातिरिक्तं व्यावहारिकं प्रतिभाति । पूर्वाग्न्यस्तशास्त्रजन्यज्ञानमनुभवारूढं चेत् विज्ञानपदं भजति तेन यत् कार्यक्षमं व्यावहारिकं तत् नश्यति । तेन स्वातिरिक्तं प्रातिभासिकं भाति । तेन सहजतादात्म्यास्पदसञ्चितकर्मापि नश्यति । विज्ञानिनः प्रारब्धकर्म भोगेन क्षीयते, न हि तदानीं नश्यति, आरब्धत्वात् । विज्ञानं दृष्टानुभवकलितं चेत् सम्यज्ञानपदं भजति । तेन प्रातिभासिकतया भातं स्वातिरिक्तं शून्यभावं भजति । तेन कर्मजतादात्म्यास्पदमायास्थूलांशारब्धं कर्मापि नश्यति । प्रारब्धनाशसमकालं मायायाः शून्यतया प्रतिभासोऽपि नश्यति । एवं माया त्रेधा विनश्यतीत्यर्थः । यदा स्वातिरिक्तसामान्यमस्ति नास्तीति विभ्रमापहृवो भवति एवं स्वातिरिक्तापहृववृत्तिः तत्त्वज्ञानपदं भजति । तेन ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति विद्वान् अवदिष्यत इति भावः ॥ ६९ ॥ उक्तार्थमेव पुनः

इष्टात्म इति । केवलशास्त्रजन्यज्ञानेन ब्रह्मत्वे योजिते ॥ ७० ॥  
हाभिमानवृत्तिः माया । अस्ति भाति प्रियमिति यद्युत् व्यवहृतं  
नन्दं ब्रह्मेत्याह—अस्तीति ॥ ७१ ॥ यद्यत् प्रियं तदेव ब्रह्म  
व्यमित्यत्र—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् ।  
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्गूपं ततो द्वयम् ॥

इति श्रुतेः । नामरूपसद्वितीयं ब्रह्मेत्यत आह—मरभूमाविति ॥ ७२ ॥  
कथं पुनः चिन्मात्रं निष्प्रतियोगिकं, जीवेशादिविकल्पजुष्टजगतः सत्त्वादित्यत  
आह—अज्ञानमिति । जगतः स्वाज्ञानकार्यत्वात् स्वज्ञानेन स्वाज्ञाननाशे  
तत्कार्यं जगत् कुतः सत्पदमर्हतीत्यत्र—“कारणाभावतः कार्यं कथं सिद्धिपदं  
भजेत्” इति परमाक्षरोत्तेः ॥ ७३ ॥ स्वातिरिक्तकलनामुक्ते ब्रह्मणि मृदाः  
स्वातिरिक्तं कल्पयित्वा तच्छान्तये मुधा व्याप्रियन्त इत्याह—बोधेति ॥ ७४ ॥

समाधिसाधनं नादानुसन्धानम्

सलिले सैन्धवं यद्यत् साम्यं <sup>१</sup>भजति योगतः ।  
तथाऽत्ममनसोरैकं समाधिरिति कथ्यते ॥ ७५ ॥  
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।  
दुर्लभा सहजावस्था सद्ग्राहोः करुणां विना ॥ ७६ ॥  
उत्पश्चशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः ।  
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रकाशते ॥ ७७ ॥  
रसस्य मनसश्वैव चक्षुलस्त्वं स्वभावतः ।  
रसो बद्धो मनो बद्धं किं न सिद्ध्यति भूतले ॥ ७८ ॥

<sup>१</sup> भजति—क, अ ३.

मूर्च्छितो हरति व्याधिं मृतो जीवयति स्वयम्

<sup>१</sup>बद्धः खेचरतां धते ब्रह्मत्वं रसचेतसि ॥ ७९ ॥

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ।

मरुतस्य लयो नाथस्तनाथं लयमाश्रय ॥ ८० ॥

निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जीवति योगिनाम् ।

उच्छिन्नसर्वसंकल्पो निःशेषचेष्टिः ।

स्वावगम्यो लयः कोऽपि मनसां वागगोचरः ॥ ८१ ॥

<sup>२</sup>पुरुषानुपुरुषविषयेक्षणतत्परोऽपि

ब्रह्मावलोकनधियं न जहाति योगी ।

सङ्गीतताललयवाद्यवशं गताऽपि

मौलिस्थकुम्भपरिक्षणधीर्नटीव ॥ ८२ ॥

सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ।

नाद एवानुसंधेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥ ८३ ॥

इति ॥

स्वातिरिक्तासम्भवप्रबोधसिद्धं ब्रह्मस्मीति ब्रह्ममनसोरैकत्वं समाधिरिति  
सदृष्टान्तमाह—सलिल इति ॥ ७९ ॥ एवं तत्त्वदर्शनं गुरुकटाक्षतो भवतीत्याह—  
दुर्लभः इति ॥ ७६ ॥ कस्येयं सहजावस्था जायत इत्यत आह—  
उत्पन्नेति । ज्ञानसहकृतयोगाभ्यासपाटवेन उत्पन्नकुण्डलिनीशक्तिबोधस्य,  
“ब्रह्मातिरिक्तं न किञ्चिदस्ति” इत्यजडक्रियाज्ञानेच्छाशक्तिबोधस्य, सम्यज्ज्ञानिनो  
वा शक्तिबोधस्य ॥ ७७ ॥ ब्रह्मातिरेकेण मनसः सत्त्वं ये मन्यन्ते तदृष्टिमाश्रित्य

<sup>१</sup> बन्धः—अ, अ ३.

<sup>२</sup> पुंशा—अ ३, ३.

लनादिः बन्धमुक्तिहेतुरिति सदृष्टान्तमाह— इसस्येति ॥ ७८—७९. ॥  
 द्रव्यमनःप्राणादिकं विलाप्य तह्याधिकरणं ब्रह्मास्मीत्युच्येत्याह—  
 श्रिति ॥ ८० ॥ कीदृशोऽयं लय इत्यत्र निश्चेष्ट इति । किञ्च—  
 । लयशब्देन लयाधिकरणं ब्रह्मोच्यते इत्यर्थः ॥ ८१ ॥ विदुषो  
 सत्त्वु तह्याधिकरणब्रह्मदृष्टिः कुत इत्यत्र सदृष्टान्तमुत्तरमाह—  
 पुरुषात् ॥ ८२ ॥ स्वातिरिक्तभ्रमासम्भवप्रबोधसिद्धं परमात्मा स्वावशेषधिया  
 अनुसन्धेय इति अश्यायार्थमुपसंहरति— सर्वेति । योगसाम्राज्यं कैवल्यमिन्छता  
 स्वातिरिक्तावकाशं न ददातीति नदः स एव नादः परमात्मैव निष्प्रतियोगिक-  
 स्वमात्रमित्यनुसन्धेयः ॥ ८३ ॥ इतिशब्दोऽश्यायपरिसमास्यर्थः ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः

## तृतीयोऽध्यायः

अद्वितीयपरमात्मातुभवः

न हि नानास्वरूपं स्यादेकं वस्तु कदाचन ।  
 तस्मादखण्ड एवास्मि यन्मदन्यज्ञं किञ्चन ॥ १ ॥  
 दृश्यते श्रूयते यद्यद्वाणोऽन्यज्ञं तद्वेत् ।  
 नित्यशुद्धविमुक्तैकमस्तुष्ठानन्दमद्वयम् ।  
 सत्यं ज्ञानमनन्तं यत् परं <sup>१</sup>ब्रह्म भवामि तत् ॥ २  
 आनन्दरूपोऽहमस्तुष्ठबोधः  
 परात्परोऽहं घनचित्प्रकाशः ।

अश्याहमेव—क, अ १, अ २.

मेघा यथा व्योम न च स्थृशन्ति  
 संसारदुःखानि न मां स्थृशन्ति ॥ ३ ॥

सर्वं सुखं विद्धि सुदुःखनाशात्  
 सर्वं च सद्गूपम<sup>१</sup>सत्यनाशात् ।

चिद्रूपमेव प्रतिभानयुक्तं  
 तस्मादखण्डं मम रूपमेतत् ॥ ४ ॥

न हि जनिर्मरणं गमनागमौ  
 न च मलं विमलं न च वेदनम् ।

चिन्मयं हि सकलं विराजते  
 स्फुटतरं परमस्य तु योगिनः ॥ ५ ॥

कथं त्वं निष्प्रतियोगिकपरमात्माऽसि स्वप्रतियोगिनानात्वस्य विद्यमानत्वा-  
 दिल्याशङ्कमानमालक्ष्य भगवान् स्वस्य निष्प्रतियोगिकाद्वितीयत्वस्थापनाय  
 स्वानुभवं प्रकटयति—न हीति । यस्मादेवं तस्मात् ॥ १ ॥ स्वान्यत् दृश्यते  
 श्रूयते चेदिल्यत्राह—दृश्यत इति । कीदृशं ब्रह्म त्वं भवसीत्यत्राह—नित्येति  
 ॥ २ ॥ जीवदेहधारणसामान्यात् त्वमपि संसारदुःखी भवसीत्यत आह—  
 आनन्देति ॥ ३ ॥ सच्चिदानन्दाखण्डं मां विद्धीत्याह—सर्वमिति ॥ ४ ॥  
 निर्विशेषज्ञानयोगिनो मद्गूपमेवं विभातीत्याह—न हि जनिरिति । योगी स्वात्मनो  
 मम जनिमृतिगमनागमनादिविक्रिया नास्तीति मत्वा सर्वत्र मामेव निष्प्रतियोगिक-  
 चिन्मात्रं पश्यतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

निन्मात्रभावापत्तिसाधनमौनविधिः

सत्यचिद्रूपमध्येण्डमद्वयं सर्वदृश्यरहितं निरामयम् ।  
 यत्पदं विमलमृद्वयं शिवं तत्सदाऽहमिति मौनमाश्रय ॥ ६ ॥

<sup>१</sup> सत्य—क, अ २.

जन्ममृत्युसुखदुःखवर्जितं जातिनीतिकुलगोत्रदूरगम् ।  
चिद्विवर्जनगतोऽस्य कारणं तत्सदाऽहमिति मौनमाश्रय ॥ ७ ॥  
पूर्णमद्वयमखण्डचेतनं विश्वभेदकलनादिवर्जितम् ।  
अद्वितीयपर<sup>१</sup> संविदंशकं तत्सदाऽहमिति मौनमाश्रय ॥ ८ ॥

तवेश्वरत्वेन निष्प्रतियोगिकचिन्मात्रत्वं युज्यते । ममानीशत्वेन  
तद्वावापत्युपायमादिशेति पृच्छमानमालक्ष्य भगवान् स्वभावापत्युपायमादिशेति  
—सत्येति ॥ ६—८ ॥

भगवतः सचिदानन्दत्वम्

केनाप्यबाधितत्वेन त्रिकालेऽप्येकरूपतः ।  
विद्यमानत्वमस्त्येतत् सद्गूपत्वं सदा मम ॥ ९ ॥  
निरूपाधिकनित्यं यत् सुसौ सर्वसुखात्परम् ।  
सुखरूपत्वमस्त्येतदानन्दत्वं सदा मम ॥ १० ॥

एवं मुनेः स्वभावापत्युपायमुपदिश्य तद्वार्थाय स्वात्मनः सचिदानन्दत्वं  
साधयति—केनेति ॥ ९—१० ॥

भगवद्गुरुकिरणैर्हि शार्वरं तमो  
दिनकरकिरणैर्हि शार्वरं तमो  
निबिडतरं इटिति प्रणाशमेति ।  
घनतरभवकारणं तमो य-  
द्विदिनकृत्प्रभया न चान्तरेण ॥ ११ ॥

<sup>१</sup> सथि—क, अ २.

मम चरणस्मरणेन पूजया च  
 स्वकर्तमसः परिमुच्यते हि जन्मुः ।  
 न हि मर्णाग्रभवप्रणाशहेतु-  
 मम चरणस्मरणाद्वतेऽस्ति किञ्चित् ॥ १२  
 आदरेण यथा स्तौति धनवन्तं धनेच्छया ।  
 तथा चेद्विश्वकर्तारं को न मुच्येत बन्धनात् ॥ १३ ॥

मद्भावापत्तिहेतुमद्भक्तिं विना कोऽपि न मुच्यत इति सद्धान्तसुपादयति—  
 दिनकरेति । दिनकृत्प्रभया विनाशमेति ॥ ११-१२ ॥ कथिद्वाजसेव्यपि  
 एरिद्यतो मुच्यते तथा मामुपास्य को वा स्वातिरिक्तब्रह्मतः न मुच्यत इत्याह—  
 र्णेति ॥ १३ ॥

### ईश्वरस्य सर्वसमत्वम्

आदित्यसंनिधौ लोकश्चेष्टते स्वयमेव तु ।  
 तथा मत्संनिधावेव समस्तं चेष्टते जगत् ॥ १४ ॥  
 शुक्तिकायां यज्ञा तारं कल्पितं मायया तथा ।  
 महदादि जगन्मीयामयं मर्येव <sup>१</sup>केवलम् ॥ १५ ॥  
 चण्डालदेहे पृथिव्यावरे ब्रह्मविग्रहे ।  
 अन्येषु तारतम् न स्थितेषु न तथा श्वरम् ॥ १६ ॥  
 विनष्टदिग्ब्रमस्तुष्टुपि यथापूर्वं विभाति दिक् ।  
 तथा विज्ञानविद्वास्तं जगन्मे भाति तत्र हि ॥ १७ ॥

<sup>१</sup> कल्पितम्

न देहो नेन्द्रियप्राणो न मनोबुद्धयहंकृतिः ।  
 न चित्तं नैव माया च न च व्योमादिकं जगत् ॥-१८ ॥  
 न कर्ता नैव भोक्ता च न च भोजयिता चथा ।  
 केवलं चित्सदानन्दब्रह्मैवाहं जनार्दनः ॥ १९ ॥

स्वाज्ञादिलोकप्रवृत्तिनिवृत्तिनिमित्तमप्यहमेवेत्याह—आदित्येति ॥ १४ ॥  
 मदतिरिक्तं मर्येव विकल्पितम् । विषमेष्वपि समोऽहमेवेत्याह—शुस्तिकायामिति ॥ १५-१६ ॥ मदज्ञानविकल्पितं मज्ज्ञानतो न भातीत्याह—विनष्टेति । विनष्टदिग्ब्रह्मस्यापि भ्रमापाये ॥ १७ ॥ तवापि जगदन्तःपातिदेहेन्द्रियादि-  
 सत्त्वात् कथं जगत् न भातीत्युच्यते हृत्यत्राह—न देह इति ॥ १८-१९ ॥

चित्तमेव संसारकारणम्

जलस्य चञ्चलादेव चञ्चलत्वं यथा रवेः ।  
 तथाऽहंकारसंबन्धादेव संसार आत्मनः ॥ २० ॥  
 चित्तमूलं हि संसारस्तप्रयत्नेन शोधयेत् ।  
 हन्त चित्तमहत्तायां कैषा विश्वासता तव ॥ २१ ॥  
 क धनानि महीपानां ब्रह्मणः क जगन्ति वा ।  
<sup>१</sup>प्राक्तनानि प्रयातानि गताः सर्गपः पराः ॥ २२ ॥  
 कोटयो ब्रह्मणां याता भूपा नष्टाः रागवत् ।  
<sup>२</sup>स चाध्यात्माभिमानोऽपि विदुषो गासुरत्वतः ॥ २३ ॥  
 द्युषोऽप्यासुरश्चेत्स्यान्निष्फलं तत्त्वं शीनम् ।

<sup>१</sup> स्वारोपिताशेषपदार्थभासकत्वमात्मनः साधनम् तरेण यत् ।

बदन्ति वेदान्तविदो हि ताँ स्वयंप्रकाशमानस्तु चित्स्वरूपताम् ॥

इत्यधिकः—अ १. <sup>२</sup> न च अ १, तथा—अ,

तव ईश्वरस्य देहादिवैरल्यमस्तु वस्तुतो निर्विशेषब्रह्मरूपत्वं  
बन्धमोक्षहेतु काविल्यत्र अतस्मिस्तद्वावातद्वावावित्याह—जलसं  
एवं संसारमूलं किं इपत्रं चित्तमित्याह—चित्तेति संसारमूलचिं  
तद्विकल्पितं सर्वं से॒ इति मन्यमानं प्रल्याह—हन्तेति ।  
भान्त्युज्जीवकत्वात् तद्याये यथापूर्वमदर्शनात् चित्ततत्कार्यकलना  
॥ २१—२२ ॥ विदुषोऽप्येवं स्यवत् भातं चेत् तस्य वैदुष्यं नास्तीति ।  
स चेति । यः अनात्मनि आत्मधीप्रमवः अविद्वद्गोचरः स चाध्यात्माभिमानः  
देहाभिमानः स्वान्यत्र ममताऽपि विदुषोऽप्यनर्थकर एव । कुतः ?  
देहादावात्मात्मीयाभिमानस्य आसुरत्वतः आसुरकृत्यत्वात् ॥ २३ ॥ अविदुष  
इव विदुषोऽपि आसुरश्चेत् तदार्जिततत्त्वदर्शनं निष्फलमेव स्यात् । तथा  
च श्रुतिः—

ज्ञानामृतेन तुपस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।  
तचास्ति किञ्चित् कर्तव्यमस्ति चेत्त स तत्त्ववित् ॥  
इति ॥

अनात्मनि रागाद्यनुभवो विद्वलक्षणम्

उत्पाद्यमाना रागाद्या विवेकज्ञानवह्निना ॥ २४ ॥  
यदा तदैव दृख्यन्ते कुतस्तेषां प्ररोहणम् ।  
यथा सुनिपुणः सम्यक् परदोषेक्षणे रतः ॥ २५ ॥  
तथा चेन्निपुणः स्वेषु को न गुच्छेत बन्धनात् ।  
अनात्मविदम् ऽपि सिद्धिजालानि वाञ्छति ॥ २६ ॥  
द्रव्यमन्वाक्त्रान् कालयुक्त्याऽप्योति मुनीश्वर ।  
नात्मज्ञस्यैष विषय आत्मज्ञो खात्ममात्रद्वक् ॥ २७ ॥  
आत्मनाऽप्यनि संतृप्तो नाविद्यामनुषावति ।  
ये केषव जदावास्तानविद्यामयान् विदुः ॥ २८ ॥



# शाण्डिल्योपनिषत्

भद्रं कर्णेभिः—इति शान्तिः

## प्रथमोऽध्यायः

योगाश्चाङ्गनिर्देशः

शाण्डिल्यो ह वा अर्थवीणं पप्रच्छात्मलाभोपायभूत-  
मष्टाङ्गयोगमनुबूहीति ॥ १ ॥ स होवाचार्थवा—यमनियमासन-  
प्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टाङ्गानि ॥ २ ॥ तत्र दश  
यमाः । तथा नियमाः । आसनान्यष्टौ । <sup>१</sup>त्रिः प्राणायामः । पञ्च  
प्रत्याहाराः । तथा धारणाः । द्विप्रकारं ध्यानम् । समाधि-  
स्त्वेकरूपः ॥ ३ ॥

शाण्डिल्योपनिषत्प्रोक्तयमाद्यष्टांगयोगिनः ।  
यद्वेधाद्यान्ति कैवल्यं स रामो मे परा गतिः ॥

इह खलु अर्थवीणवेदप्रविभक्तेयं शाण्डिल्योपनिषत् यमाद्यष्टांगयोगतद्वौण-  
मुख्यसिद्धिप्रकाशनव्यग्रा निष्प्रतियोगिकब्रह्मात्रपर्यवसन्ना विजृम्भते । अस्याः

<sup>१</sup> वयः प्राणायामाः—अ.

<sup>२</sup> हारः—अ १, अ २, उ १, क.

स्वल्पम् अथतो विवरणमारभ्यते । शाण्डिल्याथर्वप्रश्नप्रार्थीयमाख्यायिका  
विवरणम् अर्थात् । आख्यायिकामवतार्थ्यति— शाण्डिल्येन इति । किमिति ?  
१ ॥ एवं शाण्डिल्येन पृष्ठः स होवाच । किं तत् ? योगोऽष्टांग  
उच्चरता<sup>३</sup> मेति ॥ २-१४ ॥

### दशविधयमनिरूपणम्

तत्राहिंसास्त्यास्तेयब्रह्मचर्यद्याऽर्जवक्षमाधृतिमिताहारशौ-  
चानि चेति यमा दश ॥ ४ ॥ तत्राहिंसा नाम मनोवाक्याय-  
कर्मभिः सर्वभूतेषु सर्वदाऽक्षेत्रजननम् ॥ ५ ॥ सत्यं नाम  
मनोवाक्यायकर्मभिर्भूतहितयथार्थाभिमाषणम् ॥ ६ ॥ अस्तेयं नाम  
मनोवाक्यायकर्मभिः परद्रव्येषु निःस्मृहा ॥ ७ ॥ ब्रह्मचर्यं नाम  
सर्वावस्थासु मनोवाक्यायकर्मभिः सर्वत्र मैथुनत्यागः ॥ ८ ॥ दद्या  
नाम सर्वभूतेषु सर्वत्रानुग्रहः ॥ ९ ॥ आर्जवं नाम मनोवाक्यायकर्मणां  
विहिताविहितेषु जनेषु प्रवृत्तौ निवृत्तौ वा एकरूपत्वम् ॥ १० ॥  
क्षमा नाम प्रियाप्रियेषु सर्वेषु <sup>१</sup>ताढनपूजनेषु सहनम् ॥ ११ ॥  
धृतिर्नामार्थहानौ स्वेष्टबन्धुवियोगे तत्प्राप्तौ सर्वत्र चेतःस्थापनम्  
॥ १२ ॥ मिताहारो नाम चतुर्थांशावशेषकसुखिग्राघमधुराहारः  
॥ १३ ॥ शौचं नाम द्विविधं बाह्यमान्तरं चेति । तत्र मृजलाभ्यां  
बाह्यम् । मनःशुद्धिरान्तरम् । तदध्यात्मविद्या लभ्यम् ॥ १४ ॥

इति प्रथमः खण्डः

<sup>१</sup> तारतम्यपु—अ.

<sup>२</sup> हारं—अ, अ १, अ २, क.

## दशविधयमनिरूपणम्

तपःसन्तोषास्तिक्यदानेश्वरपूजनसिद्धान्तश्रवणहीमतिज्ञ

तानि दश नियमाः ॥ १ ॥ तत्र तपो नाम विष्णुक्तकृच्छ्र  
 यणादिभिः शरीरशोषणम् ॥ २ ॥ <sup>१</sup>संतोषो नाम यद्बच्छालाभतुष्टिः  
 ॥ ३ ॥ आस्तिक्यं नाम वेदोक्तधर्माधर्मेषु विश्वासः ॥ ४ ॥ दानं  
 नाम न्यायार्जितधनधान्यादेः श्रद्धयाऽर्थिभ्यः प्रदानम् ॥ ५ ॥  
 ईश्वरपूजनं नाम प्रसन्नस्वभावेन यथाशक्ति विष्णुरुद्रादिपूजनम्  
 ॥ ६ ॥ सिद्धान्तश्रवणं नाम वेदान्तार्थविचारः ॥ ७ ॥ हीर्नाम  
 वेदलौकिकमार्गकुत्सितकर्मणि लज्जा ॥ ८ ॥ मतिर्नाम वेदविहित-  
 कर्ममार्गेषु श्रद्धा ॥ ९ ॥ जपो नाम विधिवदुरुपदिष्टवेदाविरुद्ध-  
 मन्त्राभ्यासः । तद्विविधं वाचिकं मानसं चेति । मानसं तु मनसा  
 ध्यानयुक्तम् । वाचिकं द्विविधमुच्चैरुपांशुभेदेन । उच्चैरुच्चारणं  
 यथोक्तफलम् । <sup>२</sup>उपांशु सहस्रगुणम् । मानसं कोटिगुणम् ॥ १० ॥  
<sup>३</sup>ब्रतं नाम वेदोक्तविधिनिषेधानुष्ठाननैयत्यम् ॥ ११ ॥

दशाधा भिन्नयमस्वरूपमुक्त्वा तथा नियमस्वरूपमाह—तप इति ॥ १-९ ॥  
 मन्त्रार्थानुसन्धानं मानसमित्यर्थः ॥ १०-११ ॥

इति द्वितीयः खण्डः

<sup>१</sup> संतोषं—अ, अ १, अ २, क.

<sup>२</sup> उपांशुः—अ, अ १.

<sup>३</sup> एतद्वाक्यं मुद्रितकोश एव दृश्यते.

अष्टविधासननिरूपणम्

स्वस्तिकगोमुखपदवीरसिंहभद्रमुक्तमयूरार्बुद्ध्यासनन्यष्टौ ।

; नाम—

जानूर्वैरन्तरे सम्यकृत्वा पादतले उभे ।

ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥ १ ॥

सब्ये दक्षिणगुल्कं तु पृष्ठपाश्चेन नियोजयेत् ।

दक्षिणेऽपि तथा सब्यं गोमुखं गोमुखं यथा ॥ २ ॥

अङ्गुष्ठेन निवधीयाद्वस्ताभ्यां व्युत्कमेण च ।

ऊर्वैरुपरि शाणिडल्य कृत्वा पादतले उभे ।

पद्मासनं भवेदेतत् सर्वेषामपि पूजितम् ॥ ३ ॥

एकं पादमयैकस्मिन् विन्यस्योरुणि संस्थितः ।

इतरस्मिस्तथा चोरुं वीरासनमुदीरितम् ॥ ४ ॥

दक्षिणं सब्यगुल्फेन दक्षिणेन तथेतरम् ।

हस्तौ च जान्वोः संस्थाप्य स्वाङ्गुलीश्च प्रसार्य च ॥ ५ ॥

व्यात्तवज्ञो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ।

सिंहासनं भवेदेतत् पूजितं योगिभिः सदा ॥ ६ ॥

योनिं वामेन संपीड्य मेद्रादुपरि दक्षिणम् ।

भ्रूमध्ये च मनोलक्ष्यं सिद्धासनमिदं भवेत् ॥ ७ ॥

गुल्फौ तु वृषणस्यावः सर्वान्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।

पादपाश्चेन तु पाणिभ्यां दृढं बद्धा सुनिश्चलम् ।

भूद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविषापहम् ॥ ८ ॥

सं० रीविनीं सूक्ष्मां गुलक्षेव तु सम्यतः ।  
 सम्यं दोक्षणगुलकेन मुक्तासनमिदं भवेत् ॥ ९ ॥  
 अवष्टुभ्य धरां सम्यक् तलाभ्यां तु करद्युयोः ।  
 हस्तयोः कूर्परौ चापि स्थापयेत्ताभिपार्श्वयोः ॥ १० ॥  
 समुक्ततशिरः पादो दण्डवद्वचोऽन्नि संस्थितः ।  
 मयूरासनमेतत् सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ११ ॥  
 शरीरान्तर्गताः सर्वरोगा विनश्यन्ति । विषाणि जीर्यन्ते  
 ॥ १२ ॥ येन केनासनेन सुखधारणं भवत्यशक्तस्तत्समाचरेत् ॥ १३ ॥

स्वस्तिकादृष्टासनप्रकारमाह—स्वस्तिकेति ॥ १ ॥ गोमुखासनमाह—  
 सम्य इति ॥ २ ॥ पश्चासनमाचष्टे—अद्युष्टेनेति ॥ ३ ॥ वीरासनलक्षणमाह  
 —एकमिति ॥ ४ ॥ सिंहासनप्रकारमाह—दक्षिणमिति ॥ ५—६ ॥  
 सिद्धासनस्वरूपमाह—योनिमिति ॥ ७ ॥ भद्रासनमाह—गुल्फाविति  
 ॥ ८ ॥ मुक्तासनप्रकारमाह—सम्पीडयेति ॥ ९ ॥ मयूरासनमाह—  
 अवष्टुभ्येति ॥ १०—१३ ॥

## आसनजयफलम्

येनासनं विजितं जगत्त्रयं तेन विजितं भवति ॥ १४ ॥  
 यमनियमासनाभ्यासयुक्तः पुरुषः प्राणायामं चरेत् । तेन नाड्यः  
 शुद्धा भवन्ति ॥ १५ ॥

आसनजयफलमाह—येनेति ॥ १४ ॥ ततः किमित्यत आह—  
 यमेति ॥ १५ ॥

इति तृतीयः खण्डः

नाडीसंस्थादिजिकासा

अथ हैनमर्थवाणं शाणिडल्यः पप्रच्छ केनोपायेन नाडयः  
शुक्ति स्तुः । नाडयः कतिसंस्थाकाः तासामुत्पत्तिः कीष्टशी ।  
तासु कति वायवस्तिष्ठन्ति । तेषां कानि स्थानानि । तत्कर्माणि  
कानि । देहे यानियानि विज्ञातव्यानि तत्सर्वं मे ब्रह्मीति ॥ १ ॥

शाणिडल्यः प्रभ्रवीजमवष्टम्याथर्वाणं पुच्छतीत्याह—अथेति ॥ १ ॥

शरीरप्राणप्रमाणम्

स होवाचार्थवाणं । अथेदं शरीरं पण्णवत्यकुलात्मकं भवति ।  
शरीरात्माणो द्वादशाकुलाधिको भवति ॥ २ ॥

शाणिडल्येन एवं पृष्ठः सः स्वस्वांगुलिमानेन पण्णवनीति ॥ २ ॥

कुम्भकविधिः

शरीरस्य प्राणमग्निना सह योगाभ्यासेन समं न्यूनं वा यः  
करोति स योगिपुङ्क्षो भवति ॥ ३ ॥

समन्यूनशब्दाभ्यां कुम्भकदीर्घकुम्भकावुच्येते इत्यर्थः ॥ ३ ॥

मनुष्यादीनां अग्निस्थानम्

देहमध्ये शिखिस्थानं त्रिकोणं तसजाम्बूनदप्रभं मनुष्या-  
णम् । चतुष्पदां चतुरश्रम् । विहगानां वृत्ताकारम् । तन्मध्ये  
शुभा तन्वी पावकी शिखा तिष्ठति ॥ ४ ॥

मनुष्यादी स्थानमाह—देहेति ॥ ४ ॥

मनुष्यादिदेहमध्यलक्षणम्  
गुदादूचकुलादूर्ध्वं मेदादूचकुलादधो देहमध्यं मनुष्याणा  
भवति । चतुष्पदां हन्मध्यम् । विहगानां तुन्दमध्यम् । देहमध्यं  
नवाङ्गुलं चतुरङ्गुलमुत्सेधायतमण्डाङ्गुति ॥ ९ ॥

मनुष्यादिदेहमध्यलक्षणमाह—गुदादिति ॥ ९-७ ॥

नाभिचके जीवप्रमणम्

तन्मध्ये नाभिः । तत्र द्वादशारयुतं चक्रम् । तच्चक्रमध्ये  
पुण्यप्राप्तिकोदितो जीवो भ्रमति ॥ ६ ॥ तन्तुपञ्चरमध्यस्थलूतिका  
यथा भ्रमति तथा चासौ तत्र प्राणश्चरति । देहेऽस्मिञ्जीवः प्राणारुद्धो  
भवेत् ॥ ७ ॥

कुण्डलिनीस्वरूपचेष्टा:

नाभेस्तिर्यगधोर्ध्वं कुण्डलिनीस्थानम् । अष्टप्रकृतिरूपा-  
छंडा कुण्डलीकृता कुण्डलिनी शक्तिर्भवति । यथावद्वायुसंचारं  
जलान्नादीनि परितः <sup>१</sup>स्कन्धपार्श्वेषु निरुद्धैर्न मुखेनैष समावेष्टच  
ब्रह्मरन्धं योगकालेऽपानेनाभिना च स्फुरति हृदयाकाशं भ्रोज्ज्वला  
ज्ञानरूपा भवति ॥ ८ ॥

तत्स्वरूपं तच्छेष्टां चाह—अष्टेति । ब्रह्मरन्धं पुच्छेन च ॥ ८ ॥

<sup>१</sup> स्कन्द[कन्द?]पा—अ ३, व १.

चतुरदशनाम्बः

मध्यस्थकुण्डलिनीभाश्चित्य मुख्या नारदश्चतुर्दशा भवन्ति ।  
इहोऽपि लक्ष्मा सुषुम्ना सरस्वती<sup>१</sup> वारुणा पूषा हस्तिगिर्हा यशस्विनी  
किञ्चोदरा कुहूः शशिनी पर्यस्तिनी अलम्बुसा गान्धारीति  
नारदश्चतुर्दशा भवन्ति ॥ ९ ॥

देहमध्यस्थेति । कास्ता इत्यत्र इडेति ॥ ९ ॥

सुषुम्नानाढी

तत्र सुषुम्ना विश्वधारिणी मोक्षमार्गेति चाचक्षते । गुदस्य  
पृष्ठभागे वीणादण्डाश्रिता<sup>२</sup> मूर्धपर्यन्तं ब्रह्मरन्ध्रेति विज्ञेया व्यक्ता  
सूक्ष्मा वैष्णवी भवति ॥ १० ॥

मुषुम्नास्वरूपमाह - गुदस्येति ॥ १० ॥

सुषुम्नापरितः इतरनाढीस्थानानि

सुषुम्नायाः सव्यभागे इडा तिष्ठति । दक्षिणभागे पिङ्गला ।  
इडायां चन्द्रश्चरति । पिङ्गलायां रविः । तमोरूपश्चन्द्रः ।  
रजोरूपो रविः । विषभागे रविः अमृतभागश्चन्द्रमाः ।  
तावेव सर्वकालं धत्ते । सुषुम्ना कालभोक्त्री भवति । सुषुम्ना-  
पृष्ठपार्श्वयोः सरस्वतीकुहू भवतः । यशस्विनीकुहू<sup>३</sup> मध्ये वारुणी  
प्रतिष्ठिता भवति । पूषासरस्वतीमध्ये पर्यस्तिनी भवति । गान्धारी-

<sup>१</sup> वारुणी—मु. वरुणा—ड, अ २.

<sup>२</sup> मूर्धिक, अ २, उ १.

<sup>३</sup> मे—क, अ १, अ २.

सरस्वतीमध्ये इत्यस्त्रिवनी भवति । कन्दमध्येऽलम्बुसा भवति ।  
 सुषुम्नापूर्वभागे मेद्हान्तं कुहूर्भवति । कुण्डलिन्या अध्योर्ध्वं वारूणी  
 सर्वगामिनी भवति । यशस्विनी सौम्या च पादांगुष्ठान्तमिष्यते ।  
 पिङ्गला चोर्ध्वंगा याम्यनासान्तं भवति । पिङ्गलायाः पृष्ठो  
 याम्यनेत्रान्तं पूषा भवति । याम्यकर्णान्तं यशस्विनी भवति ।  
 जिह्वाया ऊर्ध्वान्तं सरस्वती भवति । आसव्यकर्णान्तमूर्ध्वंगा  
 शङ्खिनी भवति । इडागृष्टभागात्सव्यनेत्रान्तगा गान्धारी भवति ।  
 पायुमूलाद्धोर्ध्वंगा इत्यस्त्रिवन्या भवति । एतासु चतुर्दशनाडीष्वन्या  
 नाडचः संभवन्ति । तास्त्रिवन्यास्तास्त्रिवन्या भवन्तीति विज्ञेयाः ।  
 यथाऽधर्थत्थादिपत्रं सिराभिर्व्याप्तमेवं शरीरं नाडीभिर्व्याप्तम् ॥ ११ ॥

सुषुम्नायाः परितः इडाडिनाड्यस्तिष्ठन्तीत्याह—सुषुम्नाया इति ॥ ११ ॥

प्राणादिदशवायुस्थानचेत्राः

प्राणापानसमानोदानव्याना नागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जया एते  
 दश वायवः सर्वासु नाडीषु चरन्ति ॥ १२ ॥ आस्त्यनासिका-  
<sup>१</sup> कण्ठनाभिपादाङ्गुष्टद्रयकुण्डल्यवश्चोर्ध्वभागेषु प्राणः संचरति ।  
 श्रोत्राक्षिकठिगुल्फव्याणिं लस्फिदेशेषु व्यानः संचरति । गुदमेद्हो-  
 रुजानूदरवृष्णकटिजङ्घानाभिगुदागन्यगरेष्वपानः संचरति । सर्व-  
 संधिस्थ उदानः । पादहस्तयोरपि सर्वगात्रेषु सर्वव्यापी समानः ।  
 मुक्ताश्रसादिकं गात्रेऽशिना सह व्यापयन् द्विसप्तिसहस्रेषु नाडीमार्गेषु

<sup>१</sup> हस्ताभि—अ १.

वरन् समानवायुरग्निना सह साङ्गोपाङ्गकलेवरं व्याप्त्य— नागादिवायवः  
पश्च त्वगस्त्वादिसंक्षिप्ताः तुन्दस्थं जलमन्नं च रसादिषु समीरितं—  
तुन्दमध्यगतः प्राणस्तानि पृथक्कुर्यात् । अग्नेरुपरि जलं स्थाप्य  
जलोपर्यन्नादीनि संस्थाप्य स्वयमपानं संप्राप्य तर्नैव सह मास्तः  
प्रयाति देहमध्यगतं <sup>१</sup>ज्वलनम् । वायुना पतितो वहिरपानेन  
शैनैर्देहमध्ये ज्वलति । ज्वलनो ज्वालामिः प्राणं न कोष्ठमध्यगतं  
जलमत्युष्णयकरोत् । जलोपरि समर्पितं व्यञ्जनसंयुक्तमन्नं वहिसं-  
युक्तवारिणा पक्वमकरोत् । तेन स्वेदमूत्रजलरक्तवीर्यरूपरसपुरीवादिकं  
प्राणः पृथक्कुर्यात् । समानवायुना सह सर्वासु नाडीषु रसं  
व्याप्त्यन् श्वासरूपेण देहे वायुश्वरति । नवभिर्वर्णोर्मरन्त्रैः शरीरस्य  
वायवः कुर्वन्ति विण्मूत्रादिविसर्जनम् । निश्चामोच्छ्वासकासश्च  
प्राणकर्माच्यते । विण्मूत्रादिविसर्जनमपानवायुकर्म । हानोपादानचे-  
ष्टादि व्यानकर्म । देहस्योन्नयनादिकमुदानकर्म । शरीरपोषणादिकं  
समानकर्म । उद्धारादि नागकर्म । निमीलनादि कूर्मकर्म । क्षुत्करणं  
कृकरकर्म । तन्द्री देवदत्तकर्म । श्लेष्मादि धनञ्जयकर्म ॥ १३ ॥

नाडीभेदमुक्त्वा वायुभेदमाह—प्राणेति ॥ १२ ॥ प्राणादिचेष्टामाचष्टे  
—आस्थेति ॥ १३—१४ ॥

नाडीशोधनविधिः

एवं नाडीस्थानं वायुस्थानं तत्कर्म च सम्यज्ञात्वा  
नाडीसंशोधनं कुर्यात् ॥ १४ ॥

इति चतुर्थः खण्डः

<sup>१</sup> जलं—क, अ २.

योगाधिकारियोगमठयोः लक्षणम्

यमनिममसुतः पुरुषः सर्वमङ्गविवर्जितः कृतविष्टः सर्व-  
धर्मरतो जितक्षेपो गुरुशुश्रूषानिरतः पितृमातृविषेषः स्वाभमोरु-  
सदाचार<sup>१</sup>विद्वच्छिक्षितः फलमूलोदकान्वितं तपोवनं प्राप्य रम्यवेशे  
ब्रह्मघोषसमन्विते स्वधर्मनिरतब्रह्मवित्समावृते फलमूलपुण्यारिषि:  
सुंसंपूर्णे देवायतने नदीतीरे ग्रामे नगरे वाऽपि सुशोभनमठं  
नात्युच्चनीचायतमल्पद्वारं गोभयादिलिं सर्वरक्षासमन्वितं कृत्वा तत्र  
वेदान्तश्रवणं कुर्वन् योगं समारभेत् ॥ १ ॥

सप्रकारं सोपायं सामान्यविशेषप्राणायामलक्षणमाह—यमेति ।  
योगाधिकारिलक्षणमुक्त्वा योगमठलक्षणमाह—फलेति । तत्र योगमठे ॥ १ ॥

प्राणायामारम्भप्रकारः

आदौ विनायकं संपूज्य स्वेष्टदेवतां नत्वा पूर्वोक्तासने  
स्थित्वा प्राङ्मुख उद्धमुखो वाऽपि मृद्वासनेषु जितासनगतो  
विद्वान् समग्रीवशिरोनासाग्रहाभ्रूमञ्च्ये शशभृद्विम्बं पश्यन् नेत्राभ्याम-  
मृतं द्वादशामात्रया इडया वायुमापूर्योदरे स्थितं ज्वालावलीयुतं  
रेफविन्दुयुक्तमग्निमण्डलयुतं ध्यायेदेवयेत् पिङ्गलया । पुनः पिङ्गल-  
याऽपूर्य कुम्भित्वा रेचयेदिडया ॥ २ ॥

योगारम्भप्रकारमाह—आदाविति । अमृतं स्ववन्तं चन्द्रमण्डलं  
पश्यन् ॥ २ ॥

<sup>१</sup> विच्छिक्षित—क, अ २.

नाडीशोधकप्राणायामाभ्यासकालावधिः

त्रिचतुष्टुलिपित्वः सस्त्रिचतुर्मासपर्यन्तं त्रिसंक्षिप्तलक्ष्मण्डले  
च पद्महृष्ट आचरेकार्दीशुद्धिर्मवति ॥ ३ ॥

कियन्तं कालं कर्तव्यमित्यत्र अवधिमाह—त्रिचतुष्टुलि-  
चत्वारिंशदिनपर्यन्तं वा, त्रिचतुष्टुलिमासं चतुर्मासं सप्तमासं वा, त्रिचतुर्मासपर्य-  
न्तं संवत्सरपर्यन्तं वा, एवं षट्कालं प्राणायामं कुर्वतो नाडीशुद्धिः  
भवति ॥ ३ ॥

नाडीशुद्धिचिह्नानि

ततः शरीरलघुदीसिवहिवृद्धिनादाभिव्यक्तिर्मवति ॥ ४ ॥

ततः किमित्यत आह—तत इति । योगिनः शरीरस्य लघुत्वं दीसिमत्वं  
सौन्दर्यादिः जायते इत्यर्थः ॥

इति पञ्चमः स्वण्डः

प्रणवात्मकप्राणायामः

प्राणापानसमायोगः प्राणायामो भवति । रेचकपूरकङ्कुम्भक-  
भेदेन स त्रिविधः ॥ १ ॥ ते वर्णात्मकाः । तस्मात् प्रणव एव  
प्राणायामः ॥ २ ॥

प्रणवात्मकप्राणायामस्वरूपमाह—प्राणेति ॥ १ ॥ रेचकादयः ते ।  
यस्मात् रेचकादयः अकारोकारमकारात्मकाः तस्मात् ॥ २ ॥

<sup>१</sup> राशेषु—क, अ २.

<sup>२</sup> कुम्भकैः स—अ, अ २.

१३६  
सामिद्दिष्टोपविवरः

प्रज्ञानमध्यासप्रकारः

प्राणाभ्यासनस्यः पुमाभासाप्रशाशभृद्धिभ्योत्त्वांगालवितानि-  
<sup>१</sup> ताकारमूर्तीं रक्ताङ्गीं हंसवाहिनीं दण्डहस्ता बाला गायत्रीं भवति ।  
 उकारमूर्तिः क्षेत्राङ्गीं ताक्षर्वाहिनीं युवतीं चक्रहस्ता सावित्री  
 भवति । मकारमूर्तिः कृष्णाङ्गीं वृषभवाहिनीं वृद्धा त्रिशूलधारिणी  
 सरस्वती भवति ॥ ३ ॥ अकारादित्रयाणां सर्वकारणमेकाक्षरं  
 परंज्योतिः प्रणवं भवति ॥ ४ ॥

यथोक्तसाधनसम्पन्नो योगी अकारादिवर्णत्रयवाच्यगायत्र्यादिमूर्तित्रयच्या-  
 नपूर्वकं यथाविधि प्राणायामं कुर्यादिल्याह—पद्येति ॥ ३ ॥ अकारादिमात्रात्रय-  
 समष्टिः प्रणवो भवतीत्याह—अकारादीनि । प्रणवं प्रणवस्वरूपम् ॥ ४ ॥

प्राणाभ्यासप्रकारः

इडया बाह्याद्वायुमापूर्यं पोदशमात्राभिरकारं चिन्तयन् पूरितं  
 वायुं चतुःषष्ठिमात्राभिः कुम्भयित्वोकारं ध्यायन् पूरितं पिङ्गलया  
 द्वात्रिंशत्प्राणात्रया मकार<sup>२</sup>मूर्तिर्घ्यानेनैवं क्रमेण पुनः पुनः कुर्यात् ॥ ९ ॥

प्राणाभ्यासप्रकारमाह—इडयेति ॥ ९ ॥

इति षष्ठः खण्डः

<sup>१</sup> तमका—अ, अ १, क. च मका—अ २.

<sup>२</sup> मूर्ति—अ, अ १.

अथासनहढो योगी कदी मितहिताशनः सुषुम्नानार्दीस्थ-  
मलशोषार्थं योगी बद्धपश्चासनो वायुं चन्द्रेणापूर्य यथाशक्ति  
कुम्भयित्वा सूर्येण रेचयित्वा पुनः सूर्येणापूर्य कुम्भयित्वा चन्द्रेण  
विरेच्य यथा त्यजेत्तथा संपूर्य धारयेत् । तदेते क्षोका भवन्ति—

प्राणं प्रागिङ्गया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचयेत्

पीत्वा पिङ्गल्या समीरणमयो बद्धा त्यजेद्वामया ।

सूर्यचन्द्रम<sup>१</sup>सोरनं विधिनाऽभ्यासं सदा तन्वतां

शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥ १ ॥

योगी सुषुम्नाऽन्तर्गतमलशोधनार्थं पुरोक्तरीत्या प्राणायामं कुर्यादित्याह-  
अथेति । उक्तार्थं वक्ष्यमाणाः क्षोकाः मन्त्रा भवन्तीत्याह—तदिति ॥ १ ॥

अहरहः कर्तव्यप्राणायामसङ्ख्या

प्रातर्मध्यन्दिने सायमर्धरात्रे तु कुम्भकान् ।

शैनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ २ ॥

अहरहः कति प्राणायामाः कर्तव्याः इत्यत आह—प्रातरिति ॥ २ ॥

अभ्यासोचितसिद्धिभेदः

कनीयसि भवेत् स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे ।

उत्तिष्ठत्युत्तमे प्राणरोधे पश्चासनं <sup>२</sup>भवेत् ॥ ३ ॥

<sup>१</sup> सोऽन्यने—उ, उ १.

<sup>२</sup> महत्—अ, अ १.

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ।

दृढता लघुता चापि तस्य गात्रस्य जायते ॥ ४ ॥

अभ्यासोचितसिद्धिभेदमाचष्टे—कनीयसीति ॥ ३ ॥ तेन किं स्यादित्यत्र जलेनेति ॥ ४ ॥

अभ्यासकाले आहारनियमः

अभ्यासकाले प्रथमं शस्तं क्षीराञ्ज्यभोजनम् ।

ततोऽभ्यासे स्थिरभूते न <sup>१</sup>तावन्नियमग्रहः ॥ ५ ॥

आहारनियममाह—अभ्यासेति ॥ ५ ॥

अभ्यासे सावधानताविधिः

यथा मिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैःशनैः ।

तथैव सेवितो वाशुरन्यथा हन्ति साधकम् ॥ ६ ॥

युक्तंयुक्तं त्यजेद्वायुं युक्तंयुक्तं च पूरयेत् ।

युक्तं युक्तेन बन्धीयादेवं सिद्धिमवाप्न्यात् ॥ ७ ॥

यावत् सुषुप्ताप्रवेशः तावत् सावधानतया अभ्यासः कार्यः इत्यत आह—यथेति ॥ ६ ॥ तत्रोपायस्तु युक्तमिति । एवं अभ्यासं कुर्वतो नाडीशुद्धिः भवति ॥ ७ ॥

नार्ढाशुद्धितो मनोन्मन्यवस्थाप्राप्तिः

यथंष्टैधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।

नादाभिष्ठक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥ ८ ॥

<sup>१</sup> तद्व—अ, अ १.

<sup>२</sup> धारणाद्वा—क, अ २.

विधिवत् प्राणसंथामैर्नाहीचक्रे विशोधिते ।

सुषुम्नाचदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः ॥ ९ ॥

मारुते मध्यसंचारे मनःत्वैर्यं प्रजायते ।

यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी ॥ १० ॥

ततो वायुः सुषुम्नां प्रविश्य योगिनं मनोन्मन्यवस्थाऽरुदं कुर्यादित्याह—  
यथेष्टेति ॥ ८-९ ॥ तेन किं स्यादित्यत्र—मारुत इति ॥ १० ॥

बन्धप्रयत्नं कर्तव्यता

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ।

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूडियाणकः ॥ ११ ॥

अधस्तात्कुञ्जनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते ।

मध्ये पश्चिमतानेन स्यात् प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥ १२ ॥

बन्धप्रयूर्वकान्यास एव फलवानित्याह—पूरकान्त इति ॥ ११-१२ ॥

प्राणापानयोगफलम्

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधो नयन् ।

योगी जराविनिर्मुक्तः षोडशो वयस्म भवेत् ॥ १३ ॥

प्राणापानयोगफलमाह—अपानभिति ॥ १३ ॥

कपालशोधनोपायः

सुखासनस्थो दक्षनाड्या बहिस्थं पवनं समाकृष्याकेश-  
मानस्वाग्रं कुम्भयित्वा सव्यनाड्या रेचयेत् । तेन कपालशोधनं  
वातनाडीगतसर्वोगविनाशनं भवति ॥ १३-१ ॥

कपालशोधनोपायमाह—सुखेति । योगी सुखासनस्थः । कपालशोधनं  
भवति । तेन किं भवतीत्यत्र—वातेति ॥ १३-१ ॥

उज्जायीप्राणायामः

हृदयादिकण्ठपर्यन्तं सस्वनं नासाभ्यां शनैः पवनमाकृष्य  
यथाशक्ति कुम्भयित्वा इडया विरेच्य गच्छांस्तिष्ठन्तुर्यात् । तेन  
श्लेष्महरं जाठराग्निवर्धनं भवति ॥ १३-२ ॥

श्लेष्महरोजायीलक्षणमाह—हृदयादीति । तिष्ठन् उज्जायीनामकं प्राणायामं  
कुर्यात् ॥ १३-२ ॥

सीत्कारप्राणायामः

वक्रेण सीत्कारपूर्वकं वायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा  
नासाभ्यां रेचयेत् । तेन क्षुत्तृष्णाऽऽस्त्यनिद्रा न जायन्ते ॥ १३-३ ॥

सीत्कारप्राणायाममाह—वक्रेणेति ॥ १३-३ ॥

शीतलप्राणायामः

जिह्या वायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासाभ्यां  
रेचयेत् । तेन गुल्मप्लीहञ्चरपित्तक्षुधादि नश्यति ॥ १३-४ ॥

शीतली तु जिह्या ॥ १३-४ ॥

उपायापग्कुम्भकद्वयम्

<sup>१</sup>कुम्भकः स द्विविधः सहितः केवलश्चेति । रेचकपूरकयुक्तः  
सहितः । तद्विवर्जितः केवलः । केवलसिद्धिपर्यन्तं सहितमभ्यसेत् ।

<sup>१</sup> अथकुम्भकः—क, अ २.

केवलकुम्भके सिद्धे त्रिषु लोकेषु न तस्य दुर्लभं भवति । केवल-  
कुम्भकात् कुण्डलिनीबोधो जायते ॥ १३-५ ॥

उपायोपेयकुम्भकद्वयमाह—कुम्भक इति । ततः किं जायत इत्यत्र-  
केवलेति ॥ १३-६ ॥

कुम्भकाम्यात्सफलम्

ततः कृशवपुः प्रसन्नवदनो निर्मललोचनोऽभिव्यक्तनादो  
निर्मुक्तरोगजालो जितविन्दुः पटुभिर्भवति ॥ १३-६ ॥

ततः किं स्यादित्यत्र ततः इति ॥ १३-६ ॥

वैष्णवीमुद्राप्राप्तिः

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ।

एषा सा वैष्णवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ १४ ॥

तेन किमित्याकांक्षायां अनेन योगी वैष्णवीमुद्राऽऽरुद्धो भवतीत्याह—  
अन्तर्लक्ष्यमिति । मूलाधारानाहताज्ञासहस्रारेषु यथाक्रमं विराट् सूत्रं बीजं  
तुरीयं वा अन्तर्लक्ष्यं तदेकतानं मनः बहिर्दृष्टिस्तु अन्तर्दृष्टिरूप्त्वा यदा  
निमेषोन्मेषवर्जिता भवति तदा दृष्टिरियं वैष्णवीमुद्रा भवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

खेचरीप्राप्त्या ब्रह्मदर्शनम्

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्पवनो योगी सदा वर्तते

दृष्ट्या निश्चलंतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ।

मुद्रेयं खलु खेचरी भवति सा लक्ष्यैकताना शिवा

शून्याशून्यविवर्जितं स्फुरति सा तत्त्वं फलं <sup>१</sup>वैष्णवी ॥

<sup>१</sup> वैष्णवं—अ.

अर्थोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदसेसण-  
 अन्द्रोकर्गवपि लीनतामुपनयनिष्यन्दभावोत्तरम् ।  
 ज्योतीरूपमशेषवाहारहितं देवीप्यमानं परं  
 तत्त्वं तत्परमस्ति वस्तुविषयं शाण्डिल्य विद्धीह तत् ॥

यदा योगी वैष्णवीमुद्राऽरुद्धो भवति तदा इयं वैष्णवीमुद्रा सेचरीपदवी-  
 मेत्य तत्त्वं पदलक्ष्यै क्यप्रत्यगभिनब्रह्मगोचरा भवतीत्याह—अन्तरिति । अन्तर्दृष्टि-  
 भावमापन्ननिश्चलबहिर्दृष्टिरेव मुद्रेयम् । शून्यं मुषुप्तिः अशून्यं स्वप्रादिकं  
 तदुभयवर्जितं यथा भवति तथा लक्ष्यैकताना वैष्णवी स्फुरतीत्यर्थः ॥ १५ ॥  
 सेचरीमुद्राऽरुद्धयोगिनः स्थिरति तद्येयस्वरूपं चाह—अर्थेति । अर्थोन्मी-  
 लितलोचनः इन्यादिविशेषणविदिष्यो योगी चन्द्राकौं इडापिंगलागोचरवाय्  
 मनोदृष्टश्चिभिः सह मुषुप्तायां लीनतां लयभावं उपनयन यदा तिष्ठति  
 तदा स्वान्तर्बाह्यविस्मारकब्रह्मानन्दनदी प्रवहति । ततो निष्यन्दभावोत्तरं  
 नितरां स्ववदानन्दभावानुभवानन्तरं तदनुभूत्यसंगतया यदस्तु प्रत्यज्योतीरूपं  
 अशेषवाहान्तःकलनाविरङ्गं परमात्मा भेदेन देवीप्यमानं “पगे दिवो  
 ज्योतिर्दीप्यते” इति श्रुतिसिद्धं परं तत्त्वमस्ति हे शाण्डिल्य तद्विषयं  
 तद्वावापनं वस्तु ब्रह्माहमिति विद्धि ॥ १६ ॥

सेचर्या उन्मनीभावापत्तिः

तारं ज्योतिषि संयोज्य किञ्चिदुन्नमय भ्रवौ ।  
 पूर्वाभ्यासस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात् ॥ १७ ॥  
 तस्मात् सेचरीमुद्रामध्यसेत् । ततोन्मनी भवति । ततो योग-  
 निद्रा भवति । लब्धयोगनिद्रस्य योगिनः काले नास्ति ॥ १७—१ ॥

कथं एवं ज्ञातुं शक्यते इत्यत्रोपायमाह—तारमिति । भ्रूमध्यविलस-  
 ज्योतिषि समभावमापन्नकृष्णतारयुगङ्गं दृढं संयोज्य अवलोक्य किञ्चित्

भुवो ऊर्ध्वसुखमध्य उच्चोत्सेपणं कृत्वा अथ सहस्रारविलसिततुरीयं  
तत्कलनाविरक्ततुरीयातीतं वा स्वावशेषविद्या पश्येदिति शोषः । “तारं ज्योतिषि  
संयोज्य” इति यो दर्शितः “अन्तर्लक्ष्यं” इत्यादिपूर्वान्म्यासस्त्वं अवमेव  
मार्गः क्षणादुन्मनीकारकः निर्विकल्पकब्रह्मावापतिहेतुरिलर्थः ॥ १७ ॥  
यस्मादेवं स्मान् । ततोन्मनीभवति निर्व्यापारं मनो भवतीलर्थः । ततः  
किमित्यत आह—तत इति । योगनिद्रा निर्विकल्पभावापतिः । ततो व्युत्थान-  
शङ्कां वारयति—लब्धेति । एवं लब्धयोगनिद्रस्य योगिनः निर्विकल्पकतो  
व्युत्थापककालो नास्ति ॥ १७—१ ॥

कालापरिच्छन्नवद्यप्राप्तिसाधनम्

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं च मनमध्यगाम् ।

मनसा मन आलोक्य शाण्डिल्य त्वं सुखी भव ॥ १८ ॥

स्वमध्ये कुरु आत्मानमात्ममध्ये च स्वं कुरु ।

सर्वं च स्वमयं कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तय ॥ १९ ॥

कालापरिच्छन्ननिर्विकल्पकब्रह्मावापत्युपायमाह—शक्तीति । कुण्ड-  
लिनीशक्तिमध्ये मनः कृत्वा मनोलयं कृत्वा ततः कुण्डलिनीशक्तिं,  
चशब्दात् दृष्टि, मनमध्यगां मनःप्रवृत्तिनिमित्प्रलक्ष्यचैतन्यपर्यवसनां कृत्वा  
प्रत्यभावापनेन मनसा, मनः मनोवृत्तिसहस्रभावाभावप्रकाशकप्रत्यगभिन्नं  
ब्रह्म अहमस्मीत्यालोक्य हे शाण्डिल्य त्वं तन्मात्रावस्थानलक्षणैवल्यसुखी  
भवेत्यर्थः ॥ १८ ॥ प्रकारान्तरमाह—स्वमध्ये इति । चित्स्वमध्ये  
आत्मानमन्तःकरणं कुरु आत्मान्तःकरणमध्ये च स्वं कुरु । एवं  
व्यतिहोरेण सर्वं चित्स्वमयं कृत्वा चिदकाशातिरिक्तं न किञ्चिदस्ति इति  
चिन्तय ॥ १९ ॥

मनोविलापनेन कैवल्यप्राप्तिः

बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तिका ।

सर्वचिन्तां परित्यन्य चिन्मात्रपरमो भव ॥ २० ॥

कर्पूरमनले यद्वत् सैन्धवं सलिले यथा ।

तथा च लीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते ॥ २१ ॥

ज्ञेयं <sup>१</sup>सर्वप्रतीतं च तज्ज्ञानं मन उच्यते ।

ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पन्था द्वितीयकः ॥ २२ ॥

ज्ञेयवस्तुपरि<sup>२</sup>त्यागे विलयं याति मानसम् ।

मानसे विलयं याते कैवल्यमवशिष्यते ॥ २३ ॥

बाह्यान्तरवृत्त्यावृत्तस्य कथं चिदाकाशदृष्टिः उदेतीत्यत आह—बाह्येति ॥ २० ॥ निष्प्रतियोगिकचिन्मात्रावगतेः अन्तर्बाह्यविभागकलनापहवपूर्वकत्वात् ज्ञेयसामान्यासम्भवप्रबोधसमकालं योगी कैवल्यरूपेण अवशिष्यते इत्याह—कर्पूरमिति । दग्धकर्पूरवत् जलगतसैन्धवपिण्डवच्च जाग्रदाद्यवस्थात्रयलीयमानं मनः स्वरूपध्यानसंस्कृतं सत्प्रपञ्चविमुखं भूत्वा स्वतत्त्वे ब्रह्मणि लीयते ॥ २१ ॥ प्रपञ्चतद्वोचरज्ञेयज्ञानसत्त्वात् कथं मनः स्वतत्त्वे विलीयते इत्यत आह—ज्ञेयमिति । सर्वत्र स्वातिरेकेण प्रतीयत इति सर्वप्रतीतम् । अविद्यापददशब्दात् जाग्रदादितत्कार्यप्रपञ्च उच्यते । तत् सर्वं ज्ञेयशब्दार्थः तद्वोचरं मनः ज्ञानमुच्यते । “ब्रह्मातिरिक्तं न किञ्चिदस्ति” इति यज्ञानसमकालं ज्ञानं ज्ञेयं समं युगपञ्चष्टं भवति अयमेव अद्वितीयब्रह्मप्रापकः पन्थाः नातोऽन्यः कथिदस्तीत्यर्थः ॥ २२ ॥ युगपत् कथं लीयते इत्यत आह—ज्ञेयेति ॥ २३ ॥

<sup>१</sup> सर्व—अ, अ २, क.

<sup>२</sup> त्यागाद्वि—क, अ १, अ २.

योगज्ञानाभ्यां मनोलयः

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं मुनीभर ।  
 योगस्तु वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥ २४ ॥  
 तस्मिन्निरोधिते नूनमुपशान्तं मनो भवेत् ।  
 मनःस्पन्दोपशान्त्यायां संसारः प्रविलीयते ॥ २५ ॥  
 सूर्यैलोकपरिस्पन्दशान्तौ व्यवहृतिर्यथा ।

कथं पुनः मानसं विलीयते इत्याशङ्क्य प्रत्यगभिन्नब्रह्मगोचरयोगज्ञानाभ्यां  
 मानसं विलीयते इति सदृष्टान्तमाह—द्वाविति । योगस्तु स्वातिरिक्तस्तित्व-  
 गोचरतच्चित्तवृत्तिरोधः, ज्ञानं ब्रह्मातिरिक्तं न किञ्चिदस्तीति सम्यगवेक्षणम्  
 ॥ २४ ॥ यः स्वातिरिक्तमस्तीति भ्रम उदेति तस्मिन् । संसारे सति कथं  
 मनः शास्त्रीयत्वे—मन इति । मनःस्पन्दोपशान्त्यायामित्यस्य मनःस्पन्दोप-  
 शान्ताविल्यर्थः । “मनःस्पन्दोपशान्त्याऽयं” इत्येकं पाठान्तरमपि वर्तते ।  
 संसारः प्रविलीयते, संसारस्य मनःकल्पतत्वात् कल्पकाभावे कल्प्याभावो  
 युज्यते इत्यर्थः ॥ २५ ॥ अत्र दृष्टान्तः—सूर्येति ॥

मनोलयात् प्राणस्पन्दनिरोधः

शास्त्रसज्जनसंपर्कैराग्याभ्यासयोगतः ॥ २६ ॥  
 अनास्थायां कृतास्थायां पूर्वं संसारवृत्तिषु ।  
 यथाऽभिवाञ्छितध्यानाञ्चिरमेकतयोदितात् ॥ २७ ॥  
 एकतत्त्वद्वाद्यासात् प्राणस्पन्दो निरुद्यते ।

स्वाज्ञानविकल्पतमनःस्पन्दस्य प्राणस्पन्दनपूर्वकत्वात् । यत एवमतः  
 तच्छान्ताद्युपाय उच्यते—शास्त्रेति ॥ २६ ॥ अनास्थायां निवृत्तिमार्गे

<sup>1</sup> स्त्रवृत्ति—क, अ १, अ २.

<sup>2</sup> लक्ष—क, अ २.

कृतास्थायां सत्यं ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्येति ज्ञानमुदेति । ततः  
यथेति ॥ २७ ॥

प्राणस्पन्दनिरोधात् मनःस्पन्दनिरोधः

पूरकाद्यनिलायामाहृदाभ्यासादवेदजात् ॥ २८ ॥

एकान्तध्यानयोगाच्च मनःस्पन्दो निरुद्ध्यते ।

मनःस्पन्दशान्तिः कथमित्यत्र—पूरकेति ॥ २८ ॥ प्राणस्पन्दशान्ति-  
समकालं मन इति ॥

प्राणस्पन्दनिरोधविविधोपायाः

ओङ्कारोच्चारणप्रान्तशब्दतत्त्वानुभावनात् ।

सुषुप्ते <sup>१</sup>संविदो जाते प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ २९ ॥

तालुमूलगतां यद्बाज्जिह्याऽक्रम्य घण्टिकाम् ।

ऊर्ध्वरन्ध्रं गते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ ३० ॥

प्राणे गलितसंविचौ तालूर्ध्वद्वादशान्तगे ।

अभ्यासादूर्ध्वरन्ध्रेण प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ ३१ ॥

द्वादशाङ्कुलर्पर्यन्ते नासाग्रे विमलाम्बरे ।

संविदृशि प्रशाम्यन्त्यां प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ ३२ ॥

भ्रूमध्ये तारकालोकशान्तावन्तमुपागते ।

चेतनैकतनं बद्धे प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ ३३ ॥

ओमित्येव यदुद्धूतं <sup>२</sup>ज्ञानं ज्ञेयात्मकं शिवम् ।

असंस्यृष्टृविकारांशं प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ ३४ ॥

<sup>१</sup> सं—अ, अ १.    <sup>२</sup> ज्ञाने—अ २.    <sup>३</sup> विकल्पां—अ, अ १, अ २, क.

चिरकालं हृदयकान्तव्योमसंबेदना<sup>१</sup>न्मुनं ।

अवासनमनोध्यानात् प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ ३९ ॥

एभिः क्रैस्तवाच्यैश्च नानासंकल्पकल्पितैः ।

नानादेशिकवक्रस्थैः प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ ३६ ॥

प्लुतप्रणवानुसन्धानेनापि प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ह्याह—ओङ्कारेति ।  
 ओंकार. . . भावनात् कांस्यवणटानिनादवत् प्रणवनादानुसन्धानात् ।  
 बाह्यान्तर्भवसंविदौ विषयज्ञानततेः सुषुप्ते जाते सति अथ प्राणेति ॥ २९ ॥  
 लम्बिकयाऽपि प्राणस्पन्दशान्तिः स्यादित्याह—तालिवति । तदुपायतः  
 ऊर्ध्वरन्धं गते ॥ ३० ॥ राजयोगाभ्यासपाठवतः प्राण इति । षण्मुखीमुद्द्या  
 गल्पितसंवित्तौ विगल्पितबाह्यान्तःसंवित्कलनायां सत्यां अभ्यासान् तालूर्ध्व-  
 रन्ध्रेण प्राणे तालूर्ध्वविलसितद्वादशान्तं सहस्राचक्रं गते सति अथ  
 प्राणेति ॥ ३१ ॥ बहिःकुम्भकेनापि प्राणजयः स्यादित्याह—द्वादशेति ।  
 संविदृशि प्रशास्यन्त्यां स्वातिरिक्तविषयवृत्तौ नष्टायाम् ॥ ३२ ॥ तारकानुसन्धा-  
 नतोऽपि भ्रूमध्ये । तारकालोकनशान्तौ सत्याम् । तारकालोकनं कर्तव्यमिति  
 सङ्कल्पे अन्तमुपागते अथ मनसि चेतनैकताने, चेतने प्रतीचि एकताने  
 बद्धे एकतानतया बद्धे मनोन्मनीभावं गते सति, अथ प्राणेति ॥ ३३ ॥  
 ब्रह्मज्ञानेनापि प्राणस्पन्दशान्तिः स्यादित्याह—ओमिति । तदेव चाहं सकलं  
 विमुक्त ओमिति ओङ्कारार्थविचारणसज्ञातासंस्पृष्टविकारांशक्षानसमकालं प्राणेति  
 ॥ ३४ ॥ ध्यानात् वासनाक्षयाच्च प्राणस्पन्दशान्तिः स्यादित्याह—  
 चिरेति । हृदा एकान्तव्योमसंबेदनात् “चिद्रथोमातिरिक्तं न किञ्चिदस्ति”  
 इति ज्ञानात् वासना क्षीयते । ततो ध्येयैकगोचरं मनो भवति । प्राणस्पन्दशान्तिः  
 भवेदित्यर्थः ॥ ३५ ॥ उक्तैरुक्तैर्वा उपायैः चिरानुष्ठितैः प्राणस्पन्दशान्तिः  
 स्यादित्याह—एभिरिति ॥ ३६ ॥

<sup>१</sup> न्मुखे—क.

कुम्भकेन सुषुम्नाभेदनद्वारा परमपदगमनम्

आकुञ्जनेन कुण्डलिन्याः कवाटमुद्धाव्य मोक्षद्वारं विभेदयेत्

॥ ३६-१ ॥ येन मार्गेण गन्तव्यं तद्वारं मुखेनाच्छाद्य <sup>१</sup>प्रसुसा कुण्डलिनी कुटिलाकारा सर्पवद्वेषिता भवति ॥ ३६-२ ॥ सा शक्तियेन चालिता स्यात् स तु मुक्तो भवति । सा कुण्डलिनी कण्ठोर्ध्वभागे सुसा चेद्योगिनां मुक्तये भवति । बन्धनायाधो मूढानाम् ॥ ३६-३ ॥ इडादिमार्गद्वयं विहाय सुषुम्नामार्गेण गच्छेत्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ३६-४ ॥

प्राणस्पन्दनिरोधलक्षणकेवलकुम्भकतो योगी कुण्डलिन्या सुषुम्नावदनं भेदयेदित्याह—आकुञ्जनेनेति । सुषुम्नाकवाटम् । मोक्षद्वारं ब्रह्मरन्धं विभेदयेत् ॥ ३६-१ ॥ मोक्षद्वारभेदककुण्डलिनीस्वरूपं तच्चालनफलं चाह—येनेति ॥ ३६-२, ३ ॥ यत एवं अतः इडादीति । सुषुम्नायाः विष्णुपदासिद्वारत्वात् ॥ ३६-४ ॥

मनोयुक्तप्राणस्य सुषुम्नाप्रवेशनविधिः

मरुदम्यसनं सर्वं मनोयुक्तं समम्यसेत् ।

इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥ ३७ ॥

दिवा न पूजयेद्विष्णुं रात्रौ नैव प्रपूजयेत् ।

सततं पूजयेद्विष्णुं दिवारात्रं न पूजयेत् ॥ ३८ ॥

मनोयोगाभ्यासः फलवानित्यर्थः ॥ ३७ ॥ मनोयुक्तप्राणं इडादिमार्गद्वयम-प्रापयित्वा महापथव्यापृतं कुर्यादित्याह—दिवेति । मनोयोगतो विष्णुं प्राणं

<sup>१</sup> सुसासुस—अ, अ १.

दिवा सूर्यनाड्यां न पूजयेत् न व्यापारयेत् । तथा चन्द्रनाड्यां रात्रौ नैव प्रपूजयेत् । ततः अव्याकृताकाशं तेन पूरितं सूक्ष्माऽऽस्त्वयं महापर्यं प्रति विष्णुं पूजयेत् । कदाचपि दिवारात्रं न पूजयेदित्यर्थः ॥ ३८ ॥

खेचरीमुद्राप्राप्तिः

सुषिरो ज्ञानजनकः पञ्चस्रोतःसमन्वितः ।

तिष्ठते खेचरी मुद्रा त्वं हि शाणिडल्य तां भज ॥ ३९ ॥

सव्यदक्षिण<sup>१</sup>नाढीस्थो मध्ये चरति मारुतः ।

तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् स्थाने न संशयः ॥ ४० ॥

इडापिङ्गलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ।

तिष्ठन्ती खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥ ४१ ॥

सोमसूर्यद्वयोर्मध्ये निरालम्बतले पुनः ।

संस्थिता व्योमचक्रे सा मुद्रा नाम च खेचरी ॥ ४२ ॥

सुषुम्नाप्रवेशतः किं स्यादिलाङ्गाङ्गश्च तत्र खेचरीमुद्रा वर्तते तत्साक्षात्कारात् कृतकृत्यो भवसील्याह—सुषिर इति । यत्र सुषुम्नामध्ये सुषिरः विराङ्गादितुरीयातीतान्तपञ्चस्रोतस्समन्वितः सन् मूलाधारानाहताङ्गासहस्रारेषु योगिनः क्रमेण विराङ्गादिज्ञानजनको भवति तत्रैव खेचरीमुद्रा निर्विकल्पकरूपिणी वर्तते । मत्प्रसादतः तां त्वं भजेत्यर्थः ॥ ३९ ॥ उक्तार्थमेव पुनः पुनः शब्दान्तरेण विशद्यति—सव्योति ॥ ४० ॥ शून्यशब्देन अव्याकृतमाकाशमुच्यते, आकाशस्य वायुप्रासत्वात् ॥ ४१ ॥ व्योमचक्रस्य निरालम्बत्वात् ॥ ४२ ॥

<sup>१</sup> नासि—अ.

बाह्यखेचरीसिद्धयुपायः

छेदनचालनदोहैः १कलां परां जिहां कृत्वा दृष्टि भ्रूमध्ये  
स्थाप्य कपालकुहरे जिहा विपरीतगा यदा भवति तदा खेचरी  
मुद्रा जायते । जिहा चित्तं च से २चरति । तेनोर्ध्वजिह्वः  
पुमानमृतो भवति ॥ ४२-१ ॥

बाह्यखेचरीसिद्धयुपायमाह—छेदनेति । प्रतिभानुवासरं षण्मासावधि  
स्नुहिपत्रनिभश्वेण रोममात्रं जिह्वासिराच्छेदनेन प्रतिब्राह्मे मुहूर्ते जिह्वाचालनतः  
प्रातः सैन्धवपथ्याचूर्णतो दोहैः कलां परां सूक्ष्मां जिहां कृत्वा दृष्टिशुगमं  
भ्रूमध्ये स्थाप्य घण्टिकारन्ध्रेण कपालकुहरे जिहा विपरीतगा यदा  
भवति तदा खेचरीमुद्रा उदेति । सहस्रागजिह्वाप्रवेशतो योगी कृतकृत्यो  
भवतीत्यर्थः ॥ ४२-१ ॥

अभ्यासकाले प्राणजयोपायः

वामपादमूलेन योर्नि संपीड्य दक्षिणपादं प्रसार्य तं कराभ्यां  
धृत्वा नासाभ्यां वायुमापूर्य कण्ठबन्धं समारोप्योर्ध्वतो वायुं  
धारयेत् । तेन सर्वक्लेशहानिः । ततः पीयूषभिव विषं जीर्यते ।  
क्षयगुल्मगुदावर्तजीर्णत्वगादिदोषा नश्यन्ति । एष प्राणजयोपायः  
सर्वमृत्यूपत्रातकः ॥ ४२-२ ॥

अभ्यासकाले प्राणजयोपायमाह—वामेति । महामुद्राऽभ्यासेन  
तेन ॥ ४२-२ ॥

<sup>१</sup> फलां—मु.

<sup>२</sup> चरी—अ २.

स्वात्मापरोक्षसिद्धुपायः

वामपादपार्थिं योनिस्थाने नियोज्य दक्षिणचरणं वामोरुपरि  
संस्थाप्य वायुमापूर्य हृदये चुबुकं निधाय योनिमाङ्कुष्ठ्य  
मनोमध्ये यथाशक्ति धारयित्वा स्वात्मानं भावयेत् । तेनापरो-  
क्षसिद्धिः ॥ ४२-३ ॥

स्वात्मापरोक्षसिद्धुपायमाह—वामेति । स्वात्मानं ब्रह्माहमस्मीति  
भावयेत् । सिद्धिः भवति ॥ ४२-३ ॥

सर्वरोगविनिर्मोक्षाधनं धारणाविशेषः

बाह्यात् प्राणं समाङ्कुष्ठ्य पूरयित्वोदरे स्थितम् ।

नाभिमध्ये च नासाग्रे पादाङ्कुष्ठे च यत्नतः ॥ ४३ ॥

धारयेन्मनसा प्राणं सन्ध्याकालेषु वा सदा ।

सर्वरोगविनिर्मुक्तो भवेद्योगी गतक्षमः ॥ ४४ ॥

धारणाविशेषमाह—बाह्यादिति ॥ ४३-४४ ॥

नासाग्रादिषु संयमेन विविधसिद्धयः

नासाग्रे वायुविजयं भवति । नाभिमध्ये सर्वरोगविनाशः ।

पादाङ्कुष्ठधारणाच्छरीरलघुता भवति ॥ ४४-१ ॥

रसनाद्वायुमाङ्कुष्ठ्य यः पिषेत् सततं नरः ।

श्रमदाहौ तु न स्यातां नश्यन्ति व्याघ्रस्तथा ॥ ४९ ॥

सन्ध्ययोर्ब्राह्मणः <sup>१</sup>काले वायुमाङ्कुष्ठ्य यः पिषेत् ।

त्रिमासात्स्य कल्याणी जायते वाक् सरस्तती ॥ ४६ ॥

<sup>१</sup> काले—क.

एवं पण्मासाभ्यासात् सर्वरोगनिवृत्तिः ॥

जिह्या वायुमानीय जिहामूले निरोधयेत् ।

यः पिबेदमृतं विद्वान् सकलं भद्रमशुते ॥ ४७ ॥

आत्मन्यात्मानमिडया धारयित्वा भ्रुवोऽन्तरे ।

विभेद्य त्रिदशाहारं व्याधिस्थोऽपि विमुच्यते ॥ ४८ ॥

<sup>१</sup>नाडीभ्यां वायुमारोप्य नाभौ तुन्दस्य पार्श्वयोः ।

घटिकैकां वहेदस्तु व्याधिभिः स विमुच्यते ॥ ४९ ॥

मासमेकं त्रिसन्ध्यं तु जिह्याऽरोप्य मारुतम् ।

विभेद्य त्रिदशाहारं धारयेत्तुन्दमध्यमे ॥ ५० ॥

ज्वराः सर्वे विनश्यन्ति विषाणि विविधानि च ।

मुहूर्तमपि यो नित्यं नासाग्रे मनसा सह ॥ ५१ ॥

सर्वं तरति पाप्मानं तस्य जन्मशतार्जितम् ।

<sup>२</sup>तारसंयमात् सकलविषयज्ञानं भवति । नासाग्रे चित्तसंयमादिन्द्रलोकज्ञानम् । तदधिक्षितसंयमादग्निलोकज्ञानम् । चक्षुषि चित्तसंयमात् सर्वलोकज्ञानम् । श्रोत्रे चित्तस्य संयमाद्यमलोकज्ञानम् । तत्पार्थे संयमान्त्रिक्तिलोकज्ञानम् । पृष्ठभागे संयमाद्वरुणलोकज्ञानम् । वामकणे संयमाद्वायुलोकज्ञानम् । कण्ठे संयमात् सोमलोकज्ञानम् । वामचक्षुषि संयमाच्छिवलोकज्ञानम् । मूर्भिं संयमाद्वायालोकज्ञानम् । पादाधोभागे संयमादतललोकज्ञानम् । पादे संयमाद्वितललोकज्ञानम् । पादसन्धौ संयमान्तितललोकज्ञानम् । जड्डे संयमात्सुतललोकज्ञानम् । जानौ संयमान्महातललोकज्ञानम् । उरौ चित्तसंयमाद्वायाललो-

<sup>१</sup> नाडीभ्यां—अ,

<sup>२</sup> तारचित्तसं—उ.

कज्ञानम् । कटौ चित्तसंयमात्तलात्तलोकज्ञानम् । नाभौ चित्तसं-  
यमाद्गुलोकज्ञानम् । कुक्षौ संयमाद्गुवर्लोकज्ञानम् । हृदि  
चित्तसंयमात् स्वर्लोकज्ञानम् । हृदयोर्ध्वभागे चित्तसंयमान्महर्लो-  
कज्ञानम् । कण्ठे चित्तसंयमाज्जनोलोकज्ञानम् । भ्रूमध्ये चित्तसंयमात्त-  
पोलोकज्ञानम् । मूर्धि चित्तसंयमात् सत्यलोकज्ञानम् । धर्माधर्मसंयमाद-  
तीतानागतज्ञानम् । तत्तज्जन्तुध्वनौ चित्तसंयमात् सर्वजन्तुरुतज्ञानम् ।  
संचितकर्मणि चित्तसंयमात् पूर्वजातिज्ञानम् । परचिते चित्तसंयमात्  
परचितज्ञानम् । कायरूपे चित्तसंयमादन्यादृश्यरूपम् । बले चित्त-  
संयमाद्गुमदादिवलम् । सूर्ये चित्तसंयमाद्गुवनज्ञानम् । चन्द्रे  
चित्तसंयमात्तारव्यूहज्ञानम् । ध्रूवे तद्गतिर्दर्शनम् । <sup>१</sup>स्वार्थसंयमात्  
पुरुषज्ञानम् । नाभिचके कायव्यूहज्ञानम् । कण्ठकूपे क्षुत्पिपासा-  
निवृत्तिः । कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् । तारे सिद्धदर्शनम् । कायाकाशसंय-  
मादाकाशगमनम् । तत्तत्स्थाने संयमात्तत्सिद्धयो भवन्ति ॥९२॥

नासाप्रादिकायाकाशान्तसंयमाद्विचित्रसिद्धयो भवन्तीत्याह—नासाप्र  
इति । नासाप्रे वायुधारणात् ॥ ४४-१ ॥ रसनात् रसनया ॥ ४५-४७ ॥  
चन्द्रमण्डलं विमेद्य । त्रिदशाहारं अमृतं पीत्वा ॥ ४८-५० ॥ मनसा सह  
यो लक्ष्यं पश्यति ॥ ५१ ॥ तारसंयमात् तारकचित्तसंयमात् भवतीति  
सर्वत्रानुवर्तते । जंघे जंघायाम् । इत्थंभूतसिद्धिः पुरुषार्थसाधनगिति चेन्न,  
सिद्धेः पुरुषार्थपरिपन्थित्वात् । न हि स्वातिरेकेण स्वपरशरीरचतुर्दशलोकताद्वि-  
षयकज्ञानं वाऽस्ति । तस्मात् मुमुक्षुभिः सिद्धिमार्गो नार्तव्यः इत्यर्थः ॥

इति सप्तमः स्वर्णः

<sup>१</sup> स्वार्थे—क, अ ३.

पञ्चविधप्रत्याहारः

अथ प्रत्याहारः । स पञ्चविधः । विषयेषु विचरतामिन्द्रियाणां  
कलादाहरणं प्रत्याहारः । यद्यस्य ति<sup>१</sup> तत्सर्वमात्मेति प्रत्याहारः ।  
नित्यविहितकर्मफलत्यागः प्रत्याहारः । सर्वविषयपराङ्गुस्त्वं  
प्रत्याहारः । अष्टादशसु मर्मस्थानेषु क्रमाद्वारणं प्रत्याहारः  
॥ १ ॥ पादाङ्गुष्ठगुल्फजन्माजानूरुपायुमेदूनाभिहृदयकण्ठकूपतालुना-  
साक्षिभ्रूमध्यललाटमूर्धि स्थानानि । तेषु क्रमादारोहावरोहकमेण  
प्रत्याहरेत् ॥ २ ॥

यमनियमासनप्राणायामप्रासंगिकप्रगमार्थोपदेशतप्रतिपन्थनाविधसिद्धिः  
प्रतिपाद्य अथ योगांगप्रकृतप्रत्याहारमाच्छे—अथेति । स्वस्वविषयतो बलात् ।  
क्रमाद्वारणं, धारणं हारणं संक्रमणं प्रत्याहारः ॥ १ ॥ मर्मस्थानानि कानीत्यत्र  
पादेति ॥ २ ॥

इत्यष्टमः खण्डः

पञ्चविधाः धारणाः

अथ धारणाः । <sup>२</sup>स पञ्चविधः । आत्मनि मनोधारणं  
दहराकाशे बाद्याकाशाधारणं पृथिव्यसेजोवायवाकाशेषु पञ्चमूर्तिधारणं  
चेति ॥

स पञ्चविधः ताः पञ्चविधाः । पञ्चब्रह्म-पञ्चमूर्तिधारणम् ॥

इति नवमः खण्डः

<sup>१</sup> तत्त्वस्त्र—अ.

<sup>२</sup> सा विधा—मु.

द्विविधं ध्यानम्

अथ ध्यानम् । तद्विधं सगुणं निर्गुणं चेति । सगुणं  
मूर्तिध्यानम् । निर्गुणमात्मयाथात्म्यम् ॥

अनात्मपद्मवसिदात्ममात्रावशेषो हि आत्मयाथात्म्यम् ॥

इति दशमः स्तुष्टः

समाधिस्त्वरूपम्

अथ समाधिः । जीवात्मपरमात्मैक्यावस्था त्रिपुटीरहिता  
परमानन्दस्वरूपा शुद्धचैतन्यात्मिका भवति ॥

तूलाविद्योपाधिको जीवः मूलाविद्योपाधिकः परमात्मा तयोरौपाधिक-  
विशेषांशापायात् प्रत्यक्परैक्यं यस्यामाभाति सेयं जीवात्मपरमात्मैक्यावस्था  
निर्विकल्पकरूपिणीलर्थः । त्रिपुद्यां सत्यां निर्विकल्पता कुत इत्यत आह—  
त्रिपुटीति । निर्निकल्पकप्रकृतेः त्रिपुद्यादिविकृतिप्रासत्वात् त्रिपुद्यभावे  
दुःखरूपा स्यादित्यत आह—परमानन्देति । त्रिपुटीदुःखप्रासनिर्विकल्प-  
कस्थितेः परमानन्दस्वरूपत्वात् ऐक्यावस्थाया जडत्वं स्यादित्याशङ्क्य अस्य  
असंप्रज्ञातसमाधिरूपतया शुद्धचैतन्यतामाह—शुद्धेति । अत्र जीवात्मपरमात्मै-  
क्यावस्थाशब्देन असंप्रज्ञातसमाधिरूप्यते इतर्थः ॥

इत्येकादशः स्तुष्टः

इति प्रथमोऽध्यायः

## द्वितीयोऽध्यायः

निर्विशेषब्रह्मस्वरूपम्

अथ ह शाण्डिल्यो ह वै ब्रह्मऋषिश्चतुर्षु वेदेषु ब्रह्म-  
विद्यामलभमानः किं नामेत्यर्थर्वाणं भगवन्तमुपसङ्गः पप्रच्छ अधीहि  
भगवन् ब्रह्मविद्या येन श्रेयोऽवाप्न्यामीति ॥ १ ॥ स होवाचार्थर्वा  
शाण्डिल्य सत्यं विज्ञानमनन्तं ब्रह्म ॥ २ ॥

अष्टांगयोगच्छ्लेन स्वात्मतत्त्वं श्रुत्वाऽपि यथावदनधिगततया निष्प्रति-  
योगिकनिर्विशेषब्रह्ममनज्ञानव्युभुत्सया शाण्डिल्यः पुनः अर्थर्वाणं पृच्छतीत्याह—  
अथेति । वेदेषु अर्थतोऽवधारितेष्वपि निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रविद्याम् । किनाम  
ब्रह्म । प्रप्रच्छ—किमिति ? अधीहि । येन त्वदुपदेशेन ॥ १ ॥ शाण्डिल्येनवं  
पृष्ठः स होवाच । किं नाम ब्रह्मेति प्रश्नोत्तरं—शाण्डिल्येति । सत्यं  
विज्ञानमनन्तं ब्रह्म इति तत्तिरीयके सम्यक् व्याख्यातमेतत् ॥ २ ॥

ब्रह्मणः अनिर्देश्यत्वम्

यस्मिन्निदिमोतं च प्रोतं च यस्मिन्निदं संच विचैति सर्वं  
यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति तदपाणिपादमचक्षुः-  
श्रोत्रमजिह्वमशरीरमग्राहमनिर्देश्यम् ॥ ३ ॥

यत् सर्वाधिकरणं तदनिर्देश्यमित्याह—यस्मिन्निति । इदं अविद्यापद-  
तत्कार्यजातं यत्र ओतप्रोतभावमेत्य संच विचैति सङ्क्लोचविकासतां भजति,  
यन्मात्रज्ञानतः इदं स्वातिरिक्तं नेति विज्ञातं भवति, तदेतत्पाणिपादादिमद्ब्रह्मष्टि-  
समष्ट्यात्मकशरीरापह्वसिद्धं तत्त्वेन निर्देष्टुमशक्यत्वात् अनिर्देश्यम् ॥ ३ ॥

ब्रह्मणः अवाह्मानसगोचरत्वम्

यतो वाचो निर्वर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । यत्केवलं  
ज्ञानगम्यम् । प्रज्ञा च यस्मात्प्रसृता पुराणी । यदेकमद्वितीयम् ।  
आकाशशब्दं सर्वगतं सुसूक्ष्मं निरल्पनं निष्क्रियं सन्मात्रं चिदानन्दै-  
करसं शिवं प्रशान्तमसृतं तत् परं च ब्रह्म । तत्त्वमसि तज्जानेन  
हि विजानीहि ॥ ४ ॥

तस्यावाच्चानसगोचरत्वं ज्ञानेकगम्यत्वं प्रज्ञाजनकत्वं अद्वितीयत्वं वस्तुतः  
सच्चिदानन्दमात्रत्वं चाह—यत इति । केवलं ज्ञानगम्यं ज्ञानेतरसाधनैरगम्य-  
भिल्यर्थः, “नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय” इति श्रुतेः । “निर्विकल्प्या  
च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते” इति श्रुतिसिद्धा प्रज्ञा पुराणी,  
आकैवल्यमावस्थायित्वात् । सा यस्मात् प्रसृता विजृम्भिता । यद्वैतन्यमात्रं  
द्वैतादिविकृतिप्रसक्तौ अद्वितीयमित्यादिविशेषणवत् तदभावे “सन्मात्रं  
असदन्यत्” इति श्रुतेः यत्सर्वासदपहवसिद्धनिष्प्रतियोगिकसन्मात्रमविशिष्यते  
तत् । तदेव सर्वं तदतिरिक्तं नास्तीति बुध्यस्वेत्यर्थः ॥ ४ ॥

सर्वस्य परमात्मत्वम्

य एको देव आत्मशक्तिप्रधानः सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्व-  
भूतान्तरात्मा सर्वभूताधिवासः सर्वभूतनिगूढो भूतयोनियोगैकगम्यः ।  
यश्च विश्वं सृजति विश्वं विभर्ति विश्वं मुङ्गे स आत्मा ।  
आत्मनि तं तं लोकं विजानीहि ॥ ५ ॥

कथं पुनस्तद्विद्या सर्वं ज्ञातुं शक्यते तद्विद्यातिरेकेण विश्वकृदीभरसत्त्वादि-  
त्याशङ्क्य यः स्वाक्षर्यष्ठा स्वातिरिक्तेश्वरवत् भातः स एव स्वाक्षर्यष्ठा परमात्मतया

अवशिष्यते इत्याह—मा इति । अस्यानारात्मपद्मवसिद्धात्ममात्रशक्तिः प्रकृतिः  
ग्रथाना मुख्या भवति साक्षित्वेभ्यरुचादिशक्तिस्तु उपसर्जनभूता च भवति  
सोऽयं आत्मशक्तिग्रथानः । उपसर्जनशक्तिमवधृम्य सर्वज्ञ इत्यादि ।  
ईश्वरसाक्षात्कारस्य योगैकसाध्यत्वात् ईश्वरसद्वाविलिंगमाह—यत्वेति । “यस्य  
लिंगं प्रपञ्चं वा स म आत्मा न संशयः” इति श्रुतिसिद्धतटस्थलक्षणेन-  
श्वरास्तित्वमवगम्य तस्मिन् स्वाङ्गसर्पितविशेषापाये यो य ईश्वरः  
साक्षी जीवो जगदिति च व्यपदिष्टः तं तं लोकं निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रमिति  
विजानीहि ॥ ६ ॥

गुरुपदेशातः सर्वात्मत्वज्ञानप्राप्तिः

मा शोचीरात्मविज्ञानी शोकस्यान्तं गमिष्यसि ॥ ६ ॥

कथं एवं ज्ञातुं शक्यमिति मा शुचः मदुपदेशमहिन्ना स्वातिरिक्तास्तिता-  
प्रभवशोकान्तब्रह्म भवसीत्याह—मा शोचीरिति ॥ ६ ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः

## तृतीयोऽध्यायः

ब्रह्मणो वस्तुतः निष्प्रतियोगिकस्वमात्रत्वम्

अथ हैनं शाण्डिल्योऽथर्वाणं प्रच्छ यदेकमक्षरं निष्क्रियं  
शिवं सन्मात्रं परं ब्रह्म । तस्मात् कथमिदं विश्वं जायते कथं  
स्थीयते कथमस्मिष्ठीयते । तन्मे संशयं छेतुमर्हसीति ॥ १ ॥  
स होवाचार्थर्वा सत्यं शाण्डिल्य परब्रह्म निष्क्रियमक्षरमिति ॥ २ ॥

ब्रह्मणो निष्प्रतियोगिकस्यमात्रस्यमुक्तं, ततो विश्वं जायते हति च । निष्प्रतियोगिकस्यमात्रस्ये विश्वहेतुर्वचं न सम्भवति, विश्वहेतुर्वचे निष्प्रतियोगिकस्यं च न सम्भवतात् ब्रह्मातिरिक्तेयोद्युमुत्सया शाणिडल्योऽथर्वाणं पूर्वारीस्याह—अथेति ॥ १ ॥ ब्रह्म तु सन्मात्रप्रकृतिकं तनिष्प्रतियोगिकस्यप्रकृतिं किमा जगज्जन्मस्थितिभंग<sup>१</sup>विकृतिं नैति । वस्तुयाथात्प्याज्ञानतो नितरां संशयाविष्ट-शाणिडल्यप्रश्नोत्तरं स होवाच । हे शाणिडल्य यन्मयोक्तं सन्मात्रं परं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकं स्वातिरेकेण अस्तीति विश्वसनीयविश्वोत्पादस्थितिभंगकार्यकारणविक्रियाऽपहृवसिद्धं परमाक्षगमिति तदेव सत्यम् । तस्य निष्प्रतियोगिकस्ये न हि संशयोऽस्ति स्वाज्ञादिदृष्टिमोहे सत्यसति स्वस्यैकस्यपतया स्थितत्वात् ॥ २ ॥

ब्रह्मणो रूपत्रयम्

अथाप्यस्यारूपस्य ब्रह्मणस्त्रीणि रूपाणि भवन्ति निष्कलं सकलं सकलनिष्कलं चेति ॥ ३ ॥

तथा चेद्विश्वकारणता कुत इत्याज्ञान्य पारमार्थिकस्वज्ञस्वाज्ञदृष्टिवैचित्र्यात् निष्प्रतियोगिकनिष्कलमपि ब्रह्म सप्रतियोगिकनिष्कलवत् सकलवत् सकलनिष्कलवत् भातीत्याह—अथेति ॥ ३ ॥

निष्कलं ब्रह्म

यत्सत्यं विज्ञानमानन्दं निष्क्रियं निरञ्जनं सर्वगतं सुसूक्ष्मं सर्वतोमुखमनिर्देशयममृतमस्ति तदिदं निष्कलं रूपम् ॥ ४ ॥

परमार्थदृष्ट्या यत् निष्प्रतियोगिकनिष्कलमित्युक्तं तत् तिष्ठतु, तदवगतेः सप्रतियोगिककलनाऽपहृवपूर्वकत्वात्,

चिन्मात्रमेव चिन्मात्रमखण्डैकरसं रसम् ।

सर्ववर्जितचिन्मात्रं ब्रह्ममात्रमसन्न हि ॥

<sup>१</sup> विष्णुतितामेति—उ.

इत्यादि श्रुतेः । तत्र आदौ स्वाङ्गदृष्टिमवष्टम्य सप्रतियोगिकनिष्कल्पत्वरूपं विशदयति—यदिति । सत्यज्ञानानन्दाध्युक्तविशेषणानामनृतजडुःखादिग्रतिषेधे-धकत्वेन सप्रतियोगिकत्वं युज्यते, निष्प्रतियोगिकपक्षे तु तदृष्ट्या अपहोतव्य-विषयसामान्यमस्ति नास्तीति विभ्रमस्याप्यपहवं गतत्वात् ॥ ४ ॥

## सकलं ब्रह्म

अथास्य या <sup>१</sup>सहजाऽस्ति विद्या मूलप्रकृतिर्माया लोहितशुक्ल-कृष्णा तया सहजवान् देवः कृष्णपिङ्गलो महेश्वर ईष्टे । तदिदमस्य <sup>२</sup>सकलं रूपम् ॥ ९ ॥

सप्रतियोगिकसकलरूपं स्पष्टयति—अथेति । य एष निष्प्रतियोगिक-निष्कल्पतया अवशिष्टः स एव स्वाङ्गदृष्ट्या सप्रतियोगिकनिष्कल इति ख्यातः । स एवाथ स्वाङ्ग<sup>३</sup>दृष्ट्या विकल्पानन्तरं सर्वेश्वरो भवति । अस्येश्वरत्वहेतुः केत्यत आह—येति । स्वाङ्गदृष्टिसहजा या मूलप्रकृतित्वेन प्रकृता त्रिगुणात्मिका मायाऽस्ति तया सहजवान् देवः त्रिगुणयोगतः कृष्णपिङ्गलो महेश्वरः सर्वेश्वरत्वमवलम्ब्य स्वाङ्गदृष्टिसत्त्वाविद्यापदतत्कार्यजातं ईष्टे । तदिदमस्य सकलं रूपं, ईश्वरस्य निरावृतक्रियाज्ञानेच्छाशक्तिमत्त्वेन स्वदृष्ट्येशितव्यस्वाविद्यापदतत्कार्यवेरल्यात् स्वस्यैव निष्प्रतियोगिकनिष्कलत्वात् अस्य सकलत्वं स्वाङ्गदृष्टिनिष्ठुमेवेत्यर्थः ॥ ९ ॥

## सकलनिष्कलं ब्रह्म

अथैष ज्ञानमयेन तपसा चीयमानोऽकामयत बहु स्यां प्रजा-येते । अथैतस्मात् तप्यमानात् सत्यकामात् त्रीण्यक्षराण्यजायन्त ।

<sup>१</sup> सहजाऽस्त्यविद्या—मु.

<sup>२</sup> सकलनिष्कल—अ २. सकलनिष्कलं—क. सकलं निष्कलं—अ, अ १.

<sup>३</sup> दृष्टिविकल्पानन्तरं—उ,

तिक्ष्णो व्याहृत्यलिपदा गायत्री त्रयो वेदाक्षयो देवाक्षयो वर्णाक्षयो-  
अग्न्यश्च जायन्ते । योऽसौ देवो भगवान् सर्वैर्धर्यसंपन्नः सर्वव्यापी  
सर्वभूतानां हृदये संगिविष्टो मायावी मायथा कृतिः स ब्रह्मा स  
विष्णुः स रुद्रः स इन्द्रः स सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि स एव  
पुरस्तात् स एव पश्चात् स एवोत्तरतः स एव दक्षिणतः स एवाभस्तात् स  
एवोपरिष्टात् स एव सर्वम् । अथास्य देवस्यात्मशक्तिकीडस्य भक्तानु-  
कम्पिनो दत्तात्रेयरूपा सुरूपा तनूवासा इन्दीवरदलप्रस्त्या चतुर्बाहु-  
रघोरापापकाशिनी । तदिदमस्य सकलनिष्कलं रूपम् ॥ ६ ॥

अर्धस्वज्ञदृष्टिमवदस्य सकल्लक्ष्यरूपप्रपञ्चनपूर्वकं सकलनिष्कल्लक्ष्यरूपमाच्छेद-  
रथेति । आद्यन्तयोः सकलं मध्ये निष्कलं यत्र दृश्यते तत्  
सकलनिष्कल्लक्ष्यरूपम् । तत्रादौ ईश्वर एकोऽपि तपसा चीयमानो वर्धमानः  
सन् बहु स्यां प्रजायेय इति बहुभु[भ]वनसङ्कल्पं कृतवान् । एवं  
सत्यसङ्कल्पात्तस्मादीश्वरात् अकारोकारमकारभेदेन श्रीण्यक्षराण्यजायन्त—  
इति सर्वत्र वचनानुरोधेन ऊहाम् । भूरादिभेदेन तिक्ष्णो व्याहृत्यः,  
पदन्त्रयात्मिका गायत्री, ऋगादिभेदेन त्रयो वेदाः, ब्रह्मादिभेदेन त्रयो  
देवाः, ब्राह्मणादिभेदेन त्रयो वर्णाः, गार्हपत्यादिभेदेन त्रयोऽभ्यश्च  
जायन्ते । सोऽयमीश्वरो निरवधिकविभूतिसम्पन्नः स्वेन अन्तर्यामिल्लिपेण  
सर्वव्यापी सर्वभूतहृदासनः । तस्याकृतिमत्वं मायथा, न स्वतः, स्वतो  
निराकृतित्वात् । ब्रह्मादिरूपेणापि स एव वर्तते । दिविवदिगधश्चोर्ध्वं चापि  
स एव । दत्तात्रेयरूपेणापि स एव वर्तते । सुरूपा तनूः अवासाः इति  
विशेषणतोऽस्या अवधूतत्वमवगम्यते, “जडभरतदत्तात्रेयरैवतक-ऋभुनिदाघ”  
इति श्रुतेः । एवं अर्धस्वज्ञदृष्टशनुरोधेन सकलनिष्कल्लक्ष्यरूपं प्रतिपादितमित्यर्थः ॥

इति प्रथमः खण्डः

<sup>1</sup> सकलमाहलं—अ २. सकलसंह—अ, अ १, क.

## सन्मात्रस्य परब्रह्मत्वनिर्वचनम्

अथ हैनयर्थवाणं शाष्ठिल्यः पग्रच्छ भगवन् सन्मात्रं  
चिदानन्दैकरसं कस्मादुच्यते परं ब्रह्मेति ॥ १ ॥ स होवाचाथर्वा  
यस्मात् बृहति बृहयति च सर्वं तस्मादुच्यते परं ब्रह्मेति ॥ २ ॥

ब्रह्मणः सन्मात्रत्वं परब्रह्मत्वं आत्मत्वं महेश्वरत्वं च कथमिति  
शाष्ठिल्योऽर्थवाणं पृच्छति, भगवान्यर्थवाऽपि तत्प्रश्नपूरणं कृतवानित्याह—  
अथेति । निष्प्रतियोगिकसचिदानन्दमात्रं कस्मात् ॥ ३-८ ॥

## सन्मात्रस्य आत्मत्वनिर्वचनम्

अथ कस्मादुच्यते आत्मेति ॥ ३ ॥ यस्मात् सर्वमामोति  
सर्वमादत्ते सर्वमत्ति च तस्मादुच्यते आत्मेति ॥ ४ ॥

## सन्मात्रस्य महेश्वरत्वनिर्वचनम्

अथ कस्मादुच्यते महेश्वर इति ॥ ५ ॥ यस्मान्महत ईशः  
शब्दध्वन्या चात्मशक्तया <sup>१</sup>तस्मादुच्यते महेश्वर इति ॥ ६ ॥

## सन्मात्रस्य दत्तात्रेयत्वनिर्वचनम्

<sup>२</sup>अथ कस्मादुच्यते दत्तात्रेय इति ॥ ७ ॥ यस्मात् सुदुश्वरं  
तपस्तप्यमानायात्रये पुत्रकामायातितरां तुष्टेन भगवता ज्योतिर्मर्ये-

<sup>१</sup> सर्वमीष्टे तस्मा—क.

<sup>२</sup> ७, ८, ९१, ९२, ९३,—एवमङ्गितवाक्यानि मुद्रित(क)कोशयोरेव दृश्यन्ते.

नात्मैव दत्तो यस्याक्षानसूयायामत्रेस्तनयोऽभवत्स्यादुच्यते दत्तात्रेय  
इति ॥ ८ ॥

निरुक्तिवदनफलम्

अथ योऽस्य निरुक्तानि वेद स सर्व वेद ॥ ९ ॥ अथ यो  
ह वै विद्यैनं परमुपास्ते सोऽहमिति स ब्रह्मविद्वति ॥ १० ॥  
अत्रैते क्षोका भवन्ति—

दत्तात्रेयं शिवं शान्तमिन्द्रनीलनिर्भं प्रसुम् ।

आत्ममायारतं देवमवधूतं दिग्म्बरम् ॥ ११ ॥

भस्मोद्भूलितसर्वाङ्गं जटाजूटधरं विसुम् ।

चतुर्बाहुमुदाराङ्गं प्रफुल्कमलेक्षणम् ॥ १२ ॥

ज्ञानयोगनिर्धि विश्वगुरुं योगिनप्रियम् ।

भक्तानुकम्पिनं सर्वसाक्षिणं सिद्धसेवितम् ॥ १३ ॥

एवं यः सततं ध्यायेद्वेदेवं सनातनम् ।

स मुक्तः सर्वपापेभ्यो निःश्रेयसमवामुयात् ॥ १४ ॥

इत्यों सत्यमित्युपनिषत् ॥ १५ ॥

उक्तनिरुक्तत्रयवेदनफलमाह—अथेति । ब्रह्मणः सर्वव्यापकत्वेन  
ब्रह्मवेदनतः सर्ववित्त्वं स्यादित्यर्थः ॥ ९ ॥ य एतद्वास विदित्वोपास्ते स  
तदेव भवतीत्याह—अथेति । विद्य विदित्वेत्यर्थः ॥ १०-१३ ॥ य  
एवमुक्तप्रकारेण सदा देवदेवं परमात्मानं अयमहमस्मीति विदित्वा ध्यायेत्

<sup>1</sup> दत्तसु—क.

स निःश्रेयसं तत्पदमामृथात् ॥ १४ ॥ यत् सत्यमोक्षाराग्रविशेषतमानं सदेव  
भवतीत्यर्थः ॥ इत्युपनिषच्छब्दः शाण्डिल्योपनिषत्समात्यर्थः ॥ १९ ॥

इति द्वितीयः स्तुष्टः समाप्तः, तृतीयोऽन्यायम् ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्वस्योगिना ।  
शाण्डिल्योपनिषद्वाख्या लिखिता ब्रह्मगोचरा ।  
शाण्डिल्योपनिषद्वाख्याप्रन्थस्तु त्रिशतं स्मृतः ॥

इति श्रीमदीशायश्चोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे अष्टपदाशात्संख्यापूर्वकं  
शाण्डिल्योपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

# हंसोपनिषत्

पूर्णमदः—इति शान्तिः

ब्रह्मविद्यासाधनहंसविद्याया अतिगुणत्वम्

गौतम उवाच—

भगवन् सर्वधर्मज्ञं सर्वशास्त्रविशारदं ।

ब्रह्मविद्याप्रभो वो हि <sup>१</sup>येनोपायेन जायते ॥ १ ॥

सनत्कुमार उवाच—

विचार्यं सर्वैर्धर्मेषु मतं ज्ञात्वा पिनाकिनः ।

पार्वत्या कथितं तत्त्वं शृणु गौतम तन्मम ॥ २ ॥

अनाल्येयमिदं गुह्यं <sup>३</sup>योगिने कोशसंनिभम् ।

हंसस्त्वाकृतिविस्तारं मुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥ ३ ॥

हंसाख्योपनिषत्प्रोक्तनादालिङ्गत्र विश्रमेत् ।

तदाधारं निराधारं ब्रह्ममात्रमहं महः ॥

इह खलु हंसोपनिषदः शुल्क्यजुर्वेदप्रविभक्तत्वेन ईशावास्यबृहदारण्यकादौ  
य उपोदातः स एव अप्रापि द्रष्टव्यः । सनत्कुमारगौतमप्रभप्रातिवचनस्तपेय-

<sup>१</sup> केनो—उ, मु.

<sup>२</sup> वेदे—उ, मु.

<sup>३</sup> योगिनां—उ, मु.

माख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । तत्रादौ गौतमः सनत्कुमारं ब्रह्मज्ञानं तदुपायं च पृच्छतीत्याह—भगवभिति । हे भगवन् षड्गौश्वर्यसम्पन्न, सर्वधर्मेष्ट, सर्वशास्त्रविशारद, इति सम्बोधनत्रयेण त्वं सर्वज्ञोऽसि सर्वज्ञेश्वरभावारूढत्वात् येनोपायेन मे ज्ञाटिति अनायासेन ब्रह्मविद्याप्रबोधो हि निर्विशेषब्रह्ममात्रज्ञानं जायते तदुपायं कृपया उपदिश ॥ १ ॥ इति गौतमेन पृष्ठः सनत्कुमारो मुनिः श्रोतृबुद्धिप्ररोचनाय वक्ष्यमाणविद्यां स्तुवन्निदमुवाचेत्याह—सनत्कुमार उवाचेति । हे गौतम सर्वेशितुः पिनाकिनो यन्मतं स्वातिरिक्तसर्वकलनाविरलं ब्रह्म स्वमात्रमिति तदेव तन्मुखतो ज्ञात्वा तदनुरोधेन स्वातिरिक्तासदपहृवसिद्धं ब्रह्म सन्मात्रमिति धारणार्थे धर्मो येषु वेदान्तेषु धार्यते तेषु सर्वधर्मेषु ईशाद्यष्टेतरशतवेदान्तेषु सम्यक् विचार्य निष्क्रिय लोकमात्रा ब्रह्मविद्यारूपया पार्वत्या यत् ब्रह्मतत्त्वं मे केवलकृपया कथितं यत् पिनाकिनोऽभिष्टं तन्मतं सावधानमना भूत्वा शृणु, श्रुत्वा सम्यगवधारयेत्यर्थः ॥ २ ॥ तत् कीदृशमित्यत आह—अनाख्येयमिति । यत् मया वक्ष्यमाणं ब्रह्मविज्ञानं तदिदं गुह्यं अयोगिषु गोपनीयमित्याह—अनाख्येयमिति । कदाऽपि न वक्तव्यमित्यर्थः । अनधिकारिषु ख्यापने महाननर्थो भवेदित्यत्र—

अज्ञस्यार्थप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत् ।  
महानरकसाम्राज्ये स तेन विनियोजयेत् ॥ इति,  
न बुद्धिमेदं जनयेदज्ञानां ज्ञानसंगिनाम् ॥

इति च श्रुतिस्मृती मानम् । तर्हि इदं कस्मै आख्येयमित्यत आह—योगिन इति । स्वात्रमाचारपुरस्तरं ब्रह्मविद्योपयोगसाधनयुक् योगी तस्मै योगिने देशिकेन इदं वक्तव्यमित्यर्थः । तत् कीदृशं किंफलदमित्यत्राह—हंसस्येति । स्वमात्रप्रबोधेन स्वातिरिक्तकलनां हन्ति अपहृवं करोतीति हंसः परमात्मा तस्याकृतिविस्तारो विश्वविराङ्गोत्रादिः तं तदेव ब्रह्म ज्ञानरक्तोशसंनियं स्वातिरिक्तमुक्तेः स्वाज्ञाताया मुक्तिः अपहृवः ततो यत् फलं स्वमात्रावस्थानलक्षणकैवल्यमवशिष्यते तत्पल्लप्रदं, मया उच्यमानं ज्ञानयोगं शृणुविति पूर्वेण अन्वयः ॥ ३ ॥

हंसविद्याऽधिकारिस्वरूपम्

अथ हंसपरमहंसनिर्णयं व्याख्यास्यामो ब्रह्मचारिणे <sup>१</sup>दान्ताय  
गुरुभक्ताय हंसहंसेति सदा ध्यायन् ॥ ४ ॥

हंसस्य आकृतिविस्तारः तदधिकारी वा कीदृशः किं तद्विद्याफलं किं  
तत्साधनमित्याकांक्षायां योग्याधिकारिणमुपलभ्य मुनिः एतत् सर्वमाचष्टे—  
अथेति । अथ यथोक्ताधिकारसम्पत्यनन्तरं क्रमेण जाग्रदाद्यवस्थात्रयं हत्वा  
तुर्यपदं गच्छतीति हंसः व्यष्टितुर्यः प्रत्यगात्मा, स एव परमः सर्वोक्तृष्टः  
समष्ठवस्थात्रयं हत्वा तत्तुर्यपदं गच्छतीति परमहंसः तयोः हंसपरमहंसयोः  
प्रत्यक्षपरयोः निर्णयं याथात्म्यं प्रत्यक्षपरविभागैक्यासहब्रह्ममात्रज्ञानं विस्पष्ट-  
मारुत्यास्यामः वक्ष्यामः । कस्मा अधिकारिणे वक्ष्यसीलत्र हंसः सोऽहमित्यर्थे  
हंसहंसेत्यावृत्तिः । यः सदैव हंसः सोऽहमित्यनुसन्धानपूर्वकं तत्स्वरूपं ध्यायन्  
ब्रह्मणि चरति ब्रह्मनिष्ठामारोद्भुमिच्छति स ब्रह्मचारी तस्मै ब्रह्मचारिणे दान्ताय  
वशीकृतकरणग्रामाय परमार्थोपदेष्टुगुरुभक्ताय गुरुपदिष्टार्थश्रद्धालवे तुभ्यं  
व्याख्यास्याम इति पूर्वेणान्वयः ॥ ४ ॥

हंसस्वरूपं तज्ज्ञानफलं च

सर्वेषु देहेषु व्याप्य वर्तते यथा शाश्विः काष्ठेषु तिलेषु  
तैलमिव । तं विदित्वा न मृत्युमेति ॥ ९ ॥

स हंसः किंपरिच्छन्नः कुत्रासनमर्हतीत्यत्र सदृशान्तमाह—सर्वेष्विति ।  
यथा शाश्विः काष्ठेषु स्वावारकेषु स्वदाहेषु च व्याप्य वर्तते तिलेषु तैलमिव  
च तथा स्वाङ्गदृष्टिप्रसक्तसर्वेषु ब्रह्मादिसंस्तम्बान्तदेहेषु सत्सु तदारोपापवादाधि-  
करणजीवेशप्रत्यक्षपररूपेण व्याप्य वर्तते, स्वज्ञानेन स्वज्ञानहानौ सत्यां

<sup>१</sup> शान्ताय शा—उ, मु.

व्याप्त्वसापेक्षव्यापकत्वैरल्प्यात् निष्प्रतियोगिकब्रह्माश्रमवशिष्यते । तज्ज्ञान-फलमाह—तभिति । तमेवं विदित्वा वेदनसमकालं मृत्युं स्वातिरिक्तास्तितासोहं नैति विद्वान् । स्वातिरिक्तापहवसिद्धब्रह्माश्रमतया अवशिष्यते इत्यर्थः ॥ ९ ॥

### हंसज्ञानोपायो योगः

गुदमवष्टम्याधाराद्वायुमुत्थाप्य स्वाधिष्ठानं त्रिः प्रदक्षि-  
णीकृत्य मणिपूरकं गत्वा अनाहतमतिक्रम्य शिश्नाभे पाश्चें भवतः ।  
<sup>१</sup>विशुद्धौ प्राणान्निरुद्ध्याज्ञामनुयायन् ब्रह्मरन्ध्रं ध्यायन् त्रिमात्रोऽह-  
मित्येवं सर्वदा पश्यत्यनाकारश्च भवति ॥ ६ ॥ एषोऽसौ परमहंसो  
भानुकोटिप्रतीकाशो येनेदं सर्वं व्याप्तम् ॥ ७ ॥

एवं सम्यज्ञानावासौ उपायः कः इत्याकांक्षायां तदुपायत्वेन योगमुपदि-  
शति—गुदमवष्टम्येति । तं विदित्वा न मृत्युमेतीत्युक्तिं वेदनादेव मृत्यु-  
प्रासब्रह्मासिगवगम्यते । केषां चिन्मलिनचित्तानां मुमुक्षायां सत्यामपि  
केवलवेदान्तश्रवणतो मृत्युप्रासब्रह्मानं नोदेति । तत्रान्तरायो मलिनचित्तता ।  
योगाख्यशुद्धवारिणा यदि सा शोधिता तदा पूर्वश्रुतज्ञानमेव स्वगताभासतां  
विहाय सम्यज्ञानपदर्वीं भजति । ततः सम्यज्ञानसमकालं मृत्युप्रास-  
ब्रह्मासिरिष्यते । तस्मात् ब्रह्मासिहेतुज्ञानसाधनत्वेन अष्टांगयोगोऽभ्यसनीयः ।  
कोऽयमष्टांगयोगः? यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः इत्यष्टां-  
गानि गुरुसंनिधौ यथावदभ्यस्य अथ समाध्यर्थं जनसम्बाधरहितगुहां प्रविश्य  
योगी सिद्ध्रासनारूढः सन् वामगुलफेन गुदमवष्टम्य नासिकाभ्यां वक्त्रेण  
वा वायुमापूर्यं कुम्भयित्वा सम्यगाकुञ्जनेन मूलाधाराद्वायुमुत्थाप्य प्राणापान-  
योरैक्यं कृत्वा अथ मूलाधारत्रिकोणगतवहिप्राणापानान् मिळित्वा कुण्डलिनीं  
बोधयित्वा तया मूलाधारस्थसुषुम्नाकवाटब्रह्मप्रर्णिथ विभिद्य चतुर्दल्युक्तं

<sup>१</sup> विशुद्धे—अ, अ १, अ २, क.

मूलाधारचक्रं प्रविश्य विराजं तत्तुर्यं वा ध्यात्वा अथ स्वाधिष्ठानं  
षहदशोभितं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य अथ दशारशोभितं मणिपूरकं गत्वा  
अनाहतचक्रं द्वादशदलं तन्मूलस्थविष्णुप्रनिधि विभिद्य अनाहतचक्रमध्ये सूत्रं  
तत्तुर्यं वा ध्यात्वा तत्र निर्विकल्पसमाधिमेल्य, अथ अनाहतमतिक्रम्य, अथ  
विशुद्धिचक्रं षोडशदलं, तदधोभागे शिश्वामे पार्श्वे भवतः विशुद्धचक्राधोभागे  
लम्बमानत्रिशतुल्यमांसखण्डे भवतः, “य एषः स्तन इवावलम्बते ।  
सेन्द्रयोनिः” इति श्रुत्यन्तरात् । तत्पार्थस्थमार्गद्वयं विहाय तन्मांसखण्ड-  
मध्यमार्गेण विशुद्धिचक्रं प्रविश्य तत्र विशुद्धौ विशुद्धिचक्रे प्राणान्निरुद्ध्य  
अथ भ्रूमध्ये द्विदलाद्यं आज्ञाचक्रं तन्मूलस्थरुद्ग्रन्थिय विभिद्य आज्ञाचक्रं  
प्रविश्य तन्मध्ये बीजं तत्तुर्यं वा अनुयायन् ध्यायन् निर्विकल्पकसमाधिमेल्य,  
अथ चन्द्रसूर्याद्वैक्यसज्जाताभृतमास्वाद्य अजरामरपिण्डो योगी सहस्राशोभि  
ब्रह्मरन्ध्रं प्रविश्य, तत्रत्यन्त्रिमात्रारोपाधिकरणतुर्यंक्षिमात्रोऽहं, यदा त्रिपञ्चमात्रा  
यत्रापहृतं भजति तत्तुर्यतुर्यं वाऽहमस्मीति यदि सर्वदा पद्यति तदा योगी  
त्रिमात्राधिकरणकिञ्चित्साकारवत् तुयों वा, अनाकारवत् तुर्यतुयों वा भवति ।  
तुर्यतुर्यस्य निष्प्रतियोगिकत्वरूपापकः चशब्दः ॥ ६ ॥ यः तुर्यतुरीयत्वेन  
उत्तः एषोऽसौ परमहंसः परमात्मा स्वांशजुर्याभेदेन भानुकोटिप्रतीकाशः-  
युगपदुदितानन्तकोटिभानुसद्वाप्रकाशः येन तुर्यप्रकाशेन इदं सर्वं जगत्  
स्यासं कवलितम् ॥ ७ ॥

हृत्पदे हंसभावनया तुर्यात्मदर्शनम्

तस्याष्ट्वा वृत्तिर्भवति । पूर्वदले पुण्ये मतिः । आप्नेये  
निद्रालस्यादयो भवन्ति । याम्ये क्रौर्ये मतिः । नैऋते पापे  
मनीषा । वारुण्यां क्रीडा । वायव्यां गमनादौ बुद्धिः । सौम्ये  
रतिप्रीतिः । ईशान्ये द्रव्यादानम् । मध्ये वैराग्यम् । केसरे  
जाग्रदवस्था । कण्ठिकायां स्वग्रहम् । लिङ्गे सुषुप्तिः । पश्यागे तुरीयम् ।

यदा<sup>१</sup> हंसे नादो विलीनो भवति तत् तुरीयातीतम् ॥ ८ ॥ अथो नाद  
आधाराद्वासरन्धर्यन्तं शुद्धस्फटिकसंकाशः स वै ब्रह्म परमात्मे-  
त्युच्यते ॥ ९ ॥

तस्यैव पुनर्व्यष्टिपञ्चारोपाधिकरणजीवभावमापनस्य अष्टुधा अष्टप्रकारा  
शुतिर्भवति । कथमित्यत्र—तदधिष्ठेयं इत्यग्यं द्वादशदल्लयुक्तं इत्युक्तम् । तत्र  
दलचतुष्टयं हंसास्पृश्यं, शिष्टाष्टदलं व्यवहारयोग्यं भवतीति कृत्वा तत्प्रकार  
उच्यते । तत्र हंसः प्राणोपाधिकजीवः यदा पूर्वदले प्रविशति तदा  
पुण्ये कर्मणि मतिः भवति । यदा आग्रेयदले प्रविशति तदा निद्रालस्थादयो  
भवन्ति । यदा याम्यदले प्रविशति तदा क्रौर्येण कर्मणि मतिजायते ।  
यदा नैर्हते दले प्रविशति तदा पापे कर्मणि कर्तुं मनीषा उदेति ।  
यदा वारुण्यां दिशि विद्यमानदले प्रविशति तदा क्रीडाविनोदमतिर्भवति ।  
वायव्यां दिशि विद्यमानदले यदा प्रविशति तदा चलनगमनादौ बुद्धिः  
उदेति । यदा सौम्ये दले प्रविशति तदा विद्वदविदुषोः आत्मानात्मरतिप्रीतिः  
उदेति । यदा ईशान्ये दले प्रविशति तदा इहामुत्रोपयोगिद्रव्यादानमतिः  
जायते । यदा दलानां मध्ये प्रविशति तदा स्वातिरित्तविषये वैराग्यमुदेति ।  
यदा तत्केसरे सञ्चरति तदा जाप्रदवस्था भवति । तदानीमहंकृतिः  
पूर्णविकासतामेति । यदा तत्कर्णिकायां सञ्चरति तदा स्वग्रं पश्यति ।  
तदानीमहंकृतेः अर्धविकासो भवति । तदन्तः सुषिरं लिङ्गं तत्र यदा प्रविशति  
तदा सुषुप्तिः भवति । यथोक्तलक्षणपञ्चतागे तुरीयं तत्साक्षात्कारो भवति ।  
तदानीं हंसः प्रत्यग्भिन्नपरमात्मतया अवशिष्यते । यदा हंसे प्रत्यग्भिन्नपरमात्मनि  
नादोऽर्धमात्रात्मको विलीनो भवति तदा स्वाधिष्ठेयगुणसाम्यादिप्रपञ्चवैरल्यात्  
तनिरूपिताधिष्ठानताविरलं निरधिष्ठानं तुरीयातीतं निष्प्रतियेगिकब्रह्ममात्रं  
अवशिष्यते ॥ ८ ॥ एवं भावनाविशिष्टयोगिनः स्वदेहे तुर्यात्मा प्रकाशत  
इत्याह—अथो इति । अथो निर्विकल्पकसमाधिसिद्धेनन्तरं योगिनो इदये नादो

<sup>१</sup> हंसो नादे—अ, अ १, ३.

गुणसाम्यासंगचिद्वातुः तुर्यः आधागत मूलाधारमारभ्य ब्रह्मरन्धर्पर्यन्तं  
तुर्यस्वरूपं शुद्धस्फटिकसङ्क्लाशं निर्दुष्टस्फटिकाचलवत् शुक्लेजोमयं ब्रह्म  
स वै नादावभासकपरमात्मेत्युच्यते ॥ ९ ॥

अजपाहंसमन्वजपप्रकारः

अथ हंस ऋषिः । अव्यक्तगायत्री छन्दः । परमहंसो  
देवता । हं वीजम् । सः शक्तिः । सोऽहं कीलकम् ॥ १० ॥  
षट्संख्या अहोरात्रयोरेकविंशतिसहस्राणि षट्ठतार्ण्यधिकानि  
भवन्ति । सूर्याय सोमाय निरञ्जनाय निराभासायातनुसूक्ष्म  
प्रचोदयादिति ॥ ११ ॥ अग्नीषोमाभ्यां वौषट् हृदयाद्यन्यास-  
करन्यासौ भवतः ॥ १२ ॥ एवं कृत्वा हृदये हंसमात्मानं  
ध्यायेत् ॥ १३ ॥

इत्यांविधितुर्यसाक्षात्कारात्ममन्वस्य ऋषिछन्दोदेवताऽगन्यासध्यानसहित-  
जपप्रकार उच्यते । अथ शयनादुत्थानानन्तरमहोरात्रगणनीयधाससंख्या  
मुसुक्षुभिः अजपाऽनुसन्धानं कर्तव्यम् । तत उच्छ्वासनिश्चास एव आत्ममन्व  
उच्यते । निश्चास एव सकारस्त्वंपदार्थः । उच्छ्वास एव सविन्दुकवियद्वीजं  
हमिति तत्पदार्थः । पुनःपुनः तयोर्योग एव असिपदार्थः ॥

सकारः खेचरी प्रोक्तस्त्वंपदं चेति निश्चितम् ।

हकारः परमेशः स्यात्तपदं चेति निश्चितम् ।

सकारो ध्यायते जन्तुः हकारो हि भवेत् ध्रुवम् ॥

इति श्रुतेः । अथ अजपाऽत्ममन्वस्य हंसः प्रत्यगात्मैव ऋषिः । अव्यक्त-  
गायत्री छन्दः । परमहंसः परमात्मा देवता । हं वीजम् । सः

शक्तिः । सोऽहं कीलकम् । हंसात्मसाक्षात्कारार्थं विनियोगः । हंसामित्यादि-  
ष्टंगन्यासः । ध्यानम्—

गमागमस्थं गमनादिशून्यं चिद्रूपमेकं परमाद्वितीयम् ।  
ध्यायन्ति ये सर्वजनान्तरस्थं नमामि हंसं परमात्मरूपम् ॥

इति ॥

लमित्यादि पञ्चपूजा । सोऽहमिति मन्त्रः । निधासोच्छासावर्तनमेव  
हि जपः ॥ १० ॥ षट्संख्याकाः षडाधारदेवता गणेशादयः जपसंख्याकर्तारो  
भवन्ति । अहोरात्रविभक्तशाससंख्या निगद्यते । अहोरात्रयोरेकविंशतिसहस्राणि  
षट्छतान्यथिकानि भवन्ति । दिने दिने षट्छताधिकेकविंशतिसहस्रसंख्या  
निधासोच्छासाः सोऽहं सोऽहमिति जपन्ति । अजपां विशिष्टां चतुर्धा  
विभज्य तत्राद्यो भागः विराङ्गात्मने सूर्याय समर्पयेत् । द्वितीयो भागः  
सूक्ष्माक्षमापन्नाय सोमाय प्रचोदयात् समर्पयेत् । तथा तृतीयो भागः  
अतनुसूक्ष्माभिधविराट्सूक्ष्मारोपाधिकरणतया स्वाधिष्ठेयनिरञ्जनाय सर्वेश्वराय  
प्रचोदयात् विनियोजयेत् । अवशिष्टतुर्यभागस्तु स्वातिरिक्तस्थूलसूक्ष्मभीजाभा-  
सतदध्यक्षविराङ्गादिगतहेयांशापवादाधिकरणतया निराभासाय प्रत्यगभिन्न-  
परमात्मने अतनुसूक्ष्मादिप्रपञ्चं प्रचोदयात् विलापयेत् ॥ ११ ॥  
अग्नीषोमाभ्यां वौषट् हृदयाद्यज्ञन्यासकरन्यासौ भवतः इति । हंसौ इति  
दीर्घभाक् षट्पर्यायेषु, हंसौ इति पञ्चमपर्यायस्थाने तदेव, नोच्चेदग्नीषोमाभ्यां  
वौषट्डिति वा कुर्यादित्यर्थः ॥ १२ ॥ एवमंगन्यासादिकं छत्वैव हृदये  
हंसमात्मानं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मास्मीति ध्यायेत् ॥ १३ ॥

सगुणहंसध्यानेन परमात्मदर्शनम्

अग्नीषोमौ पक्षार्खोकारः शिर उकारो विन्दुस्त्रिणेत्रं मुखं  
रुद्रो रुद्राणी चरणौ द्विविधं कण्ठतः कुर्यादित्युन्मनाः

अजपोपसंहार<sup>१</sup>इत्यमिधीयते ॥ १४ ॥ एवं हंसवशान्मनो  
विचार्यते ॥ १९ ॥

एवं निर्गुणध्यानाशक्तस्य सगुणध्यानप्रकार उच्यते—अग्नीषोमाविति ।  
वैराजभावमापन्नहंसस्य अग्नीषोमौ सूर्याचन्द्रमसौ पश्चौ बाहू भवतः ।  
अस्य शिरस्तु ओङ्कारः । अस्य त्रिणेत्रं सविन्दुकाकारोकारमकागः । अस्य  
मुखं रुद्रः । अस्य चरणौ पादौ रुद्राणी गंगा च भवति । एवं  
सगुणनिर्गुणभेदात् द्विविधं हंसध्यानं कण्ठतः कण्ठवेण मुमुक्षुः निश्चाङ्कं  
कुर्यात् । इत्येवं प्रकारद्वयध्यानेन उद्रतं तिरस्कृतं मनः तत्कार्यं यस्य  
सोऽयमुन्मनाः मुनिः । अजपा हंसविद्या तस्या उपसंहारः विलापनं यत्र  
प्रत्यग्भिन्नपरमात्मनि सोऽयं अजपोपसंहारः परमात्मेत्यमिधीयते ॥ १४ ॥  
एवं सोऽहमिति हंसध्यानवशान् हंसातिरेकेण मनस्तत्कार्यं नेति नेति इति  
विचार्यते निर्धार्यते ॥ १९ ॥

अजपाजपेन दशनादानुभवः

<sup>२</sup>अस्यैव जपकोट्या नादमनुभवति । स च दशविषो जायते ।  
चिणिति प्रथमः । चिणिचिणीति द्वितीयः । षट्टानादस्तृतीयः ।  
शङ्खनादध्यतुर्थः । पञ्चमस्तन्त्रीनादः । पष्ठस्तालनादः । सप्तमो  
वेणुनादः । अष्टमो भेरीनादः । नवमो मृदङ्गनादः । दशमो  
मेघनादः ॥ १६ ॥

यदि मुमुक्षुः सगुणनिर्गुणध्यानाशक्तो भवति तदा तूष्णीमहोरात्रनिवर्त्यनि-  
श्वासोच्छृङ्खासरूपेण केवलाजपात्महंसमन्तजपं कुर्वतः स्वानुभवजन्यनादेयतां  
तदनुसन्धानावान्तरफलं परमफलं चाह—अस्यैवेति । एवं यथोत्तरत्य अस्यैव

<sup>१</sup> इत्यानवहते—क. अ २.

<sup>२</sup> तस्यै—क. सण—मु.

हंसमनोर्जपकोऽग्ना कोटिसंख्याजपप्रभावेनाऽयं मुमुक्षुः अनाहतचक्रे नादव्राण  
अनुभवति स्वानुभूतिप्रमाणतो जानाति । योऽयमनुभूतो नादः स च  
दक्षिणकर्णे दशविध उपजायते अभिव्यञ्जयते । क्रमशः तत्प्रकारमाह—  
चिणितीति । प्राथमिको नादः चिणितिभ्वन्यात्मको भवति । द्वितीयो  
नादः चिणितिचिणीति ध्वन्यात्मकः । तृतीयो नादः घणटानादसमो भवति ।  
चतुर्थस्तु शङ्खनादवदभिव्यक्तो भवति । पञ्चमस्तु वीणातन्त्रीनादवद-  
भिव्यञ्जयते । पष्ठः ताळनादनिभो भवति । सप्तमनादस्तु मुखरवेणुनादसमानो  
भवति । भेरीनादतुल्योऽयमष्ठमः । मृदङ्गनादनिभोऽयं नवमः । दशमस्तु  
मेघनादसंनिभः ॥ १६ ॥

केवलदशमनादाभ्यासविधिः

नवमं परित्यञ्य दशममेवाभ्यसेत् ॥ १७ ॥

पंच दशविधनादेषु प्रथमादिनवमान्तं परित्यञ्य मुमुक्षुः दशममेव  
अभ्यसेत् ॥ १७ ॥

तस्मादानुभवफलम्

प्रथमे चिद्धिणीगात्रं द्वितीये गात्रमञ्जनम् ।

तृतीये भेदनं याति चतुर्थे कम्पते शिरः ॥ १८ ॥

पञ्चमे <sup>१</sup>त्ववती तालू षष्ठेऽमृतनिषेवणम् ।

सप्तमे गूढविज्ञानं परावाचा तथाऽष्टमे ॥ १९ ॥

अदृश्यं नवमे वेहं द्वित्यं चक्षुस्तथाऽमलम् ।

दशमं च परं ब्रह्म भवेद्वासात्मसंनिधौ ॥ २० ॥

<sup>१</sup> सवते—अ, क.

<sup>२</sup> वाचा—अ.

चिणिति प्राथमिको नादो य उक्तः तस्मिन् प्रथमे नादे यथावदनुभूते  
तदा स्वस्य चिरिणीगान्नं प्रतिमाति । तथा द्वितीये तद्वात्रभञ्जनं भवति ।  
तृतीये तु हृदयं भेदनं याति हृत्पञ्चं विकासमेति । चतुर्थे तु स्वशिरः  
कम्पते—षष्ठमुखीमुद्राऽऽरुद्धस्य कुम्भकावस्थायां वायावाङ्माचकं प्रविष्टे शिरः  
कम्पयतीत्यर्थः ॥ १८ ॥ पञ्चमे तन्त्रिनादेऽभिव्यक्ते स्वतालू स्वती ।  
षष्ठाख्यतालनादाभिव्यक्तौ चन्द्रसूर्यमण्डलद्वयैक्यसङ्गातामृतनिषंवणममृतास्वादनं  
भवति । सप्तमवेणुनादाभिव्यक्तौ स्वातिरिक्तजनानां यत् गूढं ब्रह्म तद्विषयक-  
विज्ञानं जायते । अष्टममेरीनादाभिव्यक्तौ सर्ववेदशाखाख्यपिण्या परावाचा  
अयं योगी विजृम्भते, सकलविषयकशाखाविज्ञानी सर्वज्ञो भवति ॥ १९ ॥  
नावधामिकमृदंगनादाभिव्यक्तौ देहं पश्यतामहृश्यं भवति अन्तर्धानादिशक्तिमान्  
भवति । निर्मलदिव्यचक्षुः त्रिकालज्ञः इश्वरो भवति । प्रथमादिनवमान्तनाद-  
तद्वननानाविधसिद्ध्युपेक्षापूर्वकं दशममेघनादाभिव्यक्तौ ब्रह्मात्मसंनिधौ प्रत्यग-  
भिन्ने ब्रह्मणि स्वाङ्मादिदृष्टिप्रसक्ततद्वत्भेदैक्यकलनापहवसिद्धब्रह्म भवेत्,  
तन्मात्रतया अवशिष्यत इत्यर्थः ॥ २० ॥

मनोलभ्यात् ब्रह्मात्मत्वप्रकाशः

तस्मान्मनो विलीने मनसि गते संकल्पविकल्पे दधे  
पुण्यपापे <sup>१</sup>सदाशिवः शक्त्यात्मा सर्वत्रावस्थितः स्वयंज्योतिः शुद्धो  
शुद्धो नित्यो निरञ्जनः शान्ततमः प्रकाशयतीति वेदालुष्वचनं  
भवतीत्युपनिषद् ॥ २१ ॥

कथं पुनरेव ब्रह्मात्रमवशिष्यते स्वातिरिक्तमनस्तत्कार्यसङ्कल्प-  
पुण्यपापादिसस्वादित्यत आह—तस्मादिति । यस्मात् स्वाङ्मानविकल्पितोऽयं  
मनआदिविकारपूर्गः तस्मात् स्वज्ञानेन मनो मनसि विलीने निर्मूलभावं

<sup>१</sup> सदाशिवोऽश—उ.

गते तत्कार्यसङ्कल्पविकल्पे तत्कार्यपुण्यपापादावपि दर्घं सम्यज्जानाभिना  
भस्मीकृतेऽथ स्वातिरिक्तमनस्तत्कार्यारोपापवादाधिकगणतया (ब्रह्मप्रणवार्थतुर्य-  
तुर्यतया) सदाशिवः परमेश्वरः तत्त्पदार्थगतसर्वशक्त्यात्मा सर्वत्र  
व्यक्ताव्यक्तप्रपञ्चे सच्चिदानन्दात्मना अवस्थितः । जडप्रपञ्चानुयोगतो जडत्वं  
स्यादित्यत आह—स्वयंज्योतिरिति । स्वाज्ञदृष्टिप्रसक्तजडप्रपञ्चस्य स्वज्ञदृष्टया  
मिथ्यात्वेन तदनुयोगस्यापि तथात्वात् स्वयंज्योतिरित्यात्मा ह्यजडात्मकः । अत  
एवायं शुद्धः अशुद्धमायावैरल्प्यात् । मायाऽपाये तदनुगतस्यापि तथात्वं स्यादित्यत  
आह—नित्य इति । सत्तामात्रत्वात् । मात्रशब्दस्येतत्रव्यवच्छेदकत्वेन  
तत्राञ्जनता स्यादित्यत आह—निरञ्जन इति । सत्तामात्रस्य निष्प्रतियोगिकत्वेने-  
तररञ्जनता कथं सेहुं पारयति? स्वातिरिक्तास्तिताहेतुस्वाज्ञानहेतुतमस्सत्ये  
निष्प्रतियोगिकसत्तामात्रता कुत इत्यत आह—शान्ततमः प्रकाशयतीति ।  
यदवगतिसमकालं स्वाज्ञानतत्कार्यं तमोऽप्लवपदं भजति सोऽयं शान्ततमः  
अत एवायं निष्प्रतियोगिकतया प्रकाशयति । अस्मिन्नर्थे “पश्यतेहापि  
सन्मात्रमसदन्यत्,” “ब्रह्मव्यतिरिक्तं न किञ्चिदस्ति,” “अतोऽन्यदार्तं,”  
“ब्रह्ममात्रमसन्न हि”

सिद्धान्तोऽन्यात्मशास्त्राणां सर्वापहृत एव हि ।

नाविद्याऽस्तीह नो माया शान्तं ब्रह्मेदमङ्गम् ॥

इन्यादिवेदानुबचनं भवति । इत्युपनिषच्छब्दौ उपनिषत्परिसमाप्तयर्थौ ॥ २१ ॥

श्रीवामुदेवेन्द्रशिष्यांपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

लिखितं स्यादिवरणं हंसोपनिषदः स्फुटम् ।

हंसोपनिषदो व्याख्या सप्तत्यधिशातं स्मृता ॥

इति श्रीमदीशावदोत्तरशानोपनिषच्छास्त्रविवरणे पञ्चदशसंख्यापूरकं  
हंसोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

## विशेषपदसूची

[यत्र पुटसंख्यानन्तरं तिर्यग्रेखायाः परं संख्या वर्तते तत्र तावती पदाकृतिः वोच्या]

| पदम्                     | पुटसंख्या   | पदम्                              | पुटसंख्या |
|--------------------------|-------------|-----------------------------------|-----------|
| अकालिपतः .               | . ४२०       | अनुसन्धानराहित्यम्                | . ९६      |
| अक्षरम् .                | १९, ३२, १९६ | अनेकजीवसद्ग्रावः .                | . ९७      |
| अखण्डब्रह्मतेजोमण्डलम् . | २८४         | अन्तःकरणविषयः .                   | . ११९     |
| अग्निवीजम् .             | . १७१       | अन्तःप्रणवनादाख्यो हंसः .         | . २४०     |
| अग्निमण्डलम् .           | . २८४       | अन्तर्दृष्टिः . २, ३, ६-३         |           |
| अंगानि (योगांगानि)       | ९१, ११९     | अन्तर्यांगः .                     | . २३४     |
| अजपा २००, २६४, ३४३, ९६७  |             | अन्तर्लङ्घ्यम् ३, ८-२, २८१-९, २८२ |           |
| अणिमादिसिद्धिः .         | . २८०       | अपकः . - .                        | . ३९६     |
| अणुवम् .                 | . ४९        | अपरोक्षसिद्धिः .                  | . ५४९     |
| अद्युयं ब्रह्म .         | . २         | अपानः २४, १३७-२,                  |           |
| अद्वैतम् .               | . २४४       | १६४, १६९-२, २००,                  |           |
| अद्वैतप्रनिधिः .         | . २३१       | ३४१, ३४२, ९२६, ९२७                |           |
| अधोलिंगम् .              | . २६६       | अपां स्थानम् .                    | . ३७८     |
| अनारब्धम् .              | . ३१९       | अभिरामः . . .                     | . ३९१     |
| अनात्मा . . . ८८ to ९२   |             | अभ्यासः . . ३२२-२, ४१९            |           |
| अनाहतम् ३१६, ३३०-२,      |             | अग्नस्कम् ९-४, २७२,               |           |
|                          | ४२९, ४४२    | २८७-२, २९४, २९९, २९९              |           |

| पदम्                | पुटसंख्या   | पदम्        | पुटसंख्या                      |
|---------------------|---|-------------|--------------------------------|
| अमरोळी              | ३६९, ३८९  | असंसक्तिः   | ४९२, ४९४, ४९९                  |
| अमात्रम्            | . . २२  | अस्तेयम्    | १२९, १९३,                      |
| अमादृष्टिः          | . . २८४   |             | १९४-२, ९०४, ९१९                |
| अमावास्या           | . . १६७, ३२९  | अस्वरम्     | . . . २८                       |
| अमूर्तनादः          | . . २११   | अहङ्कारः    | ११७, ३६९, ३९२                  |
| अमूर्तितारकम्       | . ६, २७९-२  | अहिंसा      | १२९, १९३-२,                    |
| अमूर्तिमदमनस्कम्    | . . ७   |             | ९०४, ९१९                       |
| अमृतत्वम्           | . . ४   | आकाशम्      | . २९७-२                        |
| अमृतवर्णिणी         | . . २६४   | आकाशस्थानम् | . ३७९                          |
| अमृतस्थानम्         | . . १९९   | आग्रेषी     | . २१६                          |
| अयने दक्षिणे        | . . १२९   | आचार्यः     | . . ९                          |
| अयने द्वे           | . . २६१   | आत्मतीर्थम् | . . १६८                        |
| अरिषट्टकम्          | . . ४६६   | आत्ममाया    | . . ४८१                        |
| अर्थस्वरूपम्        | . . १७८   | आत्मवान्    | . . १४१                        |
| अलम्बुसा            | १३९, १६२,<br>१६३, १६६, ३४०,<br>३४१, ४४४, ९०९, ९२६-२ | आत्मा       | ३०, ८६, ८७,<br>१८८, ९९१, ९९६-२ |
| अवधूतः              | . . २००   | आधारम्      | १९७, ३३८-२,                    |
| अवस्थात्रयम्        | . ९६, २२६   |             | ४९३, ४९४-२                     |
| अविद्याशब्दं ब्रह्म | . . ११७   | आधारचक्रमहः | . ४९४-२                        |
| अव्यक्तम्           | . . ११७   | आधारवातरोधः | . . ४९४                        |
| अशुद्धम्            | . . २६  | आधिभौतिकम्  | . . ३१८                        |
| अष्टदल्पद्वाम्      | . . २०७   | आन्तरम्     | . . ३१८                        |
| अष्टांगयोगः         | २७३, ९१८  | आयामः       | . . ९१९                        |
| अष्टांगानि          | . . ९१८   | आरम्भः      | . ३१<br>३६७, ९१९-२             |

| पदम्                     | पुटसंस्क्या | पदम्                    | पुटसंस्क्या          |
|--------------------------|-------------|-------------------------|----------------------|
| आराधनम् . . . .          | १२९         | उच्चैः . . . .          | १९८, १२०             |
| आर्जवम् १२९, १९३,        |             | उच्छ्रासः . . . .       | ३७                   |
| १९४, १०४, ११९            |             | उज्जायी                 | ३१०, ३११,            |
| आलस्यम् . . . १९, ३१९    |             |                         | ४०८, ४०९             |
| आसनम् ३७, १२, १२८,       |             | उक्तियणः                | २०३-२,               |
| १९३, १९६, ३०७,           |             |                         | ३१३-३, ३४९, ३८३,     |
| ३३७, ३७९, ३६८,           |             |                         | ४११-३, ४२६, ४४३,     |
|                          | १०३, ११७    |                         | ४४६-२, ४४७, १०२, १३३ |
| आसननियमः . . .           | २७९         | उत्तरं त्वमनस्कम् . . . | २८०                  |
| आस्तिक्यम् १२९, १९६      |             | उत्तराभिमुखः . . .      | १२६                  |
| १९७, १०४, १२०            |             | उत्तरायणम् . . .        | १६६                  |
| आहवनीयः . . . .          | २९०         | उत्तानक्रमकम् . . .     | १३०                  |
| आङ्गाचक्रम् . . .        | ३३०-२       | उत्थानम् . . .          | १४०, १७८             |
| आङ्गा . . . ४२६, ४४२     |             | उदानः २४, १३७-२,        |                      |
| इडा ४०, १३९, १६२,        |             | १६४, १६९-२, ३४१,        |                      |
| १६३, १६४, १६६,           |             |                         | १२६, १२७             |
| १९९, ३४०, ३४१,           |             | उन्मनीकारकम् .          | २२२, १३६             |
| ३१७, ४४३, ४५०, १०६, १२९  |             | उन्मनीभावः .            | २८७, १३६             |
| इडादिदशानाड्यः . . .     | ११९         | उन्मन्यवस्था .          | २२९                  |
| इडापिंगल्सौषुप्ताः . . . | ३४१         | उपवासः .                | ४७९                  |
| इन्द्रवज्रम् . . . .     | ४०          | उपांशुः .               | १९८, ११०             |
| इहामुन्निविरागता . . .   | ४६८         | उपासना .                | ४९०                  |
| ईश्वरः . . . .           | ३३३         | ऊर्ध्वाकुञ्जनम् .       | ४०७                  |
| ईश्वरपूजनम् १९६, १९७,    |             | एकजीवादिनिर्णयः .       | १७                   |
| १०४, १२०                 |             | ऐन्द्री .               | २१७                  |

| पदम्                                     | पुटसंस्कृता पदम्           | पुटसंस्कृता                          |
|--|----------------------------|--------------------------------------|
| ओङ्कारः                                  | १८९, २१६,<br>२६४, ३९०, ४०४ | २७७, ३०८, ३०९-२,<br>३२०, ३४३, ४०७-२, |
| ओङ्काररथः .                              | . . १२                     | ४२९, ४४२, ४९०,                       |
| ओतं प्रोतम्.                             | . ७१, १२१                  | ४९९, ९०९, ९१०,                       |
| कण्ठमुद्रा .                             | . ३८२, ९१२                 | ९२४-२, ९४२, ९३९                      |
| कन्दयोनिः .                              | . ३४०                      | कुंभकः १६, ९३, १७४,                  |
| कपालशाधनम्.                              | . ९३३                      | १९१, १९३, ३१४,                       |
| कमलालयम्.                                | . १६७                      | ३९८-२, ३७०, ३८९,                     |
| कमलासनम्.                                | . ३३७                      | ९०९, ९११, ९३४                        |
| कम्पनम् .                                | . १४०, १७८                 | कुंभीकरणम् . . १४१                   |
| कर्मत्रयम् .                             | . ४६६                      | कुरुक्षेत्रम् . . . १६७              |
| कर्मयोगः .                               | . १२७-२                    | कुहूः १६२, १६३-२,                    |
| कर्मेन्द्रियविषयाः                       | . ११९                      | १६६, ३४०, ३४१,                       |
| कल्पनारहितः .                            | . ४२०                      | ४४४, ९०९, ९२६                        |
| कल्पितः .                                | . ४२०-२                    | कूटः . . . ३२४                       |
| काकमतम् .                                | . ४१८                      | कूर्मः १३७, १६४, १६९,                |
| कामपीठम् .                               | . ४२९, ४४२                 | ३४१-२, ६०४, ९२७                      |
| कांमरूपम् .                              | . १९७, ३३८                 | कृकरः १३७, १६४, १६९,                 |
| कामः .                                   | . ३३८                      | ३४१-२, ९२७                           |
| कारणम् .                                 | . ३९१                      | केदारम् . . . १६७                    |
| कालवञ्चनम् .                             | . ९०७                      | केवलकुम्भकः ३१०, ३७२, ३७९            |
| काशशब्दः .                               | . ९२                       | केवलसिद्धिः . . . ३१०                |
| कुकुटासनम् .                             | . १३०, ६०४                 | कोशः . . . १२४                       |
| कुण्डलिनी ३, १३४, १६३,<br>१७७, २०१, २६४, |                            | कौशिकी . . . १३९                     |
|  |                            | क्षमा १२९, १९३, १९९, ९०४, ९१९        |

| पदम्           | पुटसंख्या               | पदम्     | पुटसंख्या              |                         |            |     |
|----------------|-------------------------|----------|------------------------|-------------------------|------------|-----|
| शुरिका         | . . . .                 | ३६       | घोषिणी                 | .                       | .          | २१७ |
| क्षेत्रज्ञः    | .                       | ४१७, ४९१ | चक्रासनम्              | .                       | ३३१, ९०४-२ |     |
| खेचरीमुद्रा    | २०४-३,                  |          | चतुष्कला               | .                       | .          | २७३ |
|                | २८९, ३२१, ३२२-२,        |          | चतुष्पथो वन्धः         | .                       | .          | ९०९ |
|                | ३२३-२, ३२४, ३२९,        |          | चतुष्प्रीठम्           | .                       | .          | ९१२ |
|                | ३४६, ३४७, ३९४,          |          | चतुर्विशतितत्त्वानि    | ०७, ४६४, ४६९            |            |     |
|                | ३६८, ३८३, ३८४,          |          | चलदृष्टिः              | .                       | .          | ४   |
|                | ४४६-३, ९३९, ९३६,        |          | चिच्छक्तिः             | .                       | .          | ४९७ |
|                | ९४३-४, ९४४              |          | चिदम्बरम्              | .                       | .          | १६७ |
| गान्धारी       | १३९, १६२,               |          | चिद्रसः                | .                       | .          | ९६  |
|                | १६३, १६४, १६६,          |          | चूलितलम्               | .                       | .          | ३२६ |
|                | ३४०, ३४१, ४४४, ५०६, ५२६ |          | चोदकः                  | .                       | .          | २९९ |
| गायत्री        | .                       | ३४३, ९३० | छाया                   | .                       | .          | ९०८ |
| गार्हपत्यम्    | .                       | .        | छिनपाशः                | .                       | .          | ४४  |
| गुणत्रयम्      | .                       | .        | जनोलोकः                | .                       | .          | २१४ |
| गुणरहिताकाशम्  | .                       | ९, २७९   | जपः                    | १२९, १९६, १९८, ९०४, ९२० |            |     |
| गुरुः          | .                       | ९-३      | जागरः                  | .                       | .          | ४७० |
| गूढसुसिः       | .                       | .        | जाग्रत्तुरीयः          | .                       | .          | २२७ |
| गोमुखम्        | १२९, १९९-२,             |          | जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः | .                       | .          | ४६६ |
|                | ९०४, ९२१                |          | जाग्रद्विधादयः         | .                       | .          | ४९२ |
| गोलकः          | .                       | २९३      | जाग्रद्वृत्तिः         | .                       | १४७, ९६३   |     |
| गोलाखम्        | .                       | २६४      | जालन्धरः               | २०३, ३१३,               |            |     |
| घटः            | .                       | ३६७, ९१९ |                        | ३१४, ३४९, ३४६,          |            |     |
| घटाख्या भूमिका | .                       | ९१९      |                        | ३६८, ३८३, ०४११,         |            |     |
| घटाख्या        | ३७९-२, ३७७              |          |                        | ४१२, ४२९, ४४२, ४४६, ९३३ |            |     |

| पदम्                | पटसंख्या  | पदम्   | पुटसंख्या |
|---------------------|---|--|-----------|
| जीवः                | ३१, ४४, १३३,<br>२९२, ३६६  | तपः १२९, १९६-३, ९०४, ९२०<br>तपोलेकः . . . .                      | २१४       |
| जीवत्रयम्           | . . . ४६६   | तर्कः . . . .  | १७        |
| जीवन्मुक्तः         | ७४ to ७८,<br>२८२, २९०, २९३,<br>३३७, ३८०, ४००,<br>४२१, ४२२, ४६७,<br>४९१, ४९६, ४९७-९, ९१६ | ताणम् १३१, २०३, ३०९,<br>तारकम् २, ९-२,<br>तुर्यम् १४७, १४८, १७१, | ३१४, ४११  |
| जैवतन्मात्रविषयाः   | . . ११९   |  | ९०६, ९६३  |
| ज्ञानम्             | . . . ९३९   | तुर्यगा ४९२, ४९४, ४९९  |           |
| ज्ञानदीपः           | . . . २६४   | तुर्यपदम् . . . .  | २२१       |
| ज्ञाननेत्रम्        | . . . ३४  | तुर्यविश्वादयः . . . .   | ४९२       |
| ज्ञानमुद्गा         | . . . २६२   | तुर्यतीतम् . . . .   | १४८, ९६४  |
| ज्ञानयोगः           | . . १२७, १२८  | तेजः . . . .   | ९९        |
| ज्ञानशौचम्          | . . . १९९   | तेजोबिन्दु . . . .   | ४९        |
| ज्ञानसागरपारगः      | . . . २४१   | तैजसः . . ३३३, ३९१, ४६६  |           |
| ज्ञानस्वरूपम्       | . . . १७८   | तैतिलम् . . . .  | ४०, ४१    |
| ज्ञानेन्द्रियविषयाः | . . . ११९   | त्यागः . . . .   | ९१        |
| ज्योतिर्मण्डलम्     | . . . ३०३   | त्रिकूटम् . . . .  | २६४       |
| ज्योतिर्लिङ्गम्     | . . . २६९   | त्रिधामा हंसः . . . .  | ४७        |
| ज्वलन्ती            | . . . ९०६   | त्रिलक्ष्यम् . . . .   | ३३८       |
| तत्त्वप्रकाशः       | . . . २८३   | त्रिविघ्न . . . .  | २६४       |
| तत्त्वाकाशः         | . . ५, २७९  | त्रिविघ आचार्यः . . . .  | २९९       |
| तत्त्वानि           | . . . १९०   | त्रिवित्तिभायास्वरूपः . . . .                                    | २२७       |
| तत्त्वानसी          | ४९२, ४९४-२  | त्रिविहूम् . . . .   | २६४       |

| पदम्                          | पुटसंस्था पदम् | पुटसंस्था                  |
|-------------------------------|----------------|----------------------------|
| दक्षिणाग्निः . . .            | २९०            | धृतिः १२९, १९३, १९९,       |
| दंकिणायनम् . . .              | १६७            | २१७, ९०४, ९१९              |
| दत्तः . . . .                 | १३७            | ध्यानम् ४९, ९३, १२८,       |
| दत्तात्रेयः . . .             | ९९६, ९९७       | १९३, १९८, १८२,             |
| दया १२९, १९३, १९४, ९०४, ९१९   |                | १९६, २७९, ३३७,             |
| दर्दी . . . .                 | ३७३            | ३६०, ३६८, ९०३,             |
| दशाविधनादः . . .              | ९६७            | ९१८, ९४९                   |
| दहरं पुण्डरीकम् . . .         | ३९             | ध्यानयोगः . . . ४१, १८६    |
| दहरादिकम् . . .               | ६              | ध्रुवम् . . . . ४९         |
| दानम् १२९, १९६, १९७,          |                | ध्रुवतारकम् . . . . ४६०    |
|                               | ९०४, ९२०       | ध्रुवाग्निः . . . . २४९    |
| दिव्यमन्त्वम् . . .           | १८             | नभोमुंदा . . २०९, ३४९, ३४७ |
| दीर्घः . . . .                | ९१४            | नागः १३७, १६४, १६९,        |
| देवदत्तः १६४, १६९, ३४१-२, ९२७ |                | ३४१-२, ९२७                 |
| देहः . . .                    | ४२४, ४४१-२     | नागादिवायवः . . . २६३      |
| द्रष्टव्यनदर्शयानि . . .      | ९३             | नाडीकन्दम् . . . . ९०९     |
| धनञ्जयः १३७, १६४,             |                | नाडीचक्रम् . . . ४४४, ९०९  |
| १६९, ३४१, ३४२, ९२७            |                | नाडीशुद्धिः १३२, १७२,      |
| धनुरासनम् . . .               | १३०            | ३७१-२, ९२७, ९२९            |
| धारणा १७, ३६, ९३              |                | नाड्यः . . . . ९२९         |
| १२८, १४९, १९३,                |                | नादः २६४, ४२९, ४३०,        |
| १८१, १८२, १९६,                |                | ४३२, ४३४, ४४२,             |
| २७९, ३३७, ३९८,                |                | ४४९, ४८४, ९११              |
| ३९९, ३६८, ३७८,                |                | नादविन्दुकला . . . २४०     |
| ३८०, ९०३, ९१८, ९४८            |                | नादस्त्रिणी . . . ९०६      |

| पदम्                         | पुटसंख्या      | पदम्                      | पुटसंख्या    |
|------------------------------|----------------|---------------------------|--------------|
| नादलिङ्गम् .                 | . ४२७, ४२९     | पञ्चामिरूपम् .            | . ४४७        |
| नादसिद्धिः .                 | . . ३६०        | पञ्चावस्थाः .             | . . २९०      |
| नादानुसन्धानम् .             | . . २३०        | पञ्चकिरणम् .              | . . १२०      |
| नादाभिव्यक्तिः ३९७, ९२९, ९३२ |                | पतंगिनी .                 | . . २१७      |
| नाभिचक्रम् .                 | . ४४४, ९०६     | पदार्थभावना ४९२, ४९४, ४९५ |              |
| नामधेया .                    | . . २१७        | पञ्चासनम् १३०, १९९-२,     |              |
| नारी .                       | . . २१७        | १९६, २०१, ३०८,            |              |
| निवरम् .                     | . . २६४        | ३०९, ३१०, ३२०,            |              |
| नित्यानित्यविवेकः .          | . . ४६८        | ३३८, ३४४, ३९८,            |              |
| निद्रा .                     | . . ३१९, ४७९   | ३६०, ४०४, ५०४,            |              |
| नियमः ९१, १२८, १९३,          |                |                           | ९२१, ९३१     |
|                              | २७४, ३६८, ९०३, | पर्यस्त्वनी १६२, १६४,     |              |
|                              | ९०४, ९१८, ९२०  |                           | १६६, ९२९     |
| निरज्जनम् .                  | . . ३२९        | परतत्त्वम् .              | . . ४३०      |
| निर्गुणव्यानयुक्तः .         | . . ३८०        | परम् .                    | . . ४४४-२    |
| निर्वाणपदम् .                | . . १९०        | परंब्रह्म ३२, ९९६-२, ९६८  |              |
| निर्विषयम् .                 | . . २७         | परमहंसः .                 | . . ४७७ ९६२  |
| निधासः .                     | . . २३         | परमहंसज्ञानमुद्दा .       | . . २६३      |
| निष्कलः .                    | . २९७, ९९३-२   | परमाकाशाः .               | . . ९, २९७-२ |
| निष्पत्तिः .                 | . ३६७, ९१९     | परमात्मा .                | . . ४१७, ९६४ |
| नीलज्योतिः .                 | . . २७७        | परमार्थता .               | . . २९       |
| नीलज्योतिस्थलम् .            | . . ३          | परमेश्वरी .               | . . ३४४      |
| पञ्चतन्मात्राणि .            | . . ११७        | परमं पदम् .               | . . २७, ४७   |
| पञ्चदोषाः .                  | . . २७६        | परमात्मा .                | . . ९६४      |
| पञ्चमहाभूतानि                | . . ११७        | पररन्त्रा .               | . . ९०६      |

| पदम्  | पुटसंख्या | पदम्   | पुटसंख्या       |
|---|-----------|--|-----------------|
| परा . . .   | ३३३       | पूषा १६२, १६३, १६४,                          |                 |
| पराकाशः . . .   | २७९, २९७  | १६६, ३४०, ३४१,                               |                 |
| पराविद्या . . .   | २४९       |  | ४४४, ९०६, ९२६   |
| पराशक्तिः . . .   | ४९७       | पृथिवीस्थानम् . . .                          | ३७८             |
| परिचयः . . .  | ३६७, ९१९  | पौर्णमासी . . .                              | ३२९             |
| परिपक्षः . . .  | २९१, ३९६  | प्रकृत्यष्टकरूपम् . . .                      | ३१७             |
| परिपूर्णचन्द्रमण्डलम् .   | २८९       | प्रचयभूमिका . . .                            | ९१९             |
| पश्चिमताणम् . . .   | ४१२       | प्रणवः ३७, १९०, २८६,                         |                 |
| पश्यन्ती . . .  | ३३३, ४३२  | ३९१, ३९२, ३७४,                               |                 |
| पाण्डरः . . .   | २०९, ३४८  |  | ९२९, ९३०        |
| पार्थिवः . . .  | ४४९       | प्रतिपत् . . .                               | २८४, ३२९        |
| पिंगला ४०, १३९, १६२,<br>१६३, १६६, १९९,<br>३४०, ३४१, ३९७,<br>४४३, ४९०, ९०९, ९२९, ९२६ |           | प्रत्यक्त्वम् . . .                          | ९९              |
| पिण्डाण्डम् . . .   | ३३३       | प्रत्यगात्मा . . .                           | २४३             |
| पूरकः ९३, १४१, १७४,<br>१९१, १९३, २९४,<br>३९८-२, ९०९-२,<br>९११-२, ९१२                |           | प्रत्यक्ष्यजनम् . . .                        | २६०-२           |
| पूर्णगिर्याख्यं पीठम्.  | ४२९, ४४२  | प्रत्याहारः १४, ९३, १२८,<br>१४४, १९३, १७९-४, |                 |
| पूर्णत्वम् . . .  | ९९        | १८०, १८१, १९६,<br>२७९, ३३७, ३९९,             |                 |
| पूर्णिमा . . .  | २८४       | ३६१, ३६८, ३७९,                               |                 |
| पूर्णिमान्यासः . . .  | २८४       |  | ९०३, ९१८, ९४८-६ |
| पूर्वतारकयोगः . . .   | ७, २८०    | प्रथमं विघ्नम् . . .                         | ३१९             |
|   |           | प्रमत्तता . . .                              | ३१९             |
|   |           | प्रयागः . . .                                | १६७             |
|   |           | प्रशान्तलक्षणम् . . .                        | १७              |
|   |           | प्रस्त्रेदजननम् . . .                        | १४०, १७८        |

| पदम्                            | पुटसंख्या  | पदम्   | पुटसंख्या         |
|---------------------------------|--|--|-------------------|
| प्राणः                          | २३, २४, १३७,<br>१६४-२, २००, ३४१,<br>३४२, ९२६, ९२७                                  | बहिर्लिङ्गलक्षणम् .  | ४, २७८            |
| प्राणजयः                        | . . ४०७, ९४४   | बाह्यशौचम् .   | . ९९९             |
| प्राणधारणम्                     | . . १४   | बाह्यप्राणः . . .  | २३                |
| प्राणरोधः                       | . . ३१०, ३३७   | बिन्दु २११, ३३०-३,<br>४२९, ४३४, ४४२,                                     |                   |
| प्राणविद्या                     | . . ३४३  | बिन्दुनादकलाः . . .  | ४६१               |
| प्राणसंयमः                      | . . १२८, ३६८   | बिन्दुपीठम् . . .  | ४२९               |
| प्राणस्पन्दः                    | ९३९,<br>९४०-६, ९४१-२   | बिन्दुमयी शक्तिः . . .   | ४९७               |
| प्राणादिवायवः                   | १३६, १९९, २६३  | बिलम् . . .  | २०                |
| प्राणादिविषयाः                  | . . ११९  | बैन्दवस्थानम् . . .  | ४९२               |
| प्राणापानसमानाः                 | . . ३४१  | बोधकः . . .  | २९९               |
| प्राणायामः                      | १९-२, ९३,<br>१३२, १३८, १३९,<br>१९३, १७२, २७९,<br>३९६, ३९८-३, ३९९,<br>९०३, ९१८, ९२९ | २८-२, ४९, ४३८,<br>४३९, ४४०, ९९०, ९९२<br>ब्रह्मग्रन्थः २६४, ३१६, ३२०, ९१३ |                   |
| प्राज्ञः                        | . ३३३, ३९१, ४६६  | ब्रह्मचर्यम् १२९, १९३,<br>ब्रह्मतारान्तरनादल्पः . . .                    | १९४-३, ९१९<br>२२६ |
| प्लुतः                          |  | ९१४ ब्रह्मनाडी ३, १३९, १६२,  |                   |
| फळ्कारशब्दः                     | . ३, २७७   | ४१४, ४४३, ४९१  |                   |
| बद्धपदासनम्                     | . . १३   | ब्रह्मप्रणवनादकः . . .   | २२४               |
| बद्धमुद्रा                      | २६३  | ब्रह्मयज्ञमयोक्षकमः . . .  | २३२               |
| बन्धन्त्रयम् ३१२, ४१०, ४११, ९०९ |  | ब्रह्मरन्ध्रम् ३, १३४, १६३,  |                   |
| बन्धमोक्षी .                    | . . . २६   | १७६, १७७   |                   |

| पदम्              | पुटसंख्या                                   | पदम् | पुटसंख्या  |
|-------------------|---|------|--|
| ब्रह्मरूपिणीः     | .   | ४०   | मणिपूरकम् १९८, ३३०-२,                            |
| ब्रह्मवित्        | १३२, २८९-२, ४९३                             |      | ३४०, ४२९, ४४२                                    |
| ब्रह्मविद्वारः    | .   | ४९३  | मण्डलम् . . . २०                                 |
| ब्रह्मविद्वरिष्ठः | .   | ४९३  | मति: १२९, १९६, १९८, ९०४, ९२०                     |
| ब्रह्मविद्वरीयान् | .   | ४९३  | मथनम् . . . ३२७-३                                |
| ब्रह्मसंपत्तिः    | .   | २३४  | मध्यमा . . . ३३३, ४३२                            |
| ब्रह्मसूत्रम्     | .   | २३२  | मध्यलक्ष्यलक्षणम् . . . ४                        |
| ब्रह्मस्थानम्     | .   | २०१  | मध्याहारकमण्डलम् . . . २८७                       |
| ब्रह्माण्डम्      | .   | ३३३  | मननम् . . . १९८                                  |
| ब्राह्मी          | .   | २१७  | मनस्स्पन्दः . . . ९४०                            |
| भद्रासनम्         | १८, १३०,<br>१९९, १६०, १९६,<br>३६९, ९०४, ९२१ |      | मनोन्मनी २२४, २९८, ४६०, ९३३<br>मनोयागः . . . २३३ |
| भस्त्री           | ३१०, ३१२, ४०८, ४१०                          |      | मन्त्रः . . . ४१६, ४२८                           |
| भुवर्लोकः         | .   | २१४  | मयूरासनम् १३१, १९९,<br>१६१, ९०४, ९२१             |
| भूतधारणम्         | .   | ९०२  |  |
| भूतात्मा          | .   | ३०   | मरुज्जयः . . . ४०७                               |
| भूरादयः           | .   | ३३३  | मर्कटक्रमः . . . ४१८                             |
| भूर्सुवःसुवः      | .   | ३७९  | महत् . . . ११७                                   |
| भूर्लोकः          | .   | २१४  | महती . . . २१७                                   |
| भोगलालसम्         | .   | ९९   | महर्जगत् . . . २१४                               |
| भ्रमरसृष्टिः      | .   | ४५२  | महाकाशः . ९, २७९, २९७-२                          |
| भ्रान्तिः         | .   | ३१९  | महाबन्धः . . . ३६८, ३८२                          |
| भूदहरम्           | .   | २    | महामुद्रा २०६-२, ३४९,<br>३४९-२, ३६८              |
| मणयः              | .   | ४१३  |  |

| पदम्             | पुटसंख्या                                     | पदम्           | पुटसंख्या                     |
|------------------|---|----------------|-------------------------------|
| महामेरुः         | . . . . ११२                                   | मूलशक्तिः      | . . . . ४४६                   |
| महायोगः          | . . . . ४१६                                   | मूलाभिः        | . . . . ४४७                   |
| महायोगी          | . . . . ४१९                                   | मूलधारम्       | ३, ३३०-२,<br>४२९, ४४२, ९१०    |
| महाविद्या        | . . . . ३४३                                   | मेघध्वनिः      | . . . . १७७                   |
| महावेदः          | . . . . ३६८, ३८२                              | मेलनम्         | . . . . ३२२-६                 |
| महेश्वरः         | . . . . ९९६-२                                 | मोक्षदः        | . . . . २९९                   |
| मात्रा           | . . . . ३७१                                   | मोक्षद्वागम्   | . . . . २०                    |
| मानसः            | . . . . १९८, ९२०                              | मौनम्          | . . . . ९१, ९२, २४४           |
| मायाशक्तिः       | . . . . ४९७                                   | यमः            | ९१, १२८, १९३,                 |
| मायूरनादः        | . . . . २११                                   | २७४, ३६८, ९०३, |                               |
| माससंक्रमः       | . . . . १६७                                   |                | ९०४, ९१८, ९१९                 |
| मिताहारः         | १२९, १९३,<br>१९९, ३०७, ३०८,<br>३४४, ९०४, ९१९  | यशस्त्विनी     | १६२, १६३-२,<br>१६४, १६६, ३४०, |
| मुक्तः           | . . . . ४२२                                   |                | ३४१, ९०९, ९०६, ९२६            |
| मुक्तासनम्       | १३०, १९०,<br>१६०-२, ९०४, ९२२                  | यज्ञसूत्रम्    | . . . . २३३                   |
| मुद्राबन्धविशेषः | . . . . ९१३                                   | योगः           | . . . . ९२८, ९३९              |
| मुमुक्षा         | . . . . ४६८                                   | योगनिद्रा      | . . . . ९३६                   |
| मुमुक्षुः        | . . . . ४९३                                   | योगमुद्रा      | . . . . १२८                   |
| मूर्तितारकम्     | . . . . ६, २७९-२                              | योगवरः         | . . . . ९०८                   |
| मूलबन्धः         | ९२, २०३,<br>३१३-२, ३१९, ३४९,<br>३६८, ४११, ९०९ | योगशिखा        | . . . . ४०४, ४४९              |
| मूलमन्त्रः       | . . . . ४२८                                   | योगसिद्धः      | . . . . १४०, ३८४              |
|                  |   | योगाभ्यासविधिः | . . . . ९०१                   |
|                  |   | योगासनम्       | . . . . १२९, १४७              |
|                  |   | योगिपुण्गवः    | . . . . ९२३                   |

| पदम्                 | पुटसंख्या  | पदम्            | पुटसंख्या             |
|----------------------|--|-----------------|-----------------------|
| योगिवज्यानि          | . . २१   | लोहितः          | . . २०५, ३४८          |
| योगी                 | . . ४-२, १०९   | वत्रम्          | . . . २६४             |
| योनिः                | . . १९७, ३३९   | वत्रदर्पणम्     | . . . २८७             |
| योनिवन्धः            | . . . ३८३  | वत्रासनम्       | . . . ३०८-२           |
| योनिमुद्रा           | . . २०९, ३४७   | वत्रोली         | . . ३६९, ३४४          |
| योनिस्थानम्          | . . १९७, ३३८   | वरुणा           | १६२, १६३, १६६, ९०९    |
| रत्नप्रभामण्डलम्     | . . २८९  | वर्णाः          | . . . २४              |
| रथमण्डलम्            | . . १८   | वहिंशिखामण्डलम् | . . . २८७             |
| रका                  | . . . ४४४  | वहिंस्थानम्     | . . . ३७८             |
| राजदन्तोर्ध्वकुण्डली | . . ३२८  | वाचिकः          | . . १९८, ९२०          |
| राजयोगः              | ३६७, ३८९, ४१६, ४१७                                     | वामदेवः         | . . ४९८, ४९९-३        |
| रुद्रग्रन्थः         | २६४, ३१६,<br>३२१, ९१३-२                                | वायवी           | . . . २१६             |
| रेचकः                | १६, ९३, १४१,<br>१७४, १९१, १९३,<br>२९४, ३९८, ९०९, ९११-२ | वायुद्वारम्     | . . . २०              |
| रेचपूरककुम्भकाः      | . . २६०, ४४६   | वायुवेगिनी      | . . . २१७             |
| लक्ष्यत्रयम्         | . . . ३  | वायुस्थानम्     | . . . ३७९             |
| लक्ष्यत्रयावलोकनम्   | . . २७७  | वाराणसी         | . . . १६७             |
| लज्जा                | . . . ९२०  | वारुणी          | २१६, ४४४,<br>९२९, ९२६ |
| लम्बिका              | . . २०४, ४४६   | वासना           | . . . ३०७             |
| ल्यः                 | ३६७, ३६८, ४१६, ४८४                                     | विघ्नदशकम्      | . . . ३१९             |
| ल्यमन्त्रहठाः        | . . . ९०३  | विचारणा         | ४९२, ४९४-२            |
| लिंगम्               | . . ३९१, ४२८   | विजनः           | . . . ९२              |
| लिंगिनः              | . . . ३३   | विदेहमुक्तः     | . . ७८ तो ८३          |
|                      |  | विद्युन्भात्रा  | . . . २१७             |
|                      |  | विपरीतकरणी      | . . . ३८४             |

|                         |                    | विशेषपदसूची   |                                |
|-------------------------|--------------------|---------------|--------------------------------|
| पदम्                    |                    | पुटसंख्या     | पदम्                           |
| विजा                    | .                  | ४०            | व्यानः २४, १३७-२,              |
| विरतिः                  | .                  | ३१९           | १६४, १६९-२, ३४१,               |
| विराद्                  | .                  | ३३३           | ९२६, ९२७                       |
| विलम्बिनी               | .                  | ४४३           | ज्ञानोदानौ.                    |
| विशुद्धचक्रम्           | .                  | ४२९, ४४२      | व्योम ३४१                      |
| विशुद्धिः               | .                  | ३३०-२, ३३८    | व्योमपञ्चकम् १, २९७, २९८, ३३८  |
| विश्वः                  | .                  | ३३३, ३७१, ४६६ | व्योमरन्धगतो नादः २११          |
| विश्वतैजसप्राज्ञात्मानः | .                  | ३११           | ब्रह्म १२९, १९६, ९०४, ९२०      |
| विश्वोदारा              | १६२, १६३,          |               | शक्तिचालः ३०७, ३०८, ३१०        |
|                         | १६४, १६६, ४४४, ९०६ |               | शक्तिस्थानम् . १११             |
| विषयः                   | .                  | ३१९           | शङ्खध्वनिः . १७७               |
| विषुवम्                 | .                  | १६७-२, २६०    | शङ्क्ली १६२, १६३, १६४,         |
| विष्णुगन्धिः            | २६४, ३१६,          | ३२०, ९१३-२    | १६६, २६४, ३४०,                 |
|                         |                    |               | ३४१, ४४४, ९०६, ९२६             |
| वीरासनम्                | १२९-२, १६०,        |               | शब्दः . . १८                   |
| वृत्तिज्ञानम्           | .                  | ९०४, ९२१      | शब्दज्ञल . . ३२                |
| वेदावित्                | .                  | ९६, ९६३       | शामादिषष्टकसंपत्तिः . ४६८      |
| वेदान्तश्रवणम्          | .                  | ४०            | शामादिषष्टगुणाः . १            |
| वेधः                    | .                  | १२९           | शशविषाणम् . . ९६               |
| वेधकत्रययोगः            | .                  | ९१३-२         | शशिमण्डलम् . . २६४             |
| वैखरी                   | .                  | ९१२           | शङ्करी . . २१७                 |
| वैद्युतः                | ३३३, ४३२, ४३४      |               | शाम्भवस्थानम् . . ९११          |
| वैराजम्                 | .                  | ४४९           | शाम्भवीमुद्रा ७, २८०, २८९, २९४ |
| वैष्णवी                 | .                  | ४३०           | शिलिस्थानम् १३२, १६१, ९२३      |
|                         | २१७, ९३९           |               | शीतली ३१०, ३११, ४०८, ४१०       |

| पदम्                | पुटसंख्या       | पदम्              | पुटसंख्या               |
|---------------------|-----------------|-------------------|-------------------------|
| शुकः . . .          | ४९८, ४९०-२      | सद्व्याप्ति . . . | १२९                     |
| शुक्रा नाडी.        | . . .           | ३८ सन्तोषः        | १२९, १९६,               |
| शुद्धः . . .        | . . .           | २६                | १९७-२, ९०४, ९२०         |
| शुभेच्छा . . .      | ४९२, ४९४-२      | संपुट्योगः . . .  | ९०९                     |
| शून्यता . . .       | . . .           | ९९ समता . . .     | ९२                      |
| शूरा . . .          | . . .           | ४४४ समाधिः        | १८, ९३, १९०,            |
| शौचम्               | १२९, १९३,       |                   | १९३, १८३, १८४, १९६,     |
|                     | १९९-२, ९०४, ९१९ |                   | २६३, २७९, ३३७, ३६०      |
| श्रीपर्वतम् . . .   | . . .           | १६७               | ३६८, ३८०-३, ४८३,        |
| षट्क्रमण्डलम्       | २६४, ३३८,       |                   | ९०३, ९१८, ९४९           |
|                     | ४९९, ४६२        | समानः             | २४, १३७-२, १६४,         |
| षट्क्रिंशतत्त्वानि  | . . .           | ४६४, ४६६          | १६९-२, ३४१, ९२६, ९२७    |
| षडंगयोगः . . .      | . . .           | १४                | समीरणः . . .            |
| षड्मर्यः . . .      | . . .           | ४६६               | ३०७                     |
| षड्भावविकृतिः       | . . .           | ४६६               | सरस्वती १६२, १६३, १६४,  |
| षण्णवतितत्त्वानि    | . . .           | ४६४, ४६७          | १६६, ३०९, ४३४,          |
| षण्मुखीकरणम्        | . . .           | २८६, ४२९          | ४४४, ४९३, ९०६, ९२६, ९३० |
| षोडशी . . .         | . . .           | २६४               | सर्वसाक्षी . . .        |
| षोडशाधारम् . . .    | . . .           | ३३८               | ३९१                     |
| सकलः . . .          | २९७, ९९३, ९९४   | सहजोली . . .      | ३६९                     |
| सकलनिष्कलम्         | . . .           | ९९३, ९९९          | साक्षात्कारः . . .      |
| सगुणध्यानम् . . .   | . . .           | ३८०               | ४७६                     |
| सङ्कल्पः . . .      | . . .           | ९८ to १००         | साधनचतुष्यम् . . .      |
| सच्चिदानन्दं ब्रह्म | . . .           | १००, २८४          | ९७                      |
| सत्ता . . .         | . . .           | २४७               | सावित्री . . .          |
| सत्यम्              | १२९, १९३-२,     |                   | ९३०                     |
|                     | १९४, ९०४, ९१९   | सिद्धान्तश्रवणम्  | ९१, १३१,                |
| सत्यलोकः . . .      | . . .           | १००               | १९६, १९७, ३३७,          |
| सत्त्वापत्तिः . . . | . . .           | २१४               | ३६९, ९०४, ९२०           |
|                     | ४९२, ४९४-२      | सिहासनम्          | १३०, १९९,               |
|                     |                 |                   | १६०, १९६, ३६९, ९०४, ९२१ |
|                     |                 | सीविनी . . .      | ४४४                     |
|                     |                 | सुखासनम्          | १३१, १९९, १६१, ४४६      |
|                     |                 |                   | २८४                     |

| पदम्   | पुटसंख्या      | पदम्  | पुटसंख्या  |
|--|----------------|---|--|
| सुमहतीसुद्रा   | ३४९            | स्वप्नः   | ४७९, ९६३   |
| सुवर्लोकः  | २१४            | स्वप्नवर्तनम्   | १४७  |
| सुषिरम्  | २०             | स्वप्नविश्वादयः   | ४९२  |
| सुषुप्तविश्वादयः   | ४९२            | स्वरः   | २८   |
| सुषुप्तिः  | ९६३            | स्वस्तिकम् १८, १२९, १३८,<br>१९९-२, १७६, ९०४, ९२१            |  |
| सुषुप्ता ३, ३८, ४०, ४१, १३९,<br>१६२-३, १६६, १९९,<br>२११, २७७, २०९, ३४०,<br>३४१, ४१३, ४४३, ४९०-२,<br>४९१, ४९२, ४९३, ४९६,<br>९०९, ९०६-२, ९२९ |                | स्वाधिष्ठानम् १९७, १९८, ३२०,<br>३३०-२, ३३८-२, ३३९, ४२९, ४४२ |  |
| सुषुप्ताद्वाराम्   | ४०९            | स्वेदः  | ९७   |
| सुषुप्ताध्यानयोगः  | ४९७            | हठः   | ३६७, ४१६-२   |
| सूक्ष्मम्  | १३, ४४४-२, ४४९ | हस्तजिह्वा  | १३९, १६२, १६३,<br>१६४, १६६, ३४०, ३४१, ४४४, ९०६                 |
| सूक्ष्मांगानि  | २७९            | हंसः  | २३०-३, २३१, २३४,<br>२३६, २४०, २९३, २६२,<br>२६९, ३९४, ४२९, ४४२, |
| सूत्रम्  | ४२८            | हंसज्योतिः  | ४९३, ४९८, ९११  |
| सूर्यः   | ३१०            | हंसमन्त्रम्   | २६१, २६२   |
| सूर्यप्रहणम्   | १६७, २६०       | हंसविद्या   | २७४, २७७   |
| सूर्यमेदः  | ३११, ४०९       | हंससूत्राणि   | २३७  |
| सूर्यमण्डलम्   | ३८४            | हंसाक्षेपणवध्यानम्  | २४१  |
| सूर्याकाशः   | ९, २७९, २९७-२  | हिरण्यगर्भः   | ३३३  |
| सूर्याग्निः  | ४४९            | हृत्पद्मम्  | १९२  |
| सोमप्रहणम्   | १६७            | हृदयम्  | १३६, ३३८   |
| सोमरूपकला  | ४७             | हृद्वारम्   | २०   |
| सौम्या   | ९२६            | हृदीजम्   | १९४  |
| स्थूलम्  | ४४४-२          | हस्तः   | ९१४  |
| स्थूलप्रकृतिः  | ३९१            | हीः   | १२९, १९६, १९८, ९०४, ९२०  |
| स्थूलसूक्ष्मकारणानि  | ४६६            |   |  |

# Publications of the Adyar Library

(Theosophical Society, Adyar, Madras, S. India)

## 1. A Preliminary List of the Samskrit and Prakrit MSS. in the Adyar Library.

The list comprises 11,842 MSS. distributed among 5,270 titles (Dēvanāgari character). Demi 8vo., pp. 279.

Boards — Re. 1-8.  
Cloth — Rs. 2.

## 2. A Descriptive Catalogue of the Samskrit MSS. in the Adyar Library, by F. O. Schrader, Ph. D. Vol. I—*Upanishads*.

The collection described in this volume comprises 1,322 MSS. distributed among 365 works. (Dēvanāgari and English.) Royal 8vo., pp. xi, 315.

Cloth — Rs. 7-8.

## 3. The Minor Upanishads, critically edited for the Adyar Library by F. O. Schrader, Ph. D. Vol. I—*Samnyāsa Upanishads*.

Texts in Dēvanāgari. Preface, critical notes, etc., in English. Royal 8vo., pp. liv, 501.

Cloth — Rs. 15.

## 4. Ahirbudhnya-Samhitā of the Pāncharātra Āgama, edited for the Adyar Library by Pandit M. D. Rāmānujāchārya, of the Adyar Library, under the supervision of F. Otto Schrader, Ph. D. 2 vols.

(Samskrit Text only, in Dēvanāgari.) Royal 8vo., pp. 59, 674.

Cloth — Rs. 15.

5. Introduction to the Pāncharātra and the Ahirbudhnya-Samhitā, by F. O. Schrader, Ph. D.

Part I. The literature of the Pāncharātras.

Part II. The philosophy of the Pāncharātras.

Part III. The Ahirbudhnya-Samhitā.

(English) Royal Svo., pp. 178.

Cloth — Rs. 3.

6. The *Yoga Upanishads* with the Commentary of Śrī Upanishad-Brahma-Yogin, edited by Pandit A. Mahadeva Sastri, B.A., Director, Adyar Library.

(Samskrit, in Dēvanāgari). Demi Svo., pp. 44, 586.

This Commentary extends to all the one-hundred-and-eight Upanishads.

Cloth — Rs. 6.

7. The *Sāmānya-Vedānta Upanishads* with the Commentary of Sri Upanishad-Brahma-Yogin, edited by Pandit A. Mahadeva Sastri, B. A., Director, Adyar Library. (*In the Press*)





